श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर

AND

THE JAINA ANTIQUARY

Editors :

Prof. Hiralal Jain, M A., LL. B.

Prof. A. N. Upadhye, M. A.

B. Kamta Prasad Jain, M. R. A. S.

Pt. K. Bhujabali Shastri.

Published at

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY.

(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)

ARRAH, BIHAR, INDIA.

श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम।

१ जैन-सिद्धान्त-भास्कर अङ्गरेजी-हिन्दी-मिश्रित त्रैमासिक पत्र है, जो वर्ष में जून, सितम्बर, दिसम्बर और मार्च में चार भागों में प्रकाशित होता है

२ इसका वार्षिक चन्दा देशके लिये ४) रुपये और विदेश के लिये डाक व्यय लेकर ४॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १।) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा होगी।

३ केवल साहित्यसंबन्धी तथा अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। मैनेजर, जैन-सिद्धान्त-भास्कर, आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं; मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में हेर-फेर की सूचना भी तुरन्त उन्हीं को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि "भास्कर" नहीं प्राप्त हो, तो इसकी सूचना जल्द आफिस को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्तिविज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा विज्ञान, धर्म्म, साहित्य दर्शन, प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना—यह सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक, श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर, आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकमण्डल को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ "भास्कर" आफिस, आरा के पते से भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से जैन-तत्व के उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.

प्रोफेसर ए.एन. उपाध्ये, एम. ए.

बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.

पण्डित के भुजबली, शास्त्री

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

(जैन-पुरातत्त्व सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र)

भाग ४] ज्येष्ठ [किरण १

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४) विदेश में ४॥) एक प्रति का १।)

विक्रम-सम्वत् १९९४

विषय-सूची

हिन्दी-विभाग—

पृष्ठ

१ कुछ भौगोलिक शंकाओं का समाधान [श्रीयुत पं० हीरालाल शास्त्री, उज्जैन] १
२ श्रीधरसेन-कृत 'विश्वलोचनकोश' का समय [श्रीयुत पी० के० गौड़] ... ९
३ जैनप्रतिमा-विधान [श्रीयुत बाबू त्रिवेणी प्रसाद, बी०ए०] १६
४ आरा में बाहुबली (गोम्मटेश्वर) स्वामी की प्रतिमा [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री] २४
५ जैनशिलालेख-विवरण [श्रीयुत प्रोफेसर गिरनॉट] २९
६ लोंकाशाह और दिगम्बर साहित्य [श्रीयुत बाबू अगरचन्द नाहटा] ... ३४
७ विविध विषय—(१) देवगढ़ [नाथूराम सिंघई] ४१
(२) भारतीय कथा-साहित्य के आदि लेखक जैनाचार्य [श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन] · ४४
(३) चंदबरदाई और दिगम्बर मुनि [श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन] ४५
(४) जैन-साहित्य में संख्या १८ [श्रीयुत ओटो स्टीन] ... ४६
(५) भगवान महावीर की निर्वाण-तिथि [पं० के० भुजबली शास्त्री] ४९
८ साहित्य-समालोचना-(१) तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय [श्रीयुत बाबू हीरालाल जैन] ५१
(२) प्रवचनसार का नया संस्करण [श्रीयुत पं० जुगलकिशोर मुख्तार · ५३
(३) पतितोद्धारक जैनधर्म [श्रीयुत बाबू हीरालाल जैन] ... ५०

ग्रन्थमाला-विभाग—

१ तिलोयपण्णत्ती—[श्रीयुत प्रो० ए० एन० उपाध्ये] ... पृष्ठ १७ से २४ ,,
२ प्रशस्ति-संग्रह—[श्रीयुत पं०के० भुजबली शास्त्री] ... ,, ६५ से ७२ तक
३ वैद्यसार—[श्रीयुत पं० सत्यन्धर आयुर्वेदाचार्य] .. ,, ६५ से ७२ ,,

अंग्रेजी-विभाग—

1. Studies in the Prabhāvaka-Charitra [by Dasharatha Sharma, M.A.] .. 1
2. History & Principles of Jaina Law [by M. C. Jain M.A., LL.B.] 9
3. Oldest Jain Images Discovered [by Dr. K. P. Jayaswal Interviewed] 17
4. The Jaina Chronology [by K. P. Jain.] .. 19
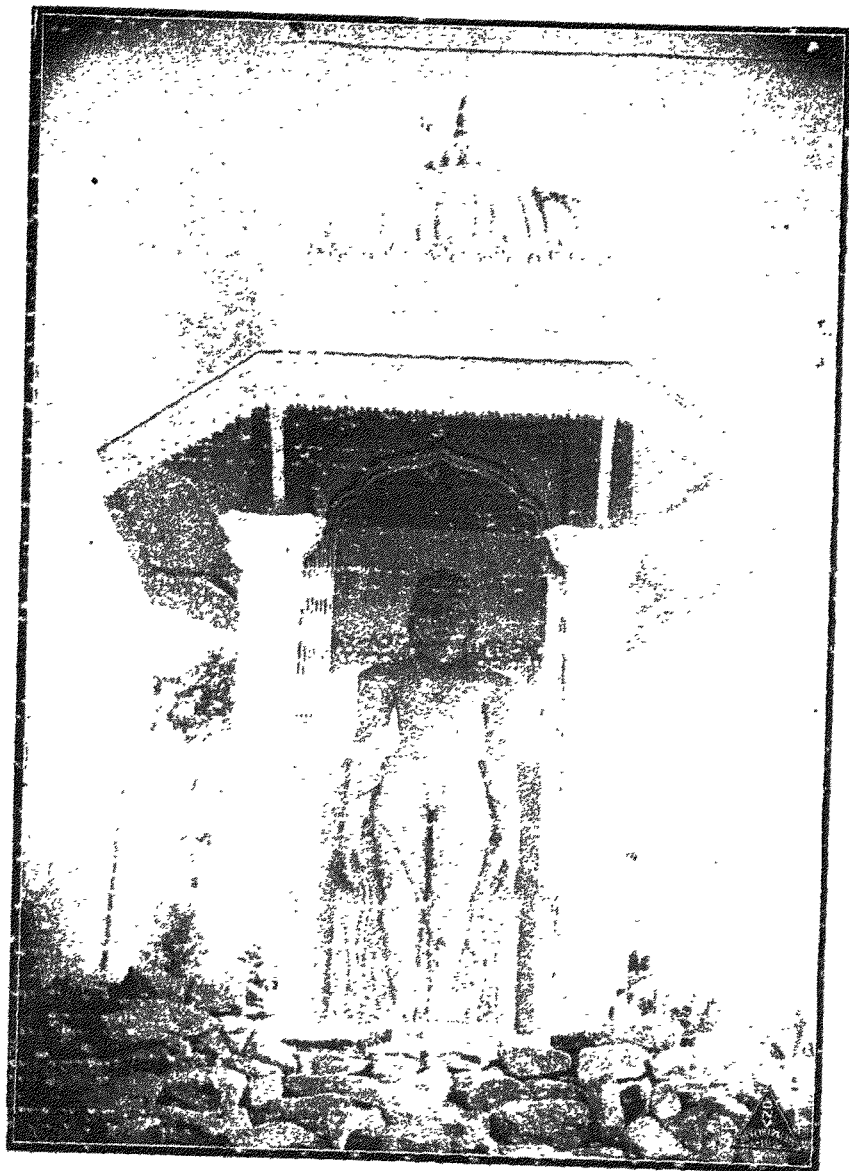
हाल में आरा में प्रतिष्ठापित बाहुबली स्वामी की मूर्त्ति

[परिचय देखें पृष्ठ २४]

|| श्रीजिनाय नमः ||

THE JAINA ANTIQUARY.

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक त्रैमासिक पत्र

भाग ४ | जून, १९३७। ज्येष्ठ, वीर नि० २४६३ | किरण १

कुछ भौगोलिक शंकाओं का समाधान

(लेखक—श्रीयुत पं० हीरालाल शास्त्री, उज्जैन)

लगभग तीन वर्ष हुए, जब कि जैनमित्र में मेरी 'शिक्षा-समस्या' नाम की लेखमाला क्रमशः प्रकाशित हो रही थी, तब श्रीमान बाबू नानकचन्द्रजी साहब बी०ए० पेंशनर हेडमास्टर ने कुछ भूगोल-सम्बन्धी शंकायें करके उनका समाधान चाहा था, पर परिस्थितिवश मैं उस समय उत्तर न दे सका। तब से बराबर अंग्रेजी पढ़े लिखे विद्वानों द्वारा करीब-करीब वे ही शंकायें मेरे सामने आती रहीं हैं, जिससे मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि, संभवतः ये शंकायें उन सब लोगों के हृदयों में उत्पन्न होती हैं, जो कि जैनशास्त्रों में मानी गई भौगोलिक व्यवस्था से अपरिचित हैं। अत एव मैंने उचित समझा, कि एक लेख-द्वारा उनके समाधान करने का प्रयत्न करूँ।

जैनशास्त्रों के अनुसार लोक की रचना

जनशास्त्रों ने लोक की रचना; कमर पर हाथ रखे हुए एवं पूर्व-पश्चिम पैर फैलाए पुरुष के समान मानी है। अर्थात् लोक नीचे से ऊपर १४ राजु ऊँचा है, मध्यलोक में विस्तार केवल १ राजु है। फिर क्रमशः नीचे बढ़ता हुआ पाताल लोक में ७ राजु हो जाता है। मध्यलोक से ऊपर ब्रह्मलोक के अन्त में ५ राजु और ऊर्ध्वलोक के अन्त में घट कर १ राजु रह जाता है। यह क्रम पूर्व-पश्चिम का जानना चाहिए। क्योंकि इसके उत्तर-दक्षिण तो सभी जगह चौड़ाई ७ राजु-प्रमाण है। राजु जैन परिभाषा में असंख्यात योजन-प्रमाण नाप का नाम है।
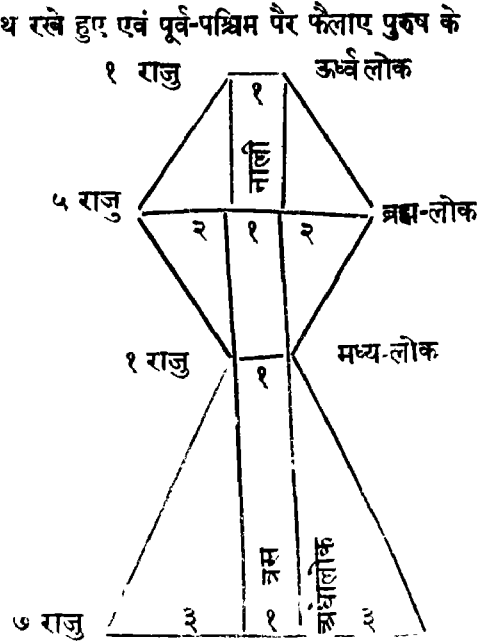
मध्य लोक, जो कि १ राजु-प्रमाण माना गया है उसमें एक दूसरे को घेरे हुए असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। उनके सबसे बीच के द्वीप का नाम जम्बूद्वीप है। जिसके प्रथम क्षेत्र में हमारा निवास है, जिसका कि नाम भारतवर्ष है। कहने का सारांश यह है कि जैनशास्त्रों के अनुसार जिस पृथ्वी पर हम रहते हैं वह नारंगी के समान गोल नहीं है किन्तु थाली या चूड़ी के समान गोल एवं चिपटी है। इस उक्त विवेचन से श्री बाबू नानकचन्द्र जी साहब के उस प्रथम प्रश्न का समाधान हो जाता है जिसमें कि पूछा गया था पृथ्वी कैसी गोल है?

[२] दूसरा आपका प्रश्न यह था—कि यदि पृथ्वी थाली के समान गोल है, तो जाड़े या गर्मी के दिनों में—दिन और रात कमती या बढ़ती क्यों होते हैं? इसका क्या कारण हो सकता है?

समाधान :—जैन शास्त्रों के अनुसार जम्बूद्वीप के ठीक मध्य में सुमेरु पर्वत है। सूर्य-चन्द्र आदि सारा ज्योतिर्मण्डल इसी की सदा प्रदक्षिणा दिया करते हैं। सूर्य-प्रदक्षिणा की गति उत्तरायण और दक्षिणायन इन दो रूपों में विभक्त है। और उसकी वीथियां—गमनमार्ग—कुल १८४ हैं; जो कि सुमेरु की प्रदक्षिणा के रूप में गोल किन्तु बाह्य की ओर फैलते हुए हैं। इन मार्गों की चौड़ाई $\frac{४८}{६१}$ योजन अर्थात् सूर्य के बिम्ब-प्रमाण है। एक मार्ग से दूसरे मार्ग का अन्तर २ योजन का है। इस प्रकार

कुल मार्गों की चौड़ाई एवं अन्तरालों का प्रमाण ५१० योजन है, जो कि शास्त्रीय भाषा में सूर्य के चार क्षेत्र के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें से १८० योजन चार क्षेत्र तो जम्बूद्वीप में है और ३३० योजन-प्रमाण चार क्षेत्र लवण समुद्र में है, जो कि जम्बूद्वीप को चारों ओर से घेरे हुए है। सूर्य के ऊपर १८४ मार्ग बतलाए गए हैं। सूर्य एक मार्ग को दो दिन में पूरा करता है जिससे कि एक वर्ष [३६८ दिन] में सारे मार्गों की प्रदक्षिणा हो जाती है। जम्बूद्वीप में दो सूर्य बतलाए गये हैं, इस लिये दो दिन की प्रदक्षिणा की बात अयुक्त भी नहीं है।

सूर्य जब जम्बूद्वीप के अन्तिम आभ्यन्तर मार्ग से बाहिर की ओर निकलता हुआ लवण समुद्र की ओर जाता है, तब बाहरी-लवणसमुद्रस्थ अन्तिममार्ग पर चलने तक के काल को 'दक्षिणायन' नाम से पुकारते हैं और वहाँ तक पहुंचने में सूर्य को ६ मास लगते हैं। इसी प्रकार जब सूर्य लवण समुद्र के बाह्य-अन्तिम मार्ग से घूमता हुआ, भीतर जम्बूद्वीप की ओर जाता है, तब उसे 'उत्तरायण' नाम से कहते हैं। और जम्बूद्वीपस्थ अन्तिम मार्ग तक पहुंचने में उसे ६ मास लग जाते हैं। इस प्रकार एक वर्ष में सूर्य, एकबार उत्तरायण और एकबार दाक्षिणायन होता है। इसीलिए दो 'अयन' के काल को एक वर्ष कहा जाता है।

इस विवेचन का तात्पर्य यह है कि जब सूर्य दक्षिणायन होता है, अर्थात् जम्बूद्वीप के भीतरी मार्ग से बाहर की ओर जाता है, उस समय क्रमशः गर्मी घटने लगती है और शर्दी बढ़ने लगती है। ऐसा होने के दो कारण हैं—प्रथम तो यह कि वह स्थल-द्वीप-से दूर होने लगता है अतः उसकी किरणों की गर्मी यहाँ कम पड़ने लगती है। और दूसरा कारण यह है कि जब सूर्य की चाल समुद्र पर पहुंच जाती है, तो उसकी किरणों के समुद्र पर पड़ने से उनका उत्ताप कम होता जाता है, जिससे यहाँ जम्बूद्वीप में क्रमशः शर्दी बढ़ने लगती है। यहाँ तक कि जब वह समुद्र के अन्तिम मार्ग पर पहुंच जाता है, तब जम्बूद्वीप में सबसे अधिक शर्दी पड़ने लगती है। इस दक्षिणायन का प्रारंभ कर्क-संक्रान्ति संभवतः आषाढ़ सुदी १५ के लगभग और समाप्ति मकर-संक्रान्ति—संभवतः पौष सुदी १५ या माघ के प्रारंभिक दिनों में होती है। इस प्रकार सूर्य के बाहर जाने से यहाँ पर दिन घटने और रात बढ़ने लगती है। यहाँ तक कि जब दक्षिणायन के प्रारंभ में दिन १८ मुहूर्त्त का (१४ घंटे २४ मिनट का) और रात १२ मुहूर्त्त (९ घंटे ३६ मिनट) की होती थी,—तब दक्षिणायन के अन्त में दिन १२ मुहूर्त्त का और रात १८ मुहूर्त्त की होने लगती है। यह सूर्य के दक्षिणायन-काल में—दिन-रात की कमती-बढ़ती होने का कारण है।

इसी प्रकार जब सूर्य उत्तरायण होता है अर्थात्—लवण समुद्र के बाहरी मार्ग से भीतर—जम्बूद्वीप की ओर जाता है, उस समय क्रमशः शर्दी घटने लगती है और गर्मी बढ़ने लगती है। ऐसा होने के भी दो कारण हैं। प्रथम तो यह कि सूर्य के—जम्बूद्वीप के समीप आने

से उसकी किरणों का प्रभाव यहां अधिक पड़ने लगता है। दूसरा यह कि उसकी किरणों—जो कि समुद्र के अगाध जल में पड़ने के कारण ठंडी पड़ जाती थीं, उनमें—क्रमशः जम्बूद्वीप की ओर गहराई कम होने एवं स्थलभाग पास होने से संताप अधिकाधिक बढ़ता जाता है, इसलिये यहाँ गर्मी बढ़ने लगती है। यहाँ तक कि जब सूर्य जम्बूद्वीप के भीतरी अन्तिम मार्ग पर पहुंच जाता है, तब यहाँ पर सबसे अधिक गर्मी पड़ने लगती है।

इस उत्तरायण का प्रारंभ मकर-संक्रांति को और समाप्ति कर्क-संक्रान्ति पर होती है। इस उत्तरायण में दिन बढ़ने और रात घटने लगती है। यहाँ तक कि जब उत्तरायण के प्रारंभ में दिन १२ मुहूर्त्त और रात १८ मुहूर्त्त की होती थी—तब क्रमशः उत्तरायण के अन्त में दिन १८ मुहूर्त्त का और रात्रि १२ मुहूर्त्त की होने लगती है। बस, यही उत्तरायण में दिन-रात के घटने-बढ़ने का कारण है।

यहाँ पर आप को या किसी को भी यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि जब सूर्य बाहर की ओर जाता है, तब उसे सुमेरु की प्रदक्षिणा के रूप में बहुत लंबा चक्कर लगाना पड़ता है। ऐसी दशा में यहाँ दिन घटने के बजाय बढ़ना ही चाहिये। इसी प्रकार जब सूर्य भीतर की ओर आता है तब उसे सुमेरु की प्रदक्षिणा में चक्कर कम लगाना पड़ता है, जिससे उस समय दिन छोटा होना चाहिए। पर आपने ऐसा न बता कर ठीक इसके विपरीत ही बतलाया है, सो क्या कारण है?

समाधान :—यदि सूर्य की गति में तीव्रता या मन्दता न होती, तब उक्त आपकी यह शंका सर्वथा लागू होती। किन्तु जैनशास्त्रों ने सूर्य की चाल में तीव्रता और मन्दता को माना है। अर्थात् सूर्य दक्षिणायन के प्रारंभ में हाथी जैसी मन्द चाल से घूमता है। धीरे-धीरे ज्यों ही वह बाहर की ओर आने लगता है, त्यों ही उसकी चाल बढ़ने लगती है। यहाँ तक वृषभ, पुनः अश्व और दक्षिणायन के अन्त में सूर्य की गति एक दम सिंह की चाल सी होने लगती है। इसी प्रकार उत्तरायण के प्रारंभ में सूर्य की सिंहचाल रहती है किंतु ज्यों-ज्यों सूर्य भीतर जम्बूद्वीप की ओर आने लगता है त्यों-त्यों उसकी चाल धीमी पड़ती जाती है और घोड़ा, बैल वा अन्त में हाथी की चाल से घूमने लगता है, इसलिये उक्त कथन में कोइ विरोध या अड़चन उपस्थित नहीं होती है।

इसी दूसरे प्रश्न के अन्त में आपने पूछा था कि 'किसी-किसी देश में दिन-रात की कमी-बेशी बहुत ज्यादा है, और कहीं-कहीं बहुत कम। इसका क्या कारण है? इसके उत्तर में मेरा यह कहना है कि बहुत अच्छा होता, यदि आप उन देशों का भी उल्लेख कर देते—जिन में यह कमी-बेशी नियमित रूप से विद्यमान है। साथ ही यह भी उल्लेख करना आवश्यक

था कि वे देश भारतवर्ष से दक्षिण, पश्चिम या उत्तर—किधर की ओर और कितनी दूरी पर स्थित हैं। एवं वहाँ के दिन में कितना फर्क है, तो उसपर निश्चित उत्तर देने का प्रयास किया जाता। अस्तु इसका संक्षिप्त उत्तर यही है कि यद्यपि जम्बूद्वीप की पृथ्वी थाली के समान समतल है, फिर भी हिमालय आदि बड़े बड़े ६ कुलाचलों के आ जाने से उसमें भी विषमता नीचाई-ऊँचाई है! फिर हमारे इस भारतवष की पृथ्वी में तो कल्पना से भी अधिक ऊँचाई आ गई है, जिससे मध्यभाग के देश ऊँचाई पर और आजू-बाजू के देश नीचाई पर आ गये हैं। काल-परिवर्तन के साथ-साथ भरत वा ऐरावत क्षेत्र की भूमियों में भी वृद्धि वा ह्रास हुआ करता है। जैसा कि भगवान् उमास्वाति ने अपने प्रसिद्ध दशाध्याय तत्वार्थसूत्र में कहा है:—

'भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥

अध्याय ३ सूत्र २८

पाठकगण शायद इस बात पर चौंकें कि यह सूत्र—भरत ऐरावत की पृथ्वियों में थोड़े ही हानि-वृद्धि को बतलाता है, किन्तु उनमें रहनेवाले मनुष्य तिर्यंचों के बल-बुद्धि शरीर आदि में हानिवृद्धि को प्रकट करता है, तो इसका समाधान, इसके आगे का सूत्र ही कर देता है। जिसमें बताया गया है कि 'भरत वा ऐरावत क्षेत्र को छोड़ कर अन्य भूमियाँ—अवस्थित हैं—घटती बढ़ती नहीं हैं।'

"ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥" अध्याय ३ सूत्र २१

यह ठीक है कि इस बात पर अनेकों आचार्यों की दृष्टि नहीं पहुंची है, फिर भी श्लोक-वार्त्तिककार-प्रसिद्ध-विद्यानन्द स्वामी ने तो खुले शब्दों में उक्त अर्थ ही मुख्यरूप से लिया है और बल-बुद्धि आदि के वृद्धि-ह्रास का अर्थ गौणरूप से लिया है। तद्यथा—

"तात्स्थ्यात्तच्छब्दासिद्धे र्भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासयोगः, अधिकरणनिर्देशो वा।

तत्वार्थश्लोकवार्तिक अ० ३ सू० २८ की टीका, पृ० ३५४

दूसरा पुष्ट प्रमाण त्रिलोकसार का है, जिसमें कि प्रलयकाल के अन्त में यहाँ की पृथ्वी को एक योजन—लगभग चार हजार मील-प्रमाण विध्वस्त होना एवं चित्रा पृथ्वी का प्रकट होना माना है। वह प्रमाण इस प्रकार है:—

तेहिंतो सेसजणा, णस्संति; विसग्गिवरिसदड्ढमही।
इगिजोयणमेत्तमधो चुण्णीकिज्जदि हु कालवसा ॥

तिलोकसार गाथा नं० ८६७

भावार्थ—४९ दिन तक जल अग्नि आदि की वर्षा से यहां के रहनेवाले प्रायः सभी लोग

नष्ट हो जाते हैं और विष, अग्नि, जल आदि की वर्षा से एक योजन-प्रमाण पृथ्वी चूर्ण-चूर्ण कर दी जाती है—अर्थात् काल के वश से नीची हो जाती है।

इसका तात्पर्य यह है कि भोगभूमि के प्रारंभ से ही मूल जम्बूद्वीप के समतल पर 'मलवा' लदता चला आ रहा है। जिसकी ऊँचाई अति दुषमा के अन्त में पूरी एक योजन हो जाती है। वही 'मलवा' प्रलयकाल में साफ हो जाता है, और पूर्ववाला समतल भाग ही निकल आता है। इस बढ़े हुए 'मलवे' के कारण ही 'भू-गोल' मानी जाने लगी है, अनेक देश नीचे और ऊपर विषम-स्थिति में आ गये हैं। इस प्रकार वर्तमान की मानी जानेवाली 'भू-गोल' के भी जैनशास्त्रानुसार अर्ध-सत्यता या आंशिक सत्यता सिद्ध हो जाती है, एवं समतल की प्रदक्षिणारूप अर्धनारंगी के समान गोलाई भी सिद्ध हो जाती है।

संभवतः आप यहां शंका करेंगे, कि जब अर्धगोलाई को आप जैनशास्त्रानुसार मानने को तैयार हैं, तो पूरी नारंगी के समान ही पृथ्वी को गोल क्यों नहीं मान लेते ?

समाधान :—जो बात युक्ति, आगम और अनुभव से सिद्ध हो जावे—उसे मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु वर्तमान के भौगोलिकों ने भी तो समतल की अर्धनारंगीरूप पृथ्वी की ही प्रदक्षिणा की है। न कि ऊपर से नीचे की गोलाईरूप पृथ्वी की। वह तो केवल कल्पना के ही आधार पर मानी जा रही है। मेरे ध्यान से ऊपर से नीचे तक की गोलाई का आजतक किसी भी व्यक्ति ने चक्कर नहीं लगाया है।

हां, तो उक्त कथन से यह सिद्ध हुआ कि वर्तमान में प्राप्त पृथ्वी जो कि जम्बूद्वीप का एक भाग-मात्र ही है—में ऊंचाई एवं विषमता अवश्य है। जिसका कि छोटा सा प्रमाण यही है कि कलकत्ते से बम्बई में ही सूर्योदय एवं अस्त में लगभग एक घंटे का फर्क है। अर्थात् जब करीब डेढ़ हजार मील के फासले पर ही १ घंटे का फर्क है तो हज़ारों मीलों की दूरी पर स्थित देशों में यदि ४—६ घंटे या इससे भी अधिक का फर्क सूर्योदय या अस्त में पड़ जाय—तो आश्चर्य या विशेषता की कोई बात नहीं है।

(३) तीसरा आप का प्रश्न यह था, कि समुद्र में से जब कोई जहाज किनारे की ओर आता है, तब उसका मस्तूल पहले देख पड़ता है और उसका नीचला हिस्सा तब तक नहीं दिखाई पड़ता, जब तक कि वह बिलकुल करीब न आ जाय, इसका क्या कारण है ?

समाधान—संभवतः यह प्रश्न आपने पृथ्वी को गोल सिद्ध करने के लिए किया है और शायद इसे ही वर्तमानकालिक भौगोलिक पृथ्वी को गोल सिद्ध करने के लिए सब से बड़े

प्रमाण के रूप में पेश किया करते हैं। परन्तु जरा सा भी विचार करने पर पता चलता है कि इस युक्ति में कोई सार नहीं है। इसका विशेष खुलासा इस प्रकार है :—

इस युक्ति के देने वाले लोगों के मतानुसार जहाज का नींचाई की ओर से ऊंचाई की ओर आना माना जाता है। जब जहाज को आता हुआ देखने वाले लोग, उक्त सिद्धान्त के अनुसार—ऊंचाई पर स्थित ही मानने पड़ेंगे। ऊंचाई पर स्थित मनुष्यों को नीचे की ओर से आती हुई वस्तु सर्वाङ्ग ही प्रत्यक्ष में दिखाई पड़ती है। इस प्रत्यक्ष प्रमाण के अनुसार ऊंचाई पर स्थित लोगों को, नीचे की ओर से आता हुआ जहाज सर्वाङ्ग रूप से ही दृष्टिगोचर होना चाहिए; न कि केवल मस्तूल ही। क्योंकि मनुष्य के नेत्र जिस प्रकार अपने समतल या ऊपर स्थित पदार्थ को देख सकते हैं, उसी प्रकार नीचाई पर स्थित पदार्थ को भी तो देख सकते हैं। फिर इस जहाज के देखने में ही कौन सी बाधा आ गई ? बल्कि नीचाई पर स्थित वस्तु को तो और भी अच्छी तरह देख सकते हैं। इसलिए मानना पड़ेगा, कि पृथ्वी को गोल सिद्ध करने के लिए इस युक्ति को देना सवथा उपहासास्पद है।

यहां आप कह सकते हैं कि आप के इस कथनानुसार हम इस युक्ति को पृथ्वी के गोल सिद्ध करने के लिए उपयुक्त भी मानें, फिर भी हमारा उक्त प्रश्न तो खड़ा ही रहता है ? उसका क्या उत्तर है ?

समाधान—किनारे की ओर आते हुए जहाज के मस्तूल को ही दिखाई देने एवं नीचला भाग दिखाई न देने का कारण यह है कि समुद्र के जल में से सूर्य के किरण-जन्यताप के द्वारा एक प्रकार की भाप या गैस हमेशा उठा करती है और नीचे उठने वाली भाप, गैस या धूलि आदि का यह नियम हुआ करता है कि वे नीचे स्थूल, मोटी या सघन हुआ करती हैं और ऊपर की ओर ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती हैं, त्यों-त्यों सूक्ष्म, तरल या पतली होती जाती हैं। इस नियम के अनुसार समुद्र में से उठने वाली भाप या गैस का स्थूल भाग तो नीचे की सतह पर रहता है और उसका पतला भाग ऊपरी सतह पर। नीचे का स्थूल भाग—लम्बाई पर स्थित पदार्थ को देखने वाले की दृष्टि के लिए—यदि गणित से जोड़ा जाय, तो बहुत सघन सिद्ध होता है। बस, यही सघनता जहाज को देखने वाले पुरुष की आँखें के लिए प्रतिबन्धक का काम करती है। यही कारण है कि जहाज के समतल पर से या आप के मंतव्यानुसार नीचाई से आता हुआ मान लेने पर भी हमें जहाज के नीचे भाग दिखाई नहीं देता। किन्तु ऊपरी भाग वाली भाप या गैस नीचे की अपेक्षा सूक्ष्म या पतली रहती है। जिससे जहाज के मस्तूल को देखने में कोई रुकावट नहीं होती। हां जहाज के बहुत दूर होने पर उस ऊपरी पतली भी भाप की सघनता जब गणित के अपेक्षाकृत माप से बहुत

अधिक रहती है, तब जहाज का ऊपरी हिस्सा भी दिखाई नहीं देता है। किन्तु जहाज ज्यों-ज्यों पास आता जाता है त्यों-त्यों उस भाप की सघनता के कम होते जाने से वह उतना ही अधिक स्पष्ट दिखाई देने लगता है। इसी प्रकार जहाज के पास आते जाने से भाप की सघनता अपेक्षाकृत ज्यों-ज्यों घटने लगती है—त्यों-त्यों नीचे का भाग भी जहाज का स्पष्ट दिखाई देने लगता है। इस प्रकार मेरे ध्यान से आप की इस शंका का समाधान भलीभाँति हो जाता है।

इस विषय के जानकार विद्वानों से परमार्श करने पर मैं इसी निष्कर्ष पर पहुंचा हूं। संभव है, इसके कुछ समझने में भी अन्यथा हो, परन्तु इतना तो निश्चित ही है कि पृथ्वी को गोल सिद्ध करने के लिए उक्त युक्ति देना बिलकुल ही निस्सार है।

आज जैन विद्वानों के सामने इसी प्रकार के कितने ही प्रश्न उपस्थित हैं। किन्तु उनका सयुक्तिक समाधान न होने से बहुभाग लोगों का श्रद्धान जैन शास्त्रों पर से उठता जा रहा है। दुःख है कि इतनी विशाल एवं विपुल सम्पत्तिशाली जैन-समाज में ऐसी एक भी संस्था नहीं है, जहां पर बैठकर इस विषय के विशेषज्ञ उन उन शंकाओं का निर्णय या समाधान किया करें और निर्णीत तत्व समाज के सामने प्रकाश में लाए जा सकें। क्या सभायें एवं परिषदें भी इस ओर अपना ध्यान आकृष्ट करेंगी ?

श्रीधरसेन-कृत 'विश्वलोचनकोश' का समय

(लेखक—श्रीयुत पी० के० गौड़)

आॅफ्रेस्ट[1] ने प्राचीन पुस्तकों की अपनी सूची में 'विश्वलोचन कोश' के संबंध में लिखा है:—"इस ग्रंथ के कर्त्ता श्रीधरसेन थे। इसका उद्धरण आक्सफोर्ड में वर्त्तमान हस्तलिखित प्रति नं० १३५ बी और १८५ बी में है। शायद 'विश्वलोचन'[2] और 'विश्वप्रकाश' एक ही ग्रंथ है।" पिटर्सन ने अपनी सूची के भाग ५ पृष्ठ १६२ में लिखा है—"श्रीधर[3] एक कोशकार है। इसके पिता का नाम मुनिसेन था। सुन्दरगणी ने अपने धातुरत्नाकर में बहुधा इसके उद्धरण दिये हैं।"

साधु सुन्दरगणी ने १६२४[4] ई० में धातुरत्नाकर की रचना की है। यदि श्रीधरसेन ही 'विश्वलोचनकोश' के रचयिता हों तो हम कह सकते हैं कि यह १६२४ से पहले अवश्य वर्त्तमान थे।

ऑक्सफोर्ड में कालिदास के विक्रमोर्वशीय पर ‍ंगनाथ की टीका की जो हस्तलिखित प्रति[5] रक्खी हुई है उसमें 'विश्वलोचन' का जिक्र आया है, और ऑफ्रेस्ट ने ऑक्सफोर्ड में रक्खी हुई प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों की जो सूची बनाई है, उसमें उन्होंने 'विश्वलोचन' और 'विश्वप्रकाश' को एक ही ग्रंथ माना है। किन्तु अपने 'केटालोगस केटालोगोरम'[6] में उन्होंने लिखा है कि यह एक संभावनामात्र है।*

---

१ Aufrecht-cat catalogorum, Part I P. 586a.

२ Ibid, Part III, 123b.

३ Ibid, Part I, 668b.

४ Ibid Part I, P. 725.

५ Cat. of Mss. in Bodleian Library, 1864, Oxford P. 135b "Vis'valocana (= Visvaprakása).

६ Cat. Catal. Part I, P. 586a "विश्वलोचन Perhaps the Visvaprakasa".

*"विश्वलोचन कोश" से "विश्वप्रकाश" अतिरिक्त कोश ग्रन्थ है। इसके रचयिता महेश्वर हैं। यह चौखम्बा संस्कृत सीरिज बनारस से प्रकाशित हुआ है। श्रीयुत पी० के० गौड जी ने भी आगे इसकी चर्चा की है।

के० बी० शास्त्री

ऑक्सफोर्ड में वर्त्तमान, हेमचन्द्र-रचित 'अभिधान-चिन्तामणि' की एक हस्तलिखित प्रति[१] के हासिये में 'विश्वलोचनकार' और 'श्रीधर' का उल्लेख आया है। लेकिन हासिये में लिखी गई इन बातों का इतिहास की दृष्टि से कोई मूल्य नहीं है, क्योंकि हेमचन्द्र ने अपने ग्रंथ में जिन ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का उल्लेख[२] किया है उनमें उपर्युक्त बातों का जिक्र नहीं पाया जाता। हेमचन्द्र ने 'अभिधान-चिन्तामणि' में या उसकी स्वरचित टीका में इन बातों का उल्लेख नहीं किया है।

विक्रमोर्वशीय[३] पर रंगनाथ की टीका १६५६ ई० में रची गई थी। रंगनाथ ने विश्वलोचन का उल्लेख किया है। इस प्रकार 'विश्वलोचन' के समय के संबंध में हमें एक दूसरा उल्लेख मिलता है, यद्यपि यह उल्लेख 'धातुरत्नाकर' की अपेक्षा ३२ वर्ष पीछे का है। इन उल्लेखों से यह पता चलता है कि यह ग्रंथ अवश्य १५५० ई० से पहले रचा गया होगा।

पिटर्सन ने अपनी पाँचवीं रिपोर्ट (१८९६) में विश्वलोचनकोश की उस हस्तलिखित प्रति से उद्धरण पेश किया है, जो अनहलवारा पट्टन में सुरक्षित है (पृष्ठ ११२, हस्त प्र० न० ५)। उसी रिपोर्ट में ग्रन्थकारों की अनुक्रमणिका में वह श्रीधर के विषय में लिखते हैं कि वह सेनान्वय के मुनिसेन के पुत्र थे तथा विश्वलोचनकोश प्रत्यक्षरूप से उनके शिष्य के नाम से संबद्ध किया गया है।

जैनग्रन्थावलि में[४] 'विश्वलोचनकोश' का उल्लेख किया गया है और इस संबंध में उपर्युक्त हस्तलिखित प्रति का उल्लेख आया है, लेकिन उक्त ग्रन्थावलि में यह बताया गया है कि विश्वलोचनकोश के रचयिता दिगंबर थे, अर्थात् वे दिगंबर जैन मत के थे, श्वेताम्बर नहीं।

प्रोफेसर हन्दीक़ी का कहना है कि नैषधचरित के टीकाकार जिनराज ने १६ सर्ग के २०वें श्लोक की टीका में श्रीधर नामक एक कोशकार का उल्लेख किया है। प्रोफेसर हन्दीक़ी के ही अनुसार जिनराज १६५० ई० में वर्त्तमान थे। प्रोफेसर साहब ने जिस उल्लेख के विषय में लिखा है, वह इस प्रकार है[६] :—

"शाणः साधेतोलके कर्षे कषणे करपत्रके इति श्रीधरः"

---

१ Catalogue of Bod. Mss. P. 185b.

२ Abhidhánchintámani. Part II. Index etc. PP. 317—322 ed. by Jayanta Vijaya Baroda, (1—8—1920)

३ प्रो० चारुदेव शास्त्री-द्वारा लिखित 'विक्रमोर्वशीय' की भूमिका, पृष्ठ २५ देखो (लाहोर, १९२९) रंगनाथ व्योमकोशपुताभिधान के रहनेवाले थे। उनके पिता का नाम बालकृष्ण था और वह सिम्बेकर परिवार के थे।

४ जैन श्वेताम्बर कान्फ्रेन्स-द्वारा प्रकाशित बम्बई, १९०९, पृष्ठ ३१३।

५ नैषधचरित की भूमिका, पृष्ठ १७ (Punjab Oriental Series, 1934).

६ Ibid, Notes P. 446.

उपर्युक्त उद्धरण श्रीधरसेन-रचित 'विश्वलोचनकोश' के निम्नलिखित श्लोक से बिल्कुल मिलता जुलता है[1]:—

"शाणोर्द्ध माषके कर्षे कषणे करपत्रके"

इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरण श्रीधरसेनकृत विश्वलोचनकोश का समय-संबंधी अन्यतम प्रमाण है।

प्रोफेसर हन्दीक्री श्रीधर के संबंध में कहते हैं—"'दवीयम्' की 'पुरुषकार' टीका में श्रीधर के उद्धरण दिये गये हैं। 'पुरुषकार' का समय १३वीं सदी बतलाया जाता है।"

उपर्युक्त उद्धरण इस प्रकार है:—

पृष्ठ ६६ तथा च श्रीधरो नृत्यागेन नृत्यादीन् पठित्वा एतोन्सम वर्जयित्वा इत्याह।

पृष्ठ १६ श्रीधरस्तु 'स्तृञ् छादने' दीर्घः स्तृञ् छादने ह्रस्व इत्युभावप्युपन्यास्थत्।।

उपर्युक्त उद्धरण किसी व्याकरण-ग्रंथ के जान पड़ते हैं, श्रीधरसेन-रचित 'विश्वलोचन-कोश' के नहीं। जब तक यह निश्चित न हो जाय कि कोशकार श्रीधरसेन और वैयाकरण श्रीधर एक ही व्यक्ति हैं, तब तक उपर्युक्त उल्लेखों का इस संबंध में कोई महत्त्व नहीं।

श्रीधरचक्रवर्त्तिन[2] नामक एक व्यक्ति सौपद्म व्याकरण के भाष्यकार के रूप में ज्ञात है। किन्तु हमारे आगे उक्त भाष्य मौजूद नहीं है, अतः उपर्युक्त उद्धरणों के संबंध में कुछ कहना अभी हमारे लिये संभव नहीं।

विश्वलोचनकोश[3] के संपादक श्रीनन्दलाल शर्मा का कहना है कि श्रुतावतार, भविष्यदत्त-चरित्र और नागकुमारकथा नामक ग्रंथ भी श्रीधर के ही बनाये हुए हैं। लेकिन साथ ही वे यह भी कहते हैं कि उन्हें उक्त ग्रंथ देखने को नहीं मिले, अतः वे उनके कर्त्ता के संबंध में निश्चितरूप से कुछ कहने में असमर्थ हैं।* हमने पूना के सरकारी पुस्तकालय में भविष्यदत्त-

---

१ विश्वलोचनकोश ('मुक्तावलिकाश' के नाम से भी प्रसिद्ध) पृष्ठ १०४ नाथरंगजी गाँधी-द्वारा संपादित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, जून १९१२।

२ Belvalker, Systems of sanskrit grammar, P. 112, Poona 1915.

३ N. S. Press, Bombay, June 1912.

* श्रीनन्दलाल शर्मा ने 'विश्वलोचनकोश' की भूमिका में इस प्रकार लिखा है—"दिगम्बर जैनग्रंथकर्त्ता और उनके ग्रंथ" नामक पुस्तक से मालूम होता है कि, जैनियों में श्रीधर, श्रीधरसेन आदि नाम के कई विद्वान् हो गये हैं और उनके बनाये हुए श्रुतावतार, भविष्यदत्तचरित्र, नागकुमार-कथा आदि कई ग्रंथ हैं, परन्तु उक्त ग्रंथों के देखे बिना यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि वे इन श्रीधरसेन से पृथक् हैं अथवा नहीं हैं।" पाठक लेखक महोदय के उद्धरण से श्रीनन्दलाल शर्मा की मूलपंक्तियों का मिलान करें। 'दिगम्बर जैन ग्रंथकर्त्ता और उनके ग्रंथ' में श्रीधरसेन नाम के दो ही ग्रंथकर्त्ताओं का ज़िक्र है। भविष्यदत्त-चरित्र और श्रुतावतार (गद्य) के रचयिता श्रीधर और विश्वलोचनकोश तथा नागपञ्चमी-कथा के रचयिता श्रीधरसेन बताये गये हैं।

—के० बी० शास्त्री

चरित्र देखा है। इस ग्रंथ का रचयिता विबुध श्रीधर बतलाया गया है। हमारे आगे ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिससे यह सिद्ध हो सके कि विबुध श्रीधर और विश्वलोचनकोश के रचयिता श्रीधरसेन एक ही व्यक्ति हैं। सरकारी पुस्तकालय, पूना में वर्त्तमान भविष्यदत्त-चरित्र की उक्त हस्तलिखित प्रति १५८० ई० में अम्बावतीदुर्ग नामक स्थान में राजा भगवानदास (जो महाराजाधिराज कहे जाते हैं) के समय में लिखी गई थी। अनुमान होता है, विबुध-श्रीधर ने १५२५ के लगभग उक्त पुस्तक की रचना की होगी।

हम श्रीधरसेन का एक प्रमाणसिद्ध समय १५५० ई० निश्चित कर चुके हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि उनके समान नामधारियों के उल्लेख से उनके समय के स्पष्टीकरण में कोई सहायता नहीं पहुंचती।

इस संबंध में आभ्यन्तरिक साक्ष्य प्रस्तुत करने के पूर्व इस प्रश्न से संबंध रखनेवाली कुछ परोक्ष बातों की चर्चा अप्रासंगिक न होगी। ऊपर हम देख चुके हैं कि हेमचन्द्र ने अपने 'अभिधान-चिन्तामणि' में न तो विश्वलोचनकोश का जिक्र किया है और न श्रीधरसेन का। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि हेमचन्द्र के बाद (११५० ई०) 'विश्वलोचनकोश' लिखा गया होगा[१]। महेश्वर[२] विरचित 'विश्वप्रकाश' या 'विश्व' ने भी, जो ११११ ई० में रचा गया था, सहायक पुस्तकों या ग्रन्थकारों की सूची में श्रीधरसेन या विश्वलोचनकोश का उल्लेख नहीं किया है। इससे यह भी अनुमान हो सकता है कि ११११ ई० में महेश्वर को विश्वलोचनकोश का पता न था। किन्तु इसके प्रतिकूल श्रीधरसेन ने हेमचन्द्र और महेश्वर दोनों के ग्रंथों से काफी सहायता ली है। श्रीधरसेन, हेमचन्द्र, महेश्वर और मेदिनी के कितने ऋणी हैं इसका पता नीचे के कोष्ठक के उद्धरणों से चलेगा :—

ई० सन् १०८८-११७२	हेमचन्द्र पृ०१०० श्लोक १०६	गोमेदकं	पीतरत्ने	काकोले	पत्रकेऽपि च
ई० सन् ११११	विश्वप्रकाश पृष्ठ १८ श्लोक १९७	”	पीतमणौ	”	” ”
ई० सन् ११११ के बाद	मेदिनी पृष्ठ २० श्लो० १८६ ब०	”	”	”	” ”
	श्रीधरसेन पृष्ठ ३३ श्लो० १९० ब०	गोमेदकः	”	”	” ”

[१] Duff, Indian Chronology P. 152.

[२] विश्वप्रकाश की भूमिका, पृष्ठ १—इस ग्रंथ के प्रणयन में ग्रंथकर्ता ने 'नामपारायण' को

ऊपर के उद्धरणों से जान पड़ जाता है कि मेदिनी 'विश्वप्रकाश' का ऋणी है, और हम इस निश्चय पर पहुंच सकते हैं कि उसने 'गोमेदक' आदि शब्द विश्वप्रकाश से ज्यों के त्यों लिये हैं। 'विश्वप्रकाश' हेमचन्द्र का कितना ऋणी है, यह अनुसंधान का विषय है। क्योंकि यह भी संभव है कि दोनों ने ही कोई खास बात किसी खास ग्रंथ से ली हो। हेमचन्द्र (१०८८-११७८) और विश्वप्रकाश के रचयिता महेश्वर (११११) समसामयिक थे। और यह संभव है कि दो समसामयिक व्यक्ति, सुलभ होने पर भी एक दूसरे की रचनाओं को उपेक्षा की दृष्टि से देखें, या कुछ सहायता भी लें तो परोक्षरूप से। यदि यह सिद्ध हो जाय कि विश्वप्रकाश ने हेमचन्द्र के 'अनेकार्थ-संग्रह' से सहायता ली है, तो हम कह सकते हैं कि 'अनेकार्थ-संग्रह' का 'पीतरत्ने' विश्वकोश में 'पीतमणौ' कर दिया गया है, और श्रीधरसेन ने इस परिवर्त्तित शब्द को या तो विश्वप्रकाश से लियो है या मेदिना स।

इस संभव साक्ष्य को पुष्टि में हम विश्वलोचनकोश की एक दूसरी पंक्ति की परीक्षा कर सकते हैं और उपर्युक्त तीनों कोशों से उसका मिलान कर सकते हैं :—

हेमचन्द्र पृ० ४९ श्लो० ६२ अ०	पुलाको	भक्तसिक्ते	स्यात्	संक्षेपा	सारधान्ययोः
विश्वप्रकाश	पुलाक	स्तुच्छधान्ये	,,	संक्षेपे	भक्तसिक्थके
मेदिनी पृ० १३ श्लो० १२२ अ०	,,	,,	,,	,,	,,
श्रीधरसेन पृ० २१ श्लो० ११७	,,	,,	,,	,,	,, शिक्थके

उपर्युक्त उद्धरणों से भी ज्ञात होता है कि हेमचन्द्र के जो उद्धरण विश्वप्रकाश में परिवर्त्तित रूप में आये हैं, मेदिनी और विश्वलोचनकोश में भी उसी परिवर्त्तित रूप में आये हैं। पर यह निश्चितरूप से कहना कठिन है कि श्रीधर ने विश्वप्रकाश कोश से लिया है या मेदिनी कोश से।

विश्वलोचनकोश की भूमिका में श्रीनन्दलाल शर्मा ने भी यह आशय प्रकट किया है कि

अपना पथप्रदर्शक माना है और निम्नलिखित ग्रंथों और ग्रंथकारों से भी काफ़ी सहायता ली है— राजकोश, भोगीन्द्र, कात्यायन, साहसाङ्क वाचस्पति, व्याडि, विश्वरूप, अमलमंगल, सुभंग, गोपालित, भागुर" (चौखम्बा संस्कृत सिरीज़, १९११)।

यह उपर्युक्त तीनों कोशों से पीछे लिखा गया है। वे लिखते हैं :—

"संस्कृत में कई नानार्थकोश हैं, परन्तु जहाँ तक हम जानते हैं, कोई भी इतना बड़ा और इतने अधिक अर्थों को बतलानेवाला नहीं है। उसमें एक-एक शब्द को जितने अर्थों का वाचक बतलाया है, दूसरे में इससे प्रायः कम ही बतलाया है। उदाहरण के लिये एक 'रुचक' शब्द को ही लीजिये। जहाँ अमर में चार, मेदिनी में दश इसके अर्थ बतलाये हैं, वहां इसमें १२ अर्थ बतलाये हैं। यही इस कोश में विशेषता है।"

यदि और भी समान दृष्टांत देकर ऊपर की बातों की पुष्टि की जाय तो यह सिद्ध होगा कि विश्वलोचनकोश मेदिनी के पीछे बना, और इस अवस्था में श्रीधरसेन का समय मेदिनी के समय पर निर्भर करता है। यदि यह तर्क ग्रहण किया जाय तो हमें श्रीधरसेन को १२वीं और १६वीं शताब्दी के बीच रखना होगा। प्रो० रामावतार शर्मा ने कल्पद्रुमकोश की विद्वत्तापूर्ण भूमिका में मेदिनी का समय बारहवीं शताब्दी रक्खा है। और चूंकि मेदिनी विश्वप्रकाश (११११) का उल्लेख करता है और उसकी आलोचना करता है,* और चूंकि पद्मनाभदत्त (१३७५) ने 'प्रशोदरादिप्रथी' में मेदिनी से उद्धरण दिया है, इसलिये हम मेदिनी को १३वीं विश्वलोचन को १३वीं और १६वीं शताब्दी के बीच में रख सकते है। यदि अधिक स्पष्ट रूप से विश्वलोचनकोश को १३५० और १५५० के मध्य में रक्खें तो अनुचित न होगा। निश्चयात्मक प्रमाणों के अभाव में उक्त समय को अधिक स्पष्ट नहीं किया जा सकता।

श्रीधरसेन के कुल तथा वास-स्थान के संबंध में उसी कोश में दी हुई प्रशस्ति† से हमें

---

* मेदिनीकोश, जीवानन्द विद्यासागर-द्वारा संपादित, कलकत्ता १८७२।

"अपि बहुदोषं विश्वप्रकाशकोशञ्च सुविचार्य।"

† प्रशस्ति इस प्रकार है :—

सेनान्वये सकलसत्वसमर्पितश्रीः श्रीमानजायत कविर्मुनिसेननामा।
आन्वीक्षकी सकलशास्त्रमयी च विद्या यस्यास वादपदवी न दवीयसी स्यात् ॥१॥
तस्मादभूदखिलवाङ्मयपारदृश्वा विश्वासपात्रमवनीतलनायकानाम्।
श्रीश्रीधरः सकलसत्कविगुम्फितत्वपीयूषपानकृतनिर्जरभारतीकः ॥२॥
तस्मातिशायिनि कवेः पथिजागरूकधीलोचनस्य गुरुशासनलोचनस्य।
नानाकवीन्द्ररचितानभिधानकोशानाकृष्य लोचनमिवायमदीपि कोशः ॥३॥
साहित्यकर्मंकवितागमजागरूकैरालोकितः पदविदां च पुरे निवासी।
वर्मन्वयोत्थ मिलितः प्रतिभान्वितानां चेदस्ति दुर्जनवचो रहितं तदानीम् ॥४॥

कुछ पता चलता है। उनके गुरु का* नाम मुनिसेन था, जो न्यायशास्त्र के पण्डित थे तथा अच्छे कवि भी थे। उस समय कुछ राजाओं के यहाँ उनका अच्छा मान था।† चौथे श्लोक में 'पदविदां च पुरे निवासी' से श्रीधरसेन का वासस्थान ज्ञात होता है। लेकिन मैं उक्त स्थान के संबंध में अभी कुछ प्रकाश डालने में असमर्थ हूं।‡

यत्नो मया यमनपायमशेषविद्याविद्याधरीपरिवृढस्य मतौ निधोक्तुम्।
त्यक्त्वा पुनर्विमलकौस्तुभरत्नमन्यो लक्ष्मीविनोदरसिको रसिकोऽस्ति धन्यः ॥५॥
नागेन्द्रसंग्रथितकोशसमुद्रमध्ये नानाकवीन्द्रमुखशुक्तिसमुद्भवेयम्।
विद्वद्गृहाद्भ्रमरनिर्मितपट्टसूत्रे मुक्तावली विरचिता हृदि संनिधातुम् ॥६॥
वीतरागस्य सुरभेर्यशः कुसुमशालिनः। श्रितोऽस्मि चरणस्थनं यः पुंनागत्वमागतः ॥७॥

[विश्वलोचनकोश (नंदलाल शर्मा—संपादित) में अन्तिम यह ७वां एक श्लोक अधिक है]

—के० बी० शास्त्री

* निबन्ध के प्रारंभ में पिटर्सन साहब का जिक्र आया है, जिन्होंने मुनिसेन को श्रीधरसेन का पिता माना है, और यहाँ पर मुनसेन को उनका गुरु लिखा गया है। अन्तिम बात ही युक्तियुक्त है। श्रीधरसेन दिग्बर जैन थे और यह कोश उन्होंने मुनि अवस्था में रचा था। मुनि अवस्था में जैन लोग पिता का नाम नहीं लेते, इसलिये मुनिसेन का गुरु होना ही अधिक संभव है।

—के० बी० शास्त्री

† मिलान कीजिये विश्वलोचन की भूमिका में श्रीनन्दलाल शर्मा की पंक्तियों से:—

"इनके गुरु का नाम श्रीमुनिसेन था, जो कि सेनसंघ के आचार्य थे और बड़े भारी कवि तथा नैयायिक थे। दिगम्बर-संप्रदाय के मुनियों के जो चार संघ हैं, सेन उनमें से एक है। श्रीधरसेन नानाशास्त्रों के पारगामी विद्वान् थे और बड़े बड़े राजा लोग उन पर श्रद्धा रखते थे। वे काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ तथा कवि भी थे।"

—के० बी० शास्त्री

‡ अंग्रेजी से अनूदित।

जैनप्रतिमा-विधान

(लेखक—श्रीयुत त्रिवेणी प्रसाद, बी० ए०)

जैन-प्रतिमाओं में अर्हन्त या तीर्थंकर-बिंब का पहला स्थान है। इसके बाद, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधुओं का स्थान। क्षेत्रपाल, यक्ष तथा इन्द्रादि की प्रतिमाएँ भी बनती हैं। अष्ट-प्रातिहार्यों के अतिरिक्त चौबीस तीर्थङ्करों के भिन्न भिन्न चौबीस चिह्न भी हैं। ये चिह्न हाथी घोड़ा, हिरन आदि हैं और तीर्थंकरों की मूर्त्तियों के साथ बनाये जाते हैं। प्रस्तुत लेख में मुख्यतः तीर्थंकरों की मूर्त्तियों के संबंध में विचार किया जायगा।

(१) प्रतिमा का विस्तार

प्रतिमा के विस्तार के संबंध में वसुनंदि-प्रतिष्ठा-पाठ में लिखा है :—

"अथ बिंबं जिनेन्द्रस्य कर्त्तव्यं लक्षणान्वितं।

× × × × ×

निजांगुल-प्रमाणेन साष्टांगुल-शतायुतम्"।

अर्थात् जिनेन्द्र की मूर्त्ति १०८ अंगुल की होनी चाहिये। अकलंक प्रतिष्ठाकल्प के प्रथम अध्याय में लिखा है—"उत्तमादित्रिभेदात्मदशतालादि-सम्मतम्।" यहाँ 'दशतालादि' के आदि पद से बोध होता है कि दसताल और नौताल दोनों की बन सकती है। किसी किसी के मत से खड्गासन प्रतिमा १२० भाग की होती है। (जिन-संहिता, पृष्ठ ८३, श्लोक ८१)*

पद्मासन प्रतिमा का विस्तार खड़ी प्रतिमा से आधा माना गया है, और वह ५४ भाग की

---

*मानसार-शिल्पशास्त्र के अनुसार मूर्त्ति की ऊँचाई यजमान की ऊँचाई के अनुसार होनी चाहिए। उसके अनुसार मूर्त्तियाँ तीन प्रकार की होती हैं, उत्तम अर्थात् सब से ऊँची, मध्यम अर्थात् कुछ छोटी, और अधम अर्थात् सब से छोटी। दसताल की सबसे बड़ी मूर्त्ति १२४ भागों में अनुपातानुसार विभक्त रहती है। मध्यम मूर्त्ति १२० तथा अधम ११६ भागों में विभक्त रहती है। दसताल वाली मूर्त्ति वह है जिसका शरीर मस्तक से दसगुने प्रमाण का होता है। नौताल की मूर्त्ति में शरीर मस्तक से नौगुना बड़ा होता है। इसी प्रकार आठताल तथा नीचे की भी मूर्त्तियाँ होती हैं। मानसार शिल्पशास्त्र संभवतः ईसा की ५वीं शताब्दी का है। मानसार का मत पढ़ते समय यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यह ग्रन्थ अजैन है।

अकृत्रिम मूर्त्तियाँ १२० भाग की कृत्रिम १०८ भाग की होती हैं। ताल १ बित्ता अथवा १२ अंगुल का होता है।

मानी गई है। अर्थात् १०८ भाग के प्रमाण से प्रतिमा के भिन्न भिन्न अंगों का क्या प्रमाण होना चाहिये, यह 'बिंब-निर्माण-विधि' के अनुसार नीचे बतलाया जाता है—

[क]	(१) मुख ...	... १२ भाग
	(२) ग्रीवा ...	... ४ ,,
	(३) ग्रीवा से वक्षस्थल तक	... १२ ,,
	(४) वक्षस्थल से नाभि तक	... १२ ,,
	(५) नाभि से लिंग मूल तक	... १२ ,,
	(६) लिंगमूल से जानु तक	... २४ ,,
	(७) जानु ...	... ४ ,,
	(८) जानु से गुल्फ तक	... २४ ,,
	(९) गुल्फ से पैर तक	... ४ ,,
		१०८
[ख]	(१) ललाट ...	... ४ भाग
	(२) नासिका ...	... ४ ,,
	(३) नासिका से ठुड्ढी	... ४ ,,
	(४) स्तन-भाग से नाभि	... १ बित्ता
	(५) नाभि का प्रमाण	... १ अंगुल चौड़ा
	(६) नाभि से लिंग का अन्तर	... ८ भाग
	(७) कटि ...	... १८ भाग (दो हाथ की परिधि)
	(८) पेडू ...	... ८ अंगुल-प्रमाण
	(९) लिंग ...	... २ अंगुल-प्रमाण मोटा (विस्तार-परिधि से तिगुनी)

उष्णीष—उष्णीष केश से अलग वस्तु है। वह दो अंगुल प्रमाण का होता है और मस्तक के मध्य में कील के समान उठा हुआ रहता है।*

केश—भिन्न भिन्न प्रदेशों की मूर्त्तियों के केशकलाप में अंतर है। उड़ीसा की मूर्त्तियों में जटा पाई जाती है। कहीं कहीं बाल नहीं भी पाया जाता है, और कहीं

* किसी किसी के मत से दिगंबर मूर्त्तियों में उष्णीष की आवश्यकता नहीं है और किसी किसी के मत से उसका होना आवश्यक है। इसीलिये आजकल बहुधा मूर्त्तियों में उष्णीष का चिह्न नहीं मिलता।

कहीं घुंघराले बाल के चिह्न पाये जाते हैं। रविषेणाचार्य-प्रणीत पद्मपुराण में जिनेन्द्र का वर्णन 'पद्मासनस्थितं तुंगं जटामुकुट❋ धारिणम्' ऐसा किया गया है। जिनसंहिता, पृष्ठ ८४, श्लोक ३, ४ में बतलाया गया है कि सिर के केश शंख के आकार के घुमे हुए अर्थात् घुंघराले हों। पर वास्तव में, केवलज्ञान के समय नखकेश का जो प्रमाण हो वही मोक्षपर्यंत होना चाहिये।† लेकिन प्रतिमा में काँख केश-रहित और मुखमण्डल श्मश्रु-रहित होना चाहिए।‡

दृष्टि—दृष्टि के संबन्ध में वसुनंदि ने कहा है—

"नात्यंतोन्मीलिता स्तब्धा न विस्फारितमीलिता।
तिर्यगूर्ध्वमधोदृष्टिं वर्जयित्वा प्रयत्नतः॥
नासाग्रनिहिता शांता प्रसन्ना निर्विकारिका।
वीतरागस्य मध्यस्था कर्त्तव्या चोत्तमा तथा॥"

अर्थात्—प्रतिमा की दृष्टि न तो अत्यन्त खुली हुई हो, न बंद, न तिरछी हो और न ऊँची। वह अर्द्धोन्मीलित, शान्त, नासिका के अग्रभाग में स्थिर, प्रसन्न, निर्विकार और मध्यस्थ हो।

दृष्टि दो प्रकार की बताई गई है (१) समदृष्टि (२) नासा-दृष्टि। समदृष्टि का अर्थ है, रागद्वेष से रहित होकर सबको एक दृष्टि से देखना। नासादृष्टि का अर्थ है, नासिका के अग्रभाग में नेत्र का लक्ष्य होना। ध्यान की अवस्था में दिगंबर मुनियों की नासादृष्टि है और तेरहवें गुणस्थान में जिनेन्द्रदेव की समदृष्टि है। समदृष्टि में नासादृष्टि से आँखें कुछ अधिक खुली हुई रहती हैं, (लेकिन पूरी नहीं खुली रहतीं) और सामने की ओर रहती हैं। जिनबिंब बहुधा नासादृष्टि वाला बताया गया है।§

वक्षस्थल—वक्षस्थल के संबंध में वसुनंदि-प्रतिष्ठापाठ में लिखा है :—

"वितस्तिद्वयविस्तीर्णं उरः श्रीवत्सलांछितम्":—अध्याय, ४, श्लोक, ४३।

❋ यहाँ 'जटामुकुट' से 'जटा' और 'मुकुट' ऐसा अर्थ नहीं निकालना चाहिये, क्योंकि दिगंबरीय मूर्त्तियों में मुकुट निषिद्ध है। यहाँ 'जटा का मुकुट' अर्थात् 'ऊँची उठी हुई जटाएँ', ऐसा अर्थ निकलता है।

† "मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणांतरायक्षयाच्च केवलम्" इति तत्वार्थसूत्रवचनात्।

‡ "कक्षादि-रोम-हीनांगश्मश्रु-विवर्जितं"—बि० नि० वि०

§ "शांतप्रसन्नमध्यस्थनासाग्रस्था..........."(आशाधर-मुद्रित प्रतिष्ठापाठ)

"शांतं नासाग्रदृष्टिं विमलगुणगणैः भ्राजमानं प्रशस्तं......"प्रतिष्ठास्वरूप प्रकरण, (श्लोक ११)

अर्थात्—वक्षस्थल दो बित्ता चौड़ा और श्रीवत्सलांछन से शोभित होना चाहिये।

श्रीवत्स—श्रीवत्स-लांछन वक्षस्थल के मध्यभाग में दो अङ्गुल के प्रमाण से ऊँचा होता है। मानसार शिल्पशास्त्र के अनुसार श्रीवत्सचिह्न सुवर्ण का होता है।

नाभि—नाभि एक अंगुल के प्रमाण से चौड़ी और दक्षिणावर्त्त होनी चाहिये।

कटि—कटि की परिधि दो हाथ के प्रमाण से मानी गई है।

लिंग—दिगंबरीय प्रतिमाओं में कायोत्सर्गासन (खड़ी) की अवस्था में तो लिंग का होना अनिवार्य्य है; पर पद्मासन या पर्यंकासन (बैठी हुई) में लिंग का चिह्न होना चाहिये या नहीं, इसमें मतविभेद है। वसुनंदि-प्रतिष्ठापाठ, अध्याय ४ के ६९वें श्लोकार्द्ध—"भावरूपानुविद्धाङ्गं कारयेत् बिंबमर्हतः" का अर्थ इस प्रकार लगाया जाता है कि पद्मासन-प्रतिमा में जितने अङ्ग दीख पड़ते हैं, उतने पूर्ण होने चाहिये। यह एक स्पष्ट बात है कि पद्मासन की अवस्था में लिंग पैरों के नीचे छिपा रहता है, अतः उसका गुप्त रहना स्वाभाविक है।

दूसरे पक्षवालों का मत है कि दिगम्बर-प्रतिमाओं में लिंग का चिह्न अवश्य होना चाहिये, यहाँ तक कि पद्मासन में भी उसका चिह्न दृष्टिगोचर होना चाहिये।† इनका कहना है कि जब वसुनंदि-प्रतिष्ठापाठ के अनुसार पद्मासन-प्रतिमा कायोत्सर्ग प्रतिमा से आधी होती है, तो उसके सभी अंग आधे प्रमाण से होने चाहिये—लिंग भी आधे प्रमाण से होना चाहिये। इस पक्ष के लोग 'भावरूपानुविद्धाङ्गं कारयेत् बिंबमर्हतः' का अर्थ यह करते हैं कि—"भावरूपता और वैराग्यरूपता से युक्त अर्हतों के बिंब होने चाहिये।"

कायोत्सर्ग-प्रतिमा में लिङ्ग का प्रमाण इस प्रकार है—

द्व्यंगुलो मेढ्रविस्तारो मूलं मध्येऽगुलं भवेत्।
अग्रेऽङ्गुलचतुर्थभागो व्यासान्नाहस्त्रिगुणः॥" (?)

अथात्—लिंग का विस्तार दो अंगुल है; मूल में तथा मध्य में वह एक अंगुल होना चाहिए, अग्रभाग चतुर्थांश तथा व्यास तिगुना होना चाहिये।

---

† चूंकि पद्मासन मूर्त्तियों में लिंग का आकार स्पष्ट नहीं हो सकता, इसीलिये कुछ लोगों ने पद्मासन मूर्त्तियों को प्रशस्त नहीं माना है। पर पद्मासन मूर्त्तियाँ पाई जाती हैं, और शास्त्रानुसार पद्मासन और कायोत्सर्गासन, दो ही आसनों में तीर्थंकरों को मोक्ष प्राप्त हुआ है। अतः पद्मासन मूर्त्तियाँ यदि लिंग-चिह्न-रहित भी हों तो वे पूज्य और दिगंबरीय मानी जानी चाहिए।

वि० नि० वि०, पृ० १७२ में कहा गया है कि लिंग का विस्तार दो अङ्गुल प्रमाण है, मूल भाग और मध्य भाग मे एक अङ्गुल प्रमाण मोटा होता है और विस्तार से परिधि तिगुनी होती है।

चरण—चरण-निर्माण के संबंध में वसुनंदि का मत है :—

"तले पादस्य विस्तारः पार्ष्णः स्याच्चतुरंगुलः।
मध्ये पंचांगुलस्तस्य पादस्यांते षडंगुलः ॥६३॥
पादयुग्मं सुसंश्लिष्टं कार्यं निश्छिद्रसुस्थितम्।
शंखं चक्रांकुशांभोजयवच्छत्राद्यलंकृतम् ॥६४॥" (परिच्छेद ४)

(२) आसन*

तीर्थंकरों की प्रतिमाओं के लिये पद्मासन और कायोत्सर्ग आसन प्रशस्त कहे गए हैं। वीरासन आदि आसन-युक्त प्रतिमाएँ पूज्य नहीं मानी जातीं, क्योंकि तीर्थंकरों की मुक्ति उन्हीं दो आसनों से होती है।† प्रतिष्ठास्वरूप-प्रकरण में लिखा है—"मानोन्मानं च वामे विधृतवरकरं नाम पद्मासनस्थम्" अर्थात् भगवान जिनेन्द्र की मूर्त्ति पद्मासन या कायोत्सर्गासन से युक्त है (ऐसी मूर्त्ति की सेवा करनी चाहिये)।

तथा—"संस्थानसुन्दरमनोहररूपमूर्ध्वं प्रालंबितं ह्यवसनं कमलासनं च।
नान्यासनेन परिकल्पितमीशबिम्बमर्हाविधौ प्रथितमार्यमतिप्रपन्नैः ॥"

(वि० नि० वि०, प्र० श्लोक १५०)

अर्थात्—जिनबिंब पद्मासन या कायोत्सर्गासन से युक्त होना चाहिए,—अन्य आसनों से नहीं।

कायोत्सर्गासन—कायोत्सर्गासन में मूर्त्ति खड़ी होती है, उसके अङ्ग, प्रत्यंग स्पष्ट होते हैं, और पूरे विस्तार के होते हैं।

पद्मासन—पद्मासन में मूर्त्ति बैठी हुई होती है, और कायोत्सर्गासन से इसमें शरीर का विस्तार आधा होता है। पद्मासन का रूप इस प्रकार बताया गया है :—

"जंघाया जंघया श्लिष्टे मध्यभागे प्रकीर्त्तितम्।
पद्मासनं सुखाधायि सुसाध्यं सकलैर्जनैः ॥" —अमितगति।

* पद्मासन और कायोत्सर्गासन के अतिरिक्त पर्यंकासन, पल्यंकासन तथा खड्गासन शब्द भी इस संबंध में आए हैं। वास्तव में, पद्मासन, पर्यंकासन में कोई विशेष भेद नहीं। 'पल्यंकासन' पर्यंकासन शब्द का दूसरा भेद है। खड्गासन और कायोत्सर्गासन एक ही है।

† "वृषभः वासुपूज्यश्च नेमिः पर्यंकयोगतः। कायोत्सर्गस्थितानां तु सिद्धिः शेषजिनेशिनाम् ॥"

तथा—"जंघाया मध्यभागे तु संश्लेषो यत्र जंघया।
पद्मासनमिति प्रोक्तं तदासनविचक्षणैः ॥"

अर्थात्—एक जंघा या दूसरी जंघा के मध्य भाग से मिल जाने पर पद्मासन होता है। पद्मासन में एड़ियाँ और हाथ, पेट से मिलकर भी रहते हैं तथा अलग अलग भी। इसमें वामपाद नीचे और दक्षिणपाद ऊपर होता है और दोनों हाथ दोनों चरणों पर रहते हैं।※

अर्द्ध पद्मासन में तीर्थंकरों की मूर्त्तियाँ प्रशस्त नहीं है।

(३) अष्ट प्रातिहार्य आदि

अर्हंत प्रतिमाओं में (१) तीनछत्र (२) दो चामर (३) अशोकवृक्ष (४) दुंदुभि (५) सिंहासन (६) भामंडल (७) दिव्यभाषा और (८) पुष्पवृष्टि ये आठ प्रातिहार्य होते हैं।†

अर्हन्त-प्रतिमा के दाहिनी तरफ यक्ष, बाईं तरफ यक्षी, पादपीठ के मध्यभाग में क्षेत्रपाल और नीचे नवग्रह होते हैं।‡

२४ तीर्थङ्करों के चिह्न क्रम से ये हैं—बैल, हाथी, घोड़ा, बन्दर, चकवा, कमल, स्वस्तिक, चन्द्रमा, मगर, श्रीवृक्ष, गैंड़ा, भैंसा, सूअर, सेधिक, वज्र, हिरन, बकरा, मच्छ, कलश, कछुआ, कमल की पँखुरी, शंख, सप और सिंह ये चौबीस चिह्न हैं। जिसका जो चिह्न होता है वह सिंहासन के नीचे खुदा होता है।॥"

※ किन्तु सिद्धों की प्रतिमा बहुधा कायोत्सर्गासन में ही देखने में आती है। इसका कारण यह है कि इस आसन में खड़ा होने के कारण दिगंबर का भाव अधिक स्पष्ट रहता है, और पद्मासन में अधोभाग छिप जाता है।

† "स्थापयेदर्हतां छत्रत्रयाशोक-प्रकीर्णकम्। पीठं भामंडलं भाषां पुष्पवृष्टिं च दुंदुभिम्।"

‡ "वामे च यक्षीं बिभ्राणं दक्षिणे यक्षमुत्तमम्।
नवग्रहानधोभागे मध्ये च क्षेत्रपालकम् ॥" —सोमसेन भट्टारक

मानसारशिल्पशास्त्र के अनुसार सिंहासन मकर, तोरण तथा कल्पवृक्ष से शोभित रहता है और मूर्त्ति नारद तथा अन्य ऋषिगण, यक्ष, विद्याधर, सिद्ध नागेन्द्र, लोकपाल आदि से सेवित रहती है।

॥ "गौर्गजोऽश्वकपिकोककमलं स्वस्तिकः शशी।
मकरः श्रीद्रुमो गंडो महिषः कोलसेधिकौ ॥
वज्रं मृगोऽजस्तगरं कलशः कूर्म उत्पलम्।
शंखो नागाधिपः सिंहो लांछनान्यर्हतां क्रमात् ॥"

(४) मुखमण्डल का भाव आदि

दिगंबरीय जिनबिंब वैराग्यभावापन्न. स्थिरभावयुक्त, प्रसन्न, बालवृद्धत्व-भावरहित और दिगंबर होता है। वसुनंदि ने जिनबिंब का लक्षण बतलाते हुए कहा है—"ऋज्वायतं तु सुस्थानं तरुणांगं दिगंबरम्।"

आशाधर-मुद्रित प्रतिष्ठासारोद्धार में लिखा है :—

"शान्तप्रसन्नमध्यस्थनासाग्रस्थाविकारदृक्।
संपूर्णभावरूपानुविद्धांगं लक्षणान्वितम्॥
रौद्रादिदोषनिर्मुक्तं प्रातिहार्यंकयक्षयुक्।"

प्रतिष्ठास्वरूप-प्रकरण में लिखा है—

"शान्तं नासाग्रहदृष्टिं विमलगुणगणैर्भ्राजमानं प्रशस्तम्।
× × × ×
ध्यानारूढं विदेन्यं भजत मुनिजनानंदकं जैन-बिम्बम्॥"

उपर्युक्त उद्धरणों मे यह भाव निकलता है कि जिनेन्द्र का प्रतिबिंब शान्त, रौद्रादि भावों से रहित होना चाहिये; उसकी ग्रीवा कुछ झुकी हुई, मुखमण्डल ध्यान में निश्चल और दीनतारहित होना चाहिए।

(५) दिगंबरीय और श्वेताम्बरीय प्रतिमाओं में अन्तर

दिगम्बरीय और श्वेताम्बरीय मूर्त्तियों मे ये अन्तर होते हैं :—

(१) पद्मासनस्थित मूर्त्तियों को छोड़ कर अन्य दिगंबर मूर्त्तियों में लिंग का होना आवश्यक है। श्वेताम्बर मूर्त्तियों में लिंग का चिह्न नहीं रहता तथा कमर में करधनी और लंगोट का चिह्न बना होता है।

(२) पद्मासन मूर्त्तियों में लंगोट, आँख का बड़ा होना, कल्पित नेत्र होना, मुकुट का चिह्न होना आदि श्वेताम्बरीय चिह्न हैं।

(३) दिगम्बर प्रतिमाओं में आँख की पलकें झुकी हुए होती हैं और श्वेताम्बर मूर्त्तियों में खड़ी दृष्टि होती है।

मानसार-शिल्पशास्त्र में लिखा है कि जैनमूर्त्तियाँ वस्त्राभूषणहीन होती हैं।

अन्य मूर्त्तियां

सिद्ध—सिद्धों की प्रतिमा में अष्ट प्रातिहार्य आदि चिह्न नहीं होने चाहिए। यथा—

"प्रातिहार्यैर्विना शुद्धं सिद्धबिंबमपीदृशम्।
सूरीणां पाठकानां च साधूनां च यथागमम्॥" (वसुनंदि प्र० पा०)

अर्थात्—सिद्धों की प्रतिमा प्रातिहार्यों से रहित होती है। सूरी, पाठक और साधुओं की प्रतिमा शास्त्रानुसार जाननी चाहिये।

यक्ष और देवता—यक्षादि देवताओं के विषय में वसुनंदि ने कहा है :—

"यक्षानां देवतानां च सर्वालंकार-भूषितम्।
स्ववाहनायुधोपेतं कुर्यात्सर्वाङ्गसुन्दरम्॥"

अर्थात् यक्ष और देवताओं की मूर्त्तियाँ सुन्दर, अपने वाहन और आयुध से युक्त तथा सभी अलंकारों से भूषित बनावे।

क्षेत्रपाल—क्षेत्रपाल की मूर्त्ति में, हाथ ऊपर को होना चाहिए; एक हाथ में असिफलक और एक हाथ में गदा होनी चाहिए। वह कुत्ते पर सवार तथा सर्वाभूषणों से युक्त होना चाहिए। क्षेत्रपाल के हाथ में डमरू भी होना चाहिए।

—आशाधर-प्रतिष्ठापाठ-सारोद्धार अध्याय, श्लोक, ५२।

[पं० के० भुजबली शास्त्री की दी हुई सामग्री के आधार पर लिखित]

यह विषय बहुत ही गहन है। इसलिये इस विषय में एक गवेषणापूर्ण विस्तृत लेख वाञ्छनीय है। फिर भी विद्वान् लेखक का यह प्रयास भास्कर के पाठकों को रुचिकर प्रतीत होगा। यथावकाश इस विषय पर भास्कर-द्वारा पर्याप्त प्रकाश डालने की चेष्टा की जायगी।

के० बी० शास्त्री
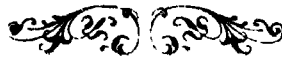
आरा में बाहुबली (गोम्मटेश्वर) स्वामी की प्रतिमा

(लेखक—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री)

भारतीय स्थापत्यकला की शिरोभूषणभूत श्री बाहुबली स्वामी की आश्चर्यकारिणी प्रतिमाओं के दर्शन का सौभाग्य अब तक धर्मप्राण जैनियों को दक्षिण भारत के श्रवणबेल्गोल, कार्कल एवं वेणूरु में ही प्राप्त थो। किन्तु स्वर्गीय बाबू धरणेन्द्र दास जी की धर्मपत्नी तथा स्वर्गीय बाबू देवकुमार जी की भगिनी श्रीमती नेमसुन्दर देवीजी की अविप्लुत धर्मभावना के फलस्वरूप उस विशाल प्रतिमा का अवतरण अब उत्तर भारत के बिहार प्रांतान्तर्गत आरा नगरी में भी हो गया; यह इधर के जैनियों के लिये कम सौभाग्य की बात नहीं है।

इतिहासवेत्ता भारत के इतिहास की जटिलता का अनुभव पद पद पर करते रहते हैं और अधिकतर जैन इतिहास की। इसलिये कालांतर में पुरातत्त्व के अनुसंधान कर्त्ताओं को इस प्रतिमा का इतिवृत्त जानने और लिखने में किसी प्रकार की असुविधा न हो—इसी विचार तथा ऐतिहासिक दृष्टि से आरा के जैनबाला-विश्राम में प्रतिष्ठापित श्रीबाहुली स्वामी की मूर्ति का इतिहास गर्भ विवरण संक्षिप्तरूप से इस भास्कर में अङ्कित करने को मुझे आवश्यकता ज्ञात हुई।

वि० सं० १९९१ फाल्गुन शुक्ल पञ्चमी को पावापुरी में हरप्रसाद दास जी की ओर से जो बिम्बप्रतिष्ठा हो रही थी, उसी समय श्रीमती नेमसुन्दर देवी जी को बाहुबली स्वामी के प्रतिमा निर्माण करने के चिरसंचित विचार को कार्यरूप में परिणत करने की उत्कण्ठा उत्पन्न हुई और वहीं जयपुर से आए हुए सुप्रसिद्ध मूर्त्ति-निर्माता श्रीयुत मूलचन्द्र रामचन्द्र नाहटा से बाहुबली स्वामी की प्रतिमा बना देने के लिये प्रेरणा की। पश्चात् उक्त देवी जी ने वि० सं० १९९२ आषाढ़ शुक्ल १३ को आरा से रामलाल जी मुनीम को जयपुर और मिर्जापुर पत्थर देखने तथा मूर्तिनिर्माण-सम्बन्धी व्यय का निश्चय करने के लिये भेजा। मिर्जापुर में प्रतिमा के लिये पत्थर की तलाश की गयी किंतु वहाँ कोई उपयुक्त पत्थर नहीं मिल सका। पश्चात् जयपुर में भी काले पत्थर के सिवा दूसरे किसी पत्थर का पता नहीं चला। बाबू रामलाल जी मुनीम मूर्ति-निर्माता रामचन्द्र नाहटा को सीधे आरा लिवा लाये और मूर्त्तिनिर्माण के विषय में श्रीमती नेमसुन्दर देवी जी से इनका परामर्श होने लगा। इस परामर्श में बाबू निर्मलकुमार जी के स्टेट के खजाँची बाबू चण्डी प्रसाद जी भी सम्मिलित थे। परामर्श के फलस्वरूप यही निश्चय हुआ कि मूर्त्ति, जो पत्थर मिलेगा उसी की बनेगी किंतु पूर्व में श्रवण-बेल्गोलस्थ जिस गोम्मटेश्वर की प्रतिमा का दर्शन कर श्रीमती जी के हृदय में ऐसी ही मूर्त्ति अपने शहर में स्थापित करने के विशुद्ध भाव का प्रादुर्भाव हुआ था, वहाँ जाकर उस प्रतिमा

की शिल्पी को एक बार अच्छी तरह देखभाल कर लेना परमावश्यक एवं अनिवार्य है। इस निश्चय के अनुसार श्रावण कृष्ण पञ्चमी को रामचन्द्र नाहटा को यहाँ से भेज दिया गया और यह कलकत्ता होकर सीधे बेंगलूरु पहुंचे, जहाँ पर उन दिनों बाबू निर्मलकुमार जी सपरिवार तीर्थयात्रा और जलवायु-परिवर्तन के ख़याल से कुछ दिनों के लिये ठहरे हुए थे। बाबू निर्मलकुमार जी अपने छोटे भाई बाबू चक्रेश्वर कुमार जी बी०एससी०, बी०एल० को साथ लेकर शिल्पी को श्रवणबेल्गोल लिवा ले गये। वहाँ जाकर आपलोगों ने प्रतिमा का दर्शन किया। बल्कि रामचन्द्र नाहटा जिसे उस प्रतिमा के आदर्श पर दूसरी प्रतिमा आरा के लिये बनानी थी—प्रतिमा का दर्शन कर आत्मविभोर हो उठे और अत्यन्त आश्चर्यित होकर कहने लगे कि क्या देवताओं ने इसे बनाया है या किसी दूसरे ने? साथ ही यह भी कहा कि भारतवर्ष भर में ऐसी विशाल और सुन्दर मूर्त्ति आजतक मुझे देखने और सुनने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है। बाद बाबू निर्मलकुमार जी ने उस प्रतिमा के अङ्गप्रत्यङ्ग के कई फोटो उतार कर रामचन्द्र नाहटा को दिये और इनके मन में भी यह हार्दिक उत्कण्ठा हुई कि ऐसी ही प्रतिमा मैं भी तयार कर अपना नाम अमर करूँ। वहाँ से जयपुर आकर पत्थर की तलाश में शिल्पी महाशय लगे। क्योंकि बाबू निर्मलकुमार जी की यही मंशा हुई कि प्रतिमा काले पत्थर की नहीं बनकर सुपैद पत्थर की ही बने। पर यहाँ तो सुपैद की कौन बात कहे—काला पत्थर भी १५ फीट का लम्बा नहीं मिल सका। इसी उधेड़बुन में पड़े पड़े दो महीने निकल गये। फिर वि० सं० १९९२ के आश्विन मास में बाबू चण्डी प्रसाद जी खजांची स्वयं जयपुर भेजे गये। वहाँ ६० वर्ष पहले जयपुर रियासत की जिस पुरानी खान के पाषाण से प्रतिमायें बनती थीं उस खान को रामचन्द्र नाहटा ने बाबू चण्डी प्रसाद जी को लिवा ले जाकर दिखाया और साथ ही साथ बाबू चण्डी प्रसाद के साथ वहाँ के पत्थर का नमूना लेकर स्वयं यहाँ आरा आ गये। क्योंकि इन्हें आशा हो गई थी कि यहाँ पर पत्थर अवश्य मिलेगा। बा० निर्मलकुमार जी तथा श्रीमती नेमसुन्दर देवी जी ने उसी पत्थर को पसन्द कर नाहटा को प्रतिमा बनाने का आश्विन शुक्ल द्वादशी को आर्डर दे दिया। किंतु बाबू साहब ने शिल्पी को चिता दिया कि प्रतिमा ज्यों की त्यों वैसी ही बननी चाहिये जैसी श्रवणबेल्गोल में देख आये हो।

बाद रामचन्द्र नाहटा ने जयपुर लौटकर कार्त्तिक कृष्ण नवमी को प्रतिमा के लिये पाषाण खान से निकालने का मुहूर्त्तारंभ किया। शुरू में २०-२५ आदमी इस काम के लिये भर्त्ती किये गये, किंतु बीच में ४० आदमी तक बढ़ा दिये गये। अथक परिश्रम के बाद सौभाग्य से २५ फूट लम्बा, १० फूट चौड़ा और ५ फूट मोटा पाषाण खान में मिला। फिर वहीं १६ फूट लम्बा, ५॥ फूट चौड़ा और ३॥ फूट मोटा पाषाण प्रतिमा के लिये काटकर रक्खा

गया। माघ शुक्ल ५मी को पत्थर खान से बाहर निकाल कर शिल्पी ने आरा खबर दी और यहाँ से बाबू चण्डी प्रसाद ने जयपुर जाकर उसे देखा। खान पर ही प्रतिमा का ढाँचा (डौल) तैयार करने के लिये कारीगर लगा दिये गये। उस समय पत्थर का वजन ९०० मन था। डेढ़ महीने तक प्रतिमा के डौल तैयार कर लेने के बाद उसका वजन ३५० मन का रह गया। उसे खान से स्टेशन तक लाने के लिये एक नई गाड़ी तैयार कराई गई। इसके बनाने में २५० रुपया ख़र्च हुए। गाड़ी पर प्रतिमा के डौल लादे जाने पर उसे खींचने को ४० बैल जोते गये, किंतु गाड़ी जरा भी टस से मस नहीं हुई। बाद १ इंच मोटा लोहे का चदरा पहिये के नीचे रख रख कर पहिया सरकाया गया। आगे का रास्ता साफ करने के लिये प्रतिदिन २०-२५ मजदूर लगे रहते थे। बड़ी मेहनत और मुश्किल से २७ रोज में २० माईल तय कर के ज्यों-त्यों प्रतिमा का डौल दौशा स्टेशन पर पहुंचा। वहाँ गाड़ी से उसे उतार एवं उसके ऊपर एक बड़ा सा छज्जा बाँस का लगा कर स्टेशन के बगल में ही २॥ महीने तक प्रतिमा-निर्माण का काम जारी रहा। इतने दिनों तक बराबर २५ कारीगर काम करते रहे। जयपुर से प्रतिमा-निर्माण का कार्य सम्पन्न होने की सूचना मिलने पर श्रीमती नेमसुन्दर देवी जी के अनुरोध से मैं वि० सं० १९९३ वैशाख शुक्ल षष्ठी को जयपुर गया और एक सप्ताह वहाँ रह मूर्त्ति-निर्म्माण में जो जो शास्त्रीय त्रुटियाँ रह गयीं थीं—उनका सुधार करवा कर लौट आया।

तैयार हो जाने पर प्रतिमा का वजन २०२ मन रह गया। प्रतिमा रेलवे पार्सल से रवाना होकर वि० सं० १९९३ आषाढ़ शुक्ल चतुर्दशी को यहाँ आरा पहुंच गयी। स्टेशन से लगभग २ माईल पर जैनबाला-विश्राम में प्रतिमा पहुंचने में चार दिन लग गये। शिल्पी के नौ महीने के अथक परिश्रम के बाद श्रीमती नेमसुन्दर देवी जी का यह चिरवाञ्छित शुभ सङ्कल्प पूर्ण हुआ। इस मूर्त्ति की रचना के उपलक्ष में प्रतिष्ठा के समय शिल्पी रामचन्द्र नाहटा को ३६३३ रु० न्यौछावर तथा साल के साथ सभी कपड़े दिये गये।

प्रतिमा की ऊँचाई १३॥ फीट और नीचे का पादपीठ १॥ फीट ऊँचा है। यों सब मिलकर १५ फीट ऊँची यह प्रतिमा कही जा सकती है। मूर्त्ति छोटी होने से इसके प्रत्येक अंगोपांग का नाप देना आवश्यक नहीं समझा गया। अस्तु, सं० १९९२ फाल्गुन शुक्ल द्वादशी को पहले ही मेरे द्वारा शिलान्यास-विधान सम्पन्न होकर मूर्त्ति स्थापित करने के लिये जैनबाला-विश्राम में कल्पित पहाड़ एवं छज्जा बनना चालू था। वर्षाकाल में प्रतिमा रक्षापूर्वक वहाँ खड़ी कर दी गयी थी। बाद वि० सं० १९९३ में फाल्गुन कृष्ण त्रयोदशी बुधवार के शुभ मूहूर्त्त में पण्डित-प्रवर आशाधरकृत 'प्रतिष्ठासारोद्धार' के मतानुसार ग्यारह रोज के प्रतिष्ठा-कार्यक्रम पूर्वक बड़े समारोह के साथ प्रतिमा जी की स्थापना हुई। प्रतिष्ठा-समारोह का विशेष-विवरण भिन्न भिन्न जैनपत्रों में यथासमय प्रकाशित हो चुका है, अतः यहाँ उसका विवरण देना आवश्यक

नहीं प्रतीत होता। अब यहाँ पर इस प्रतिमा की शिल्प कला के विषय में दो एक बातें लिख देना अप्रासंगिक नहीं होगा।

श्रवणबेल्गोल के समान गोम्मटेश्वर जी की यह मूर्त्ति भी एक कल्पित छोटे पहाड़ के ऊपर उत्तराभिमुख हो खड्गासन मे विराजमान है। उसी के समान इसके भी शिर के बाल घुंघराले, कान बड़े और लम्बे, वक्षस्थल चौड़ा, विशाल बाहु नीचे को लटकती हुई और कटि किञ्चित् क्षीण है। मुख पर अपूर्व शांति एवं कांति का साम्राज्य भ्राजमान हो रहा है। घुटनों से कुछ ऊपर तक कई बामी दिखाई गयी हैं जिनसे सर्प निकलने का दृश्य परिलक्षित हो रहा है। दोनों पैरों और भुजाओं से लतायें लिपट रही हैं, तौभी मुखमण्डल पर अक्षुण्ण ध्यान-मुद्रा विराजमान है। मूर्त्ति क्या है आदर्शभूत एक तपस्या है। प्रतिमा का दृश्य बड़ा ही मनोज्ञ एवं चित्ताकर्षक है। सिंहासन एक प्रफुल्ल कमल के आकार का बनाया गया है। निस्सन्देह शिल्पी रामचन्द्र नाहटा ने उस आदर्श श्रवणबेल्गोलस्थ मूर्त्ति का खाका खींचने में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है। हाँ, उस मूर्त्ति के मुखमण्डल पर गंभीरता कुछ और ही है। जिस सर्वोत्कृष्ट एवं लोकोत्तर प्रतिमा की यह प्रतिकृति है उनका भी कुछ परिचय देना अनिवार्य सा ज्ञात होता है। यह गोम्मट* या बाहुबली प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव के पुत्र थे। इनका नाम भुजबली भी था। इनके ज्येष्ठ भ्राता भरत थे। ऋषभदेव के दीक्षा लेने के बाद इन दोनों भ्राताओं में चक्रवर्त्ती साम्राज्य के लिये युद्ध उपस्थित हुआ। उस युद्ध में इस बाहुबली की ही जीत हुई। विजयी होने पर भी अपने भाई भरत की साम्राज्यलिप्सा के कुछ अनुचित व्यवहार का अनुभव कर संसार से विरक्त हो बाहुबली ने विजित राज्य ज्येष्ठ भ्राता भरत के लिये छोड़ कर तपस्या के लिये प्रस्थित हुए। तपस्या में ध्यानमग्न हुए उसी बाहुबली की तपोऽवस्था की यह प्रशांत मूर्त्ति है। इस अवस्था में रह, थोड़े ही दिनों के बाद सर्वज्ञता प्राप्त कर आप मोक्षगामी हुए। भरत ने, जो चक्रवर्त्ती हो गये थे पौदनपुर में अपने छोटे भाई संसार-विजयी बाहुबली की शरीराकृति के अनुरूप ५२५ धनुष प्रमाण की प्रतिमा सर्व-प्रथम स्थापित की। दक्षिण प्रांतीय मूर्त्तियाँ एवं आरा की यह मूर्त्ति उसी की अनुकृति हैं।

प्रतिष्ठा के समय मूर्त्ति में खुदा हुआ शिलालेख निम्न प्रकार का है:—

विजयतेतरां जिनशासनम्

विक्रम सं० १९९३ ई० सन् १९३७।

भारत विहारप्रान्तान्तर्गतायाम् आरानामधेयायाम् जैनधार्मिकसाहित्यिकैतिहासिक-

* इनका नाम गोम्मट क्यों पड़ा इसका विवरण भास्कर की अगली किरण में पाठकों को देखने को मिलेगा।

प्रमाणोद्भासितायामेवं विधायां नगर्यां दि० जैनाग्रवालकुलभूषणसिंहलगोत्रीयः श्रीसीमन्धरदासोऽभूत्। तस्य तनयः श्रीहरप्रसाददासोऽजनि। अयं हि मरणसमये बहुलक्षमितां स्वकीयामखिलां भूसम्पत्तिं परोपकार्ये व्यभजत्। यथा धर्मशाला, जैन हाई आंगलविद्यालयो जैनौषधालयश्च अनेकाः संस्थाः सुचारुरूपेण चाचल्यन्ते। सर्वा एव जै० दि० तीर्थक्षेत्रादयः संस्था वार्षिकसाहाय्यं समाप्नुवन्ति एतस्य दानभाण्डागारात्। अस्यैव स्वर्गीयश्रीबाबूहरप्रसाददासस्य पुत्रो बाबू धनेन्द्रदास आसीत्। एष हि महात्मा अनन्यविद्याव्यसनी अनेकासु भाषासु पटिष्ठश्च संस्कृतपण्डितानां कल्पवृक्ष आसीत्। एष एव वदान्यः जैनबालाविश्रामस्य विद्यालयमन्दिरं निर्माप्य विश्रामाय प्रददौ च तस्य ध्रौव्यभाण्डागारे पञ्चदश सहस्राणि रूप्यकाणि व्यतरत्। एतदतिरिक्तं ह्यनवरतं बहुषु पुण्यकार्येषु मुक्तहस्तेन द्रव्यव्ययं विदधदासीदेष भावुकः। अस्यैव स्व० धन्येन्द्रदासस्य धर्मपत्नी तथा स्व० बाबू देवकुमारस्य भगिनी श्रीमती नेमिसुन्दरी देवी महाविशालां सुमनोज्ञां च श्रीमद्बाहुबलिस्वामिनः प्रतिमां निर्माप्य जैनबालाविश्रामस्य सुरम्ये उद्याने कृत्रिमपर्वते प्रतिष्ठापितवती। इयमारानगरी तु धर्मप्रभावनाप्रधानतयातितरां चेतो हरति जिनमतपालनपरायणानां भावुकमनुजानाम्। पञ्चत्रिंशच्छिखरवन्ति जिनसदनान्यस्य नगरस्य वैशिष्ट्यम्। एतदतिरिक्तं विदुषीरत्नब्रह्मचारिण्या श्रीमत्यो चन्दादेव्या सञ्चालिता जैनबालाविश्रमनाम्नी अनुत्तमा जैनमहिलाशिक्षासंस्थापि समस्ति। यत्र हि पञ्चषष्ठिमिता बाला जीवनसुधासहोदर्या शिक्षया ह्यनवरतं परिप्लाविता विद्यन्ते। अत्र हि प्राप्तप्रचुरप्रसिद्धयनन्यज्जैनसिद्धांतभवनञ्च वर्तते। नन्वेतस्य संस्थापक आसीज्जैनसमाजस्यान्यतमो नेता श्रीमान् बाबू देवकुमारमहोदयः। एतस्यैव पुत्ररत्ने तथा आरायाः संभ्रांतसज्जनौ जैनधर्मसेवकधर्मनिष्ठौ निर्मलकुमारचक्रेश्वरकुमारौ सुचारुरूपेण संस्थामेतां संचालयन्तौ विद्येते। अस्या एव संस्थाया जैनपुरातत्त्वप्रधानं जैनसिद्धांतभास्करनामकमेकं त्रैमासिकपत्रं च निस्सरति। यस्य हि सम्पादकाः न्यायाचार्योपाधिकश्रीमत्पण्डित के० भुजबलिशास्त्रिप्रभृतयः प्रख्याताश्चत्वारः पण्डिताः सन्ति।

प्रतिमानिर्माता तु बहुविश्रुतशैल्पिको जयपुरवास्तव्यो मूलचन्द्र रामचन्द्र नाहटा वर्तते। प्रतिष्ठाचार्यौ जैनपुरातत्त्वविन्न्यायाचार्यः श्रीयुत पं० के० भुजबलिशास्त्रिमहोदयः राजवैद्यः श्रीयुत पं० नन्हेलालश्च विद्येते। एषा हि प्रतिष्ठा खलु दि० जैनपद्धत्या कुन्दकुन्दाम्नायानुसारेण सम्पन्ना संजाता। प्रणमत्यहरहः श्रीमद्बाहुबलिस्वामिनं शरणागता श्रीमती नेमसुन्दरी देवी।

रामषट्तुर्ययुग्मांकमिते श्रीवीरवत्सरे।
त्रयोदश्यां बुधे कृष्णे तपस्ये शुभमासदत्॥

श्रीबाहुबलिचरणशरणागता नेमिसुन्दरी नित्यं प्रणमति।

जैनशिलालेख-विवरण

(लेखक—श्रीयुत प्रोफेसर गिरनॉट)

(क्रमागत)

५५ बेङ्गलूरु ज़िले के शिलालेख—सं० लुई राइस भूमिका में निम्न लिखित उल्लेख है :—

पृष्ठ ४, सेनापति श्रीविजय ने पुष्पनन्दि के शिष्य प्रभाचन्द्र के उपदेशानुसार मान्यपुर (मएणे) में एक जिन-मन्दिर बनवाया था।

पृष्ठ ११, राष्ट्रकूट राजा गोविन्द तृतीय ने किसी मन्दिर को दान दिया।

„ २०, होयसल विष्णुवर्द्धन और उसके उत्तराधिकारियों के राजत्वकाल में धर्मसहिष्णुता का वर्णन है।

„ २४, विजयनगर के राजा बुक्कराय ने जैनों और वैष्णवों में मेल कराया था। जैन शिलालेख निम्न प्रकार है :—

ज़िला	नं०	तिथि (सन् ई०)	विषय
बेङ्गलूरु	८२	१४२६	कुन्दकुन्दान्वय के एक अनुयायी का दान।
नेलमङ्गल	६०	७९७	गंगराज मारसिंह के दण्डाधिप श्रीविजय ने मएणे में एक जिन-मन्दिर बनवाया व दान दिया। कुन्दकुन्दान्वयी तोरणाचार्य के शिष्य पुष्पनन्दि और उनके शिष्य प्रभाचन्द्र का उल्लेख है।
„	६१	८०२	गोविन्द तृतीय ने मन्दिर को दान दिया।
„	८४	११४०	विष्णुवर्द्धन ने शैव, जैन आदि मन्दिर बनवाये।
मागडि	१८	१३६८	बुक्कराय ने जैनों और वैष्णवों में मेल कराया।
कुर्ग	३४	१०६४	नन्दिगच्छीय पुष्पसेन के शिष्य गुणसेन ने समाधिमरण किया।
„	३५	१०५८	चङ्गालूव राजा का दान।
„	३६	१०७०	समाधि-विषयक।
„	३७	१०५०	मन्दिर-निर्माण।
„	३८	१०५०	दान।
„	३९	१३९०	मंदिर का जीर्णोद्धार।

जिला	नं०	तिथि (सन् ई०)	विषय
कुर्ग	४०	१२१६	समाधि-विषयक।
„	४१	१०३०	गुणसेन के गुरु पुष्पसेन का उल्लेख।
„	४२	१०५०	गुणसेन का वर्णन। (Ep. Car. IX)

४६ कोलार ज़िले के लेख—सं० लुई राइस (बेङ्गलूरु सन् १९०५)

जिला	नं०	तिथि (सन् ई०)	विषय
माल्रूरु	७२	४२५ (?)	गङ्गराजा माधव ने निज गुरु विजयकीर्त्ति को चन्द्रनंन्दि-द्वारा निर्मित मंदिर के लिये एक गांव भेंट किया।
„	७३	३७०	राजकुमार वीरदेव ने पेब्बोंलल के मंदिर को एक गांव दान दिया।
चिक्कबल्लापुर	२९	७५०	मंदिर-जीर्णोद्धार। (Ep. Car Vol X)

४७ चित्र दुर्ग ज़िले के शिलालेख—सं० लुई राइस (बेङ्गलूरु सन् १८०३) :—

जिला	नं०	तिथि (सन् ई०)	विषय
दावणगेरे	१३	१२७१	देवगिरि के राजा रामचन्द्र के दण्डाधिप कूचिराज ने वेतूर में भ० पार्श्वनाथ का मंदिर बनवाया व दान दिया।
„	९०	११२८	सेम्बनूरु में पार्श्वनाथ का मंदिर बना व दान दिया गया। नन्दिगच्छ, समन्तभद्र और श्रीपाल का उल्लेख है।
हिरियूर	२८	१४१०	अस्पष्ट। विजयनगर के राजा देवराय प्रथम का उल्लेख।
होललकेरे	१	११५४	होललकेरे के शान्तिनाथ मंदिर का जीर्णोद्धार व दान।
„	२	१२१४ (?)	दान। (Ep Car XI)

४८ तुमकूरु ज़िले के शिलालेख—सं० लुइ राइस (बेंगलूरु १९०४) :—

जिला	नं०	तिथि (सन् ई०)	विषय
तुमकुरु	९	११५१	होय्सलवंशी गूलिबाचि का उल्लेख जिन्होंने जैन मंदिर निर्माण कराया।
„	३८	११६०	होय्सल जैन मंदिर को दान।
गुब्बि	५, ६ व ७	१२०० (?)	समाधिलेख। देशीगण पुस्तकगच्छ कुन्दकुन्दान्वयी अभयचंद्र के शिष्य बालचंद्र का उल्लेख।
„	८	१२१९ (?)	पद्मप्रभ मलधारी देव की निषिधिका।
टिप्टूरु	९३	११७४ (?)	समाधिलेख।

जिला	नं०	तिथि (सन् ई०)	विषय
टिपूटूरु	९४	११७४	समाधिलेख, चन्द्रायणदेव।
,,	१०१	१०७८	मंदिर को दान।
चिक्कनायकनहल्लि	२१	११६०	चन्द्रायणदेव के शिष्य ने मंदिर बनवाया।
,,	२३	११६३	माणिक्यनंदि के शिष्य मेघचंद्र की समाधि।
,,	२४	१२९७	देशीगण के त्रिभुवनकीर्ति के शिष्य मलधारी बालचंद्र, जिनके शिष्य चंद्रकीर्ति की समाधि।
सिर (?)	३२	१२७७	तैलनगेरे के मंदिर को दान।
मदुगिरि	१४	१५३१ (?)	दान।
पावुगड	५२	१२३२	मंदिर-निर्माण। कुन्दकुन्दान्वयी वीरनन्दि के शिष्य पद्मप्रभ मलधारी का उल्लेख। (Ep. Car. XII)

४९ संस्कृत और पुरानी कनड़ी के शिलालेख – सं० जे० एफ० फ्लीट (बम्बई-१८७५-१८९१)

नं०	स्थान	तिथि	भाषा	भाव
१	बेलगांव	शक ९७०	पुरानी कनड़ी	जैन मंदिर को दान।
१	बङ्कापुर	शक ९७७	,,	,,
१	,,	शक १०४२	,,	,,
१३	ऐहोले	शक ५०७	संस्कृत	रविकीर्ति-द्वारा जिनमंदिर-निर्माण।
२०-२६	हलसी	...	,,	कादम्बवंशी जैन राजाओं का दान।
३५	देवगिरि	...	,,	कदम्ब कृष्णवर्मन् व देववर्मन का दान। त्रिपर्वत भेंट किया।
३६-३७	,,	...	,,	मृगेशवमन् शांतिवर्मन् का दान।
३८	लक्ष्मेश्वर	...	,,	विविध राजाओं के दान :— १ गंगराज मारसिंह का जैन गुरु जयदेव को दान (शक ८९०) २ पुलिगेरे के मंदिर को दान। ३ प्राचीन चालुक्यराज विक्रमादित्य द्वितीय का लेख। पुलिगेरे के जैन मंदिरों का जीर्णोद्धार।
३९	,,	...	,,	चार लेख निम्न प्रकार हैं :— १ अस्पष्ट।

नं०	स्थान	तिथि	भाषा	भाव
				२ चालुक्य विजयादित्य-द्वारा पुलिगेरे के जैन मंदिर को एक ग्राम भेंट (शक ६५१) ३ मारसिंह ने शक ८०० में मंदिर में कुछ बनाया। ४ नं २ के अनुसार (शक ६०८)
४४	...	शक ४११	संस्कृत	पुलिकेसिन् प्रथम के करद सामियार ने जैन मंदिर अलक्तकनगर को एक गांव दान किया। कनकोपल के जिननन्दि आदि का उल्लेख।
५५	ऐहोले	शक ५५६	,,	शक ५५६ का मुख्य लेख पुलिकेसी द्वि० के राज्य का। रविकीर्ति का मंदिर-निर्माण।
५६	,,	१२ वीं, १३वीं शताब्दी	व० कनड़ी	वलात्कारगण के रामसेट्ट की निषिधि।
९८	हुणशी कति (?) (वेलगाँव)	शक १०५२	संस्कृत	दान।
१२०	आडूरु (धारवाड़)	...	सं० व क०	जैन मंदिर को दान। चालुक्य कीर्तिवर्मन् (शक ४८९) के राज्य।
१२८	...	...	...	अमोघवर्ष प्रथम के जैनत्व-सूचक:— १ 'उत्तरपुराण' का प्रशस्ति [सेनगच्छीय वीरसेन—जिनसेन—गुणभद्र] २ "प्रश्नोत्तररत्नमाला" का पद्य, अमोघवर्ष-द्वारा रचित।
१३२	हत्ती-मत्तूरु (धारवाड़)	शक ८३८	व० कनड़ी	जैन संघ को दान।
१५१	व्याना	संवत् ११००	संस्कृत	श्वे० महेश्वर सूरि [काम्यकगच्छ] का वर्णन।
१७३	गुड्गिरे	शक ९९८	व० कनड़ी	श्रीनन्दि पण्डित का उल्लेख।
१८३	कल्मावि	शक २६१	,,	कुम्मुदवाड (कल्मावि ?) में मंदिर-निर्माण व दान। कारेयगण के मुनियों की परंपरा:— गुणकीर्ति, नागचन्द्र मुनीन्द्र, जिनचन्द्र, शुभकीर्ति, देवकीर्ति।

नं०	स्थान	तिथि	भाषा	भाव
१८८	...	...	...	दण्डनायकनकेरे के निकट में पट्टलकेरे में जैनोंकी प्रधानता। २०००० साधु व ७०० मंदिर थे। चालुक्य जयसिंह तृतीय जैनी से शैव। (?)
१९०	होन्वाड़	शक ९७६	सं० व क०	चालुक्य सोमेश्वर प्रथमके राज्यकाल में। पोन्नवाड़ (होन्वाड़) में पार्श्वनाथ व शांतिनाथके मंदिरों का निर्माण व दान। पोगरिगच्छ सेनगण के आर्यसेन, ब्रह्मसेन और महासेन का उल्लेख। Indian Antiquary, Vol, (IV-XX)

५० दक्षिण भारत के शिलालेख भा० १—सं० ई० हल्श सा० (मद्रास, १८९०) :—
पृ० ८८ *आजीविक जैन सम्प्रदाय थी।*

नं०	स्थान	तिथि	भाव
६६	तिरुमलै (पोलूरु)	राजराजदेव के राज्य का १२ वां वर्ष	गुणवीरमा मुनिवन् और गणिशेखर मरू पोर्चूरियन का उल्लेख। [कुछ इमारत बना
७०	,,	राजनारायण शम्बूवराज का १२ वां० ,,	एक मूर्ति-निर्माण।
७३	,,	...	यक्षी मूर्ति-स्थापना।
७५	,,	...	यक्ष यक्षिणी का मूर्त्ति-निर्माण।
१५२	विजयनगर	शक १३०७	दण्डाधिप इरुगप्प-द्वारा विजयनगर में मंदिर-निर्माण—सिंहनंदि का उल्लेख।
१५३	,,	शक १३४६	देवराय द्वि० द्वारा पार्श्वनाथ मंदिर-निर्माण। (Arch Survey of India Vol III)

लोंकाशाह और दिगम्बर साहित्य

(लेखक—श्रीयुत बाबू अगरचन्द नाहटा)

जैनधर्म में मूर्त्तिपूजा बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है। उपलब्ध प्राचीन श्वेताम्बर-साहित्य में इस अवसर्पिणी काल में (प्रस्तुत भरतक्षेत्र में) सर्वप्रथम भरत चक्रवर्ती के अष्टापद पर जिनमन्दिर व चौवीस तीर्थङ्करों की मूर्त्तियों के निर्माण कराने का उल्लेख पाया जाता है।* अन्य क्षेत्रों और स्वर्गलोक की अपेक्षा से तो मूर्त्ति-पूजा अनादि-कालीन और शाश्वत होने को कहा गया है।

विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के पूर्व तक श्वेताम्बर और दिगम्बर उभय सम्प्रदायों में मूर्त्तिपूजा निरपवाद और एकमत से मान्य थी, जिसके फलस्वरूप उस समय के पूर्व हजारों ही नहीं, लाखों अनुपम जिनमन्दिरों का निर्म्माण हुआ था, जिनमें से कतिपय अद्यावधि जैनशासन की गौरव-गरिमा को समुज्ज्वल कर रहे हैं, एवं अनेकों के ध्वंशावशेष आज भी जैनधर्म की प्राचीनता तथा प्रचार के सर्वोत्तम और सर्वमान्य प्रमाण हैं।† इतना ही क्यों जैनधर्म में भक्तिवाद के अधिकाधिक परिपुष्ट और सुदृढ़ होने का एकमात्र कारण मूर्त्तिपूजा को ही कह दें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

पर इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही श्वेताम्बर सम्प्रदाय में एक व्यक्ति ने सर्वसम्मत मूर्त्तिपूजा का विरोध किया, उनका नाम था लोंकाशाह। अतएव लोंकाशाही को जैन-मूर्त्ति-पूजा का सर्वप्रथम विरोधी-पुरुष कहा जा सकता है।

इनके विरोध ने जैनशासन में खासी हलचल पैदा कर दी। मुसलमानी राज्यसत्ता आदि सुयोग से प्रस्तुत विरोध सफलीभूत हुआ और बहुतकाल के लिये इसकी जड़ जम गई। उक्त विरोधी सम्प्रदाय का लोंकाशाह के नाम से 'लोंकामत' नाम प्रसिद्ध हुआ और आगे चलकर इसी मत में से १८वीं शताब्दी के प्रारम्भ में 'ढुढ़कमत' जिसे स्थानकवासी, बाइस-टोला‡ भी कहते हैं, प्रादुर्भूत हुआ और उस मत में से सं० १८१८ के लगभग भीखणजी ने

---

*आवश्यक सूत्र।

†कंकाली टीले आदि के ध्वंशावशेष।

‡ जिसे इसके साधु लोग साधुमार्गी भी कहा करते हैं।

तेरापंथी* मत निकाला। इस दोनों मतवालों के अनुयायियों की संख्या क्रमशः बढ़ते बढ़ते आज लाखों पर हो गई है।

लोंकाशाह और उनकी मान्यताओं (मत) के सम्बन्ध में अभी तक विशेष खोज-शोध नहीं हुई है और उनके मतावलम्बियों की भी इस ओर उदासीनता रहने के कारण समसामयिक (एतद्विषयक) सामग्री भी विशेषतया अनुपलब्ध और अप्रकाशित है फिर भी उनके विरोध में इसी समय के रचित कई श्वेताम्बर ग्रंथों में अच्छा ज्ञातव्य मिलता है। इधर कई वर्षों से इस विषय में खोज-शोध कर समभाव से इस मत के इतिवृत्त के प्रकाशित करने की मेरी इच्छा थी पर अन्य साहित्यिक कार्यों की अधिकता से प्रगति न हो सकी। गत वर्ष कलकत्ते में "जैनप्रकाश" नामक पत्र में सन्तबाल जी लिखित 'धर्मप्राण लोंकाशाह' शीर्षक लेखमाला पढ़कर यह इच्छा जागरूक हो उठी और बीकानेर जाकर खोज-शोध आरम्भ की, फलतः अच्छी सामग्री उपलब्ध हुई जिसे यथावकाश प्रकाशित करने का विचार है। प्रस्तुत लेख में उस सामग्री का परमावश्यक सार देकर लेख के प्रतिपाद्य विषय पर संक्षिप्त-सप्रमाण विचार किया जाता है आशा है; पाठकों को यह रुचिकर और उपयोगी सिद्ध होगा।

लोंकाशाह का परिचय

आपका जन्म दशा (लघुशाखा) पोरवाड जाति† में हुआ था। सं० १५०८ में आप अहमदाबाद में जैनागमों की प्रतिलिपि करने का कार्य करते थे, एकबार प्रतिलिपि करते समय ग्रन्थ के ५-७ (मध्य के) पत्रों की नकल छोड़ दी, इसको लेकर जैनयति (महात्मा-जिन्होंने प्रतिलिपि को कार्य उन्हें सौंपा था) से विवाद हो गया और फलतः आपने नवीन मत का प्रादुर्भाव और प्रचार किया।‡

लोंकामत प्रचार का मूल मन्त्र

आपने 'मूर्तिपूजा में हिंसा है और हिंसा में धर्म नहीं हो सकता' इत्यादि अपने विचारों का प्रचार करना प्रारम्भ किया। उनके विचारों से पारख लखमसी आदि कई व्यक्ति

---

* कलकत्ते की तेरापन्थी सभा से प्रकाशित "तेरापंथी सम्प्रदाय का इतिहास" देखें।

† भानुचंद्र कृत दयाधरम चौ० के आधार से "श्रीमान लोंकाशाह" नामक ग्रंथ में आपका जन्म दशा श्रीमाली जाति में लिखा है। उक्त चौ० के अनुसार जन्म-स्थान लींबडी संवत् १४८२ वै० व० १४ पिता का नाम धरणो माता का नाम चूड़ा एवं लोंकाशाह सिलोको (? के अनुसार जन्म नागौरा के हरीचंद की पत्नी मउंघी के कुक्षि से सं० १४७७ में और मरण सं० १५३३ ज्ञात होता है पर वे विचारणीय हैं।

‡ देखें, कमलसंयमोपाध्याय-कृत "सिद्धान्तसारोद्धार।"

सहमत हुए और वे आपके सहायक शिष्य बन गये। वे जहाँ कहीं जाते जनसाधारण के सामने यही प्रश्न रखते कि—"धर्म दया में है या हिंसा में?" तो सभी यही सहज उत्तर देते कि धर्म तो दया में ही है हिंसा में नहीं। इसपर वे कहते कि तो फिर मूर्त्तिपूजा में पृथ्वीकाय की एवं जल-फल-फूल आदि के जीवों की विराधना (हिंसा) प्रत्यक्ष है अतः इसमें धर्म कैसे हो सकता है? यह युक्ति साधारण व्यक्तियों पर तत्काल असर कर जाती और स्याद्वाद-युक्त जिनाज्ञा की गम्भीरता से अनभिज्ञ भद्र-प्रकृति के लोग भ्रम में पड़ जाते। अतः इसे वे लोग लोंकाशाह के मत-प्रचार का मूलमन्त्र कह दें तो अयुक्त या असङ्गत नहीं होगा।❀

विरोध के मूल में भूल

प्राचीन मूल जैनागमों में मुख्यतः साधुओं के आचार-विचार और क्रियाकलाप का विवेचन है। श्रावकों के कर्त्तव्यों पर सूक्ष्म विवेचन नहीं पाया जाता और मुनियों का आचार अतिशय दुर्गम और निवृत्ति-प्रधान है। लोंकाशाह ने जिन जिन कार्यों का मुनियों के लिये निषेध था श्रावकों के लिये भी उनका निषेध कर डाला। मुनि और श्रावक के कर्त्तव्यों के तारतम्य पर विचार न करने से द्रव्यपूजा, जो मुनियों के लिये निषिद्ध है श्रावकों को भी त्याज्य ठहराई। इसी तरह दानादि† के सम्बन्धी अन्य भी कई विचार (इस मुनि-श्रावकधर्म के तारतम्य पर गम्भीर विचार नहीं करने से) प्रगट किये।

स्वमत के विरोध के परिहार का प्रयत्न

स्वमान्यता के पोषण में उन्होंने यह भी कहना प्रारम्भ किया कि जैनागमों में मूर्त्तिपूजा और जिनमन्दिर के पाठ-उल्लेख नहीं है। इस कथन के विरोध में सनातन श्वेताम्बर मुनियों ने जब आगमों के प्रमाणों को उपस्थित कर प्रतिवाद किया तब लोंकाशाह के मतप्रचारकों ने उपलब्ध श्वेताम्बर मूल आगमों को ही मान्य रखा और मूल में से भी ४५ आगमों को ही मान्य किये।‡ इतना ही नहीं स्वमान्यता के पोषण तथा रक्षण के लिये स्वमान्य ४५ आगमों में भी जहाँ कहीं मूर्त्तिपूजा आदि अपने मत के विरोधी उल्लेख थे उनको अमान्य ठहराया और कहीं कहीं उन पाठों के अपने समर्थन में विरोधपरिहारक नये ही

❀ देखें इसी लेख में उल्लेखित खंडनात्मकसाहित्य।

† वर्त्तमान तेरापन्थी मत के भी अधिकांश विचार, लोंकाशाह के मत के आधार पर है। दया-दान के विषय में भी उन्हीं का अनुकरण या पुनरुद्धार है। जो विचार लोंकाशाह के समय विशेष व्यवस्थित और सुदृढ़ नहीं बने, वे तेरापन्थी मत से परिपुष्ट व परिपक्व बन गये।

‡ ४५ आगमों के नाम व श्लोक-संख्या की सूची सं० १५४० में लोंकामतवालों ने मत-पत्र के रूप में लिख कर प्रकट की; उसकी नकल मेरे संग्रह में है

अर्थ करने लगे। इस प्रकार स्वमान्यता का पोषण और रक्षणार्थ यथेच्छ (स्वच्छन्दता से) कथन करने लगे एवं आगमों के अर्थमय नई चौपाइयों और टबेबालावबोध-ग्रन्थों की रचना की।

छिन्नभिन्नता

इतना करने पर भी मूर्त्तिपूजक सम्प्रदाय के विद्वान् आचार्यों के सामने ये अधिक समय टिक न सके। मतप्रवर्त्तन के ४० वर्षों के भीतर ही इस मत में छिन्नभिन्नता आरंभ उपस्थित हो गई। १७वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में तो इस मत के अनेकों मतप्रचारक-मुनि इस मत का सर्वथा परित्याग कर मूर्त्तिपूजक आचार्यों के शिष्य बन गये* और तब से अद्यावधि सैकड़ों मूर्त्तिपूजा-विरोधी सम्प्रदाय के साधुओं ने अपने मत को भ्रान्त जान, परित्याग कर मूर्त्तिपूजक-सम्प्रदाय के मुनियों के समीप प्रव्राजित हुए और हो रहे हैं।

मान्यताओं में परिवर्त्तन

यह मत लोंकाशाह जैसे साधारण व्यक्ति ने निकाला था और वे न तो विशेप प्रज्ञावान थे और न दीक्षित ही हुए थे अतः उनकी मान्यताएँ व्यवस्थित और दृढ़ न रह सकीं। उनके मतप्रचारकगण भी प्रायः साधारण पढ़े लिखे ही थे अतः इस मत की मान्यताओं में क्रमशः आश्चर्यजनक गहरा परिवर्त्तन होने लगा। मत-प्रचारकों के पारस्परिक मतभेद से इस मत की अनेक शाखा-प्रशाखायें हो चलीं†। उनके निर्गत होने में मतभेद-मान्यताभेद ही मुख्य था।

परिवर्त्तनचक्र ने इस मत में इतना असम्भव सा परिवर्त्तन कर डाला कि जिस मूर्त्तिपूजा के विरोध में इस मत का जन्म हुआ था उसी मूर्त्तिपूजा को उन्होंने फिर से अपना लिया, जिसके प्रमाणस्वरूप आज अनेकों स्थानों में लोंकागच्छ के उपाश्रयों तक में मूर्त्तियाँ स्थापित हैं और कहीं कहीं तो इस मत के प्रचारक यतियों तक ने भी जिनमन्दिर स्थापित व निर्म्माण करवाये हैं और वे स्वयं मूर्त्तियों की पूजा भी करने लगे हैं।‡

लोंकामत-खण्डनात्मक साहित्य

इस मत में मूर्त्तिपूजा के विरोध के अतिरिक्त और भी कई विषयों में मूर्त्तिपूजक-सङ्घ की मान्यताओं से भिन्नता है। उन सब पर प्रकाश डालने का यहां स्थान नहीं है। पाठकों को विशेष जानकारी के लिये निम्नोक्त ग्रंथ देखनें चाहिए :—

१ सं० १५४३ का० सु० ८ र० को रचित लावण्यसमयकृत "सिद्धांत चौपई"।

---

*यथा :—हीरविजयसूरि आदि के, 'देखें सूरीश्वर और सम्राट् एवं "श्रीमान् लोंकाशाह"।

†१७ वीं शताब्दी के लि० एक पत्र में उस समय तक १३ शाखा के निर्गत होने का उल्लेख है।

‡पंजाब व राजपूताने प्रान्त में ऐसे अनेक स्थान हैं, देखें श्रीमान् लोंकाशाह पृ० २७३।

२ सं० १५४४ लगभग रचित कमलसंयमोपाध्याय-कृत "सिद्धान्त-सारोद्धार"।

३ ,, १६१७ जे० सु० १५ बु० रचित हीरकलश-कृत "कुमति-विध्वंसण चौपई"।

४ ,, १६२७ चैं० सु० ५ र० ,, दि० सुमतिकीर्त्तिकृत "लोंकामत-निराकरण चौपई"।

५ ,, १६२९ ,, धर्मसागर-कृत "प्रवचन-परीक्षा"।

६ ,, १६७५ श्रा० व० ६ ,, गुणविनय-कृत "लुंपकमत-तमोदिनकर चौ०"

७ ,, १६९९ भाद्र व० ३ बु० ,, तीकम-कृत 'रूपचंद मांडणी"

रचना-समय-व्यतिरिक्त ग्रन्थ

८ दि० भद्रबाहु-चरित्र।

९ बीकाकृत उत्सूत्र-निराकरण बत्तीसी।

१० लुंकामतोत्पत्ति (पत्र ३ बाबू पूरणचन्द जी नाहर के संग्रह में)।

११ लुंकामत-खंडन (बीकानेर भांडार में)*।

१२ तरणतारण श्रावकाचार।

१३ लोंकाशाह जीवन इत्यादि।

इनके अतिरिक्त मंडनात्मक कई ग्रंथ जैसे दयाधरम चौ० (भानुचंद्र कृत), लोंकाशाह सिलोको, (प्र० श्रीमान लोंकाशाह) "लुंकागच्छपट्टावली, वा० मो० शाह-लिखित ऐतिहासिक नोंध" आदि ग्रंथों में भी ज्ञातव्य है। आलोचनात्मक साहित्य में एक शोध-खोजपूर्ण ग्रंथ मुनिवर्य ज्ञानसुन्दरजी-द्वारा हाल ही में प्रकाशित हुआ है।

दिगम्बर साहित्य में उल्लेख

लोंकाशाह का मत श्वेताम्बर जैनागमों के आधार पर था और उनका जातिगत व धार्मिक सम्बन्ध भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय से ही था, अतः उक्त सम्प्रदाय पर इसका प्रभाव होना स्वाभाविक था। पर आश्चर्य तो यह है कि दिगम्बर-समाज भी इसके प्रभाव से अछूता न रह सका। दि० भद्रबाहु-चरित्र में लोंकाशाह का उल्लेख तिरस्कार-सूचक पाया जाता है, उससे मेरे कथन का आभास तो मिल ही जाता है, पर सं० १६२७ चै० शु० ५ र० को दादा नगर में सुमतिकीर्त्ति-रचित "लोंकामत-निराकरण चौपई" इसका स्पष्ट प्रमाण है। पाठकों की जानकारी की लिये नीचे उक्त दोनों ग्रन्थों का आवश्यक अंश उद्धृत कर देता हूं। जिससे विषय को स्पष्टतया समझने में सुविधा होगी।

*इनमें नः १-२ (का कुछ अंश) और नं० ६ जैनयुग और "श्रीमान् लोंकाशाह" ग्रंथ के परिशिष्ट में प्रकाशित है। न० ३ ढूंढकमत-खंडन पुस्तक में छप चुका है। न० ४ आगमोदय-समिति से शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है।

भद्रबाहु-चरित्र* में :—

मृते विक्रमभूपाले, सप्तविंशतिसंयुते ।
दशपञ्चशतेऽब्दानामतीते श्रृणुतापरम् ॥१५७॥
लुंकामतमभूदेकं लोपकं धर्मकर्मणोः ।
देशेऽत्र गौर्जरे ख्याते, विद्वत्ताजितनिर्जरे ॥१५८॥
अणहिल्लपत्तने रम्ये, प्राग्वाट्कुलजोऽभवत् ।
लुंकाभिधो महामानी, श्वेतांशुकमताश्रयी ॥१५९॥
दुष्टात्मा दुष्टभावेन, कुपितः पापमण्डितः ।
तीव्रमिथ्यात्वपाकेन, लूंकामतमकल्पयत् ॥१६०॥ (४र्थ परिच्छेद)

लोंकामत-निराकरण चौपई† में

अणहिल्ल पुर पाटण गुजरात, महाजन वसइ चउरासीन्यात ।
लघु शाखीन्याते पोरवाड़ लोंको साठि लीहो छिघाड ॥१॥
ग्रंथ संख्या नइ कारणे वढ्यौ, जैन यति सुं बहु चिडभिड्यौ ।
लोके लीहे कीधा भेद, धर्मतणा उपजाया छेद ॥२॥
शास्त्र जाणे सेतंबर तणा, कालइ बल दीधा आपणा ।
प्रतिमा पूजा छेद्या दान, धर्मतणी तणइ कीधी हाणि ॥३॥
संवत पन्नर सत्तावीस, (१५२७) लोंकामत ऊपना कहीस ।
प्रतकाल थी आव्या फरंग, फोडा रोग हवो नर भंग ॥४॥
ए त्रिणहे धंधोल्या लोक, धर्म छडावी कीधा सोक ।
ए लोंका फजा फरंगी जाति, त्राजा फोड़ा ऊपना साथि ॥५॥
धर्म तणो हवे धंधोल, लोंका फरंग फोडा दंदोल ।
दुखम काले दुखिया लोक, ठामिं ठामि वाध्यो सहु शोक ॥६॥

---

*इसका रचनाकाल १७ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध होगा ।

† इस ग्रन्थ में लोंकाशाह का खंडन और मूर्त्ति-पूजा का मंडन है । रचयिता ने अपने समर्थन में दिगम्बर ग्रन्थों के प्रमाणों के साथ श्वेताम्बर साहित्य के अनेक ग्रन्थों का उल्लेख किया है, यह विशेषता है । प्रस्तुत ग्रन्थ में १ अचेतन प्रतिमा-स्थापन, २ फल फूल पूजा-स्थापना, ३ पूजाफल-प्राप्ति स्थापना, ४ प्रतिमा-स्थानक-स्थापन नामक ४ अधिकार हैं ।

लोंके कुवधि ऊपाइ घणी, रोसइ करी जिनवाणी हणी।
गाथा पद नो कीधो फेर, विवेक करी सांभलिज्यो फेर* ॥७॥

(बीकानेर बृहत्ज्ञान भाण्डागारस्थ प्रति)

इन तीन ग्रंथों† के अतिरिक्त दिगम्बर साहित्य में अन्यत्र लोंकाशाह और उनके मत-सम्बन्धी उल्लेख अद्यावधि अज्ञात है; साक्षर दि० विद्वानों से मेरा सादर अनुरोध है कि उनके अवलोकन में इससे विशेष ज्ञातव्य बातें हो तो मुझे सूचित करने की कृपा करें।

---

* भद्रबाहुचरित्र के अनुसार इस ग्रन्थ में भी लोंकाशाह का कर्म-स्थान (लिपि लेखक के कार्य का) पाटण और मतोत्पत्ति सं० १५२७ लिखा है पर लोंकाशाह के सम-सामयिक अन्य श्वेताम्बर साहित्य से कर्म-स्थान अहमदाबाद और मतोत्पत्ति सं० १५३० निश्चित सा है। घटनास्थान के दूरवर्ती होने से व ग्रन्थ-रचना और घटना-काल में करीब १०० वर्षों का अन्तर होने से साधारण भूलें (किम्वदन्ती के आधार पर) होना सहज है।

प्रति अशुद्ध होने से और पाठ प्रति के अनुसार ही लिखने के कारण कहीं २ समझने में असुभीता होता है। दि० भांडारों में अनुसन्धान करने पर संभवतः शुद्ध प्रति हाथ लगेगी, खोज-शोध-प्रेमी ध्यान दें।

† इसके अतिरिक्त 'तरणतारण श्रावकाचार' नामक दि० ग्रंथ में भी लोंकाशाह का उल्लेख मिलता है।

विविध विषय।

देवगढ़

(१)

जी० आई० पी० रेलवे लाईन जो देहली से बम्बई को गई है उसी पर ललितपुर स्टेशन है। ललितपुर से दक्षिण की ओर दूसरा स्टेशन जाखलौन है। देवगढ़ जाखलौन स्टेशन से ९ मील बैलगाड़ी का रास्ता है, परन्तु सीधा रास्ता पैदला का सात मील है। मार्ग पहाड़ी पर होकर गया है। ललितपुर से देवगढ़ क्षेत्र १९ मील दूर पर है। यहाँ से बैल गाड़ी और मोटर दोनों सवारी देवगढ़ को जाती हैं। देवगढ़ ग्राम बहुत छोटा सा ऊजड़ सा है। यहाँ पर खाने पीने की सामग्री नहीं मिलती, कारण कि बस्ती अधिकतर जंगली मनुष्यों की है जिनको कि राउत या भील कहते हैं। ब्राह्मणों के तो बहुत ही कम घर हैं अतएव जाखलौन से या ललितपुर से ही खाने पीने की सामग्री का प्रबंध करना पड़ता है। ठहरने के लिये पहले देवगढ़ में कोई सुरक्षित स्थान नहीं था; परन्तु अब वहाँ पर यात्रियों के ठहरने के लिये एक विशाल धर्मशाला बन गई है, जिसमें यात्रीगण बहुत आराम के साथ जितने दिन चाहे ठहर सकते हैं। धर्मशाला के ऊपर एक दुमंजिले कोठे पर श्री जी विराजमान हैं, जिससे दर्शनों की सुविधा हर समय यात्रियों को मिल सकती है।

देवगढ़ ग्राम वेतवा नदी के मुहाने पर नीची जगह में स्थित है। यहाँ से ३०० फीट की ऊँचाई पर करनाटी का दुर्ग है जो अब खंडहर-दशा में पड़ा है। देवगढ़ पर्वत की चढ़ाई सौनागिर के समान सरल तथा सीधी है। चढ़ने की सीढ़ियाँ पुराने जमाने की हैं जो टूटी फूटी दशा में हैं; उनके सुधार की बड़ी भारी आवश्यकता है। पहाड़ की चढ़ाई तै करने पर एक किले का खंडहर द्वार मिलता है, जिसको कुंजद्वार कहते हैं। इस द्वार की कारीगरी देखकर दाँतों तले अंगुली दबानी पड़ती है। इस द्वार को प्रवेश करते ही जीर्ण दो कोट और मिलते हैं। दूसरा और तीसरा कोट मंदिरों को घेरे हुए हैं। इन कोटों के अन्दर देवालय होने से ही संभवतः इसका नाम देवगढ़ पड़ा होगा। इसके अन्दर सैकड़ों जैनमूर्तियाँ पर्वत के ऊपर खंडित अखंडित दशा में पड़ी हुई हैं और अनेक जैन-मंदिर गिरे हुए तथा जीर्णशीर्ण दशा में हैं, जिनका जीर्णोद्धार होने की बड़ी भारी आवश्यकता है।

बहुत ही छोटे छोटे मंदिरों को छोड़कर बाकी मंदिर तीस हैं जिनकी अनुपम तथा मनोमुग्ध करनेवाली प्राचीन शिल्पकारी को देखकर बड़े बड़े शिल्पकार दङ्ग रह जाते हैं। ऐसी उत्तम कारीगरी के देवालय देवगढ़ के सिवाय अन्यत्र कहीं भी नहीं देखे जाते हैं। मंदिरों में ही कारीगरी नहीं, किन्तु मानस्तम्भों और मूर्त्तियों में भी विचित्र कारीगरी है। ये सब मंदिर ८वीं से १२वीं सदी के भीतर के बने हुए मालूम होते हैं। मंदिर नम्बर १२ सब से बड़ा मंदिर

है जिसको श्रीशांतिनाथ जी का मंदिर कहते हैं। प्रतिमा पाषाणमयी हैं और खड्गासन बनी हुई हैं। इनकी ऊँचाई १२ फीट है। यह प्रतिमा अतिशय-सम्पन्न हैं। तीन मूर्त्तियाँ १० फीट की भी हैं और चार चार पाँच पाँच फीट की तो कई एक मूर्त्तियाँ हैं। आधी से अधिक मूर्त्तियाँ खड्गासन दशा में हैं। एक प्रतिमा श्रीबाहुबलि स्वामी की है जिसके दर्शनमात्र से श्रवणबेल्गोल का स्मरण हो आता है। इस मंदिर नम्बर १२ की दालान में एक विचित्र शिलालेख है जिसमें शिलालेख खुदा हुआ है। १८ भाषाओं और १८ लिपियों के नमूने दिये हैं। इसको साखाना मट्टी ने लिखाया था। इस मंदिर के आगे एक खुली हुई दालान (हाल) है जो ४२ फीट ३ इञ्च वर्ग है। इसमें ६, ६ खम्भों की छः कतारें हैं। इसके बीचोबीच में एक वेदी है जिसपर श्री जी विराजमान हैं। पुजारी नित्यप्रति यहाँ पर ही पूजा करता है। इस हाल के सामने साढ़े सोलह फीट की दूरी पर एक मंडप चार खम्भों पर स्थित है। इन खम्भों में से एक खंभे पर एक शिलालेख राजा भोजदेव का संवत् ९१९ या शक सं० ७८४ का पाया जाता है। मंदिर नं० १२ के मंडप में तीर्थङ्कर ऋषभदेव के द्वितीय पुत्र गोम्मटेश्वर या बाहुबली की मूर्त्ति है जिसका समय ११वीं सदी का दिया हुआ है। इस स्थान को छोटा श्रवणबेल्गोल कहें तो अत्युक्ति न होगी। एक सहस्रकूट चैत्यालय पाषाण का है जो समूचा ही है। जिसको देखकर चित्त बड़ा ही प्रसन्न होता है। मंदिरों और खम्भों पर तो शिलालेख हैं ही परन्तु दो जैन मूर्त्तियों पर भी सं० १४८१ के लेख हैं जिनसे प्रतीत होता है कि उनकी प्रतिष्ठा मंडपपुर के शाह आलम के राज्य में एक जैन भक्त ने करायी है। इस व्यक्ति को मालवा के मांड के बादशाह सुल्तान हुसैन के धोरी कहते हैं।

पर्वत के दक्षिण की ओर दो सीढ़ियाँ हैं जिन को नाहरघाटी और राजघाटी कहते हैं। वर्षाकालीन जल इन्हीं दो घाटियों द्वारा नीचे आता है। ये घाटियाँ चट्टान से खोदी गई हैं जिनपर खुदाई की कारीगरी पाई जाती है। राजघाटी के किनारे एक ८ लाईनों का छोटा सा शिलालेख है जो सं० ११५४ का है। इसको 'वत्स' राजा ने खुदवाया था जो कीर्त्तिवर्मा चंदेल का वजीर आजम था। उसी के नाम से दुर्ग का नाम कीर्त्तिगिरि है। नाहर घाटी के किनारे भी सात लाइनों का एक शिलालेख है। पर्वत के दक्षिण की तरफ नदी की ओर एक गुफा है जिसको 'सिद्ध की गुफा' कहते हैं। यह पहाड़ में खुदी हुई है जिसका मार्ग पहाड़ी के ऊपर से सीढ़ी द्वारा नीचे को है। इसके तीन द्वार हैं, दो खंभों पर छत सुरक्षित है। इस गुफा के बाहर एक छोटा सा लेख गुप्त समय का है और एक दूसरा लेख भी है जिसमें लिखा है कि राजा वीर ने सं० १३४२ में कुरार को जीता था।

देवगढ़ में करीब दो सौ के शिलालेख हैं उनमें से १५७ ऐतिहासिक महत्त्व के हैं जिनका वर्णन सरकारी रिपोर्ट में दिया हुआ है। शिलालेखों की कापी पुरातत्त्व विभाग ने कराई है जो निकटभविष्य में प्रकाश में आनेवाले हैं।

किले की दीवाल चाहे चंदेल राजाओं ने बनवाई हो या पूर्व की बनी हो, यह हम ठीक नहीं बता सकते परन्तु इसकी मोटाई १५ फीट है जो बिना चूना या सिमेन्ट के केवल खरपाषाण ही की बनी हुई है। इसमें गोला चलाने के लिये छिद्र हैं। हदबंदी की दीवाल नदी की ओर या तो बनाई नहीं गई हो या गिर गई हो परन्तु उसकी ऊँचाई २० फीट से अधिक कहीं नहीं है। बड़े मजे की बात तो यह है कि किले के उत्तरी पश्चिमी कोने से एक पत्थर की दीवाल २१ फीट मोटी है जो ६०० फीट दूर तक पहाड़ी के किनारे चली गई है। शायद यह दीवाल दूसरे किले की हो जो नष्टप्रायः हो चुकी है।

देवगढ़ के बड़े मंदिर सब खड़े हुए हैं जिनमें मरम्मत की बड़ी जरूरत है। पहले इनके किवाड़ों की जोड़ियाँ भी नहीं थीं जिससे हिंसक जीवजन्तु इनके भीतर प्रवेश करते थे और मंदिरों तथा मूर्तियों को खराब करते थे। परन्तु अब धर्मपरायण तथा धर्मवीर श्रीमान् सेठ पदमचंद जी आगरा की कृपा से सब मंदिरों में लोहे की जोड़ियाँ लग गई है जिससे हिंसक जन्तु का भय बिलकुल ही मिट गया है। दो मंदिर दुमंजिले पर हैं जिनमें प्राचीन कारीगरो के अनुपम नमूने देखने को मिलते हैं। मंदिरों के छज्जे नाकीदार चद्दर के समान पाषाण के बने हुए हैं। सब मंदिर करीब आठ नौ सौ सदी के पुराने हैं, परन्तु इनके सही सलामत रहने का कारण केवल यही है कि उनमें मिट्टी, चूना या सिमेण्ट नहीं लगे हैं, केवल चनखारी पाषाण के ही बने हुए हैं।

गिरे हुए मंदिरों में छोटों का नम्बर अधिक है। इनके गिरने का कारण या तो भूकम्प रहा हो या किसी धर्मद्रोही नरेश ने अपनी शक्ति इन पर आजमायी हो, बस इनके सिवाय तीसरा कोई कारण नहीं दिखता—इनके गिर पड़ने से असंख्य मनोरम मूर्तियों की दुर्दशा हो रही थी। ये मूर्त्तियाँ मनुष्यों तथा पशुओं के पाद-चिह्नों से दिनरात रौंदी जाती थीं, परन्तु आगरेवाले श्रीमान् सेठ पद्मचंद जी ने उनको एक कोट में पक्की कराकर अक्षयपुण्य का का फल प्राप्त किया है। अन्य धर्मात्मा भाइयों को भी आप का अनुकरण करना चाहिये और ऐसे धर्मतीर्थ का जीर्णोद्धार कराकर अपार पुण्य का फल प्राप्त करना चाहिये। ये लक्ष्मी इसीलिये होती हैं और ऐसे ही पुण्य कार्य में व्यय करने से उसका सदुपयोग कहलाता है अन्यथा नहीं।

अन्त में समाज के श्रीमानों तथा लक्ष्मी के लालों से निवेदन है कि आप लोग ऐसे प्राचीन तथा पुण्यक्षेत्र की ओर ध्यान दीजिये और अपने पूर्वजों की कीर्त्ति को स्थायी बनाइये। यह क्षेत्र लासानी है। जो महानुभाव इसके एकबार दर्शन कर पाते हैं। वह इसकी मुक्त-कण्ठ से भूरिभूरि प्रशंसा गाते हैं। फिर ऐसे उत्तम क्षेत्र के सुधार के लिये मुझको समाज के धनीमानी पुरुषों को बार बार जगाना पड़े, तो यह बड़े खेद की बात होगी।

नाथूराम सिंघई,

भारतीय कथा-साहित्य के आदि लेखक जैनाचार्य

(२)

भारतीय कथा-साहित्य में कवि गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' ही सर्वप्राचीन मानी जाती है। उपलब्ध साहित्य में सोमदेव का 'कथासरित्सागर' और क्षेमन्द्र की 'बृहत्कथा' नामक ग्रंथ कथासाहित्य के आदि ग्रंथ हैं और ये दोनों गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' के आधार से रचे गये थे। गुणाढ्य की रचना उपलब्ध नहीं है, परन्तु उसके विषय में जाना जाता है कि वह पैशाची प्राकृत में लिखी गई थी। गुणाढ्य आन्ध्रवंशी राजा सातवाहन के मंत्री थे। उन्हें 'बृहत्कथा' रचने के लिये कथायें काणभूति नामक एक भूत से मिली बताई जाती हैं। वे कथायें सात पुस्तकों में रक्त से लिखी गई थीं। गुणाढ्य ने उन्हें सातवाहन राजा को भेंट किया, परन्तु उसने उन्हें लेना अस्वीकार किया, क्योंकि वे रक्त से भूतों की भाषा में (भूतभाषामयीं प्राहुरद्भुतार्थां बृहत्कथाम्) लिखी हुई थीं। इस पर गुणाढ्य ने उन्हें जला डाला। इत्तफ़ाक़ से उनमें से एक पुस्तक जलने से बच गई। कुछ समय बाद राजा ने उन कथाओं की प्रशंसा सुनी तो उन्हें देखना चाहा। पर उनको मिली एक ही पुस्तक, जो जलने से बच रही थी।* परन्तु आज वह अनूठी रचना भी निःशेष है। उसके कुल सात लाख श्लोक थे, जिनमें छः लाख नष्ट होकर केवल एक लाख बाकी रहे थे। काल ने उनको भी मिटा डाला। उनमें संसार भर के सभी शास्त्रों का सार कथाओं में भरा हुआ था। हिन्दू-जैन-बौद्ध, सभी महापुरुषों के चरित्र भी उसमें मिलते थे। उसकी उत्पत्ति-विषयक जो कथा ऊपर लिखी गई है उससे ऐसा भासता है कि गुणाढ्य ने काणभूति से प्राप्त कर के उन कहानियों को साहित्य का रूप दिया था। अब देखना यह है कि काणभूति कौन थे, जिनकी भाषा 'भूतभाषा' थी। यह स्पष्ट है कि प्राकृत भाषा प्रारम्भ से जैनों की रही है और 'बृहत्कथा' की भाषा प्राकृत थी। इसलिये भूत या प्राकृत भाषा जैनों की होने के कारण काणभूति एक भूत न होकर जन होना चाहिये। मालूम होता है कि साम्प्रदायिक विद्वेष के कारण उन 'जैनी' को भूत बना डाला गया है। आन्ध्रप्रान्त में एक प्राचीन काल में वैदिक ब्राह्मणों की कोपाग्नि में पांच सौ दिगम्बर जैन मुनिगण अपने अमूल्य प्राणों को गंवा बठे थे, यह बात 'भगवती अराधना' जैसे प्राचीन ग्रंथ से स्पष्ट है। काल्काचार्य के कथानक से भी आन्ध्रदेश में जैनों का सताया जाना प्रकट है। अतः वहां साम्प्रदायिक विद्वेष का होना सिद्ध है, जिसमें जैनों को 'भूत' और उनकी प्राकृत भाषा को 'भूतभाषा' बना दिया गया। उधर विद्वानों का अनुमान है कि श्रीजिनसेनाचार्य ने गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' का

* R. G. Bhandarkar, Early History of the Dekkan, p. 170.

उल्लेख श्लेषरीति से अपने 'आदिपुराण' में किया है।‡ साथ ही उन्होंने एक काणभिक्षु नामक जैनाचार्य का भी उल्लेख किया है, जो एक श्रेष्ठ कथाग्रंथ के रचयिता थे। 'आदिपुराण' का वह श्लोक यह है :—

"धर्मसूत्रानुगा हृद्या यस्य वाङ्मणयोऽमलाः।
कथालङ्कारतां भेजुः काणभिक्षुर्जयत्यसौ ॥५१॥"

अतः यह बहुत संभव है कि 'आदिपुराण' के काणभिक्षु और गुणाढ्य के काणभूति एक हैं और इस अवस्था में गुणाढ्य को कथायें अपनी रचना के लिये उन्हीं से मिलीं थीं। इसलिये वही भारतीय कथा-साहित्य के आदि लेखक प्रकट होते हैं।

—का० प्र०

चंदवरदाई और दिगम्बर मुनि

(३)

अन्तिम हिन्दू राजा पृथ्वीराज चौहान (१२०५—१२४८) के राजकवि चन्दवरदाई थे। उनका जन्म लाहोर में हुआ था परन्तु उनकी यजमानी अजमेर के चौहानों के यहां थी। राजपूताने में चन्द का नाम खूब प्रसिद्ध है। इस नोट-द्वारा हमें यह दिखाना है कि इन कवि चन्द के समय में दिगम्बर मुनियों का अस्तित्व था। चन्द ने एक मुनि से जो प्रश्नोत्तर किये थे, उनसे इस बात का समर्थन होता है। श्री रामनरेश जी त्रिपाठी ने 'कविता-कौमुदी' नामक ग्रंथ के पृष्ठ २६—२७ मे यह प्रश्नोत्तर दिया है। चंद के पूछने पर मुनि चारों वर्णों के कर्म-धर्म का निरूपण इस प्रकार करते हैं :—

"श्रुति पठनं दुज धरमं भूभुजधर्मं नित्तनित्रेयं।
दयासुधर्मं वनिक्कं, सेवाधर्मं सुद्र सदाइ॥"

वणिक का धर्म दया बताना उस समय अहिंसा प्रधान जैनधम की विशेषता का परिचायक हो सकता है। आगे चंद कवि पूछते हैं :—

'कौन नगन अंबर छते ? को ढंको बिन चीर।
को हारै अंधौ फिरै, को जीते तजि तीर॥'

उत्तर में मुनि कहते है :—

'जस हीनो नागौ गिनहु, ढंक्यो जग जसवान।
लंपट हारै लोह छन्न, त्रिय जीते बिन बान।'

‡ Indian Historical Quarterly, Vol. V.

उपर्युक्त प्रश्न से उस समय वस्त्ररहित नग्न अवस्था में रहने वाले—साधुओं का होना स्पष्ट है। जिस मुनि से चन्दवरदाई का वार्तालाप हुआ था, वह भी बहुत कर के नग्न जैन साधु थे, ऐसा प्रतीत होता है; क्योंकि उन्होंने प्रश्नों के जो उत्तर दिये हैं वह जैन मान्यता के अनुकूल हैं। उस पर उक्त प्रश्न तथा निम्न प्रश्नोत्तर इस बात को बहुत कुछ संभव बताते हैं:—

चंद का प्रश्न—'भुगति मुगति किन निकट है, काते दूरि दिखाई।
किन आवध जग जित्ति यहि, किन हारत जग जाई ?

मुनि का उत्तर—'समदरसी ते निकट है, भुगति मुगति भरपूर।
विषम दरस वा नरन तें, सदा सरवदा दूरि॥
पर योषित परसे नहीं, ते जीते जग बीच।
परतिय तक्कत रैन दिन, ते हारे जग बीच॥

जैन धर्म समदर्शी को ही मुक्ति का अधिकारी बताता है, यह उसका मुख्य सिद्धांत है। और पर द्रव्यों के 'परस' से दूर रहने की शिक्षा भी उसको खास है। मुनि के यह उत्तर उन्हें दिगम्बर जैन साधु मानने के लिये कम नहीं है।

—का० प्र०

जैन साहित्य में संख्या १८

(३)

जैनों के आगम एवं प्रकीर्णक साहित्य में संख्या १८ सैद्धान्तिक तथा सांस्कृतिक विषयों के निरूपण में व्यवहृत हुई मिलती है।

अ० सैद्धान्तिक—'महानिसीह' नामक आगम ग्रंथ में अठारह परिहार स्थानों (अट्ठारस परिहारट्ठाणस्) का उल्लेख है। वहाँ उनका खुलासा नहीं किया है—शायद वे १८ पाप-स्थान (पावट्ठाण) हैं अर्थात् पाणाइवाय, अलिय, अदत्त, मेहुण, परिग्गह, राइभत्त, कोह, माण माया, लोह, राग, दोस, कलह, अब्भक्खाण, पेसुन्न, परपरिवाय, मायामोस, मिच्छा दस्सणसल्ल। नेमिचन्द्र के 'पवयणसारोद्धार' (४५७) में १८ दोषों का उल्लेख है। 'महानिसीह' के उपर्युक्त वाक्य-द्वारा संभव है उन्हीं का निरूपण किया गया हो। विजयनगर से देवराय, द्वितीय के राजकाल अर्थात् शक् १३४८ का एक शिलालेख एक जैन मंदिर से मिला है—उसमें भी १८ दोषों का उल्लेख है।* यह अट्ठारह दोष निम्न प्रकार हैं:—अज्ञान (अन्नान), क्रोध (कोह), मद (मय) मान, (लोह) लोभ, माया, रति-अरति (रई-अरई) निद्रा (निद्दा), शोक (सोय),

* South Indian Inscripts. Vol I p. 164 line-26. अंग्रेजी जैन गजट भा० ३१ मई १९३१ पृ० १३१ पर एक विनती छपी है जिसका आरम्भ इस तरह होता है:—'अष्टादश दोष

अलीकवचन (अलीयवयण), चोरी (चोरीया), मत्सर (मच्छर), भय, प्राणिवध (पाणिवह), प्रेम, क्रीड़ा (कीला), प्रसंग (पसंग) और हास (हास्य)। 'दसवेयालिय-निज्जुत्ति'– 'पडिक्कमणसुत्त' और 'महानिसीह' नाम ग्रंथ में १६ दफे १८००० शीलाङ्ग गिनाये गये हैं। 'समवायाङ्ग' में लिखा है कि महावीर स्वामी ने १८ ठाणों की आज्ञा दी है। वे ये हैं—वयचक्क (६) कायचक्क (६), अकप्प (१३), गिहिभायण (१४), पलियंक (१५), निसिज्जा (१६), सिणान, (१७) सोभवज्जण (१८)। 'दसवेयालियसुत्त' (११।१) में १८ ठाणे भिन्न प्रकार से गिनाये गये हैं। मनुष्यों में १८ प्रकार के व्यक्तियों को संघ में सम्मिलित होने की मनाई है (ओहनिज्जुत्ति ४४३)। 'दसवेआलिय-निज्जुत्ति' नामक ग्रंथ में जीवन के १८ लक्षण लिखे हैं अर्थात् आवाणे, परिभोगे, जोगऽउवओगे, कसाय, लेसा, आणापाण, इन्दिय, बन्धोदयनिज्जरा, चित्तं, चेयण, सञ्ञा, विञ्ञाणं, धारणा, बुद्दिहा, मई, वियक्को। उमास्वाति के 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' (२।५) में उल्लेख है कि मिश्र अथवा क्षयोपशम दशा में जीव का ज्ञान अट्ठारह तरह का होता है, अर्थात् अज्ञान दशा के मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय; दर्शन अवस्था के मति, श्रुत, अवधि, चक्षुः, अचक्षुः, अवधिदर्शन; लब्धि के दान, लाभ, भोग, उपयोग, वीर्य; शेष सम्यक्त्व, चारित्र, संयमासंयम। 'देवसिराइ-प्रतिक्रमण सूत्र' में पांच इन्द्रियां, शीर्षक के अन्तर्गत १८ के दो 'सेटों' (sets) का उल्लेख है अर्थात् ५ इन्द्रियां, ९ ब्रह्मचर्य, ४ कषाय और ५ महाव्रत, ५ आचार, ५ समिति, ३ गुप्ति—कुल ३६ गुणस्थान। 'समवाय' (१८) में ब्रह्म (बम्भ) अट्ठारह गुण बताया गया है।

ब० अ-सैद्धान्तिक—सर्वसाधारण विषयों में संख्या १८ का व्यवहार देशी भाषाओं को व्यक्त करने में हुआ है। देशी भाषायें अट्ठारह हैं। उनका उल्लेख "ज्ञातृधर्मकथा" (१।१९) विपाक सूत्र (२।३३) और औपपातिक सूत्र (१०९) में हुआ है; परन्तु उन्हें कहीं भी गिनाया नहीं गया है। अट्ठारह प्रकार के मनुष्य सेवकों का भी पता चलता है। अट्ठारह भाषाओं, अट्ठारह प्रकार के मनुष्यों और अट्ठारह तरह की लिपियों में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। अट्ठारह प्रकार की लिपियों का निरूपण समवाय (१८) और प्रज्ञापना (३७) सूत्रों में हुआ है। 'कल्पान्तर वाच्य' नामक एक अर्वाचीन ग्रन्थ में इनसे भिन्न प्रकार की १८ लिपियाँ गिनाई गई हैं। इसी ग्रन्थ से १८ पुराणों*, १६ स्मृति ग्रन्थों† और १८

विमुक्त धीर' और इन दोषों को यूं गिनाया गया है :—जन्म, जरा, रोग, मरण, भूख, प्यास, पसीना, भय, निद्रा, शोक, शंका, रति-अरति, दुःख मान, काङ्क्षा, आश्चर्य, राग, द्वेष।

* १८ पुराण ये लिखे हैं:—ब्रह्मा, अम्भोरुह, विष्णु, वायु, भागवत, नारद, मारकण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लैङ्ग, वराह, स्कन्द, वामन, मत्स्य, कूर्म, गरुड़ और ब्रह्माण्ड। (ये अजैन पुराण हैं—सं०)

† १८ स्मृति ग्रंथ :— मानवी, आत्रेयी, वैष्णवी, हारीति, याज्ञवल्कीय, औशनसी, आङ्गिरसी यामी, आपस्तम्बी, साम्वर्ती, कात्यायनी, बार्हस्पति, पाराशरी, शाङ्खी, दाक्षी, गौतमी, शातातपी और वाशिष्ठी।

वैयाकरणों* का पता चलता है। बौद्धों की तरह जैनों के ग्रन्थों में भी १८ प्रकार की (शिल्पी) श्रेणियों का उल्लेख मिलता है†। (ज्ञातृधर्मकथा १।१८, त्रिषष्टिशलाकापुरुष-चरित्र ४।६६२;७२०) 'जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति' (४३) में उन्हें नौ-नौ में विभक्त कर दिया गया। काशी-कौशल के राजसंघ में १८ गणराय सम्मिलित ९ मल्लकी और ९ लिच्छवि थे (कल्पसूत्र १२८) बौद्धशास्त्रों के समान ही जैनशास्त्रों में और भी उल्लेख मिलता है अर्थात् तीर्थङ्कर १८००० मुनियों से संवेष्टित लिखे मिलते हैं; जैसे अरिष्टनेमि तीर्थङ्कर (समवाय १८) सोमसुन्दरसूरि के 'गुरुवावली सूत्र' में गुरु को १८ सौ साधुओं से संवेष्टित लिखा है। 'समवाय' में संख्या १८ के अन्य प्रयोगों का भी उल्लेख है। पहले अङ्ग में ५ चूलिकाओं के १८००० शब्द बताये हैं—१८ प्रकार की लिपियाँ गिनाई हैं—अस्तिनास्तिप्रवाद (स्याद्वाद) में १८ वत्थू (vatthus) लिखे हैं। पौष और आषाढ़ के महीनों में एक दफा दिन और रात में १८ मुहूर्त्त होते हैं। नरक और स्वर्गों की स्थिति बतलाने में भी संख्या १८ का प्रयोग हुआ है। 'नीतिवाक्यामृत' (८।७) में उल्लेख है कि गंगा-सिंधु नदियां प्रत्येक ९०० परिवार नदियों को साथ लेकर १८०० नदियों सहित समुद्र में गिरती हैं। ऐसे ग्रंथ भी हैं जिनके नाम संख्या १८ से आरंभ होते हैं यथा 'अष्टादशरहित' [India office Cat. II, No. 7593 (16)] और 'अष्टादशाख्य(?)त्कबन्धस्तव' जो कुलनन्दन सूरि (वि० सं० १४०९—१४५५) द्वारा रचित है 'पउमचरिय' (३५।७९) में एक बड़ी संख्या रूप में १८००००० का उल्लेख हुआ है।

—ओटो स्टीन

[नोट—उपर्युक्त लेख प्रो० स्टीन के अंग्रेजी लेख के एक अंश का अनुवाद है, जिसमें उन्होंने ब्राह्मण, बौद्ध और जैनसाहित्य मे संख्या १८ के व्यवहार का विवेचनात्मक वर्णन किया है। प्रो० साहब का अध्ययन गम्भीर है, परन्तु फिर भी उन्होंने प्रायः दिगंबर जैनग्रंथों को अछूता छोड़ दिया है। विदेशों में दि० जैन साहित्य का जैसा चाहिये वैसा प्रचार नहीं है। किसी विद्वान् को दिगम्बर साहित्य से भी संख्या १८ का महत्त्व प्रकट करना चाहिए।

—का० प्र०

---

* १८ व्याकरण :— ऐन्द्र, पाणिनि, जैनेन्द्र, शाकटायन वामन, चान्द्र, सरस्वतीकण्ठाभरण (?), बुद्धिसागरविश्रान्त, विद्याधर, भीमसेन, कल्रापक, मुष्टि, शैव, गौड़, नन्दिजयोत्पल, सारस्वत, सिद्धहेम, अभ्यहेम।

† (१) कुंभार, (२) पटेल (पट्टैल), (३) स्वर्णकार (४) सूपकार, (५) गंधर्व, (६) काश्यप (नाई), (७) मालाकार, (८) कच्छाकार, (Rope-maker), (९) तम्बोली, (१०) चर्मकार (११) यंत्र-पीड़क (१२) गेंन्छिया (Cane-splitter), (१३) छीपी, (१४) कासकार (१५) सीवर (Sewer), (१६) ग्वाला, (१७) भील, (१८) धीमर।

भगवान् महावीर की निर्वाण-तिथि

[५]

भास्कर के गत ३य भाग की चतुर्थ किरण में "भगवान महावीर की निर्वाण-तिथि पर एक दृष्टि" शीर्षक एक छोटा सा लेख मेरा प्रकाशित हो चुका है। उस लेख में उपलब्ध आगम प्रमाणों के आधार पर भगवान् महावीर को निर्वाण-तिथि कार्त्तिक कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि अथवा उसका निशान्त मैंने सिद्ध की थी। मेरा विश्वास है कि इस सम्बन्ध में मतभेद होने का अवकाश बहुत कम है। साथ ही साथ उस लेख में जब चतुर्दशी की रात्रि ही भगवान् महावीर की निर्वाण-तिथि है तो सकलकीर्त्ति, वृन्दावन और रामचन्द्र आदि संस्कृत एवं भाषा कवियों ने अपनी कृतियों में निर्वाण-तिथि अमावास्या क्यों लिखी है—इस प्रश्न का उत्थान करते हुए मैंने इसका उत्तर यों दिया है—"निर्वाण-तिथि अमावस्या बतलाने वाले सकलकीर्त्ति, वृन्दावन आदि ने विशेष विचार बिना किये ही साधारण दृष्टि से अमावास्या को ही निर्वाण-तिथि लिख दिया है। बल्कि श्वेताम्बर भाई अमावास्या को ही निर्वाण-तिथि मानते भी हैं। ऐसी दशा में यह भी सम्भव है कि इन दिगम्बर कवियों ने इन्हीं का अनुसरण किया हो।" परन्तु इस लेख के प्रकाशित होने के बाद इधर मित्रवर श्रीयुत पण्डित जुगल किशोर जी से मुझे साक्षात्कार होने पर इस विषय में विचार विनिमय करने का सुअवसर मिला। आप का कहना है कि भगवान महावीर का निर्वाण कार्त्तिक कृष्ण चतुर्दशी के निशान्त में हुआ था, यह बात ठीक है। पर जिन ग्रन्थ-रचयिताओं ने निर्वाण-तिथि अमावस्या लिखी है वह भी एक अपेक्षा से भ्रान्त नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि "धवला" में केवलोत्पत्ति से निर्वाण तक के समय २९ वर्ष ५ महीने, २० दिन की संगति ठीक बिठलाते हुए यह भी प्रतिपादन किया है कि अमावस्या के दिन देवेन्द्रों के द्वारा परिनिर्वाण-पूजा की गयी है, वह दिन भी इस काल में शामिल करने पर कार्त्तिक के १५ दिन होते हैं। जैसे—"अमावसीए परिनिव्वाण-पूजा सयलदेवींदेहि कया त्ति तं पि दिवसमेत्थेव पक्खित्ते पण्णारस दिवसा होंति" इससे यह मालूम होता है कि निर्वाण अमावस्या को दिन के समय तथा दिन के बाद रात्रि को नहीं हुआ, बल्कि चतुर्दशी की रात्रि के अंतिम भाग में हुआ है जब कि अमावस्या आगई थी और उसका सारा कृत्य—निर्वाण-पूजा और देह-संस्कारादि अमावास्या को ही प्रातःकाल के समय हुआ था। इसीसे कार्त्तिक की अमावस्या आम तौर पर निर्वाण की तिथि कहलाती है।

अतः उक्त धवल-सम्बन्धी प्राचीन प्रमाण से मैं भी अब इस बात को मानने को बाध्य हुआ हूं कि जिन्होंने निर्वाण-तिथि अमावस्या लिखी है वह निर्वाणोपरांत की देह-संस्कारादि क्रियाओं की दृष्टि से। लोक-व्यवहार में भी देखा जाता है कि अगर किसी की मृत्यु निशांत में वा रात्री में १२ बजे के बाद किसी समय हो जाती है तो सूर्योदय के बाद का दिन ही

मृत्यु का दिन माना जाता है। ऐसी दशा में मैं अपने विज्ञ पाठकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट करना समुचित समझता हूं कि मैंने जो अपने पूर्व लेख में यह लिख दिया है कि निर्वाण-तिथि अमावस्या लिखनेवाले दिगम्बर विद्वानों ने इस विषय में विशेष विचार नहीं किया है अथवा श्वेताम्बर भाइयों की प्रचलित पद्धति का अनुसरण किया है यह बात युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती।

श्रीयुत पं० जुगलकिशोर जी ने "भगवान् महावीर और उनका समय" इस अपनी कृति में मुख्यरूप से अमावस्या को ही जो निर्वाण-तिथि माना है इससे मैं पूर्णतः सहमत नहीं हूँ। क्योंकि भगवान् महावीर का निर्वान धवलादि आगम ग्रन्थों के पूर्वोद्धृत प्रमाण से चतुर्दशी की रात्रि ही सिद्ध होता है, बल्कि इस सिद्धांत से आप भी सहमत हैं। इसलिमे निश्चय दृष्टि से यही निर्वाण-तिथि भी होनी चाहिये। हाँ, देहसंस्कारादि क्रिया के लिहाज से व्यवहार दृष्टि से अमावस्या भी निर्वाण-तिथि मानी जा सकती है। दि० जैन विद्वानों ने अपनी रचनाओं में जो अमावस्या निर्वाण-तिथि दरसायी है वह मेरे जानते व्यवहार दृष्टि से ही है। इस निर्वाण-तिथि-विषयक मेरे लेख को पढ़ कर प्रसन्नता प्रकट करते हुए पुरातत्त्ववेत्ता मित्रवर श्रीयुत गोविन्द प ने भी लिखा है कि अमावास्या भी निर्वाण-तिथि बतायी जा सकती है किन्तु उस पर्व को मनाने के लिये चतुर्दशी की रात्रि ही उपयुक्त है।

—के० बी० शास्त्री

साहित्य-समालोचन

तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय

[सम्पादक—उपाध्याय मुनि श्री आत्मारामजी महाराज; प्रकाशिका—श्रीमती चन्द्रावती जी सुपुत्री लाला शेरसिंह जी जैन, रोहतक; फरवरी १९३६, गुटिकाकार, पृष्ठ २२४-२१, मूल्य (नहीं दिया); छपाई सफाई बहुत सुन्दर]

उमास्वाति-कृत तत्त्वार्थसूत्र जैनधर्म का एक प्रमुख प्रामाणिक ग्रंथ है और जैनसमाज की दिगम्बर श्वेताम्बर, स्थानकवासी आदि सभी सम्प्रायों में उसका आदर और उपयोग होता है। इस ग्रंथ के सैकड़ों संस्करण, मूलमात्र व सटीक उक्त सम्प्रदायों में प्रचलित हैं। प्रस्तुत पुस्तक इसी अखिल जैन समाज-प्रिय ग्रंथ का एक संस्करण है। पर यह अपनी एक विशेषता रखता है। इस संस्करण में स्थानकवासी समाज के विद्वान् मुनि श्री आत्माराम जी महाराज ने बड़े परिश्रम से प्रत्येक सूत्र के समानार्थक अंश श्वेताम्बर आगमों से उद्धृत किये हैं। उनके इस परिश्रम से साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन करने वालों को बड़ी सहायता मिलेगी। इस कार्य में विद्वान् सम्पादक का ध्येय स्तुत्य है। उन्होंने प्रस्तावना में कहा है "इस ग्रंथ में जिन जिन विषयों का संग्रह किया गया है उन सब का *आगमों में स्पष्ट रूप से वर्णन है। अतः स्वाध्याय-प्रेमियों को योग्य है* कि वे भक्ति और श्रद्धापूर्वक आगम तथा सूत्र दोनों का ही स्वाध्याय करें जिससे भेदभाव मिटकर जैनसमाज उन्नति के शिखर पर पहुंच जावे।" इसी हेतु से, जैसा कि ग्रंथ के प्राथमिक वक्तव्य के विद्वान लेखक डा० बनारसीदास जी ने कहा है. 'उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र का पाठ दिगम्बर-मान्यता के अनुसार रक्खा है।' यहां तक तो मुनि जी के मत से हम भी सहमत हैं। हमें किसी भी साहित्य मे केवल साम्प्रदायिक पक्षपात के कारण विद्वेष नहीं होना चाहिये और विशेषतः उन आगम ग्रंथों से जो सर्वज्ञ-प्रतिपादित द्वादशाङ्ग के नाम से प्रचलित हैं, और जिनमें जैनधर्म के सिद्धान्त जैनियों की प्रिय प्राचीन भाषा अर्धमागधी में वर्णित पाये जाते हैं। हां, जहां उनमें हमारी मान्यताओं के विरुद्ध बातों का पुष्टीकरण मिले उससे हमें अपना मतभेद प्रकट करने का अधिकार है। पर, मुनि जी ने आगे चलकर जो यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि यह सूत्रग्रंथ इन्हीं आगमों पर से संग्रह किया गया है, उससे हमारा सन्तोष नहीं हुआ। हम ने इस प्रश्न का निष्पक्ष निर्णय करने के विचार से पुस्तक में दिये हुए सभी आगम के उद्धरणों पर दृष्टि डाली। हमें कहीं भी ऐसा स्थल नहीं मिला जहां हम निश्चय से कह सकें कि यह अवश्य एक दूसरे की नकल है। यों तो पारिभाषिक शब्दों तथा उनकी परिभाषाओं में बहुत कुछ एक-रूपता जैन साहित्य भर में ही पाई जाना अनिवार्य है। फिर यदि एक दूसरे की नकल ही मान ली जाय तो यह भी हो सकता है कि आगमों में ही इन सूत्रों का सहारा लेकर लिखा गया

है। इस शंका का विद्वान् लेखक स्वयं अनुमान कर के समाधान करते हैं कि "जैन इतिहास के अन्वेषण से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि आगमग्रंथों का अस्तित्व उमास्वातिजी महाराज से भी पहले था।" हमें खेद है कि मुनि जी का यह कथन प्रामाणिक नहीं है। तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता का समय उन्होंने स्वयं विक्रम संवत् की प्रथम शताब्दी माना है, और हम समझते हैं वे इस बात को भी अस्वीकार नहीं कर सकते कि जिन आगमों पर से मुनि जी ने उद्धरण संग्रह किये हैं वे वर्तमान में प्रचलित आगम विक्रम की छठवीं शताब्दी में अर्थात् तत्त्वार्थसूत्र बनने से कोई छः शताब्दी पश्चात् देवर्धिगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में सम्पादित किये गये थे। ऐसी अवस्था में यह कैसे सम्भव माना जा सकता है कि तत्त्वार्थसूत्र इन्हीं आगमों पर से संग्रह किया गया है?

तत्त्वार्थ सूत्र के आगमों पर से संगृहीत होने का एक प्रमाण मुनि जी ने यह भी दिया है कि हेमचन्द्राचार्य ने अपने शब्दानुशासन व्याकरण में उमास्वाति को संग्रहकर्त्ता कहा है। किन्तु हमें सखेद कहना पड़ता है कि इस उल्लेख से भी मुनि जी के मत की पुष्टि नहीं होती। 'संग्रह' का अर्थ आवश्यकतः यहाँ वहां से संकलन करना ही नहीं होता। स्वयं हेमचन्द्राचार्य ने अपने अभिधानचिन्तामणि नामक कोश में संग्रह का अर्थ इस प्रकार दिया है—

"समासस्तु समाहारः संक्षेपः संग्रहोऽपि च" ॥६, ६८

इससे स्पष्ट है कि संग्रह का अर्थ संक्षेप भी होता है। इसी से ऊपर उन्होंने विस्तारवाची शब्दों का निरूपण किया है; 'प्रपञ्चाभोग-विस्तार-व्यासाः शब्दे स विस्तरः।' इससे सिद्ध होता है कि संग्रहकर्त्ता व संग्रहीता का अर्थ हेमचन्द्राचार्यानुसार संक्षेप में ग्रंथ रचने वाला अर्थात् सूत्रकार समझना चाहिये। अतएव हेमचन्द्राचार्य के उक्त उल्लेख पर से तत्त्वार्थसूत्र को वर्तमान आगमों पर से संकलित कहना सर्वथा अप्रामाणिक है। प्राथमिक वक्तव्य के लेखक डा० बनारसीदास जी की दृष्टि में भी यह आपत्ति थी और इसी कारण उन्होंने कहा है कि "आगम तत्त्वार्थसूत्र से पूर्व के बने हैं या पश्चात् के, इस प्रश्न को छोड़कर हमें इसी बात पर ध्यान देना चाहिये कि उपाध्याय जी तत्त्वार्थसूत्र के सब सूत्रों के समानार्थक वाक्य आगमों में से खोज कर निकाल सके।" जो जैन श्रुतज्ञान परम्परागत था उसी का आधार लेकर उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र रचा, इसमें तो किसी को भी शंका नहीं हो सकती। और वही श्रुतज्ञान संक्षेप-विस्तार से वर्तमान श्वेताम्बर आगमों में भी पाया जाता है, इसलिये इन आगमों का भी जैनियों की सभी सम्प्रदायों को अध्ययन करना चाहिये इसमें कोई अनौचित्य नहीं है।

अन्त में हम आगमों के समानार्थ अवतरणों सहित तत्त्वार्थसूत्र का यह सुन्दर संस्करण बड़े परिश्रम पूर्वक तैयार करने के लिये मुनि आत्माराम जी महाराज का अभिनन्दन करते हैं और आशा करते हैं कि जैनियों के सभी सम्प्रदाय वाले उससे लाभ उठावेंगे।

—हीरालाल

प्रवचनसारका नया संस्करण

(समालोचना)

[लेखक—श्रीयुत पं० जुगलकिशोर मुख्तार]

श्री कुन्दकुन्दाचार्यका 'प्रवचनसार' (पवयणसार) जैनवाङ्मयका एक बहुत ही प्रसिद्ध मान्य ग्रंथ है और अनेक विषयोंमें अपनी खास विशेषता रखता है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंमें यह समानरूपसे आदरका पात्र बना हुआ है और सभी इसे गौरवभरी दृष्टिसे देखते हैं। कुछ वर्ष हुए जब मैं अहमदाबादमें था तब मैंने अनेक श्वेताम्बर-विद्वानोंको यह कहते सुना है कि प्रवचनसारकी जोड़का दूसरा ग्रंथ जैन-साहित्यमें नहीं है। और इसमें कुछ भी अत्युक्ति मालूम नहीं होती—अनेक दृष्टियोंसे यह ग्रंथ है भी वास्तवमें ऐसा ही। इस ग्रंथरत्नको सबसे पहले प्रकाशित करनेका श्रेय बम्बईकी 'रायचन्द्र-जैन-शास्त्रमाला' को प्राप्त है, जो कि 'परमश्रुत-प्रभावक-मंडल' नामकी एक उदार श्वेताम्बरीय-संस्थाद्वारा संचालित है। इसका प्रथम संस्करण वीर-निर्वाण संवत् २४३९—विक्रम सं० १९६९ में, पं० मनोहरलाल शास्त्री, द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ था और उसी समय मैंने उसको मँगा लिया था। उस वक्त ग्रंथके साथमें श्रीअमृतचन्द्र-सूरिकी 'तत्त्वप्रदीपिका', जयसेनाचार्यकी 'तात्पर्यवृत्ति', पांडे हेमराजकी 'बालावबोध' नामकी हिन्दी-भाषा टीका—इस प्रकार तीन टीकाएँ—एक विषयानुक्रमणिका और एक साधारण-सी डेढ़ पेजकी हिन्दी भूमिका (प्रस्तावना) लगी हुई थी। पृष्ठसंख्या सब मिलाकर ३९० थी और मूल्य था सजिल्द ग्रंथका तीन रुपये। ग्रंथका यह संस्करण वर्षोंसे अप्राप्य था और इसीलिये बम्बई-विश्वविद्यालयने इस ग्रंथको अपने कोर्स (पठनक्रम) से निकाल दिया था।

हालमें उक्त ग्रंथका नया संस्करण (सन् १९३५ का छपा हुआ) मुझे प्राप्त हुआ है, जिसके प्रकाशनका सौभाग्य भी उक्त शास्त्रमाला और संस्थाको प्राप्त है। यह संस्करण अपने पहले संस्करणसे कितनी ही बातोंमें बढ़ा चढ़ा है और इसके सम्पादक हैं समाजके लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् प्रोफेसर ए० एन० (नेमिनाथ-तनय आदिनाथ) उपाध्याय, एम०ए०, जो कि कोल्हापुरके राजाराम-कालिजमें अर्धमागधी भाषाके शिक्षक हैं, सम्पादनकलामें प्रवीण हैं और एक बड़े ही विनम्र एवं प्रगतिशील इतिहासज्ञ हैं। आपके सम्पादकत्वमें ग्रंथका यह संस्करण चमक उठा है। इसमें मूल-गाथाओंका अच्छा संशोधन हुआ है—जब कि पहले संस्करणमें भाषादिककी यथेष्ट जानकारी न होनेके कारण वे कितनी ही अशुद्धियोंको लिये हुए छाप दी

गई थीं, टीकाओंका भी कुछ कुछ संशोधन हो सका है और विषयानुक्रमणिकाको भी कहीं कहीं सुधारा गया है। इसके सिवाय जो जो बातें अधिक हैं और जो प्रस्तुत संस्करणकी विशेषताएँ हैं वे निम्न प्रकार हैं :—

(१) प्रस्तुत संस्करणकी अच्छी संक्षिप्त विषय-सूची (Contents), अंग्रेजीमें।

(२) ग्रन्थ-सम्पादनादि-विषयक अंग्रेजीकी भूमिका (Preface), प्रथम संस्करणकी डेढ़पेजी भूमिकाके स्थान पर।

(३) कुन्दकुन्द, उनके समय और उनके ग्रन्थों आदिसे संबंध रखनेवाली एक विस्तृत आलोचनात्मक प्रस्तावना (Introduction) अंग्रेज़ीमें, १२६ पृष्ठों पर।

(४) ग्रन्थका एक अच्छा अंग्रेज़ी अनुवाद (English translation) अनेक उपयोगी फुटनोट्स के साथ, ३४ पृष्ठों पर।

(५) ग्रन्थमें प्रयुक्त हुए पारिभाषिक शब्दोंकी एक अनुक्रमणिका (Index), अंग्रेज़ीमें उनके तुल्यार्थक शब्दों अथवा अर्थोंके साथ गाथाओंके पते सहित।

(६) ग्रन्थकी अनेक प्रतियोंमें पाये जानेवाले पाठभेदोंकी सूची (Variant readings)।

(७) ग्रन्थकी गाथानुक्रमणिका।

(८) अमृतचन्द्राचार्यकी टीकामें प्रयुक्त हुए उद्धृताऽनुधृत-पद्योंकी वर्णानुक्रम-सूची।

(९) जयसेनाचार्यकी टीकामें उद्धृत हुए पद्योंकी अनुक्रम-सूची।

(१०) अंग्रेज़ी प्रस्तावनामें प्रयुक्त हुए ग्रन्थों, ग्रन्थकारों तथा दूसरे नामों आदिकी बड़ी सूची (Index to Introduction)।

इन सब विशेषताओं एवं वृद्धियोंके साथ ग्रन्थको पृष्ठसंख्या भी बढ़ी है और वह सब मिलाकर ५८० हो गई है—अर्थात् प्रथम संस्करणसे इस संस्करणमें प्रायः २०० पृष्ठ अधिक हैं। कागज़ पहलेसे अच्छा, जिल्द सुन्दर और गेटअप सब अप-टु-डेट है। इन सब विशेषताओंके साथ ग्रन्थका मूल्य ५) रु० अधिक नहीं है—भले ही वह उन लोगोंको कुछ अखरता हो जो अंग्रेज़ी नहीं जानते हैं। अब यह ग्रन्थ अंग्रेज़ी पढ़े लिखे विद्वानोंके लिये भी बहुत ही उपयोगी हो गया है और प्रत्येक लायब्रेरी, पुस्तकालय, शास्त्रभाण्डार तथा उच्चकोटिकी शिक्षा-संस्थाओंमें संग्रह किये जानेके योग्य है। अस्तु।

इस संस्करणकी सबसे बड़ी खूबी और विशेषता इसकी ऐतिहासिक प्रस्तावना (Introduction) है, जिसे प्रोफ़ेसर साहबने बड़े ही परिश्रमसे तय्यार किया है और जो उनके पांडित्य, तुलनात्मक अध्ययन तथा गहरे अध्यवसायको द्योतन करनेके लिये पर्याप्त है। यह प्रस्तावना ग्रन्थका गौरव ख्यापित करने और जनताके ज्ञानकी वृद्धि करनेमें बहुत कुछ सहायक है। बम्बई-विश्वविद्यालयने इसकी उपयोगिताको समझते हुए इसके प्रकाशनार्थ

ढाई सौ रुपये की सहायता प्रदान की है तथा ग्रन्थको अपने एम० ए०के कोर्समें रक्खा है, और इस तरह सम्पादक व प्रकाशक दोनोंको ही सम्मानित किया है। अच्छा होता यदि इस अंग्रेज़ी प्रस्तावनाका हिन्दी अनुवाद भी साथमें दे दिया जाता, और इस तरह वर्तमान संस्करणकी उपयोगिताको और भी ज़्यादा बढ़ा दिया जाता। अथवा इस संस्करणके दो विभाग कर दिये जाते। एक में अंग्रेज़ीकी प्रस्तावना और अंग्रेज़ी अनुवादादिको रख दिया जाता, और दूसरेमें प्रस्तावनाका अच्छा प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद दे दिया जाता। साथ ही, कुछ अनुक्रमणिकाओं अथवा सूचियोंको भी हिन्दीका रूप देकर रख दिया जाता। इससे हिन्दी जनताको मूल्यकी भी फिर कोई शिकायत नहीं रहती और इस संस्करण की मांग भी ज़्यादा बढ़ जाती।

यहाँ पर मैं उक्त प्रस्तावनाका पूर्ण परिचय देने के लिये असमर्थ हूँ—वह तो उसे देखनेसे ही सम्बन्ध रखता है। फिर भी इतना ज़रूर बतला देना चाहता हूँ कि इस प्रस्तावनाके छह स्थूल विभाग हैं—१ श्रीकुन्दकुन्दाचार्य, २ कुन्दकुन्दका समय, ३ कुन्दकुन्दके ग्रन्थ, ४ कुन्दकुन्दका प्रवचनसार, ५ प्रवचनसारके टीकाकार और ६ प्रवचनसारकी प्राकृत भाषा। पहले विभागमें, श्रीकुन्दकुन्दाचार्यका परिचय, उनके पाँच नामोंकी चर्चा, तद्विषयक विचारणा, साम्प्रदायिक कथाओंकी आलोचना और उनकी गुरुपरम्पराके विचार-विमर्शको लिये हुए, दिया गया है।

दूसरे विभागमें, कुन्दकुन्दके समय-संबंधमें साम्प्रदायिक धारणाके साथ चार विद्वानों (पं० नाथूराम प्रेमी, डा० पाठक, प्रो० चक्रवर्ती, जुगलकिशोर मुख्तार) के मतोंका उल्लेख करते हुए उन पर कुछ प्रकाश डाला गया है और समयकी पूर्वोत्तर सीमाएँ निर्धारितकी गई हैं। साथ ही, इन आनुषङ्गिक विषयों पर विचार किया गया है कि क्या कुन्दकुन्दाचार्य (क) दिगम्बर-श्वेताम्बर विभागके बाद हुए हैं? (ख) भद्रबाहुके शिष्य थे? (ग) षट्खण्डागमके टीकाकार थे? (घ) शिवकुमार राजाके समकालीन थे? (ङ) तामिल काव्य 'कुरल' के रचयिता थे?

तीसरे विभागमें, प्रवचनसारको छोड़कर, कुन्दकुन्दके नामसे नामाङ्कित होने वाले सभी ग्रंथोंकी चर्चा करते हुए, उपलब्ध ग्रंथोंका संक्षेप-विस्तारमें परिचय दिया गया है। अष्ट-पाहुडों, रयणसार, बारसअणुवेक्खा, नियमसार, पंचास्तिकायसार और समयसार ग्रन्थोंका जो अलग अलग परिचय, उनके विषय विभागको लक्ष्यमें रखते हुए, गाथाओंके नम्बरोंकी सूचनाके साथ दिया है वह निःसन्देह बड़े ही महत्वका है और उससे उन ग्रन्थोंका सारा विषय संक्षेपमें बड़े ही अच्छे ढंगसे सामने आजाता है। इस परिचयके तय्यार करनेमें प्रोफेसर साहबने जो परिश्रम किया है वह बहुत ही प्रशंसनीय है। परिचयके बाद उक्त ग्रन्थों पर विवेचनात्मक नोट्स (critical remarks) भी दिये गये हैं, जो कुछ कम महत्वके नहीं हैं और विचारकी कितनी ही सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

चौथे विभागमें, प्रवचनसारका विचार किया गया है और उसे पाँच उपविभागोंमें बाँटा गया है। एकमें, प्रवचनसारके अध्ययनकी चर्चा करते हुए, उसके देरसे पूर्वदेशीय-भाषाविज्ञों (orientalists) के हाथोंमें पहुँचनेका उल्लेख है। दूसरेमें, प्रवचनसारकी मूलगाथाओंकी चर्चा की गई है और दोनों टीकाओं परसे गाथाओंकी कमी-बेशीका जो भेद उपलब्ध होता है उसे दर्शाते हुए बढ़ी हुई गाथाओंकी प्रकृति आदिका विचार प्रस्तुत किया गया है। तीसरेमें, प्रवचनसारका अध्यायक्रमसे संक्षेपमें बड़ा ही सुन्दर सार दिया गया है और उसे देते हुए विषय-विभागको लक्ष्यमें रखकर गाथाओंके नम्बरोंकी सूचना भी साथमें कर दी गई है, जिससे वह बहुत ही उपयोगी हो गया है। इसके सिवाय, प्रवचनसार पर कुछ विवेचनात्मक नोट्स (critical remarks) भी दिये हैं। चौथे उपविभागमें, प्रवचनसारके दार्शनिक रूपका ९ धाराओं तथा अनेक उपधाराओं में अच्छी विवेचनाओं तथा उपयोगी फुट-नोटोंके साथ प्रदर्शन किया गया है और दूसरे दर्शनों तथा सिद्धान्तोंके साथ तुलनात्मक अध्ययन एवं विचारकी कितनी ही सामग्री सामने रक्खी गई है। धाराओंमें ग्रन्थके प्रतिपाद्य दार्शनिक विषयोंका अपने ढंगसे मूल गाथाओंके पते सहित निरूपण है और उपधाराएँ उनकी व्याख्या, आलोचना, विचारणा अथवा तुलना आदिको लिये हुए हैं। ३६ पृष्टका यह उपविभाग निःसन्देह बड़े ही महत्वका है और लेखकके विशाल अध्ययन तथा गुरुतर परिश्रमका अच्छा परिचायक है। और पाँचवेंमें, प्रवचनसारके तृतीय अध्यायानुसार आदर्श जैन मुनि (श्रमण) का रूप देकर उसके कुछ आचारोंकी आलोचना की गई है।

उक्त ९ धाराओंका विषय-विभाग उपधाराओंकी संख्या-सहित इस प्रकार है :—

१ वैधिकी पृष्ठभूमि अथवा जैन पदार्थ-विद्या (उपधा० १)
२ द्रव्य, गुण और पर्याय (उपधा० ४)
३ जीव और पुद्गलका स्वरूप (उपधा० २)
४ उपयोगत्रय-वाद (उपधा० १)
५ सर्वज्ञता-सिद्धान्त (उपधा० ८)
६ परमाणु-वाद (उपधा० ३)
७ स्याद्वाद, अथवा सापेक्ष-विधानका सिद्धान्त (उपधा० ९)
८ देवता-विषयक जैन-अवधारणा (उपधा० ५)
९ भारतीय धार्मिक विचारणामें जैनधर्मका स्थान।

पाँचवे विभागमें, प्रवचनसारके छह टीकाकारोंका—१ अमृतचन्द्र, २ जयसेन, ३ बालचन्द्र, ४ प्रभाचन्द्र, ५ मल्लिषेण, ६ पांडे हेमराजका—और उनकी टीकाओंका कुछ परिचय दिया गया है और साथ ही उनके समयादिकका विचार भी किया गया है।

छठे विभागमें, प्रवचनसारकी प्राकृत भाषाको लेकर, उसके व्याकरण-संबंधी विषयों-नियमों-उपनियमोंकी कितनी ही छानबीन की गई है; प्राकृतके सौरसेनी और महाराष्ट्री भेदोंकी चर्चा करते हुए प्रवचनसारकी भाषाको डा० पिश्चेल (pischel) के मतानुसार, 'जैनसौरसेनी' ठहराया है और श्वेताम्बरीय आगमोत्तर ग्रन्थोंकी भाषाको 'जैनमहाराष्ट्री' बतलाया है। साथ ही, यह सहेतुक प्रकट किया है कि प्रवचनसार—जैसे पुरातन जैन सौरसेनी भाषाके ग्रन्थ, जो कि देशी शब्दोंसे रहित है, उन प्रचलित श्वेताम्बरीय आगम ग्रन्थोंसे प्राचीन हैं जिनमें देशी शब्दोंका कितना ही मिश्रण पाया जाता है। १५ पृष्ठोंका यह विभाग प्राकृत भाषाकी आलोचनाके साथ एक भाषा पर दूसरी भाषाके प्रभाव आदिको व्यक्त करते हुए तथा भाषा-विषयक कितनी ही ऐतिहासक चर्चाको स्थान देते हुए और उस परसे अनेक निष्कर्षोंको निकालते हुए बड़े ही ऊहापोहके साथ विद्वत्तापूर्ण ढंगसे लिखा गया है। और इससे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि प्रो० साहब जिस अर्धमागधी एवं प्राकृत भाषाके शिक्षक हैं उसका आपको कितना गहरा अभ्यास है।

अब मैं इन विभागोंमें आई हुई प्रस्तावनाकी कुछ खास ख़ास बातोंका थोड़ा सा परिचय, यथावश्यक अपनी आलोचनाके साथ, और भी करा देना चाहता हूँ।

प्रथम विभागमें, पट्टावली आदिके अन्तर्गत एक साम्प्रदायिक पद्यके आधार पर कुन्द-कुन्दाचार्यके पाँच नामोंकी चर्चा करते हुए और यह बतलाते हुए कि उनका मूल नाम 'पद्मनन्दि'—उत्तरनाम 'कोंडकुन्दाचार्य' था, 'वक्रग्रीव' तथा 'गृद्धपिच्छाचार्य' नामोंको अप्रामाणिक सिद्ध किया है और प्रकट किया है कि इन नामों के दूसरे ही आचार्य हुए हैं। परन्तु 'एलाचार्य' नामके विषयमें निश्चितरूपसे ऐसा कुछ न कह कर उसपर अपना सन्देह ही व्यक्त किया है। सन्देहका प्रधान कारण* 'ज्वालिनीमत' नामक ग्रंथमें उसके मूलकर्तृत्व-रूपसे हेलाचार्य अथवा एलाचार्य नामका उल्लेख है, जिसका जीवनकाल प्रो० साहब कुछ अधिक पहले का अनुमान करते हैं; परन्तु इन्द्रनन्दिके ज्वालिनीमतमें उसके मूलकर्ता हेलाचार्य-का जिस रूपमें उल्लेख किया है उसपरसे वह कुन्दकुन्द ही नहीं किन्तु कुन्दकुन्दके समकालीन कोई दूसरा व्यक्ति भी नहीं हो सकता; क्योंकि ज्वालिनीमत शक संवत् ८६१ (वि० सं० ९९६) का बना हुआ है और उसमें उक्त हेलाचार्यकी अविच्छिन्न शिष्य-परम्परामें गङ्गमुनि, नीलग्रीव, बीजावाख्य, आर्या क्षान्तिरसब्बा और क्षुल्लक विरूवट्टका उल्लेख करके यह स्पष्ट लिखा है कि "इति अनया गुरुपरिपाट्याऽविच्छिन्नसम्प्रदायेण चागच्छत् कन्दर्पेण ज्ञातं"—अर्थात् इस

* गौण कारण चिक्कहनसोगेका एक लेखनकालविहीन शिलालेख है, जिसमें देशीगण और पुस्तक-गच्छके एक एलाचार्यका उल्लेख है; परन्तु उसके साथ कुन्दकुन्दकी एकता अथवा अनेकताका कोई पता नहीं चलता है, ऐसा लिखा है।

गुरुपरिपाटीसे अविच्छिन्न-सम्प्रदाय-द्वारा चला आया यह शास्त्र कन्दर्पाचार्यको प्राप्त हुआ। कन्दर्पाचार्य और उनके शिष्य गुणनन्दि दोनोंके पाससे ('पार्श्वे तयोर्द्वयोरपि') इन्द्रनन्दिने उस शास्त्रको पढ़ कर भाषादिके परिवर्त्तन-द्वारा 'ज्वालिनीमत'की नई सरल रचना की है। इससे कन्दर्पाचार्यका समय इस ग्रंथरचनाके करीबका ही जान पड़ता है, और उनकी अविच्छिन्न गुरुपरंपरामें कुल पाँच नामोंका उल्लेख होनेसे वह प्रायः १२५ या १५० वर्षसे अधिक पूर्व की मालूम नहीं होती। ऐसी हालतमें उक्त एलाचार्यका समय विक्रमकी ९वीं शताब्दीसे पूर्वका मालूम नहीं होता। तब कुन्दकुन्दाचार्यके साथ उसका एक व्यक्तित्व भी नहीं बन सकता और न इस आधार पर 'एलाचार्य' नामकी अप्रामाणिकताको संदेहकी दृष्टिसे देखा जा सकता है। ज्वालिनीमतके मूलकर्ता एलाचार्यको तो वैसे भी द्राविडसंघका आचार्य लिखा है—जिस संघकी स्थापना कुन्दकुन्दाचार्यसे बहुत बाद हुई है, कथा परसे उनका टाइप भी भिन्न जान पड़ता है और स्थान भी उनका मलयदेशस्थ हेमग्राम (होन्नूरु) बतलाया है, जबकि श्रीकुन्दकुन्दाचार्यका स्थान कोंडकुन्दपुर प्रसिद्ध है और उसी परसे वे 'कोंडकुन्दाचार्य' कहलाते थे, जिसका श्रुतिमधुररूप 'कुन्दकुन्दाचार्य' हुआ है। इसके सिवाय, एलाचार्य नामके दूसरे भी प्रसिद्ध आचार्य हुए ही हैं, जो कि धवलादिके रचयिता वीरसेनके गुरु थे; तब वक्रग्रीव और गृद्धपिच्छ नामोंकी तरह एलाचार्य नामको भी यदि कल्पित एवं भ्रांतिमूलक मान लिया जाय तो इसमें कोई विशेष आपत्ति उस वक्त तक मालूम नहीं होती जब तक इसके विरुद्ध कोई नया पुष्ट प्रमाण उपस्थित न हो जाय।

इसी प्रथम विभागमें, कथाओं आदि के आधार पर कुन्दकुन्दके विदेहगमन और श्रीमंधर-स्वामीके समवसरणमें पहुँच कर धार्मिक-प्रकाश प्राप्त करनेका उल्लेख करते हुए, यह बतलाया है कि विदेहगमनकी ऐसी ही कथाएँ उमास्वाति तथा पूज्यपादाचार्यके विषयमें भी पाई जाती हैं, जिससे कुन्दकुन्दके विदेहगमनको घटना संदिग्ध-सी हो जाती है। साथ ही, उसे संदिग्धताकी कोटिसे निकालनेकी कुछ इच्छासे यह भी सुझाया है कि 'कुन्दकुन्दने अपने प्रवचनसारकी तीसरी गाथामें जो मानुष-क्षेत्रमें स्थित वर्तमान अर्हन्तोंको नमस्कार किया है उसी परसे कथा-वर्णित इस बातकी कल्पना की गई मालूम होती है कि कुन्दकुन्दने यहाँसे विदेहस्थित श्रीमंधर-स्वामीको नमस्कार किया था और उसीके फलस्वरूप उन्हें विदेहक्षेत्रको यात्राका अवसर प्राप्त हुआ था।' कुछ विद्वानोंने प्रो० साहबकी इस सूचना एवं कल्पनाकी प्रशंसा भी की है और उसे "ग़ज़बकी सूझ" तक लिखा है। परन्तु मुझे वह निर्दोष मालूम नहीं होती; क्योंकि एक तो उक्त गाथामें 'वंदामि य वट्टंते अरहंते माणुसे खेत्ते' शब्दोंके द्वारा मनुष्यक्षेत्रमें वर्तमान सभी अर्हन्तोंको विना किसी विशेषके—श्रीमंधरका नामोच्चारण तक न करके—नमस्कार किया गया है, जिससे उस प्रचलित कथाका कोई समर्थन नहीं होता जिसमें ध्यानस्थ होकर

मन-वचन-कायकी शुद्धिपूर्वक पूर्व-विदेह-क्षेत्रके मात्र श्रीमंधरस्वामीको नमस्कार करनेकी बात कही गई है। दूसरे, यदि ऐसे निर्विशेष नमस्कारसे श्रीमंधरस्वामीको ही नमस्कार किया जाना मान लिया जाय तो यह नहीं कहा जा सकता कि पूज्यपादने श्रीमंधरस्वामीको नमस्कार नहीं किया है; क्योंकि उन्होंने अपनी सिद्धभक्तिके अन्तिम पद्यमें "भवन्तः सकलजगति ये" आदि पदोंके द्वारा जगत् भरके सभी वर्तमान देवाधिदेवोंको नमस्कार किया है, जिसमें विदेह-क्षेत्रके श्रीमंधरस्वामी भी आ जाते हैं। जब पूज्यपादने भी श्रीमंधरस्वामीको नमस्कार किया है तब नमस्कार-सामान्यपरसे कुन्दकुन्दके विदेहगमनकी घटनाको सत्य और पूज्यपादके विदेह-गमनकी घटनाको असत्य (पीछेसे जोड़ी हुई) भी नहीं कहा जा सकता। तीसरे, जब विदेह-क्षेत्रमें वर्तमान तीर्थङ्करोंका होना आगमोदित है और सामायिकादि आवश्यक कृतिकर्मके अवसरपर सभी मुनिजन नित्य ही विदेहक्षेत्रके उन वर्तमान तीर्थकरोंको नमस्कार करते हैं— जब कि वे "अड्ढाइज्जदीवदोसमुद्देसु पण्णारसकम्मभूमिसु जावअरहंताणं भयवंताणं........ सदाकरेमि किरियम्मं" इत्यादि प्रकारके पाठ बोलते हैं, तब विदेहक्षेत्रके अर्हन्तोंको अपने ग्रन्थमें नमस्कार करना एक साधारण-सी बात है, उस परसे किसीके विदेहगमनका नतीजा नहीं निकाला जा सकता और न वैसी कोई कल्पना ही की जा सकती है। यों तो बहुतसे ग्रन्थकारोंने अपने अपने ग्रन्थोंमें विदेहक्षेत्रवर्ती तीर्थङ्करोंको नमस्कार किया है। क्या वे सभी विदेहक्षेत्र हो आए हैं ? अथवा उनके ऐसे नमस्कारादि परसे लोगोंने उनके विदेह-क्षेत्रगमनकी कल्पना की है? कदापि नहीं। अतः गाथाके उक्त शब्दों परसे कुंदकुंदके विदेह-गमनकी कल्पनाका जन्म होना मुझे तो समुचित प्रतीत नहीं होता। और न ऐसे उल्लेखों परसे वह कुछ सत्य हो कही जा सकती है। वास्तवमें विदेहगमन जैसी असाधारण घटनाका स्वयं कुंदकुंदके द्वारा कोई उल्लेख न होना संदेहसे खाली नहीं है।

दूसरे विभागमें—पृष्ठ १६, १७ पर—मेरे इस मत पर कुछ आपत्ति की गई है कि कुंदकुंद भद्रबाहु द्वितीयके शिष्य थे और यह संभावना व्यक्त की गई है कि मैंने बोध-पाहुडकी गाथा नं० ६१ के साथ, जिसमें 'सीसेण य भद्दबाहुस्स' शब्दोंके द्वारा कुंदकुंदने अपनेको भद्रबाहुका शिष्य सूचित किया है, गाथा नं० ६२का अवलोकन नहीं किया है अथवा उसपर ध्यान नहीं दिया है, जिसमें श्रुतकेवली भद्रबाहुका जयघोष किया गया है। परंतु ऐसा नहीं है, विचारके समय मेरे सामने दोनों गाथाएँ मौजूद थीं और मैं इस बातसे भी अवगत था कि परम्परा-शिष्य भी अपनेको शिष्यरूपसे उल्लेख करते हुए देखे जाते हैं—परंपरा-शिष्यके उदाहरणोंके लिये Annals of the B. O. R. I. Vol. XV में प्रकाशित जिस लेखको देखनेकी प्रेरणा की गई है वह भी मेरा ही लिखा हुआ है। फिर भी दोनों गाथाओंकी स्थिति और कथनशैली परसे मैंने यही निश्चय किया है कि उनमें अलग अलग दो भद्रबाहुओंका उल्लेख

है। पहली गाथामें वर्णित भद्रबाहु श्रुतकेवली मालूम नहीं होते; क्योंकि श्रुतकेवली भद्रबाहुके समयमें जिन-कथितश्रुतमें ऐसा कोई खास विकार उपस्थित नहीं हुआ था जिसे उक्तगाथामें 'सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं' इन शब्दों द्वारा सूचित किया गया है—वह अविच्छिन्न चला आया था। परंतु दूसरे भद्रबाहुके समयमें वह स्थिति नहीं रही थी—कितना ही श्रुतज्ञान लुप्त हो चुका था और जो अवशिष्ट था वह अनेक भाषासूत्रोंमें परिवर्तित हो गया था। इससे ६१वीं गाथाके भद्रबाहु भद्रबाहु द्वितीय ही जान पड़ते हैं। ६२वीं गाथामें उसी नामसे प्रसिद्ध होनेवाले प्रथम भद्रबाहुका अन्त्य मंगलके तौर पर जयघोष किया गया है और उन्हें साफ़ तौरसे 'गमकगुरु' लिखा है। इस तरह दोनों गाथओंमें दो अलग अलग भद्रबाहुओंका उल्लेख होना अधिक युक्तियुक्त और बुद्धिगम्य जान पड़ता है।

तीसरे विभागमें, कुन्दकुन्दके पाहुड ग्रंथोंका विचार करते हुए, २४ वें पृष्ठ पर यह सूचना की गई है कि कुछ श्वेताम्बर ग्रंथ भी पाहुड़ (प्राभृत) संज्ञाके धारक हैं और उदाहरणके तौर पर 'जोणीपाहुड' तथा 'सिद्धपाहुड' ऐसे दो नाम भी पेश किये गये हैं जो 'जैनग्रंथावली'के पृष्ठ ६२ और ६६ पर दर्ज हैं। परन्तु इनके श्वेताम्बर होनेका और कोई प्रमाण नहीं दिया है। मात्र श्वेताम्बरों द्वारा प्रकाशित 'जैनग्रंथावली'में दर्ज होनेसे वे श्वेताम्बर नहीं हो जाते। इस ग्रन्थावलीमें तो पचासों ग्रन्थ ऐसे दर्ज हैं जो दिगम्बर हैं और इस बात से प्रो० साहब भी अपरिचित नहीं हैं। संभव है उन्हें किसी दूसरे आधारसे इन ग्रन्थों के श्वेताम्बर होनेका कुछ पता चला हो और वे उसका उल्लेख करना भूल गये हों। परन्तु कुछ भी हो, जोणी-पाहुड तो दिगम्बर ग्रन्थ है ही। उक्त ग्रन्थावलीमें भी उसे धरसेनाचार्यकृत लिखा है, जो कि एक दिगम्बराचार्य हुए हैं, और उसीके पुष्ट करनेके लिये बृहट्टिप्पणी का यह वाक्य भी उद्धृत किया है—"योनिप्राभृतं वीरात् ६०० धारसेनम्"। अस्तु, इस ग्रन्थकी जो जीर्ण शीर्ण एवं खण्डित प्रति पूना के भण्डारकर इन्स्टियूटमें मौजूद है और जिसे देखकर पं० बेचरदासजीने एक नोट लिखा था उससे मालूम होता है कि यह ग्रन्थ 'पण्ह-सवण' (प्रश्न-श्रवण) मुनिके द्वारा पुष्पदंत और भूतबली शिष्योंके लिये लिखा गया है। 'इय पण्हसवण-रइए भूयबलीपुप्फयंतआलिहिए' इत्यादि—वाक्यों परसे उसका समर्थन होता है। चूंकि भूतबली और पुष्पदंत मुनिके गुरुका प्रसिद्ध नाम 'धरसेन' था। इसीसे शायद बृहट्टिप्पणीमें 'प्रश्नश्रवण' की जगह धरसेन नामका उल्लेख किया जान पड़ता है। 'धवला' टीकामें भी 'जोणीपाहुडे भणिदमंततंतसत्तीयो पोग्गलाणुभागो त्ति घेतव्वा' इस प्रकारके वाक्य-द्वारा इसी ग्रन्थका उल्लेख पाया जाता है। रहो 'सिद्धपाहुड़' की बात, उसके और उसकी टीका तकके कर्तृत्व-विषयमें उक्त ग्रन्थावली बिल्कुल मौन है, लिम्बडीके भाण्डारमें भी उसका अस्तित्व है परंतु उसकी सूची भी कर्तृत्व-विषयमें कोई सूचना नहीं देती। इससे 'सिद्ध-पाहुड़' ग्रन्थ

दिगम्बर है या श्वेताम्बर, यह अभी कुछ भी नहीं कहा जा सकता। हो सकता है कि वह कुंदकुंदके ८४ पाहुडोंमेंसे ही कोई पाहुड हो।

'षट् खण्डागम' के प्रथम तीन खण्डों पर कुंदकुंद-द्वारा रची हुई 'परिकर्म' नामकी टीकाका विचार करते हुए और उसकी रचनाको कुछ कारणोंसे सन्दिग्ध बतलाते हुए, पृष्ठ नं० १८ पर, यह भी प्रकट किया गया है कि 'धवला' और 'जयधवला' नामकी टीकाओंमें उसके कोई चिह्न नहीं पाये जाते। परन्तु धवला टीकामें तो 'परिकर्म' नामक ग्रन्थका उल्लेख, 'परियम्मे उत्तं' 'परियम्मसुत्तेण सह विरुज्झइ' इत्यादि रूपसे, अनेक स्थानों पर पाया जाता है। यह 'परिकर्म' ग्रन्थ वह तो हो नहीं सकता जो 'दृष्टिवाद' नामक १२ वें अंगका एक खास विभाग—अनेक उपविभागोंको लिये हुए—है, जिसका अस्तित्व बहुत समय पहलेसे उठ चुका था और जो शायद कभी लिपिबद्ध भी नहीं हुआ था। तब यह 'परिकर्म' ग्रन्थ षट्खण्डागमकी टीकारूपमें इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारके कथनानुसार कुंदकुंदकृत है या विबुध श्रीधरके मतानुसार कुंदकुंदके शिष्य कुंदकीर्तिका बनाया हुआ है? अथवा षट्खण्डागमकी टीका न होकर कोई स्वतंत्र ग्रन्थ है और उक्त दोनोंमेंसे एकने या किसी तीसरेने ही इसकी रचना की है? ये सब बातें विचार किये जानेके योग्य हैं। टीकारूपमें प्रथम दोमेंसे किसीकी भी कृति होने पर कुंदकुंदके समय-निर्णय पर इससे कितना ही प्रकाश पड़ सकता है। मालूम होता है 'धवला' का सामान्यरूपसे अवलोकन करते हुए प्रोफ़ेसर साहबके सामने 'परिकर्म'-विषयक उल्लेख नहीं आए, और इसीसे उन्हें उन पर विचार करनेका अवसर नहीं मिल सका। आशा है वे भविष्यमें गहरी जाँचके बाद उनपर ज़रूर प्रकाश डालनेका यत्न करेंगे।

कुन्दकुन्दके नाम से प्रसिद्ध होने वाले 'रयणसार' ग्रंथ का विचार करते हुए, २९ वें पृष्ठ पर जो यह प्रकट किया गया है वह ठीक ही है कि 'रयणसार' ग्रन्थ गाथाविभेद, विचार-पुनरावृत्ति, अपभ्रंश पद्योंकी उपलब्धि, गण-गच्छादि-उल्लेख और बेतरतीबी आदिको लिये हुए जिस स्थितिमें अपनेको उपलब्ध है उस परसे वह पूरा ग्रंथ कुन्दकुन्दका नहीं कहा जा सकता—कुछ अतिरिक्त गाथाओंकी मिलावटने उसके मूलमें गड़बड़ उपस्थित कर दी है। और इसलिये जबतक कुछ दूसरे प्रमाण उपलब्ध न हो जायँ तब तक यह बात विचाराधीन ही रहेगी कि कुन्दकुन्द इस 'रयणसार' ग्रंथके कर्त्ता हैं।

पृष्ठ ४२ पर यह सुझाया गया है कि 'नियमसार' में द्वादशश्रुतस्कंधरूपसे जो परिच्छेद-भेद पाया जाता है वह मूलकृत नहीं है—मूल परसे उसकी कोई उपलब्धि नहीं होती, उससे मूलके समझनेमें किसी तरह की सुगमता भी नहीं होती और न यही मालूम होता है कि ग्रंथ-कार कुंदकुंदका अभिप्राय अपने ग्रंथमें ऐसे कोई विभाग रखनेका था। और इसलिये उक्त-

विभागोंकी सारी ज़िम्मेदारी टीकाकार पद्मप्रभमलधारीदेव पर है। और यह प्राय: ठीक जान पड़ता है।

चौथे विभागमें, प्रवचनसारकी गाथाओंका विचार करते हुए, यह प्रकट किया गया है कि अमृतचंद्रकी टीकाके अनुसार गाथासंख्या २७५ है, जब कि जयसेनकी टीका परसे वह ३११ उपलब्ध होती है। और ये बढ़ी हुई गाथाएँ तीन भागोंमें बाँटी जा सकती हैं—१ नमस्कारात्मक, २ व्याख्यान-विस्तार-विषयक, और ३ अपरविषय-विज्ञापनात्मक। साथही, यह भी प्रकट किया गया है कि प्रथम दो विभागोंकी कुछ गाथाएँ ऐसी तटस्थ प्रकृतिकी हैं कि उनका अभाव महसूस नहीं होता और यदि वे मौजूद रहें तो उनसे प्रवचनसारके विषयमें वस्तुत: कोई खास वृद्धि नहीं होती। और इसलिये तृतीय विभागकी गाथाएँ ही खास तौरसे विचारणीय है। इन गाथाओंमें १४ गाथाएँ ऐसी हैं जो निर्ग्रन्थ साधुओंके लिये वस्त्र-पात्रादिका और स्त्रियोंके लिये मुक्तिका निषेध करती हैं। इन गाथाओंका विषय, यद्यपि, कुंदकुंदके दूसरे ग्रंथोंके विरुद्ध नहीं है—प्रत्युत अनुकूल है—परंतु श्वेताम्बर सम्प्रदाय के विरुद्ध ज़रूर है। और इसलिये अमृतचन्द्राचार्यके द्वारा इनके छोड़े जानेके विषयमें प्रोफेसर साहबने भावी अनुसंधानके लिये यह कल्पना की है अथवा परीक्षार्थ तर्क उपस्थित किया है कि—'अमृतचन्द्र इतने अधिक आध्यात्मिक व्यक्ति थे कि साम्प्रदायिक वाद-विवादमें पड़ना नहीं चाहते थे और संभवत: इस बातकी इच्छा रखते थे कि उनकी टीका, संदीप्त एवं तीक्ष्ण साम्प्रदायिक आक्रमणोंका विलोप करती हुई, कुंदकुंदके अति उदात्त उद्गारोंके साथ, सभी सम्प्रदायोंको स्वीकृत होवे'। इसमें सन्देह नहीं कि अमृतचन्द्रसूरि एक बड़े ही अध्यात्मरसके रसिक विद्वान् थे परन्तु, जहाँतक मैं समझता हूं, इसका यह अर्थ नहीं हो सकता और न इसके कारण उन पर ऐसा कोई आरोप ही लगाया जा सकता है कि उन्होंने अपनी टीकाको सर्वसम्मत बनाने और साम्प्रदायिक वाद-विवादमें पड़नेसे बचनेके लिये एक महान आचार्यके ग्रंथकी टीका लिखनेकी प्रतिज्ञा* करकेभी उसके कितनेही वाक्योंको जानबूझकर छोड़ दिया है और उस छोड़ने की सूचना तक करना भी अपना कर्त्तव्य नहीं समझा है। ऐसा आचरण मेरी रायमें आध्यात्मिक प्रकृतिके विरुद्ध है। यदि किसी तरह यह मान भी लिया जाय कि उन्होंने इसी दृष्टिसे उक्त १४ गाथाओंको छोड़ा है तो फिर शेष २२ गाथाओंको छोड़नेका क्या कारण हो सकता है? उन्हें तो तब निरापद समझकर टीकामें ज़रूर स्थान देना चाहिये था। दूसरे अध्याय के मङ्गलाचरण तककी एक एकमात्र गाथाको स्थान न देना और उसे दूसरे अध्यायोंसे भिन्न विना मङ्गलाचरणके ही रखना इस बातको सूचित करता है कि अमृतचन्द्रसूरिको मूलका

*अमृतचन्द्रसूरिका वह प्रतिज्ञा-वाक्य इस प्रकार है—

'क्रियते प्रकटिततत्वा प्रवचनसारस्य वृत्तिरियम्॥'

उतना ही पाठ उपलब्ध हुआ है जिसपर उन्होंने टीका लिखी है—उन्होंने जानबूझकर मूलका कुछ भी अंश छोड़ा नहीं है। रही साम्प्रदायिक वादविवादमें न पड़ने की बात, इसका कुछ भी मूल्य नहीं रहता जब हम देखते हैं कि खुद अमृतचन्द्रने अपने 'तत्त्वार्थसार' में, जो कि एक प्रकार से उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रका व्याख्यान अथवा पद्यवार्त्तिक है, निम्नपद्यके द्वारा यह घोषणा की है कि 'जो साधुको सग्रन्थ (वस्त्रादिसहित) होने पर भी निर्ग्रन्थ बतलाते हैं और केवलीको ग्रासाहारी (कवलाहारी) ठहराते हैं वे विपरीत मिथ्यात्वके अन्तर्गत हैं', और इस तरह साफ़ तौर पर श्वेताम्बरों पर आक्रमण किया है:—

सग्रन्थोऽपि च निर्ग्रन्थो ग्रासाहारी च केवली।
रुचिरेवंविधा यत्र विपरीतं हि तत् स्मृतं ॥५-६॥

इसी सिलसिलेमें पृष्ठ ५४ पर, एक फुटनोट-द्वारा अमृतचन्द्रसूरिके श्वेताम्बर होनेकी कल्पनाका भले प्रकार निरसन करते हुए और प्रमाणमें उक्त 'सग्रन्थोऽपिच' पद्यको भी उद्धृत करते हुए, यह प्रकट किया गया है कि चूंकि अमृतचन्द्रने समयसारकी टीकामें 'नवतत्त्व' एवं 'सप्तपदार्थ' शब्दोंका प्रयोग किया है तथा 'व्यवहारसूत्र' का उल्लेख किया है और तत्त्वार्थसारमें षष्ठ-अष्टम उपवासोंका भी उल्लेख किया है, इससे ज़्यादासे ज़्यादा इतना ही पाया जाता है कि उन्हें श्वेताम्बर साहित्यका गाढ़ परिचय था; और इस तरह पर प्रकारान्तरसे यह स्वीकृत अथवा सूचित किया है कि इन षष्ठ-अष्टम उपवासादिक जैसी बातोंका एकमात्र सम्बन्ध श्वेताम्बर साहित्यसे है—वहीं परसे उन्हें अपने ग्रन्थोंमें लिया गया है। परन्तु ऐसा नहीं है। दिगम्बर सम्प्रदायके प्रायश्चित्तादि ग्रन्थोंमें षष्ठ-अष्टमादि उपवासोंका कितना ही वर्णन है और कल्पके साथ व्यवहारसूत्रका उल्लेख भी पाया जाता है। 'धवला' में तपो-विद्याओंका स्वरूप देते हुए स्पष्ट ही लिखा है कि "छट्ठट्ठमादि-उववासविहाणेहि साहिदाओ तवविज्जाओ"—अर्थात् जो षष्ठ-अष्टमादि उपवासोंके द्वारा सिद्ध की जाती हैं वे तपोविद्याएँ हैं। धरसेनाचार्यने भूतबली और पुष्पदंतको जो दो विद्याएँ सिद्ध करनेको दी थीं उन्हें भी धवलामें "एदाओ छट्ठोववासेहिं साहेदु त्ति" इस वाक्यके द्वारा षष्ठोपवाससे सिद्ध करनेको लिखा है। पूज्यपादने निर्वाणभक्तिमें "षष्ठेन त्वपराह्ण भक्तेन जिनः प्रवव्राज" जैसे वाक्योंके द्वारा श्रीवीरभगवानके षष्ठोपवासके साथ दीक्षित होने आदिको उल्लेख किया है। और कुंदकुंदने 'योगभक्ति' में जो "वंदे चउत्थभत्तादि जाव-छम्मासखवणपडिवण्णे" ऐसा लिखा है वह भी सब इन्हीं उपवासोंका सूचक है। और अधिक प्रमाणके लिये मूलाचारकी "छट्ठट्ठमदसमदुवादसेहि" इत्यादि गाथाका नाम ले देना पर्याप्त होगा, जिसमें इन उपवासोंका खुला विधान किया है। इसके सिवाय, अमृतचंद्रने समयसार गाथा ३०४, ३०५ की टीकामें 'व्यवहारसूत्र'की जिन दो गाथाओंको उद्धृत किया है वे श्वेताम्बरीय व्यवहारसूत्रमें, जो

कि गद्यात्मक है, नहीं पाई जाती हैं, और इससे वे दिगम्बर सम्प्रदायके व्यवहारसूत्रकी ही गाथाएँ जान पड़ती हैं, जो इस समय अपनेको अनुपलब्ध है। रही 'पदार्थ' की जगह 'तत्त्व' और 'तत्व' की जगह 'पदार्थ' शब्दका प्रयोग करना, यह एक साधारण सी बात है—इसमें कोई विशेष अर्थभेद नहीं है—दिगम्बर साहित्यमें तत्त्वके लिये पदार्थ और पदार्थके लिये तत्त्व शब्दका प्रयोग अनेक स्थानों पर देखनेमें आया है। इसके सिवाय, समयसारकी १३वीं गाथामें जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष नामकी ९ वस्तुओंका उल्लेख करके उन्हें 'तत्त्व' या 'पदार्थ' ऐसा कुछ भी नाम नहीं दिया गया है—मात्र उनके भूतार्थ नयसे अभिगत करनेको 'सम्यक्त्व' बतलाया है। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि कुंदकुंदका अभिप्राय उन्हें टीकाकारके अनुसार 'नवतत्त्व' कहनेका नहीं था? यदि कुंदकुंदका अभिप्राय इसके विरुद्ध सिद्ध नहीं किया जा सकता तो यह भी नहीं कहा जा सकता कि अमृतचंद्रने श्वेताम्बर साहित्य परसे 'नवतत्त्व' को कल्पना की है। नव-पदार्थमेंसे पुण्य-पापको निकाल देने पर जब सप्ततत्त्व ही अवशिष्ट रहते हैं तो उनमें पुण्य, पापके तत्त्वोंको शामिल करने पर उन्हें 'नवतत्त्व' कहनेमें क्या आपत्ति अथवा विशिष्टता हो सकती है? कुछ भी नहीं। अतः ऐसी साधारणसी बातों पर दिगम्बर-श्वेताम्बरके साहित्य-भेदकी कल्पना कर लेना ठीक मालूम नहीं होता।

चौथे विभागके चतुर्थ उपविभागकी दूसरी धारामें, द्रव्य-गुण-पर्यायके स्वरूप पर अच्छा प्रकाश डालते हुए और यह बतलाते हुए कि उमास्वातिने अपने 'तत्वार्थसूत्र' में कुंदकुंदकी गुण-पर्याय-विषयक दृष्टिको पूरी तौरसे स्वीकार किया है, सिद्धसेनकी तद्विषयक आपत्तियोंका उल्लेख करके उन्हें अच्छे प्रभावक ढंगसे सदोष सिद्ध किया है और यह स्पष्ट किया है कि कुंदकुंद और उमास्वातिने गुण-पर्यायके विषयमें जिस पक्ष (पोज़ीशन) को अङ्गीकार किया है वह यथेष्ट रूपसे निर्दोष है। सिद्धसेनने न्याय-वैशेषिक और कुंदकुंदके पक्षोंको मिलाकर उसमें गड़बड़ अथवा भ्रान्ति उत्पन्न कर दी है।

उक्त उपविभागकी पाँचवी धारामें, सर्वज्ञताके सिद्धान्तका कुंदकुंदकी दृष्टिसे स्पष्टीकरण करते हुए उस पर दूसरे दर्शनोंकी दृष्टिसे तथा उपनिषदों आदिकी मान्यताओंसे कितना हो प्रकाश डाला गया है, कुमारिलके आक्रमणका भी उल्लेख किया गया है और कुंदकुंदके मुकाबलेमें उसकी निःसारता व्यक्त की गई है। अन्तमें सर्वज्ञताकी आवश्यकता तथा उसकी सिद्धिका विवेचन किया गया है, और इस तरह इस महत्वपूर्ण विषयके लिये प्रस्तावनाका आठ पृष्ठोंका स्थान घेरा गया है, जो बहुत कुछ ऊहापोह एवं उपयोगी तथा विचारणीय सूचनाओंको लिये हुए है। इसी प्रकरणमें यह भी सूचित किया गया है कि जहाँ तक उपलब्ध-जैनग्रंथोंसे सम्बन्ध है सर्वज्ञताविषयक तार्किकवाद वास्तवमें समन्तभद्र (ईसाकी दूसरी शताब्दी)

से प्रारंभ होता है। इससे पहले उमास्वाति तथा कुंदकुंदादिके समयोंमें 'सर्वज्ञता' सिद्धान्त रूपसे प्रचलित थी - उसे सिद्ध करनेकी शायद कोई ज़रूरत नहीं समझी जाती थी। साथ ही, यह भी सूचित किया गया है कि इसी समयके करीब जैनियोंने संस्कृत भाषाको अपनाया है जो कि तर्कपद्धतिके लिये विशेष उपयुक्त थी, और उमास्वाति संस्कृतको अपनानेके लिये प्रथम जैनग्रंथकार हैं। पिछली सूचनासे यह भी ध्वनित होता है कि तत्वार्थसूत्रके जिस भाष्यको 'स्वोपज्ञ' कहा जाता है उसे प्रोफ़ेसर साहब भी उमास्वातिकृत नहीं मानते हैं; क्योंकि उसमें 'उक्तंच' आदि रूपसे दूसरे जैन विद्वानों के संस्कृत वाक्योंको उद्धृत किया गया है और इसलिये वैसा मानने पर यह बात नहीं बनती कि उमास्वाति संस्कृतको अपनानेवाले जैन-ग्रन्थकारोंमें प्रथम थे। मुझे तो अभी इस पर काफी संदेह है; क्योंकि धवलादिक ग्रंथोंमें संस्कृतके कुछ ऐसे प्राचीन सूत्र तथा प्रबंधादि भी उपलब्ध होते हैं जो अपनी रचनाशैली-आदि परसे उमास्वातिके तत्वार्थसूत्रसे प्राचीन जान पड़ते हैं, और जिसका एक नमूना 'प्रमाणनयैर्वस्त्वधिगमः' नामका सूत्र है जो उमास्वातिके 'प्रमाणनयैरधिगमः' सूत्रसे मिलता जुलता है और जिसे उद्धृत करते हुए धवलामें लिखा है कि "इत्यनेन सूत्रेणापि नेदं व्याख्यानं विघटते" (आरा-प्रति पृष्ठ ५४२)—अर्थात् इस सूत्रसे भी यह व्याख्यान (स्पष्टीकरण) बाधित नहीं होता।

सातवीं धारामें स्याद्वाद सिद्धांतका आठ पृष्ठों पर अच्छा उपयोगी विवेचन किया गया है, नयवादादिकी दृष्टियोंको स्पष्ट करते हुए प्राचीन साहित्यमें नयवाद तथा स्याद्वादकी खोज की गई है और साथ ही इस बातकी जाँच की गई है कि स्याद्वादके प्रतिरूप अन्यत्र कहाँ पर उपलब्ध होते हैं। इस सिलसिलेमें प्रोफ़ेसर ए० बी० ध्रुव महादयकी दो धारणाओंको ग़लत सिद्ध किया है—एक यह कि स्याद्वादका प्रारंभ अजैनोंसे हुआ है और दूसरी यह कि वेदांतके 'अनिर्वचनीयता' सिद्धान्तने जैनोंके स्याद्वादको जन्म दिया है। साथ ही, यह भी बतलाया है कि जहाँ तक अर्धमागधीकोशसे पता चलता है 'स्याद्वाद' या 'सप्तभंगी' शब्द श्वेताम्बरीय आगम साहित्यमें नहीं पाया जाता है; परन्तु फिर भी उसके बीज वहाँ पर मौजूद हैं। प्रो० ध्रुवने जो यह कहा है कि 'सूत्रकृताङ्ग-निर्युक्ति'में 'स्याद्वाद'का उल्लेख है वह ठीक नहीं है और संभवतः ११८ वें पद्यमें आए हुए क्रियावाद आदिके लक्षणकी ग़लतफ़हमी पर अवलम्बित है। इसके सिवाय, ईन्स्टेनके अपेक्षावाद (Einstein's relativity) तथा मॉडर्न फ़िलासोफ़ीके साथ स्याद्वादकी तुलना करते हुए उसकी विशेषताको घोषित किया है। और इस तरह यह प्रकरण भी कितनी ही उपयोगी सूचनाओं तथा विचार की सामग्रीको लिये हुए है।

पाँचवे विभागमें, टीकाकार अमृतचंद्रसूरिके समयका विचार करते हुए, इतना तो निश्चित-रूपसे कहा गया है कि वे ईसाकी ७वीं और १२वीं शताब्दी के मध्यवर्ती किसी समयमें हुए हैं।

परन्तु वह मध्यवर्ती समय कौनसा है, इसका अनुमान करते हुए उसे ईसाकी १०वीं शताब्दीका प्रायः समाप्तिकाल बतलाया है और ऐसा बतलानेके तीन कारण सुझाए हैं—(क) टीकामें कुछ गाथाओंका गोम्मटसारसे उद्धृत किया जाना; (ख) ढाढसी-गाथाका अमृतचंद्रके द्वारा रचा जाना, जिसमें निःपिच्छसंघका उल्लेख है जो कि देवसेनकृत दर्शनसारके अनुसार सन् ८९६ में उत्पन्न हुआ था; (ग) अमृतचंद्रका देवसेनकी 'आलापपद्धति'से परिचित होना। यद्यपि ये तीनों हेतु अभी पूरी तौर से सिद्ध नहीं हैं;* क्योंकि—

(क) गोम्मटसार एक संग्रह ग्रन्थ है, उससे जिन चार गाथाओंको उद्धृत बतलाया जाता है वे वास्तवमें उसी परसे उद्धृत की गई हैं यह बिना काफ़ी सबूतके नहीं कहा जा सकता। उनमेंसे 'जावदिया वयणवहा' आदि तीन गाथाएँ तो धवलामें भी पाई जाती हैं—बल्कि 'णिद्धस्स णिद्धेण' और 'णिद्धा णिद्धेण' नामकी दो गाथाएँ तो षट्खण्डागमकी मूलसूत्रगाथाएँ हैं। संभव है 'परसमयाणं वयणं' नामकी चौथी गाथा भी धवलादिकमें पाई जाती हो और मेरे देखनेमें अब तक न आई हो।

(ख) ढाढसी गाथा नामक कर्तृ नाम-रहित प्रबन्धमें उपलब्ध होनेवाली 'संघो को वि ण तारइ' नामकी जिस गाथाको, जैनहितैषीके कथनानुसार, मेघविजयने अमृतचन्द्रके श्रावकाचारकी गाथा बतलाकर उद्धृत किया है उस परसे उक्त प्रबन्ध अमृतचन्द्रका नहीं कहा जा सकता—न तो वह कोई श्रावकाचार ही है और न उसी श्रावकाचार परसे मेघविजय-द्वारा उद्धृत किये जानेवाले दूसरे 'या मूर्छा नामेयं' इत्यादि पद्य प्राकृतभाषाके हैं, बल्कि पुरुषार्थसिद्ध्युपायके संस्कृत पद्य हैं। इससे मेघविजयके उद्धरणोंकी स्थिति और भी ज़्यादा संदिग्ध हो जाती है और वे ढाढसी-गाथाको अमृतचन्द्रकी ठहरानेके लिये पर्याप्त नहीं हैं।

(ग) प्रवचनसारकी जिस १२४वें पृष्ठ पर दी हुई टीकाको आलापपद्धतिसे तुलना करनेके लिये कहा गया है उस परसे जहाँ तक मैंने गौर किया है यह लाज़िमी नतीजा नहीं निकलता कि अमृतचन्द्रके सामने देवसेनकी 'आलापपद्धति' थी—दोनोंके सामान्य गुणोंके प्ररूपणमें बहुत बड़ा अन्तर है। इसके सिवाय, जब आलापपद्धतिकार अपने ग्रन्थकी रचना 'नयचक्र'के आधार पर बतलाता है तब यह कैसे कहा जा सकता है कि उक्त प्राचीनग्रंथ अमृतचन्द्रके सामने मौजूद नहीं था—और अमृतचन्द्रके कथनमें जो कुछ थोड़ा सा सादृश्य पाया जाता है वह नयचक्रका न होकर आलापपद्धतिका है?

फिर भी प्रो० साहबने जिस समयका अनुमान किया है वह क़रीब क़रीब ठीक जान पड़ता है। पहले-तीसरे कारणकी अनुपस्थितिमें अमृतचन्द्रका समय ईसाकी १०वीं शताब्दीका

* प्रो० साहबने भी इन्हें पूरी तौरसे सिद्ध एवं सबल हेतु नहीं माना है मात्र संभावनाओंके रूपमें ही व्यक्त किया है और वह भी समुच्चयरूपसे।

पूर्वार्ध भी कहा जा सकता है और वह उस समयसे भी मिलता जुलता है जो साम्प्रदायिक पट्टावलियोंके अनुसार प्रो० साहबने १०वीं शताब्दीका प्रारंभ बतलाया है।

यहाँ पर इतना और भी प्रकट करदेना ज़रूरी मालूम होता है कि जयधवलाके अन्तमें, जिसका समाप्तिकाल शक सं० ७५९ (ई० सन् ८३७) है, प्रायः ३० कारिकाएँ, दूसरी कारिकाओंके साथ, 'उक्तंच' रूपसे ऐसी उद्धृत मिलती है जो तत्त्वार्थसारमें भी पाई जाती हैं और इससे कोई अमृतचन्द्रका समय ईसाकी ८वीं शताब्दी भी बतला सकता है। परंतु ऐसा बतलाना ठीक नहीं है; क्योंकि ये कारिकाएँ राजवार्तिकमें भी उद्धृत हैं तथा तत्त्वार्थाधिगम-भाष्यके अन्तमें भी पाई जाती हैं और किसी पृथक् ही प्रबन्धकी जान पड़ती हैं, जो जयधवलामें उद्धृत किया गया है और जो अति प्राचीन मालूम होता है। उस पर किसी समय एक स्वतंत्र लेख-द्वारा जुदा ही प्रकाश डालनेका विचार है। अस्तु; धवला और जयधवला जैसी विशालकाय-टीकाओंमें अमृतचन्द्रके पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, समयसारकलश तथा तत्त्वार्थ-सार जैसे ग्रन्थोंका दूसरा कोई भी पद्य देखनेमें नहीं आता, और इससे ये टीका-ग्रंथ अमृत-चन्द्राचार्यसे पहलेके बने हुए जान पड़ते हैं; अन्यथा इन टीकाओंमें अमृतचन्द्राचार्यके किसी न किसी वाक्यके उद्धृत होनेकी संभावना ज़रूर थी।

हाँ, प्रो० साहबको इस विशाल प्रस्तावनाके संबंधमें एक बात और भी प्रकट कर देनेकी है और वह यह कि इसमें प्रवचनसारकी मूलगाथाओंका यों तो कितना ही विचार किया गया है परंतु इस प्रकारका कोई विचार प्रस्तुत नहीं किया गया जिससे यह मालूम होता कि प्रवचनसारकी सब गाथाएँ कुंदकुंद-द्वारा रचित हैं अथवा कुछ ऐसी भी गाथाएँ उसमें शामिल हैं जो कुंदकुंदके द्वारा प्राचीन साहित्य परसे संग्रह की गई हैं। ऐसे विशेष विचार-की ज़रूरत ज़रूर थी; क्योंकि कुंदकुंदके प्रवचनसारादि ग्रन्थोंकी कितनी ही गाथाएँ ऐसी हैं जो यतिवृषभकी तिलोयपण्णत्ती (त्रिलोकप्रज्ञप्ति)में प्रायः ज्यों की त्यों अथवा थोड़ेसे शब्द-भेदके साथ पाई जाती हैं, जिससे यह संदेह होता है कि कुंदकुंदने उन्हें तिलोयपण्णत्ती परसे लिया अथवा यतिवृषभने कुंदकुंदके ग्रन्थों परसे उनका संग्रह किया है। उदाहरणके तौर पर ऐसी गाथाओंके कुछ नमूने इस प्रकार हैं—

एस सुरासुरमणुसिंदवंदियं धोदघाइकम्ममलं।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ॥१॥

—प्रवचनसार।

एस सुरासुरमणुसिंदवंदियं धोदघादिकमम्मलं।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ॥७३॥

—तिलोयपण्णत्ती अंतिम भाग।

अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी ।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमेत्तंपि ॥४३॥
—समयसार ।

अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणप्पगासगारूवी ।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमेत्तं पि ॥ ६-२७ ॥
—तिलोयपण्णत्ती ।

खंदं सयलसमत्थं तस्स दु अद्धं भणंति देसो त्ति ।
अद्धंद्धं च पदेसो परमाणू चेव अविभागी ॥७५॥
—पंचास्तिकाय ।

खंदं सयलसमत्थं तस्स य अद्धं भणंति देसो त्ति ।
अद्धंद्धं च पदेसो अविभागी होदि परमाणू ॥६५॥
—तिलोयपण्णत्ती अ० १।

इन्द्रनंदि और विबुध श्रीधरके श्रुतावतारोंके अनुसार यतिवृषभ कुंदकुंदसे पहले हुए हैं। यदि ऐसा है तो यह कहना होगा कि कुंदकुंदने आगम-वाक्योंके तौर पर तिलोयपण्णत्तीकी कुछ गाथाओंको अपने ग्रंथोंमें संग्रह किया है। और यदि ऐसा न होकर कुंदकुंदकी गाथाएँ उनकी स्वतंत्र-रचनाएँ हैं तो फिर यह कहना होगा कि यतिवृषभ कुंदकुंदके बाद हुए हैं और उन्होंने कुंदकुंदके ग्रन्थों परसे कुछ गाथाएँ अपनी तिलोयपण्णत्तीमें उद्धृत की हैं। और इस तरह इन गाथाओंके निर्णयसे कुंदकुंदादि कुछ आचार्योंके समय निर्णय पर कितना ही प्रकाश पड़ सकता है। हाँ, जयसेनकी टीकामें प्रवचन-सारकी एक गाथा निम्नप्रकारसे पाई जाती है :—

तं देवदेवदेवं जदिवरवसहं गुरुं तिलोयस्स ।
पणमंति जे मणुस्सा ते सोक्खं अक्खयं जंति ॥

यदि यह गाथा वस्तुतः इसी रूपमें कुंदकुंदकी है तो इसमें एक तरहसे यतिवृषभको भी नमस्कार पाया जाता है, जिससे कुंदकुंदका यतिवृषभसे पीछे होनेका और भी ज़्यादा समर्थन होता है। परन्तु साथही यह भी बतला देना होगा कि कुन्दकुन्दके दूसरे किसी भी उपलब्ध ग्रन्थमें यतिवृषभका इस प्रकारका कोई स्मरण नहीं है; बल्कि प्रवचनसारके तृतीय अध्याय और दर्शनपाहुडके मंगलाचरणोंमें 'जदिवरवसह'की जगह 'जिणवरवसह' पाठकी उपलब्धि होती है। इससे आश्चर्य नहीं जो उक्तगाथाका 'जदिवरवसहं' पद भी 'जिणवरवसहं' ही हो उसमें 'जिण'के स्थान पर 'जदि' ग़लत लिखा गया हो। और तब उससे 'यतिवृषभ'का कोई आशय नहीं निकाला जा सकता। आशा है प्रो० साहब भविष्यमें, 'तिलोयपण्णत्ती'का

सम्पादन समाप्त करते हुए अथवा उससे पहले ही, प्रकृत विषय पर गहरा प्रकाश डालनेका यत्न करेंगे।

अन्तमें मैं यह भी बतला देना चाहता हूं कि इतने बड़े ग्रन्थमें एक भी पेज का शुद्धिपत्र लगा हुआ नहीं है, जो इस बातको सूचित करता है कि ग्रन्थका संशोधन और प्रूफरीडिंग बहुत सावधानीके साथ किया गया है और यह बात है भी ठीक; फिर भी दृष्टिदोषसे कहीं कहीं कोई अशुद्धि ज़रूर रह गई है—जैसे कि प्रस्तावना पृष्ठ १०८ की ३१वीं पंक्तिमें 'प्रभाचन्द्र' के स्थान पर 'बालचन्द्र' नाम ग़लत छपा है, भाषा-टीका पृष्ठ २३७ पर 'बन्ध न होता' की जगह 'बन्ध होता', पृष्ठ २७९ पर 'ममतारूपपरिणामोंसे तथा आरंभसे रहित'की जगह 'ममतापरिणामोंके आरंभसे रहित', पृष्ट २८६ पर 'विहरतु'का अर्थ 'विहारकरे' की जगह 'व्यवहारकर्म करे' और पृष्ठ २९३ पर '(वधकरः) हिंसा करनेवाला'के स्थान पर '(बन्धकः) बन्धका करनेवाला' अशुद्ध छपा है। यद्यपि ये तथा इसी प्रकारकी दूसरी अशुद्धियाँ भी बहुत कुछ साधारण सी हैं और ग्रन्थके आगे पीछेके संबंधसे उनका पता चल जाता है, फिर भी कोई छोटी छोटी अशुद्धि भी ऐसी होती है जो अपने पाठकको बहुत चक्करमें डाल देती है। ऐसी अशुद्धिका एक नमूना प्रस्तावना पृष्ठ ५४ के तृतीय फुटनोटमें 'समयसार'के पृष्ठ १९५ का उल्लेख है, जिसने मुझे बहुत परेशान किया है; क्योंकि उक्त पृष्ठ पर अमृतचंद्रकी टीकामें 'सप्तपदार्थ' शब्दोंका कोई भी उल्लेख देखनेमें नहीं आता जिसके कारण मुझे इधर उधरकी कितनी ही टटोल करनी पड़ी है। जान पड़ता है जयसेनकी टीका के उल्लेखको ग़लतीसे अमृतचंद्रका समझ लिया गया है। अच्छा होता यदि आधे पेजका ही एक शुद्धि-पत्र ग्रंथके साथ लगा दिया जाता।

इन सब आलोचनाओंके साथ मैं ग्रंथके इस संस्करणकी उपयोगिता एवं संग्रहणीयताको फिरसे घोषित करता हुआ प्रो० साहबको उनके इस सफल परिश्रमके लिये हार्दिक बधाई तथा धन्यवाद भेंट करता हूँ।

वीर-सेवा-मंदिर, सरसावा, ता० १०-५-१९३७।

सं० नोट—मुख्तार साहब का यह लेख बहुत बिलम्ब से पहुंचा। इसके पहुचने के पहिले ही "भास्कर" का कुल मैटर छप चुका था। फिर भी, आपकी इच्छानुसार इसे इसी किरणमें प्रकाशित करना ठीक समझा गया। इसी कारण इस गंभीर लेख *को समुचित स्थान नहीं मिल सका।*

—के० बी० शास्त्री

पतितोद्धारक जैनधर्म

[लेखक—बाबू कामता प्रसाद जी जैन, प्रकाशक—मूलचन्द किसनदास कापड़िया, मालिक, दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत, वीर सं० २४६२, पृष्ठ संख्या २०४, मूल्य १।)]

यह बड़े आनन्द की बात है कि बड़े पुरुषों की स्मृति में अब ग्रन्थमाला स्थापित करने की प्रणाली बढ़ती जाती है, इससे साहित्य की उन्नति को बहुत लाभ पहुंच रहा है। मूलचन्द जी कापड़िया ने अपने पिता स्व० किसनदास जी कापड़िया के स्मरणार्थ २०००) दो हजार रुपये का स्थायी फंड से एक ग्रन्थमाला प्रारम्भ की है। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी माला का प्रथम पुष्प है।

इसके लेखक बाबू कामता प्रसाद जी से जैनसमाज अच्छी तरह परिचित है। आपकी लेखनी से भगवान् महावीर व भगवान् पार्श्वनाथ की जीवनी तथा जैन इतिहास आदि अनेक ग्रन्थ प्रसूत हो चुके हैं। कुछ समय हुआ पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने जैनधर्म के पतितोद्धारक स्वरूप पर सर्वोत्तम ग्रन्थ लिखनेवाले को एक पुरस्कार देने की घोषणा की थी। उसी प्रेरणा से यह ग्रन्थ लिखा गया है। विषय आजकल के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण है, और उसका प्रतिपादन भी लेखक ने सुन्दर, चित्ताकर्षक शैली से किया है।

ग्रन्थ के प्रथम ३६ पृष्ठों में लेखक ने शास्त्रों के उल्लेख दे देकर जैन धर्म के उदार, सार्व-भौमिक सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराया है, जिसमें यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनधर्म के आचार्यों ने जाति व कुल की परवाह न करके सद्धर्म और सदाचार को ही मनुष्य की नीचता व उच्चता की कसौटी मानी है। चाण्डाल चंड, चाण्डाली दुर्गन्धा, चाण्डाल हरिकेश, साधु-मेतार्य, मुनि भगदत्त, माली सोमदत्त और अंजनचोर, आदि की कथायें रोचकशैली से लिख कर लेखक ने यह बतलाया है कि चाण्डाल, शूद्र, व्यभिचारजात, व पापपंक में निमग्न वेश्या आदि सभी प्रकार के मनुष्यों के उद्धार के लिये जैनधर्म का द्वार खुला रक्खा गया है। नीच से नीच गोत्र व जाति में उत्पन्न मनुष्य भी सदाचार और धर्म के द्वारा अपने को समाज में आदरणीय और आदर्श बना सकता है।

अन्त में हिन्दू-समाज के दो नीच कुलोत्पन्न रैदास और कबीर नामक दो प्रसिद्ध सन्तों के चरित्र भी दिये हैं। विद्वान लेखक की दृष्टि से यह बात छुपी हुई नहीं है कि यह अवस्था सिद्धांतों की ही है, और प्राचीनकाल में व्यवहार में भी रही है, पर आजकल जैनसमाज के भीतर वह व्यापकता और उदारता नहीं रही, जिसके कारण अब समाज इस सार्वभौमिकता का गर्व नहीं कर सकता। धर्म व समाज को इस युग में जीवित रखने के लिये इस उदार दृष्टि को पुनः जागृत करने की बड़ी भारी आवश्यकता है।

ग्रन्थ सभी धर्मप्रेमी और समाज-हितैषी पण्डितों व सुधारकों को अवलोकन करना चाहिये।

—हीरालाल

तिलोयपण्णत्ती

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये.

सगवीसगुणिदलोओ उणवण्णहिदो असेसखिदिसंखा।
तसखित्ते सम्मिलिदे चउगुणिदो सत्तहिदो लोओ ॥१६८॥

≡२७। ≡ ४
४९ ७

मुरजायारं उड्ढं खेत्तं छेत्तूण मेलिदं सयलं।
पुव्वावरेण जायदि वेत्तासणसरिससंठाणं[1] ॥१६९॥

सेढीए सत्तमभागो उवरिमलोयस्स होदि मुहवासो।
पणगुणिदो तब्भूमी[2] उस्सेहो तस्स इगिसेढी ॥१७०॥

७ । ७ । ५ ।

तियगुणिदो सत्तहिदो उवरिमलोयस्स घणफलं लोओ।
तस्सद्धे खेत्तफलं तिउणो चोद्दसहिदो लोओ ॥१७१॥

≡ ३ । ≡ ३
७ १४

छेत्तूणं तसणालिं अण्णत्थं ठाविऊण विंदफलं।
आणेज्ज तं पमाणं उण[3]वण्णेहिं विभत्तलोयसमं ॥१७२॥

≡ १ ।
४९

विसदिगुणिदो लोओ उणवण्णहिदो य सेसखिदिसंखा।
तसखेत्ते सम्मिलिदे लोओ तिगुणो अ सत्तहिदो ॥१७३॥

≡ २० । ≡ ३
४९ ७

घणफलमुवरिमहेट्ठिमलोयाण मेलिदम्मि सेढिघणं।
वित्थररुइ[4]बोहत्थं वोच्छं णाणावियप्पे वि ॥१७४

सेढीए[5] सत्तमभागो हेट्ठिमलोयस्स होदि मुहवासो।
भूवित्थारो सेढी सेढियतिय तस्स उच्छेहो ॥१७५॥

७ । — । — ।

भूमियमुहं विसोहिय उच्छेहहिदं मुहाउ भूमीदो।
सव्वेसुं खेत्तेसुं पत्तेक्कं वड्ढिहाणीओ ॥१७६॥

1 S संठाणा; 2 ABS तं भूमी; 3 ABS उग्ग; 4 ABS रुहि; 5 AB सेढिय।

तक्खयवड्ढिपमाणं णियणियउदयाहदं जइ त्थाए।
हीण[1]ब्भहिए सत्ते वासाणि हवंति भूमुहाहिंतो ॥१७७॥

४० । ६ ॥

उणवण्णभजिदसेढी अट्ठसु ठाणेसु[2] ठाविदूण कमे।
वासट्ठं गुणआए सत्तादिक्कवड्ढिगदा ॥१७८॥

४९७ । ४९१३ । ४९१९ । ४९२५ । ४९३१ । ४९३७ ।-

४९४३ । ४९४९ ।

सत्तघणाहरिदलोयं सत्तसु ठाणेसु ठाविदूण कमे।
विंदफले गुणयारा दसपभवा च्छक्कवड्ढिगदा ॥१७९॥

≡१० । ≡१६ । ≡२२ । ≡२८ । ≡३४ । ≡४० । ≡४६ ।
३४३ ३४३ ३४३ ३४३ ३४३ ३४३ ३४३

उदओ हवेदि पुव्वावरेहिं लोयंतउभयपासेसु।
तिदुइगिरज्जुपवेसे सेढी दुतिभागतिदसंढोओ ॥१८०॥
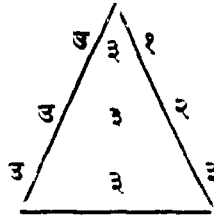
भुजपडिभुजमिलिदद्धं विंदफलं वासमुदयवेदहदं।
एक्कायर्यत्तबाहू वासद्धहदा य वेदहदा ॥१८१॥
बावालहरिदलोउं विंदफलं चोद्दसावहिदलोओ।
तब्भंतरखेत्ताणं पणहदलोउं दुदालहिदो ॥१८२॥

≡ । ≡ । ≡ ५
४२ १४ ४२

एवं खेत्तपमाणं मेलिय सयलं पि दुगुणिदं कादुं।
मज्झिमखेत्ते मिलिदे चउगुणिदे सगहिदे लोओ ॥१८३॥

≡ ४ । ७ । ७ ।
७ =
७

---

1 B हाबब्भहिए; 2 S ठाणेसु।

रज्जुस्स सत्तभागो तियछदुपंचेक्कचउसगेहिं हदा ।
खुल्लयभुजाण रुंदा वंसादी थंभबाहिरए ॥१८४॥

४९ ३ । ४९ ६ । ४९ २ । ४९ ५ । ४९ १ । ४९ ४ । ४९ ७ ।

रज्जुस्स सत्तभागो तियछदुपंचेक्कचउसगेहिं हदा ।
खुल्लयभुजाण रुंदा वंसादी थंभबाहिरए ॥१८५॥

— ३ । — ६ । — २ । — ५ । — १ । — ४ । — ७ ।
४९ ४९ ४९ ४९ ४९ ४९ ४९

लोयंते रज्जुघणा च्चिय[1] अद्धभाग संजुत्ता ।
सत्तमखिदिपज्जंता[2] अड्डाइज्जा हवंति फुडं ॥१८६॥

≡ ≡
११ ५
२ २
३४३ ३४३

उभयेसिं परिमाणं बाहिरम्मि अब्भंतरम्मि रज्जुघणा ।
छट्ठखिदीपेरंता तेरसदोरूवपरिहत्ता ॥१८७॥

≡ १३
३४३ । २

बाहिरछब्भासेसुं अवणीदेसुं हवेदि अवसेसं ।
सतिभागछक्कमेत्तं तं च्चिय[3] अब्भंतरं खेत्तं ॥१८८॥

≡ १ ≡ ६
३४३ । ६ ३४३ । ६

आउट्ठं[4] रज्जुघणं धूमपहाए समासमुद्दिट्ठं ।
पंकाए चरिमंते इगिरज्जुघणा तिभागूणं ॥१८९॥

≡ ७ ≡ ३
३४३ २ ३४३ २

रज्जुघणा सत्त च्चिय छब्भागूणा चउत्थपुढवीए ।
अब्भंतरम्मि भागो खेत्तफलस्स-प्पमाणमिदं ॥१९०॥

≡ ४१
३४३ । ६

---

1 AS च्चिय, 2 पज्जंता (?); 3 AS तच्चिय or तच्चिय; 4 AS आउट्ठं ।

रज्जुघणाद्धं णवहदतदीयखिदीए दुइज्जभूमीए ।
होदि दिवड्ढाए दो मेलिय दुगुणं घणो कुज्जा[1] ॥१६१॥

≡ ६ ≡ ३[2]
४३४३२ ३४३ । २

[दुगुणिदे
≡
३४३ ६३

तेत्तीसब्भहियछेत्ताण सव्वरज्जुयाण ।
ते ते सव्वे मिलिदा दोणिण सया होंति चउहीणा ॥१६२॥*][3]

≡ १३३
३४३

मिलिदे
≡ १९६
३४३

एक्केक्करज्जुमेत्ता उवरिमलोयस्स होंति मुहवासा ।
हेट्ठोवरि भूवासा पण रज्जू सेढिअद्धमुच्छेहो ॥१६२॥

। ७ । ७ । भू । ७५ । २ । २ ।

भूमीए मुहं सोहिय उच्छेहहिदं मुहादु भूमीदो ।
खयवड्ढीण पमाणं अडरूवं सत्तपविहत्थं ॥१६३॥

८
७

तक्खयवड्ढिपमाणं णियणियउदयाहदं जइच्छाए ।
हीणब्भहिए संते वासाणि हवंति भू मुहाहिंतो ॥१६४॥
अट्ठगुणिदेगसेढी उणवण्णाहिदम्मि होदि जं लद्धं ।
सव्वे य वड्ढिहाणी उवरिमलोयस्स वासाणं ॥१६५॥
रज्जूए सत्तभागं दससु-ट्ठाणेसु ठाविदूण तदो ।
सत्तोणवीसइगितीसपंचतीसेक्कतीसेहिं ॥१६६॥
[4]सत्तादियविसेहिं तेवीसहिं तहोणवीसेणं ।
पणरस वि सत्तेहिं तम्मि हुदे उवरि वासाणि ॥१६७॥

---

1 AB दो मिलिदा दोणिण सया होंति चउहीणा । 2 ≡ १३३ / ३४३
3 The portion in the brackets is wanting in AB. 4 सत्ताहिय (?) ।

४९ ७ । ४९ १९ । ४९ ३१ । ४९ १५ । ४९ ३१ ।

४९ २७ । ४९ २३ । ४९ १९ । ४९ १५ । ४९ ७ ॥

उणदालं पराणत्तरि तेत्तीसं तेत्तियं च उरातीसं ।

पणुवीसमेकवीसं सत्तारसं तह य बात्तीसं ॥१९९॥

≡ ३९ / ३४३ । २ | ≡ ७५ / ३४३ । २ | ≡ ३३ / ३४३ । २ | ≡ ३३ / ३४३ । २ |

≡ २९ / ३४३ । २ | ≡ २५ / ३४३ । २ | ≡ २१ / ३४३ । २ | ≡ १७ / ३४३ । २ | [1]

≡ २२ / ३४३ । २ |

एदाणि य पत्तेक्कं घणरज्जूए दलेण गुणिदाणि ।

मेरुतलादो उवरि उवरिं जायंति विंदफलं ॥१९९॥[२००][1]

थंभुच्छेहो पुव्वावरभाए बम्हकप्पपणिधीसु ।

एक्कदुरज्जुपवेसे हेट्ठोवरि चउदुगाहिदे मेढी ॥२०१॥

४ । २ ।

कप्पणइरिदलोउ ठाणेसुं दोसु रवि य गुणिदव्वो ।

एक्कतिएहिं पदत्थं भत्तरिदाण विंदफलं एदविय (?) ॥२०२॥

विंदफलं संमेलिय चउगुणिदं होदि तस्स कादूण ।

मज्झिमखेत्ते मिलिदे तियगुणिदो सगहिदो लोओ ॥२०३॥

≡ । १ । ≡ ३ ।

६ ८ ७

सोहम्मीसाणोवरि छ च्चेय रज्जूउ सत्त पविभत्ता[3] ।

खुल्लयभुजस्स रुंदं इगिपासे होदि लोयस्स ॥२०४॥

४९ ६

माहिंदउवरिमेत्तं रज्जूउ पंच होंति सत्तहिदा ।

उवरिमणाहिदस्सेढी सत्तगुणा बम्हपणधीए ॥२०५॥

४९ ५ । ४९ ७ ।

---

1 ≡ २१ / २४३ । २ | ≡ १७ / २४ । १२ in Mss. AB; 2 A and B suddenly number this as 200; perhaps the additional verse 192* is to be counted.

3 AB पविभंता ।

कापिट्ठउवरिमंते रज्जूउ पंच होंति सत्तहिदा।
सुक्कस्स उवरिमंते सत्तहिदा तिगुणिदो रज्जू ॥२०६॥

४९ ५ । ४९ ३ ।

सहसारउवरिमंते सगहिदरज्जू य खुल्लभुजरुंदं।
पाणदउवरिमचरिमे छ रज्जूउ हवंति सत्तहिदा ॥२०७॥

४९ १ । ४९ ६ ।

पणिधीसुआरणच्चुदकप्पाणं चरिमइंदयधयाणं।
खुल्लयभुजस्स रुंदं चउरज्जूउ हवंति सत्तहिदा ॥२०८॥

४९ ४ ।

सोहम्मे दलजुत्ता पण रज्जूउ हवंति तिण्णि बहि।
तम्मिस्सपुव्वसेसं तेसिं इदि अट्ठ पविहत्था ॥२०९॥

≡ ९ | ≡ २५ | ≡ ८३ |
३४३ । २ | ३४३ । ८ | ३४३ । ८ |

बम्हुत्तरहेट्ठुवरिं रज्जुघणा तिण्णि होंति पत्तेक्कं।
लंतवकप्पम्मि दुगं रज्जुघणा सुक्ककप्पम्मि ॥२१०॥

≡ ३ | ≡ ३ | ≡ २ | ≡ १ |
३४३ | ३४३ | ३४३ | ३४३ |

अट्ठाणउदिविहत्तो लोओ मदरस्स उभयविंदफलं।
तस्स य बाहिरभागे रज्जुघणो अट्ठमो अंसो ॥२११॥

≡ ७ | ≡ १ |
३४९ । २ | ३४९ । ८ |

[1]तम्मिस्ससुद्धसेसे हवेदि अब्भंतरम्मि विंदफलं।
सत्तावीसेहिं हदं रज्जू घणमाणमट्ठहियं ॥२१२॥

≡ २७
३४३ । ८

रज्जुघणो ठाणदुगे अड्ढाइज्जेहिं दोहि गुणदव्वा।
सव्वं मेलिय दुगुणिय तस्सिं ठावेज्ज जुत्तेण ॥२१३॥

≡ ५ | ≡ २ | ≡ ७० |
३४३ २ | ३४३ | ३४३ |

पत्तो दलरज्जूणं घणरज्जूउ हवंति अडवीसं।
छक्कोणवण्णगुणिदा मज्झिमखेत्तम्मि रज्जुघणा ॥२१४॥

---

1 AB तम्मिस्सु ।

= २८ | = ४९ |
३४३ | ३४३

पुव्वावरणादखिदीणं रज्जूए घणा सत्तरी होंति।
बदे तिगिगा वि रासी [1]सत्तत्तालुत्तरसयं मेलिदा ॥२१५॥

= ७० | = १४७ |
३४३ | ३४३

अट्ठविहं सव्वजगं सामण्णं तह दोण्णि चउरस्सं।
जवमुरअजवमज्झं मंदरदूसाइगिरिगडयं ॥२१६॥

सामण्णं सेढिघणं आयदचोरस्स वेदकोडिभुजा।
सेढी सेढीअद्धं दुगुणिदसेढो कमा होंति ॥२१७॥

|-| |७|७|

भुजकोडीवेदेसुं पत्तेक्कं मुरवखिदिए[2] बिदफलं।
तं पंचवीसहदं जवमुर[3]वमहिए जवखेत्तं ॥२१८॥

= २५ | = ५ |
५० | १४

पहदो णवेहि लोउ चोद्दसभजिदो य मुरयविदफलं।
सेढिस्स य घणमाणं उभयं पि हुवेदि जवमुरवे ॥२१९॥

घणफलमेक्कम्मि जवे पंचत्तीसदुभाजिदो लोगो।
तप्पणतीसं दुहदं सेढिघणं होदि जवखेत्ते ॥२२०॥

= ३५ | [illegible] | -५-२|-१
३५

चदुतियगितीसहि तियतेवीसेहि गुणिदरज्जूओ।
तियतियदुच्छदुच्छभजि(द)मंदरखेत्तफलं ॥२२१॥

३-१५ ७२ ७२
=
१४ ३६२ ७२७०|०
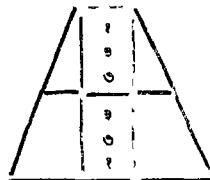
1 सत्तत्ताल (?); 2 - खिदोए (?); 3 In some Mss. it looks like स।

पणणरसहदा रज्जू छप्पण्णहिदा तदो ण वित्थारो ।
पत्तेक्कं तक्करणे खंडिदखेत्तेण चूलिया सिद्धा ॥२२२॥

— १५
३६२

पणदालहदा रज्जू छप्पण्णहिदा हवेदि[1] भूवासो ।
उदउदिवड्डुरज्जू भूतिभागेण मुहवासो ॥२२३॥
भूमीए मुहसोहिं उदयहिदे भूमुहादु हाणिचया ।
छक्केक्ककुमुहरज्जू उस्सेहा दु गुणसेढीए ॥२२४॥
तक्खयवड्ढिविमाणं चोद्दसभजिदाइं पंचरूवाणि ।
णियणियउदए पहदं अणेज्जयत्तस्स तस्स खिदिवामं ॥२२५॥
मेरुसरिच्छम्मि जगे सत्तट्ठाणेसु ठविय उड्ढुड्ढं ।
रज्जूउ रुंदे दो वोच्छं गुणयारहाराणि ॥२२६॥
छव्वीसब्भहियसयं सोलसएक्कारसादिरित्तसया ।
इगिवीसे वि विहत्ता तिसु-ट्ठाणेसु हवंति हेट्ठादो ॥२२७॥

$\overline{१४७}$	२६	$\frac{—\ ११६}{१४७}$	$\frac{—\ १११}{१४७}$

एक्कोणचउसयाइं दुसयाचउदालदुसयमेक्कोणं ।
चउसीदी चउट्ठाणे होदि हु चउसीदि पविहत्ता ॥२२८॥

$\frac{—\ ३९९}{५८८}$	$\frac{—\ २४४}{५८८}$	$\frac{—\ १९९}{५८८}$	$\frac{—\ ८४}{५८८}$

मंदरसरिसम्मि जगे सत्तसु ठाणेसु ठविय रज्जुघणं ।
हेट्ठादु घणफलंस य[2] वोच्छं गुणगारहाराणि ॥२२९॥
चउसीदिचउसयाणं सत्तावीसाधिया य दोण्णि सया ।
एक्कोणचउसयाइं वीससहस्सा विहीणसगसट्ठी ॥२३०॥
एक्कोणदोण्णिसया पणसट्ठिसयाइं णवजुदाणं पि ।
पंचत्तालं पदे गुणगारा सत्तठाणेसु ॥२३१॥
अड्ढं बारसवग्गे णवणवअट्ठय सयं च चउदालं ।
अट्ठं पदे कमसो हारा सव्वेसु ठाणेसु ॥२३२॥

$\frac{\equiv\ ४८४}{३४३ । १}$	$\frac{\equiv\ २२७}{३४३ । १}$	$\frac{\equiv\ ३९९}{३४३ । ८}$

1 हवेदि (?); 2 घणफलस्स च (?)।

प्रशस्ति-संग्रह

पं० के० भुजबली शास्त्री

इस की प्रशस्ति से यह भी ज्ञात होता है कि गंगवंशज राजकुमार देवराज के अनुरोध से ही आपने इस "गीतवीतराग" का प्रणयन किया है। इस गंगवंश का राज्य मैसूर प्रान्त में लगभग ईसा की ४थी शताब्दी से ११वीं शताब्दी तक रहा। आधुनिक मैसूर का अधिकांश भाग गंगवंश के राज्य के अन्तर्गत था जो गंगवाडि ९६००० कहलाता था। मैसूर में जो आजकल गङ्गडिकार (गंगवाडिकार) नामक किसानों की भारी जनसंख्या है वे गंगनरेशों की प्रजा के ही वंशज हैं।

गंगवंशीय राजाओं की प्राथमिक राजधानी 'कुवलाल' या 'कोलार' थी। यह पूर्वी मैसूर में पालार नदी के तट पर अवस्थित है। पीछे यह राजधानी कावेरी के तट पर 'तलकाड' नामक स्थान में आ गयी। आठवीं शताब्दी में श्रीपुरुष नामक गंगनरेश सुविधा के लिये अपनी राजधानी का कार्य बेङ्गलूरु के समीपस्थ मण्णे या मान्यपुर से भी सञ्चालित करते थे। गंगवंश के अभ्युदय का यह मध्याह्न समय था। ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब तलकाड चोलनरेशों के हस्तगत हुआ तभी से गंगराज्य की ह्रास श्री हुई। शुरू से ही गंगराज का जैनधर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। श्रवणबेळगोळ के शिलालेख नं० ५४ (६७) के उल्लेख से ज्ञात होता है कि गंगराज्य की नीव डालने में जैनाचार्य सिंहनन्दी जी का अधिक हाथ था। आचार्य सिंहनन्दी जी की इस सहायता की चर्चा गंगनरेशों के भिन्न भिन्न शिलालेखों में भी पायी जाती है।* इसके अतिरिक्त गोम्मटसार की वृत्ति के प्रणेता अभयचन्द्र त्रैविद्यचक्रवर्त्ती ने भी अपने ग्रन्थ की उत्थानिका में इस बात का उल्लेख किया है। कहा जाता है कि आचार्य पूज्यपाद इसी वंश के सातवें नरेश दुर्विनीत के राजगुरु थे। गंगवंश के अन्यान्य प्रकाशित लेखों से भी जैनाचार्यों का सम्बन्ध सिद्ध होता है।

पर इस वंश में देवराज का कुछ पता नहीं लगता। पुरातत्त्व के सहृदय मर्मज्ञ मित्रवर गोविन्द पै का भी कहना है कि तलकाड के पश्चिम गंगवंश में देवराज नामक शासक का नाम मिलता नहीं है। हाँ, कलिङ्ग के पूर्व गंगवंश में देवेन्द्र वर्म नामक शासक ई० सन् १०७० में सिंहासनारूढ़ हुआ था अवश्य (Historical inscriptions of southern India page 358 & 346—348; 415—416)

किन्तु चारुकीर्त्ति जी के द्वारा "गीतवीतराग" में प्रतिपादित देवराज प्रायः यह नहीं हो सकता है। इसीलिये साधनाभाव से देवराज के सम्बन्ध में इस समय कुछ भी नहीं लिखा जा सका। अस्तु इस "गीतवीतराग" के प्रणेता भट्टारक चारुकीर्त्ति जी शक सम्वत् १३२१ के बाद के हैं।

* देखें "जैन शिलालेख-संग्रह" पृष्ठ ७३—७४

(२०) ग्रन्थ नं० २२१/ख

अर्थप्रकाशिका (प्रमेयरत्नमाला की टीका)

कर्त्ता—पण्डिताचार्य चारुकीर्त्ति

विषय—न्याय

भाषा—संस्कृत

लम्बाई ८।। इञ्च चौडाई ६।।। इञ्च पत्रसंख्या २४६

प्रारम्भिक-भाग —

श्रीमन्नेमिजिनेन्द्रस्य वन्दित्वा पादपङ्कजम् ।
प्रमेयरत्नमालार्थः संक्षेपेण विविच्यते ॥१॥
प्रमेयरत्नमालायाः व्याख्यास्सन्ति सहस्रशः ।
तथापि पण्डिताचार्यकृतिर्ग्राह्यैव कोविदैः ॥२॥
भानौ देदीप्यमानेऽपि सर्वलोकप्रकाशके ।
न गृह्यते किं भुवने जनेन करदीपिका ॥३॥

प्रारिप्सितस्य प्रबन्धस्य निर्विघ्नपरिसमाप्त्यर्थं स्वेष्टदेवतानमस्काररूपं मंगलमाचरन् शिष्यशिक्षायै ग्रन्थतो निबध्नाति ।

नतामरेति । अस्मिन् श्लोके वृत्त्यनुप्रासशब्दालंकारः । रेफादिवर्णानामवृत्तेरेक त्वादिवर्णानामावृत्तौ वृत्त्यनुप्रासस्य अभिहितत्वात् । तदुक्तं—"एकद्विप्रमुखा वर्णा व्यवधानेन यत्र वै । आवर्तन्ते तदा तत्र वृत्त्यनुप्रास इष्यते ॥" कर्मारातीन् जयतीति जिनः । कर्माराति-जेतृत्वमेव जिनपदशक्यतावच्छेदकम् । एतच्च दुर्वारमारवीरमदच्छिदे इत्यनेन समर्थित-मिति पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमर्थालङ्कारः । "हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्" इति-लक्षणात् । अनयोश्शब्दार्थालङ्कारयोस्संसृष्टिः तिलतण्डुलन्यायेन उभयोर्मेलनात् । "तिल-तण्डुलन्यायेन मेलनं संसृष्टिः" इतिलक्षणात् । अकलङ्क इति । अत्र रूपकालङ्कारः—वचसि अम्भोधित्वस्य रूपणात् । उपमानोपमानयोरभेदकथनं हि रूपकम् । तदुक्तम्—"विषय-भेदताद्रूप्यरञ्जनं विषयस्य यत् रूपकं तत्" इति । न्यायविद्यामृतमित्यत्राप्ययमेव रूपकालङ्कारो बोध्यः । प्रभेन्दुवचनेनेति । प्रभेन्दुवचनोदारचन्द्रिकेत्यत्र निरुक्तमेव रूपकम् । ज्योति-रिङ्गणसन्निभा इत्यत्र उपमालङ्कारः । "उपमा यत्र साधर्म्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः" इतिलक्षणात् ।

श्रीमदित्यादि। अवगाहनमन्तःप्रवेशः। स च निगूढतत्त्वकलनरूपः। तात्पर्यविषयी-भूतार्थज्ञानसम्पादनमिति यावत्। पोतप्रायम् पोतसदृशम् तत्प्रतिपाद्यार्थैकदेशं प्रति सम्पादकमिति यावत्। तत्प्रकरणस्येति। सम्बन्धादिविषयकज्ञानरूपकारणाभावे प्रवृत्तिरूपकार्यं न स्यादिति भावः। अयमर्थ "स्तत्प्रकरणस्य" इत्यत्र षष्ठ्यर्थो विषयत्वम् प्रेक्षावतामिति षष्ठ्यर्थः सम्बन्धितत्वम्। तथा च यतत्प्रकरणविषयकप्रेक्षावत्सम्बन्धि-प्रवृत्तिर्न जन्यत इति शास्त्रविषयकप्रवृत्तित्वावच्छिन्नं प्रति सम्बन्धादिज्ञानानां कारणतायाः व्यवस्थापयिष्यमाणात्। प्रेक्षावन्तो ज्ञानिनः तत्र योऽनुवाद इति। अनुवादो नाम अत्र न निष्ठप्रकारताशालिबोधजनकशब्दप्रयोगः। ननु पूर्वमुक्तस्य पुनरपि कथनं तस्य प्रकृतेर-संभवात्। संबन्धादीनां प्रमाणादिति श्लोकात् पूर्वं मूलकृतानुक्तेः। अतः सम्बन्धादित्रय-निष्ठं प्रकारताशालिबोधजनकशब्दप्रयोग एव अत्रानुवादशब्दार्थो ग्राह्यः।

× × × × × × ×

मध्य-भाग (परपृष्ठ ११८ पंक्ति ५)

प्राकट्य फलजनकत्वावस्था। तथा च अव्यवहितोत्तरक्षणे फलजनकत्वरूपोद्बोधन-विशिष्टसंस्कारजन्या स्मृतिरित्यर्थः। एवं च संस्कारजन्यत्वं स्मृतेर्लक्षणम् इतरत्स्व-रूपकीर्त्तनमिति योज्यम्। "दर्शनस्मरणकारणकम्" इत्यादि। इदमिति प्रत्यक्षं तदिति स्मरणमेतदुभयजन्यं तदिदमिति यज्ज्ञानं जायते तत्प्रत्यभिज्ञानम्। तत्र संकलनमिति स्वरूपकथनम्। तथा च प्रत्यक्षजन्यत्वे सति स्मरणजन्यत्वं प्रत्यभिज्ञानस्य लक्षणम्। प्रत्यक्षजन्यत्वमात्रोक्तौ अवग्रहात्मकप्रत्यक्षजन्येहात्मकप्रत्यक्षेतिव्याप्तिः। अतः स्मरण-जन्यत्वं स्मरणजन्यत्वमात्रोक्तौ स्मरणध्वंसेऽतिव्याप्तिः। अतः प्रत्यक्षजन्यत्वं तत्र दर्शनस्मरणकारणकत्वादिति सर्वत्र ग्रन्थान्तरेषु शास्त्रान्तरेषु च। तदिदं सोऽयं देवदत्त इत्यादि तत्तेदन्तावग्राहिज्ञानस्यैव प्रत्यभिज्ञानत्वमुक्तम्। तद्देशतत्कालसंबधित्वं तत्ता एतद्देश एतत्कालसम्बन्धित्वं इदं ता। तथा च कथमस्मिन्सूत्रे तत्सदृशं तद्विलक्षणमित्यादि-ज्ञानानामपिप्रत्यभिज्ञानत्वमुच्यते इति शंका। तत्र च दर्शनस्मरणकारणकं यज्ज्ञानं तत्सर्वं प्रत्यभिज्ञानमिति तावत्केषु च ग्रन्थेषु कंठतः उक्तं केषुचिच्च सूचिता। तथा च तदिद-मित्यादिज्ञानस्यैव तत्सदृशमित्यादिज्ञानस्यापि दर्शनस्मरणकारणकत्वाविशेषात् सूक्तमिति-सूत्राशयः।

× × × × ×

अन्तिम-भाग :—(पूर्वपृष्ठ २४८, पंक्ति ७)

इन्द्रशक्रपुरन्दरादिशब्दाः इन्दनशकनपूर्दारणादिपर्यायभेदेन भिन्नार्थबोधका इति ज्ञानं हि समभिरूढनयः। तादृशज्ञाने पर्यायभेदप्रयोज्यो योऽर्थभेदः इन्दनादिरूपपर्यायभेदप्रयोज्य इन्द्रशक्रादिपदार्थभेदः तद्बोधकत्वनिष्ठविशेष्यताशालिज्ञानत्वसत्त्वाल्लक्षणसमन्वयः। समभिरूढनयाभासस्तु इन्द्रशक्रपुरन्दरादिशब्दाः अभिन्नार्थबोधका इति ज्ञानादिति। इत्थम्भूतनयस्तु शक्रादिशब्दः शकनक्रियास्थितिक्षण एव शक्रबोधकः न पूजादिष्विति ज्ञानम्। तल्लक्षणन्तु तत्तत्पर्यायसमानकालीनार्थबोधकत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितशब्दनिष्ठविशेष्यताशालिज्ञानत्वं सकनकाल एव शक्रबोधक इति ज्ञाने शकनरूपपर्यायकालीनार्थबोधकत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितशब्दनिष्ठविशेषताशालिज्ञानत्वम्। शकनकाल एवशक्रबोधक इति ज्ञाने शकनरूपपर्यायकालीनार्थबोधकत्वप्रकारकस्य सत्त्वाल्लक्षणसंगतिः। सर्वदा शक्रपद शक्ररूपार्थबोधकमिति ज्ञानमित्थंभूतनयाभासमित्यत्र विस्तरः।

× × ×

---

(२१) ग्रन्थ नं० $\frac{२२६}{ख}$

प्रमेयरत्नमालालंकार

कर्त्ता—पण्डिताचार्य चारुकीर्ति

विषय—न्याय

भाषा—संस्कृत

लम्बाई ८॥ इञ्च चौड़ाई ६॥। इञ्च पत्रसंख्या ३७६

प्रारम्भिक-भाग—

भक्त्युद्रेकनमत्सुराधिपलसत्कोटीरकोटीलसन-
माणिक्याम्बुजबान्धवांशुनिकरस्मेराङ्घ्रिपंकेरुहम्।
तत्तादृग्गुणभृन्मुखान्तिकवसद्योगीन्द्रचित्ताम्बुज-
व्यूहानन्दविवाकरं हृदि सदा श्रीवर्धमानं भजे ॥१॥

पृथ्वीमण्डलमण्डनायितमहाराजाधिराजोत्तम-
श्रीराजद्धिमशीतलक्षितिपतेर्गोष्ठीमते सौगतान् ।
वादायापततो-मदोद्धततया यो वाग्भरैर्जित्वरैः
जित्वा श्लाघ्यतमोऽभवत्सपदि तं वन्देऽकलंकं मुनिम् ॥२॥
यत्सूत्रव्रजचन्द्रिकारसभरं नित्यं समास्वादयन्
भव्योत्तंससुधीचकोरनिकरस्सर्वोऽपि संमोदते ।
सोऽयं सार्वपदीनधीबुधमनस्सौधाग्रकेलीशुको
हर्षं वर्षतु सन्ततं हृदि गुरुर्माणिक्यनन्दी मम ॥३॥
जयतु प्रभेन्दुसूरिः प्रमेयकमलप्रकाण्डमार्त्तण्डेन ।
यद्वदननिस्सृतेन प्रतिहतमखिलं तमो हि बुधवर्गाणाम् ॥४॥
श्रीचारुकीर्त्तिधुर्यस्सन्तनुते पण्डितार्यमुनिवर्यः ।
व्याख्यां प्रमेयरत्नालङ्काराख्यां मुनीन्द्रसूत्राणाम् ॥५॥
माणिक्यनन्दिरचितं क्वनुसूत्रवृन्दं
क्वाल्पीयसी मम मतिस्तु तदीयभक्त्या ।
तादृक्प्रभेन्दुवचसां परिशीलनेन
कुर्वे प्रभेन्दुमधुना बुधहर्षकन्दम् ॥६॥
"प्रमाणादर्थसंसिद्धिः तदाभासाद्विपर्ययः ।
इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्मसिद्धमल्पं लघीयसः ॥"

श्रीमन्न्यायमहार्णवस्याखिलप्रमेयरत्नगर्भस्यावगाहनमव्युत्पन्नप्रज्ञैः कर्तुमशक्यमितिमन्य-मानैः न्यायशास्त्रप्रवर्तनशिरोमणिभिर्भट्टाकलङ्कमुनिभिस्तदवगाहनाय पोतप्राये निखिलवस्तु-स्वरूपप्रकाशनप्रवणे प्रकरणप्रणीते तत्रापि मन्दमतीनां दुरवगाहनतामालोच्य कारुणिको माणिक्यनन्द्याचार्यः सुस्पष्टं तदर्थं प्रतिपादयितुं परीक्षामुखनामकं सूत्रात्मकं प्रकरणमिदं प्रणिनाय । तत्र सम्बन्धाभिधेयेष्टसाधनत्वकृतिसाध्यत्वानां प्रेक्षावत्प्रवृत्यर्थं अवश्यं प्रतिपाद्यत्वात् तत्प्रतिपादकं सकलशास्त्रार्थसंग्राहकं श्लोकमादावचीकथत् ।

× × × × × ×

मध्य-भाग (पूर्वपृष्ठ १३६, पंक्ति १०)

ब्रह्माद्वैतवादिनस्तु—सत्तारूपं ब्रह्मैव सर्वसाक्षात्कारि सर्वावच्छिन्नचैतन्याभिन्नत्वात् । चैत्रस्य घटादिसाक्षात्कारित्वं हि घटावच्छिन्नचैतन्याभेद एव घटसाक्षात्कारकाले इन्द्रियद्वारा अन्तःकरणवृत्तेर्घटादिविषयदेशगमनेन घटावच्छिन्नचैतन्यस्य रूपांतःकरणावच्छिन्नचैतन्येना-

भेदोत्पत्तेः एकदेशस्योपाध्योः भेदकत्वायोगात् गृहावच्छिन्नाकाशे घटावच्छिन्नाकाशे घटावच्छिन्नाकाशभेदवत्। मायावच्छिन्नचैतन्ये घटावच्छिन्नचैतन्याभिन्नरूपं सर्वसाक्षात्कारित्वं च घटस्सन् पटस्सन् इत्यादि प्रत्यक्षेण गृह्यते। घटस्सन्निति प्रतीतौ घटसतोः तादात्म्यभानात्। तादात्म्यस्य च भिन्नत्वे सत्यभिन्नसत्ताकत्वरूपत्वेन घटावच्छिन्नसत्ताकरूपचैतन्याभेदस्य ब्रह्मरूपे सति भानात्। न च घटादिरूपभेदस्य प्रत्यक्षगम्यत्वे आगमस्याद्वैतबोधकत्वं न सम्भवति प्रत्यक्षविरुद्धार्थे आगमस्य प्रामाण्यायोगादिति वाच्यम्। प्रत्यक्षं हि सविकल्पकं निर्विकल्पकं चेति द्विविधम्। तत्र चक्षुरुन्मीलनानन्तरं सत्तामात्रविषयकं निर्विकल्पकं जायते तदेव प्रमाणभूतं प्रत्यक्षम्। तत्र भेदो न भासते। अप्रमाणभूतसविकल्पकप्रत्यक्षे च भेदो भासत इति न तेनागमस्य बाधः। तदुक्तं "अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्। बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम्॥ आहुर्विधातृप्रत्यक्षं न निषेद्धृ विपश्चितः। नैकत्वे आगमस्तेन प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते॥" प्रत्यक्षं विधातृविधायकं सन्मात्रग्राहकमेवाहुः। न निषेद्धृ न निषेधकं न बाधग्राहकम्। तेन कारणेन एकत्वे प्रतिपादकतासम्बन्धेन विद्यमान आगमो न प्रत्यक्षेण बाध्यत इति श्लोकार्थः। तथा च प्रत्यक्षस्यापि सन्मात्रग्राहित्वेन तद्विरोधाभावात्। 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इति श्रुत्याऽद्वैतं ब्रह्म सिध्यति। ब्रह्मणोऽद्वैतत्वं च सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यत्वम्। तदुक्तम्—"वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्रपुष्पफलादितः। वृक्षान्तरात्सजातीयो विजातीयश्शिलादितः। एवं भेदत्रयं प्राप्तं श्रुत्वा ब्रह्मणि वार्यते। एकावधारणद्वैतप्रतिषेधैस्त्रिभिः क्रमात्" इति।

× × × ×

अन्तिम-भाग (पूर्व पृष्ठ ३७५, पंक्ति ५)—

मादृशस्संविद इति—अत्रापि हेयोपादेयतत्त्वयोरित्यनुषज्यते। मादृशमन्दप्रज्ञस्य हेयोपादेयतत्त्वज्ञानार्थं शास्त्रकरणमित्यर्थः। नन्वल्पप्रज्ञस्य कथं महाशास्त्रकरणं तत्करणे वा कथं अल्पप्रज्ञत्वं परस्परविरोधादिति चेन्न पूर्वाचार्यापेक्षया अल्पप्रज्ञत्वस्य विवक्षितत्वात्। आत्मनः औद्धत्यपरिहाराय ग्रन्थकृता तथोक्तिसम्भवाच्च। यद्वा 'मादृशोबाल' इत्यत्र अबाल इति पदच्छेदः। एवञ्च शास्त्रकरणेन अनल्पप्रज्ञोऽहं शास्त्रार्थग्रहणे अनल्पप्रज्ञस्य शिष्यस्य हेयोपादेयज्ञानार्थमिदं शास्त्रं कृतवानस्मीत्यर्थः।

इति श्रीमद् शिष्यगणाग्रगण्यस्य श्रीमद्बेल्गुळपुरनिवासरसिकस्य चारुकीर्तिपण्डिताचार्यस्य कृतौ परीक्षामुखसूत्रव्याख्यायां प्रमेयरत्नमालालङ्कारसमाख्यायां षष्ठः परिच्छेदः समाप्तः।

मिथ्यावादतमश्छटादिनमणेर्माणिक्यनन्दिप्रभोः
यच्छास्त्रं विमलं विराजितमहायुक्तिप्रजैर्भासुरम्।

तद्व्याख्यानमभूत्प्रभेन्दुवचनोदारार्थसंशीलनात्
किञ्च श्रीगुमटेश्वरस्य कृपया विन्ध्याद्रिचूडामणेः ॥
श्रीमद्बेळ्गुळमध्यभासुरमहाविन्ध्याद्रिचिन्तामणिः
श्रीमद्बाहुबली करोतु कुशलं भव्यात्मनां सन्ततम् ।
यत्पादाम्बुरुहं सुरेन्द्रमुकुटीमाणिक्यनीराजितम्
कल्पद्रुप्रकरायते शुभदृशां पूजां सदा तन्वताम् ॥

बहुत कुछ संभव है कि गीतवीतराग, पार्श्वाभ्युदय की टीका, चन्द्रप्रभकाव्य की टीका, आदिपुराण, यशोधरचरित और नेमिनिर्वाण काव्य की टीका* इन ग्रन्थों के रचयिता चारुकीर्त्ति ही उल्लिखित अर्थप्रकाशिका एवं प्रमेयरत्नमालालङ्कार के प्रणेता हों। चारुकीर्त्ति यह श्रवणबेळ्गोळ के पट्टाधीशों का परम्परागत नाम है। वहाँ के आधुनिक मठाधीश भी चारुकीर्त्ति के नाम से ही प्रसिद्ध हैं। इसीलिये विशेष प्रमाण के अभाव में स्पष्टतया लिखना बड़ा दुरूह है कि अमुक चारुकीर्त्ति ही अमुक ग्रन्थ के रचयिता हैं। फिर भी इन ग्रन्थों के वाक्य-विन्यास की ओर ध्यान देने पर उल्लिखित मेरा अनुमान निराधार नहीं कहा जा सकता। साधनाभाव से इस समय इस पर कुछ भी प्रकाश नहीं डाला जा सका। मालूम होता है कि ये दोनों ग्रन्थ "प्रमेयरत्नमाला" के अन्तर्गत जटिल गुत्थियों को सुलझाने के लिये ही प्रणीत हुए हैं। "प्रमेयरत्नमाला" दिगम्बर जैनदर्शन का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। अपनी विशेषताओं के कारण कई प्रसिद्ध परीक्षा-संस्थाओं की पाठ्य-पुस्तकों में भी यह सन्निविष्ट है। क्या ही अच्छा होता परीक्षामुख-सूत्र पर जितनी ये छोटी-मोटी टीकायें उपलब्ध होतीं हैं वे एकीकरण-रूप में प्रकाशित होतीं। तुलनात्मकदृष्टि से अध्ययन करनेवालों को इससे विशेष लाभ होता। साथ ही साथ प्रमेयरत्नमाला जो एक गम्भीर ग्रन्थ है इस पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता। विद्यालय के अध्यापकों को भी पढ़ाते समय इन सभी टीकाओं का उपयोग करना चाहिये। इससे ग्रन्थगत विशेषता अध्ययनावस्था में ही तुलनात्मक अध्ययन का विचार रखनेवाले विद्यार्थियों को ज्ञात हो जाती। बल्कि श्रीयुत एस० सी० घोषाल, एम० ए० बी० एल० का जैनगजट में "Pareekshámukham" नाम से जो इस सूत्र का धारावाहिक रूप से अंग्रेजी अनुवाद निकल रहा है उसमें उन्होंने "भवन" की "अर्थप्रकाशिका" एवं "न्यायमणिदीपिका" का जहाँ तहाँ उपयोग किया है। कारणवश उन दिनों मैं आपके पास "प्रमेयरत्नमालालङ्कार" नहीं भेज सका। अस्तु, इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन ग्रन्थों के रचयिता चारुकीर्त्ति जी एक बहुदर्शी एवं संस्कृत के प्रौढ़ विद्वान् थे।

* देखें—"दिगम्बर जैन ग्रंथकर्त्ता और उनके ग्रंथ।"

(२२) ग्रन्थ नं०-२३०/ख

प्रमेयकण्ठिका

कर्त्ता—शान्तिवर्णी

विषय—न्याय

भाषा—संस्कृत

लम्बाई—८॥ इञ्च चौड़ाई—७ इञ्च पत्रसंख्या ३८

प्रारम्भिक भाग—

श्रीवर्द्धमानमानम्य विष्णुं विश्वसृजं हरम्।
परीक्षामुखसूत्रस्यग्रन्थस्यार्थं विवृणमहे ॥१॥

अथ स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणमिति प्रमाणलक्षणम् बाधातीतं नान्ययुक्ति-शतबाधितत्वात्। ननु स्वापूर्वार्थेतिलक्षणे यानि विशेषणान्युपात्तानि तानि निरर्थकानीति चेन्न परप्रतिपादितानेकदूषणवारकत्वेन तेषां सार्थकत्वात्। तथा हि किं तद्दूषणमनिष्ट-रूपं तदनिष्टं "ज्ञानं प्रमाणम्" इत्युक्तेर्निर्विकल्पकज्ञानस्यापि प्रामाण्यं स्यादित्यापादानमेवा-निष्टमस्माकं जैनानां ततस्तन्निवारकत्वेन व्यवसायविशेषणस्य सार्थकत्वम्। एवमितरेषां विशेषणानां सार्थकत्वं योजनीयम्।

× × × ×

मध्यभाग (पर पृष्ठ १६, पंक्ति ६)—

अविसंवादिज्ञानं सौगतीयं प्रमाणं तदपि न परप्रतिपादितदूषणगणप्रसंगात्। तथा हि अविसंवादित्वं ज्ञाने ह्य परकाले ज्ञानानन्तरेणाबाध्यत्वं तस्य कदाचिद्भ्रमेऽपि सम्भवात्तत्रापि प्रामाण्यप्रसंगात्। किञ्चाविसंवादित्वाभावः विसंवादित्वं बाध्यत्वम्। तच्च सतो न सम्भवति स्थितिक्षणस्यत्वया नङ्गीकारात्। नाप्यसतो सम्भवात्। तथा चाप्रसिद्धस्य विसंवादित्वस्याभावः कथं निरूपणीयातिप्रसंगात्। ततो विसंवादिविज्ञानं प्रमाणमिति प्रमाणलक्षणमविचारितरमणीयमेव।

इति शान्तिवर्णिविरचितायां प्रमेयकण्ठिकायां द्वितीयः स्तबकः।

वैद्य-सार

पं० सत्यन्धर जैन, आयुर्वेदाचार्य

टीका—वज्र को भस्म १ भाग, पारे की भस्म २ भाग, अभ्रक की भस्म ३ भाग, सोने की भस्म ४ भाग, तामे की भस्म ५ भाग, चांदी की भस्म ६ भाग, और कांतलोह भस्म ७ भाग इन सब को एकत्रित कर चित्रक के काढ़े से ७ दिन तक मर्दन करे पश्चात् बिजौरा नींबू, जम्बीरी नींबू के रस से, मीठा सोंजना की जड़ के काढ़े से, पीपल के काढ़े से, त्रिफला, सोंठ, काली मिर्च, जायफल, लौंग, इलायची, दालचीनी, तेजपत्र, नागकेशर, बेर, और अञ्जन इन सब के काढ़े से अलग अलग तीन तीन दिन तक तथा अदरख के रस से ७ दिन तक मर्दन करे फिर उसको सुखाकर महीन चूर्ण करे। चूर्ण से चौथाई भाग सुहागे का फूला तथा सुहागे के बराबर शुद्ध विषनाग लेकर सबको मिलावे। बाद त्रिकटु, त्रिफला, चित्रक, दालचीनी, इलायची, तेजपत्र, नागकेशर, सेंधानमक, काला नमक इन सबका सम भाग से चूर्ण बनावे और ऊपर के चूर्ण के बराबर ही लेकर सबको एकत्रित करके मीठा सोंजना तथा बिजौरा नींबू के रस से घोंट कर एक एक रत्ती की गोली बनावे। तीन तीन रत्ती के प्रमाण से इस गोली को योग्य अनुपान से देवे तो यह अग्नि को दीप्त करनेवाला, वात के सब प्रकार के विकारों को दूर करनेवाला, मोटे मनुष्यों को कृश और कृश मनुष्यों को मोटा करनेवाला होता है। अनुपान-विशेष से यह अनेक रोगों को नाश करनेवाला है। (इसके प्रयोग के समय, यदि लेप, सेंक, अवगाह (जल में बैठाना) इत्यादि क्रियाएँ करनी हों तो युक्तिपूर्वक करे)। इसके सेवन से साध्यासाध्य वातरक्त भी शांत हो जाता है। सर्वरोगों को नाश करनेवाला पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ यह उत्तम योग है।

६७—शीतज्वरे वडवानलरसः

रसाष्टकममृतं सप्त षड्गंधं षष्ठतालकम्।
दंतिबीजानि षड्भागं पंचभागं सटंकणम् ॥१॥
चतुर्थं धूर्तबीजस्य शुल्वभस्म त्रयस्य च।
एतानि सर्वभागानि (?) वह्निमूलकषायकैः ॥२॥
मुद्गमात्रवटीं कृत्वा चार्द्र कद्रवसंयुतम्।
शीतज्वरं सन्निपातं सर्वज्वरविनाशनः ॥३॥
बड़वानलनामायं सर्ववातामयापहः।
शीतज्वरविषघ्नोऽयं पूज्यपादेन भाषितः ॥४॥

टीका—शुद्ध पारा आठ भाग, शुद्ध विषनाग सातभाग, शुद्ध आंवलासार गंधक छः

भाग, शुद्ध तबकिया हरताल छः भाग, शुद्ध जमालगोटा के बीज छः भाग, सुहागे का फूला पांच भाग, शुद्ध धतूरे के बीज़ चार भाग तथा तामे की भस्म तीन भाग इन सब को एकत्रित कर के चित्रक की जड़ के काढ़े से घोंटकर मूंग के बराबर गोली बनावे तथा अदरख के रस के साथ सेवन करे तो शीत ज्वर तथा सन्निपात ज्वर शांत होता है। यह बड़वानल रस पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ शीतज्वर तथा सम्पूर्ण वात रोगों को हरने वाला है।

९८—ग्रहण्यादौ रतिलीलारसः

जातीकणाहिफेनं च विजयाचूर्णसंयुतम्।
वराटं धूर्तबीजं च त्रुटिवारिधिशोकजं ॥१॥
तुल्यांशं निक्षिपेत् खल्वे यामैकं विजयारसेः।
मर्दयेत् वटिकां कुर्यात् गुंजामात्रप्रमाणिकाम् ॥२॥
रतिलोलारसो ह्येषः द्विगुंजो हि मधुप्लुतम्।
भक्षयेद्वीर्यरोधश्च मधुराहारसंयुतः ॥३॥
ग्रहण्याश्चातिसारस्य वातरोगविनाशनः।
सर्वोत्तमरसश्चासौ पूज्यपादेन भाषितः ॥४॥

टीका—जायपत्री, पीपल, अफीम, भांग, तथा कौड़ी की भस्म, शुद्ध धतूरे के बीज़, छोटी इलायची, समुद्रशोष, इन सब को बराबर बराबर ले एक पहर तक भांग के रस से घोंटकर एक एक रत्ती के बराबर गोली बना कर २ रत्ती शहद के साथ सेवन करे एवं ऊपर से मीठा भोजन करे तो इससे वीर्य की रुकावट हो तथा संग्रहणी और अतीसार, बातरोग शांत होता है—यह सर्वोत्तम रस पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

९९—वातरोगे बड़वानल रसः

सूतहाटकवज्रार्ककांतभस्मानि माक्षिकं।
तालं नीलांजनं तुत्थं चाब्धिफेनं समांशकम् ॥१॥
पंचानां लवणानां च भागैकं च विमर्दयेत्।
वज्रीक्षीरैः दिनैकं तु रुद्ध्वा च भूधरे पचेत् ॥२॥
उद्धरेत् खल्वमध्यस्थे रसपादं विषं क्षिपेत्।
मासैकमार्द्रकद्रावैः लेहयेद्वडवानलं ॥३॥

पिप्पली मूलकक्काथं सपिप्पल्या पिबेदनु।
दंडवातं धनुर्वातं शृंखलावातमेव च ॥४॥
खञ्जवातं पंगुवातं कंपवातं जयेत् सदा।
मातंगवातसिंहोऽयं पूज्यपादेन भाषितः ॥५॥

टीका—शुद्ध पारे की भस्म, हीरे की भस्म, तामे की भस्म, कांतलौह भस्म, सोना मक्खी की भस्म तवकिया हरताल की भस्म, शुद्ध नीला सुरमा, तूतिया की भस्म तथा समुद्रफेन ये सब बराबर बराबर तथा पांचों नमक १ भाग लेवे और सब को मिला कर थूहर के दूध से दिन भर मर्दन कर बाद भूधर यंत्र में पुटपाक करे पश्चात् और सब को खरल में डालकर पारे से चौथाई भाग शुद्ध विषनाग डाले एवं खूब घोंटे और उसको १ माह तक अदरख के रस के साथ सुबह शाम सेवन करे तथा ऊपर से पीपल और पीपरामूल का काढ़ा पिये तो इससे दंडवात, धनुर्वात, शृंखलावात, खंजवात, पंगुवात, कंपवात वगैरह सब शांत हो जाता है। यह पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ बड़वानल रस बहुत उत्तम है।

१००—सन्निपातादौ सिद्धगणेश्वररसः

पारदं दरदं गंधं वृद्धया चैकोत्तरं क्रमात।
नीलग्रीवस्य तर्वांशं मर्दयेत् खल्वके बुधः ॥१॥
विजयाकनककषायैः सप्त वारं विमर्दयेत्।
दीयते बल्लमात्रेण पिप्पल्या मधुनार्द्रकैः ॥२॥
त्रिदोषं सन्निपातादिसर्वदुष्टज्वरं जयेत्।
शीतोपचारः कर्तव्यः मधुराहारसेवनं ॥३॥
सिद्धो गणेश्वरो नाम पूज्यपादेन निर्मितः।

टीका—शुद्ध पारा १ भाग, शुद्ध सिंगरफ २ भाग, शुद्ध गंधक ३ भाग, तथा शुद्ध विषनाग छः भाग, इन सब को एकत्रित कर के भांग और धतूरा के स्वरस से तथा सोंठ मिर्च पीपल के काढ़े से अलग अलग सात सात बार मर्दन करे और इसको तीन तीन रत्ती की मात्रा में अदरख तथा मधु के साथ देवे तो त्रिदोष, सन्निपात ज्वर भी शांत होता है। इसके ऊपर शीतोपचार तथा मधुर भोजन का सेवन करना चाहिये। यह सिद्ध गणेश्वर रस श्रीपूज्यपाद स्वामी ने बनाया है।

१०१—सन्निपाते सन्निपातगजांकुशः

मृतं सूतं मृतं ताम्रं शुद्धतालकमाक्षिके।
तथा हिंगुसमान्येताभ्यार्द्रकस्य च वारिभिः ॥१॥
वंध्यापटोलनिर्गुंडीसुगंधानिंबचित्रजैः।
धत्तूरलांगलापानभृङ्गजंबीरसंभवैः ॥२॥
त्रिदिनं मर्दयित्वाथ त्रिक्षारं सैंधवं विषं।
वालं मधूकसारं च प्रत्येकं रससंमितम् ॥३॥
संमिश्र्य मर्दयेत् सिद्धः सन्निपातगजांकुशः।
माषमात्रेण हंत्याशु पूज्यपादेन भाषितः ॥४॥

टीका—पारे की भस्म, तामे की भस्म, तवकिया हरताल की भस्म, शुद्ध सोनामक्खी और शुद्ध हींग, इन सब को समान भाग लेकर अदरख के रस से तथा बांझ ककोड़ा और परबल के पत्तों के रस से, नेगड़ के रस से, सुगंधा (तेजपत्र) के रस से, नीम की पत्ती के रस से, चित्रक की जड़ के रस से धतूरे के रस से लांगली (कलिहारी) के रस से, पान के रस से, भंगरा के रस से और जंबीरी नींबू के रस से पृथक् पृथक् और तीन तीन दिन तक मर्दन करे फिर उसमें जवाखार, सज्जी खार, सुहागा, सेंधा नमक शुद्ध बिषनाग, सुगंध वाला तथा महुवे की लकड़ी का सार ये सब पारे के बराबर बराबर लेकर घोंटकर तैयार करले। यह एक मासे की मात्रा से खाने पर सन्निपात को नाश करता है।

१०२—ज्वरादौ गजसिंहरसः

अविषदरदयुग्मं शुद्धसूतं च गंधं।
सुरसस्वरसमर्घा वल्लयुग्मं च दद्यात्॥
ज्वरहरगजसिंहो शृंगबेरोदकेन।
हरति प्रथमदाहं तक्रभक्तं च योज्यम्॥

टीका—शुद्ध विषनाग, शुद्ध सिंगरफ दो दो भाग, शुद्ध पारा और शुद्ध गंधक एक एक भाग इन चारों की कज्जली बनाकर तुलसी के स्वरस में घोंटे तथा तीन तीन रत्ती के प्रमाण से अदरख के रस के साथ सेवन करे तो ज्वरशांति हो तथा दाह की भी शांति होती है। जिस दिन इस औषधि का सेवन करे उस दिन छाँछ और चावल का भोजन करना उचित है।

---

१०३ गुल्मादौ लवणपंचकयोगः

संख्यातं लवणं सुवर्चिभिमजौ क्षारद्वयं टंकणं ।
जीरं दीप्ययुगं च रामठविडंगं चैव जैपालकं ॥
शोषं वै लशुनं निकुंभमिलितं अर्कांभसा मर्दयेत् ।
तत्कल्कं मरिचप्रमाणवटिकां चाज्येन संभक्षयेत् ॥१॥
संपूर्णं गदहः प्रयोगशुभगः रोगानुपानेन वै ।
गुल्मं पंचकमूलरोगमुदरं श्वासं च कासन्क्षयम् ॥
वाताशीतिमहोदरं च क्षपयेत् शूलं च रक्तस्रवम् ।
एतद्रोगविनाशनो हितकरः श्रीपूज्यपादोदितः ॥२॥

टीका—समुद्र नमक, सेंधानमक, काला नमक, विटनमक, साँभर नमक, चितावर, सोंठ, सज्जीखार, जवाखार भूना हुआ सुहागा, सफेद जीरा, अजमोदा, अजवायन, भूनी हुई हींग, वायविडंग, शुद्ध जमालगोटा के बीज, लहसुन की मींगी (घी में सिंकी हुई) काली मिर्च, पीपल और जमालगोटे की जड़ इन सबको समान भाग लेकर कूट पीस कपड़छन कर अकौवा के दूध से मर्दन करके काली मिर्च के बराबर गोली बनावे और रोग की अवस्थानुसार योग्य मात्रा से गाय के घी के साथ देवे तो यह शुभ प्रयोग सम्पूर्ण रोगों को नाश करनेवाला है तथा प्रत्येक रोग के पृथक् पृथक् अनुपान से पाँचों प्रकार के गुल्म, उदर रोग, श्वास-कास, क्षय अस्सी प्रकार के वातरोग, जलोदर, शूल एवं अधोरक्त-स्राव इन सब रोगों को नाश करनेवाला यह पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ लवणपंचक-योग सर्वोत्तम है।

१०४—सर्वरोगे रसराजरसः

रसेन्द्र सिन्दूर—मथाभ्रकान्तं गंधं रवेः भस्म च रौप्यभस्म ।
संयोज्य सर्वं त्रिफलाकषायैः विमर्द्य पश्चाद्विनियोजनीयः ॥१॥
कटुत्रयेणापि फलत्रयेण युक्तो रसेन्द्रः सकलामयघ्नः ।
रसोत्तमोऽयं रसराज एषः श्रीपूज्यपादेन सुभाषितः स्यात् ॥२॥

टीका—शुद्ध पारा, रससिन्दूर, अभ्रकभस्म, कांतलौह भस्म, शुद्ध गंधक, तामे की भस्म तथा चांदी की भस्म इन सबको बराबर बराबर लेकर खरल में डालकर त्रिफला के काढ़े में घोंटे और उसको त्रिकटु त्रिफला के काढ़े से ही सेवन करे तो अनेक रोग शांत हों। यह रसों में श्रेष्ठ रस पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

१०५—ज्वरातिसारादौ जयसंभवगुटिका

सूतेन्द्रायसभस्महिंगुलविषं व्योषं च जातीफलं ।
धत्तूरस्य च बीजटंकणमिदं गंधाजमोदाजया ॥
वाराटं हि प्रदाय भस्म सुभिषक् संमर्दयेत् धूर्तजैः ।
स्वरसैः वै जयसंभवां च गुटिकां गुंजामितां कल्पयेत् ॥१॥
ज्वरातिसारं क्षपयेत् जयसंभवभाग् वटी
अनुपानविशेषेण पूज्यपादेन भाषिता ॥

टीका—शुद्ध पारा, लोहभस्म, शुद्ध सिंगरफ, शुद्ध विषनाग, सोंठ, मिर्च, पीपल, जायफल, धतूरे के बीज, सुहागे की खील, शुद्ध गंधक, अजमोदा और अरबी, कौड़ी की भस्म इन सब को बराबर बराबर लेकर धतूरे के रस से मर्दन करे और गोली बनावे। यह गोली अनुपान-विशेष से एक एक रत्ती खाने पर ज्वरातिसार को नाश करती है—यह पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

१०६—कुष्ठे महातालेश्वरः

तालं तार्प्यं शिलासूतं शुद्धं सैंधवटंकणम् ।
समांशं चूर्णयेत् खल्वे सूताद्द्विगुणगंधकम् ॥१॥
गंधसाम्यं मृतं ताम्रं सुवर्णकान्तमभ्रकम् ।
नीलग्रीवं द्विरजनीतालभागयुतं समम् ॥२॥
जंबीरनीरैः संमर्द्यः तत्सर्वं दिनपंचकम् ।
स हि षड्भिः पुटैः पाच्यो भूधरे संपुटोदरे ॥३॥
पुटे पुटे द्रवैर्मर्द्यः सर्वमेतच्च षट्पलम् ।
द्विपलं मारितम् ताम्रं लोहभस्म चतुःपलम् ॥४॥
जंबीराम्लेन तत्सर्वं दिनं मर्द्यः पुटे लघु ।
त्रिंशद्भागांशं विषं क्षिप्त्वा तत्र सर्वं विचूर्णयेत् ॥५॥
महिषाज्येन च संमिश्रः निष्कश्च पुंडरीकनुत् ।
मध्वाज्यैः कर्कटीबीजं कर्षमात्रं लिहेदनु ॥६॥
मधुनाज्येन वा सेवेत् कुष्ठरोगं विनाशयेत् ।
महातालेश्वरोनाम पूज्यपादेन भाषितः ॥७॥

टीका—शुद्ध तबकिया हरताल, सोनामक्खी, शुद्ध शिलाजीत, शुद्ध पारा, सेंधानमक

और सुहागा ये सब समान भाग तथा शुद्ध गंधक पारे से दूना एवं गंधक के बराबर ताम्रभस्म, सोने की भस्म, कांत लौह भस्म और अभ्रक भस्म लेवे, बाद शुद्ध विष नाग, हारुहल्दी ये हरताल के बराबर लेकर इन सबको एकत्रित करके जंबीरी नींबू के रस से पाँच दिन तक मर्दन करे एवं भूधरयंत्र में छः पुट लगावे। बार बार निकाल कर जंबीरी से घोंट कर पुट दे पश्चात् नींबू से घोंटकर हलकी पुट दे। पश्चात् २ पल तामे की भस्म, ४ पल लोह भस्म डाले। सब द्रव्य से तीसरा भाग शुद्ध विष डाले और फिर सबको चूर्ण करके रख लेवे। इसको भैंस के घी के साथ एक एक टंक अथवा रोग तथा रोगी के बलाबल अनुसार सेवन करे एवं ऊपर से शहद तथा घी के साथ मिलाकर १ तोला ककड़ी के बीज चाटे अथवा ऊपर कहा हुआ रस ही घी तथा शहद विषम मात्रा में लेकर उसके साथ सेवन करे तो यह महातालेश्वर रस सब प्रकार के कुष्ठ रोगों को एवं श्वेत कुष्ठ को नष्ट करता है। यह पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ है।

तालकेश्वर रस ७१ तरह का लिखा है—यह दसवाँ प्रकार है।

१०७—वातरोगे कुठाररसः

रसहिंगुलकांताभ्रशिलातालकगंधकं।
खर्परी वत्सनाभं च तुत्थशुल्वशिलाजतु ॥१॥
त्रितारं पंचलवणं त्रिकटु त्रिफलाजटाः।
जैपालं त्रिवृतादन्ती विडंगं चव्यचित्रकान् ॥२॥
वराटमजमोदं च दीप्यकं द्विनिशा रुजं।
जातीफलं त्रुटिर्भागो धातकीपुष्पगुग्गुलुं ॥३॥
मुस्तापुनर्नवा हिंगुं कणामूलद्विजीरकं।
प्रत्येकं समभागानि मर्दयेच्चार्द्रकैः रसैः ॥४॥
दिनैकं मातुलुंगस्य भृङ्गराजरसान्वितैः।
वटिका चणमात्रं तु चानुपानविशेषतः ॥५॥
सर्ववातं हरत्याशु सर्वज्वरविनाशनः।
सर्वगुल्मपरिच्छेदी पाण्डुक्षयविनाशनः ॥६॥
अजीर्णकामलाशूलमूत्ररोगकुठारकः।
विशेषं वातरोगघ्नः पूज्यपादेन भाषितः ॥७॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध सिंगरफ, कांतलौह भस्म, अभ्रक भस्म, शुद्ध शिला, तबकिया

हरताल भस्म, शुद्ध गंधक, खपरिया भस्म, शुद्ध विषनाग, तूतिया की भस्म, तामे की भस्म, शिलाजीत, सज्जीखार, जवाखार, सुहागा, समुद्र नमक सेंधा नमक, काला नमक, सांभर नमक, विड नमक, सोंठ, मिर्च, पीपल, हर्र, बहेरा, आँवला, बटकी जटा, शुद्ध जमालगोटा, निशोथ, जमालगोटे की जड़, वायविडंग, चाव, चित्रक, कौड़ी की भस्म, अजमोदा, अजवायन, हल्दी, दारुहल्दी, कूट, जायफल, इलायची, भारंगी, धवई के फूल, गूगल, शुद्ध नागरमोथा, पुनर्नवा, (साँठी) हींग भुनी, पीपरामूल स्याहजीरा और सफेद जीरा इन सबको एकत्रित कर कूट कपड़छन कर के अदरख के रस, बिजौरा नींबू के रस तथा भंगरा के रस के साथ घोंट कर चना के बराबर गोली बनावे। यह गोली विशेष अनुपान से संपूर्ण वातरोगों को तथा सर्व प्रकार के ज्वरों को गुल्म, पांडु, क्षय, अजीर्ण, कामला, शूल इन सबको नाश करनेवाला है—यह पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ उत्तम योग है।

१०८—वाजीकरणे कामांकुशरसः

शुद्धसूतकसिन्दूरव्योमसिन्दूरगंधकं।
कांतसिन्दूरमुन्मत्तबीजकं वत्सनाभकः॥१॥
वज्रभस्म स्वर्णभस्म अहिफेनं वार्धिशोकजं।
त्रिसुगंधं च मिलितं जातीपत्रवराटकं॥२॥
तुल्यांशं निक्षिपेत्खल्वे मर्दयेत् वासरत्रयम्।
शतावरीरसैर्वाथ मुशलीस्वरसेन वा॥३॥
सप्ताहं भावयेद्यत्नात् कुष्कुटांडरसेन च।
वटकान्कारयेत्तस्य गुंजामात्रप्रमाणकान्॥४॥
देयं गुंजाद्वयं नित्यं भक्षयेत्तन्मधुप्लुतम्।
महानंदकरः सम्यक्वीर्यस्तंभं करोत्यसौ॥५॥
शर्करां वा दुग्धघृतमनुपानं पिबेत्सदा।
कामांकुशरसोह्येषः कामिनां तृप्तिकारकः॥६॥
कामिनीनां सहस्राणां तर्पयेद्दिवसांतरे।
रसायनमिदं श्रेष्ठं वपुःकांतिबलप्रदं॥७॥
वाजीकरणप्रयोगोऽयं मदनानंदनंदनः।
कामांकुशरसो नाम पूज्यपादेन भाषितः॥८॥

टीका—शुद्ध पारा, रससिन्दूर, व्योमसिन्दूर, शुद्ध गंधक, लौह सिन्दूर, शुद्ध धतूरा के बीज, शुद्ध विषनाग, हीरे की भस्म, सोने की भस्म, शुद्ध अफीम, समुद्रशोष, दालचीनी,

ॐ

THE
JAINA ANTIQUARY
An Anglo-Hindi quarterly Journal,

Vol. III.] JUNE, 1937. [No. 1.

Editors:

Prof. HIRALAL JAIN, M.A., LL.B., P.E.S.,
Professor of Sanskrit,
King Edward College, **Amraoti**, C. P.

Prof. A. N. UPADHYE, M.A.,
Professor of Prakrata,
Rajaram College, **Kolhapur**, S.M.C.

B. KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.,
Aliganj, Distt. Etah. U.P.

Pt. K. BHUJABALI SHASTRI,
Librarian,
The Central Jaina Oriental Library, **Arrah.**

Published at

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA

Annual Subscription:

Inland Rs. 4. **Foreign Rs. 4-8.** **Single Copy 1-4.**

Om.

THE JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

Vol. III, No. I | ARRAH (INDIA) | June 1937.

Studies in the Prabhāvaka-Charitra.

(a) THE BAPPABHAṬṬISŪRICHARITRA.

By DASHARATHA SHARMA, M.A.

The Prabhāvakacharitra is a veritable mine of information, of information however which must be carefully sifted, winnowed, and scrutinised before it is used for purposes of history. Had its author relied wholly on original works, as he has done in part at least, its value as a source of Indian history would have been no whit inferior to that of the *Rājataraṅgiṇī*; nay, it would have been undoubtedly greater, for while Kalhaṇa's chronicle deals merely with Kashmir, Prabhāchandra's work passes under review the whole of Northern India, from Gujerat, in the west, to Bengal, in the east. But unfortunately for ourselves, he has mixed up his authentic material with much that is mere hearsay and legend, and this is what necessitates a cautious treatment of his statements. In a series of articles to be contributed to the *Jaina Antiquary*, we hope to deal critically with all the biographies contained in the work, and begin for the present with that of Bappabhaṭṭisūri, the great seer and scholar who is believed to have played an eminent role in the political affairs of the ninth century of the Vikrama era.

We find the following persons named in the Bappabhaṭṭisūri-charitra :—

(1) Āma, king of Kanauj.

(2) Dharma, ruler of Gauḍa.

(3) Yaśovarman Maurya, King of Kānauj, father of (1).

(4) Vākpatirāja, a poet, the author of the *Gauḍavadha*.

(5) Jitaśatru, King of Pāṭala, a town in Gujerat.

(6) Vardhanakuñjara, a Bauddha scholar residing at the court of (2).

(7) Samudrasena, King of Rājagiri.

(8) Dunduka, son of (1).

(9) Bhoja, grandson of (1) and son of (8).

(10) Ācharya Siddhasena, the preceptor of Bappabhaṭṭi.

(11) Govindasūri and Nannasūri, the fellow students of Bappabhaṭṭi.

(12) Bappabhaṭṭi, the hero.

The hero, and his fellowstudents, and preceptor perhaps require no further introduction than that supplied by the author himself. We shall therefore try to identify only the rest of the names mentioned above. Let us take them one by one.

(1) Āma was known as Nāgāvaloka also. He was a rival of Dharma, the king of Gauḍa and grandfather of Bhoja. He was the king of Kanauj. and died in V. S. 890. These facts, as recorded in Bappabhaṭṭi's biography, leave no doubt as to his being Nāgabhaṭa II, the Pratihāra ruler of Kanauj. He is mentioned as Nāgāvaloka in the Pathari inscription of Parabala also, and the Buchakalā inscription of his time is dated in V. S. 872.[1] His death in V. S. 890 does not therefore appear as anything unexpected. Nāgabhaṭa II is known to have had a serious rival in Dharmapāla, the Pāla ruler of Bengal, who seems, to have more than once carried his army as far as Kanauj. This Dharmapāla is obviously the Dharma of Bappabhaṭṭisūri's,

1. E. I. Vol. IX, 199 ff.

biograghy. We find the king mentioned as Dharma in the Sanjan plates too[1]. We further know that Nāgabhaṭa II had a grandson named Bhoja who proved a greater ruler than even his grandfather. As our biography says the same thing, we might be sure that Āma, also known as Nāgāvaloka, the friend and pupil of Bappabhaṭṭisūri was none other than Nāgabhaṭa II, the Pratihāra conqueror and ruler of Kanauj.

(2) We have already shown that Dharmapāla, the Pāla ruler of Gauḍa, mentioned also as Dharma in the Sanjan plates, has the best claims to be regarded as the Dharma of our biography. It makes Vardhāna Kunjara, a Buddhist the Chief Pandit of Dharma's court. This is, as it should be, for Dharmapāla is known to have been a staunch Buddhist. The statement that Dharma was defeated by Yaśovarman cannot, however, be regarded as true. Modern research has proved that the Gauḍa ruler defeated by him was not Dharmapāla, who flourished about eighty years later, but Jīvitagupta II of the later Gupta dynasty of Magadha and Gauḍa.

3. History does not know of any Yaśovarman Maurya as a ruler of Kanauj in the ninth century of the Vikrama era. The name of Nāgabhaṭa II's father was Vatsarāja and not Yaśovarman, and his predecessors on the throne of Kanauj were Indrāyudha and Chakrāyudha. The latter of these was a nominee of Dharmapāla, and probably quite unrelated to his supplanter Nagabhaṭa II.

The Yaśovarman who is said to have defeated and killed the king of Gauḍa should, I think, be identified with the ruler who was defeated and slain in V. S. 797 by Muktāpīḍa Lalitāditya of Kashmir. He was, as stated in the Prabhāvakacharitra, a contemporary of Vakpatirāja, the author of the *Gauḍavaho,* but surely never of Bappabhaṭṭi Sūri who was born three years after his death. The story that Vakpatirāja, who was, according to our work, at first a court-poet of Dharma, had later on to compose the *Gauḍavaho* to commemorate the defeat and slaughter of that very monarch seems to have

1 स्वयमेवोपनतौ च यस्य महतस्तौ धर्मचक्रायुधौ ।

E. I. Vol. XVIII. p. 245.

been inspired by a rather hazy notion of the fact that a fate like this perhaps actually befell the poet when his actual patron Yaśovarman (and not Dharma as stated by Prabhāchandra) was defeated by the Kashmir monarch mentioned above, and the poet had perforce to sing the praises of the victor.[1] Being not fully acquainted with all the facts, as they really were, either Prabhāchandra, the author of the *Prabhāvakacharitra* or some one of his predecessors drew a bit freely on his imagination, and completed the story in his own way by substituting Dharma for Yaśovarman, & Yaśovarman again for Muktāpīḍa Lalitāditya of Kashmir. The author's account would have surely gained much in accuracy, and might have become free from some of the palpable mistakes, had he consulted the *Rājataraṅgiṇī* of Kalhaṇa.

4. The *Prabhāvakacharitra* makes Vākpatirāja, the author of the *Gauḍavaho*, a friend and contemporary of Bappabhaṭṭi, and a court poet of Dharma. That there is not much truth in these assertions will be seen from a perusal of the preceding paragraphs. *That Prabhāchandra was not incapable of bringing together people who flourished in different* centuries will be seen also by a reference to the Siddharsi-*Charita* where Siddharsi is made a friend of the author of the *Kuvalayamāla-kathā*, though the latter composed his work as early as S. 700, *i.e.*, 127 years before the composition of Siddharṣi's *Bhavaprapañchā-kathā*. Yaśovarman, the patron of Vākpatirāja, was slain in V. S. 797. Dharmapāla died in V. S. 872. If we accept Prabhachandra's account as true, and also regard as correct our identification of Dharma with Dharmapāla, as we naturally should if we are to find a Gauḍa contemporary for Ama who is asserted to have died in V. S. 890, we shall be obliged to assume the following three absurd positions :

(1) That king Yaśovarman who died in V. S. 797 got somehow resuscitated and killed Dharma in V. S. 872.

(2) That Vākapatirāja who composed his work about V. S. 790 probably recomposed it about V. S. 872.

1 कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः ।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम् ॥
Rājataraṅgiṇī, 4th Taraṅga, 114th verse.

(3) That Bappabhaṭṭi Sūri who died at the age of 95 in V. S. 895, was somehow a courtpoet also of a Gauḍa king who got slain about V. S. 790 that is, 10 years before the poet was actually born. This last position will have to be conceded, even if we do not assume Dharma's identity with Dharmapāla.

5. Jitaśatru looks like a title of some king. Perhaps the king who bore it ruled over Gujerat, or most probably only a part of it, before the Chāvaḍā Vanarāja established his rule at Aṇahilapaṭṭana in V S. 808.

6. It is not easy to identify the Buddhist Vardhana-Kūñjara, as we have never come across any of his works.

7. History does not record the rule of Samudrasena at Rājagiri. He might be, however, some local chieftain owing allegiance to Devapāla. It might be that his name has got suggested on account *of the rule of the Senas in Western Bengal and Magdaha.* Or should we see in him a descendant of Vīrasena, and one of the ancestors *of the Sena kings, of whom the last ruled at Navadvīpa when* Muhammad Ibn Bukhtiyar Khilji invaded and conquered the provinces of Behar and Bengal.

8. Dunduka is the son of Nāgāvaloka and father of Bhoja. He might therefore be identified with Maharājadhirāja Rāmabhadra of the Pratihāra inscriptions. Prabhāchandra does not give him a good name. He is said to have fallen in love with a dancing girl and neglected the affairs of the state. He is perhaps right, for a number of grants made by Nāgabhaṭa II and Vatsarāja fell into abeyance in Rāmabhadra's time and were later on restored by his more successful and illustrious son Bhoja I.[1]. Prabhāchandra assigns Dunduka, identified by us with Rāmabhadra, a short and inglorious reign of five years. This is, again, perhaps right, because we have not hitherto discovered a grant, or any other sort of inscription belonging to the reign of this emperor.

1. See E. I., Vol. XIX, pp. 17 f. & Vol. V, 2116.

9. Bhoja, the son of Dunduka, and grandson of Āma or Nāgāvaloka is surely the Pratihāra emperor Bhoja I. Prabhāchandra says that he was ill-treated by his father who was for that very reason and his love for a dancing girl named Kandyā murdered by his son. We have unfortunately no means to test the truth or falsehood of this statement.

If the account given by Prabhāchandra might be regarded as true for the conditions prevailing in the ninth century of the Vikrama era, we might say that it was a period of some laxity for the Jaina church in general. The Jainas were good scholars and poets, and were patronised by many rulers of India. The account of the sixty-four *kalās* too is interesting and might profitably be compared with that recorded in other books. Some other facts also might be gleaned. But these perhaps suffice to give a general idea of the historical value of the Prabhāvakacharitra, or the lives of influential teachers, of whom Bappabhaṭṭi Sūri was neither the last nor the least important.

A SUPPLEMENTARY NOTE ON THE IDENTITY OF ĀMA AND NĀGABHAṬA II.

The identity of Āma and Nāgabhaṭa II is confirmed by the *Satyapurakalpa* of Jinaprabha Sūri. According to the *Prabhāvakacharitra,* Āma had been, in his childhood, seen swinging in a cradle by āchārya Siddhasena who, seeing certain omens prognosticated the child's bright future. The child, though belonging to a royal family, was at the time living in a jungle with his mother who managed to maintain him and herself with great difficulty. Taking compassion on her, the āchārya gave her the task of looking after a *chaitya.* The *Satyapurakalpa* gives this very story about. Nāhaḍa Rāo (Prākṛta form of Nāgabhata Rāja), the ruler of Kanauj. This being combined with the fact that the *Prabhāvakacharitra* too gives *Nāgāvaloka* (whose similarity to Nāgabhaṭa and its Prākṛta form Nāhaḍa is patent to every one) as another name of Āma give us every reason to conclude that Nāgāvaloka, Nāgabhaṭa, and Nāhaḍa and Āma are the names of one and the same person,

Further, his Pratīhāra lineage is shown not merely by his being the emperor of Kanauj in V. S. 890, but also by the express statement of the *Satyapurakalpa* that he was a scion of the Maṇḍore family. That Maṇḍore was at the time ruled by the Pratihāras is known from other sources. In the word Maṇḍore we can see also the origin of the word Maurya of the *Prabhāvakacharitra,* wherein Āma is mentioned as a member of the Maurya family, because either Prabhā Chandra or some one of his predecessors read मंडउर as मउर, and thinking that Āma belonged to the मउर (Prākṛta form of मयूर) family connected him with Chandragupta Maurya, a ruler famous in Indian history as well as Jaina literature.

HISTORY & PRINCIPLES OF JAINA LAW.

(By. M. C. Jain Esqr., M. A., I.L. B.)

JAIN LAW & THE LAW COURTS.

When about a century ago Macaulay came out to India as its first Law Member under the Government of India Act of 1833, the work of simplifying the law of the land was vigorously undertaken. At that time in keeping with the principle of dealing out justice to the Gentus according to the law and usage of the Gentus and to the Mohammedans according to the law and usage of the Mohammedans— a principle recognised by the Parliament in 1781. Efforts were also made to discover true and definite legal principles that might justly be applied to members of the Jaina community.

As Jains came to law courts, commissions were issued from time to time all over the country to take evidence and ascertain Jain law and usage as it existed in the Jain Shastras and was prevalent in practice. The first such attempt known was made in 1833 when in *Maharaja Govindnath Ray V. Gulab Chand & others* (5 select Rep. S. D. A., Calcutta 276) Mr. Walpole of the Presidency Sudder Court directed the Morshidabad Judge to obtain an exposition of the Jain Shastras on certain points from some impartial Yatis (priests). This decision of the Presidency Court of 1833 recognised the broad distinction between the tenets and the usages of the members of the Jaina sect and the rest of the Hindu community, and the right of the former persuasion to an adjudication of matter in dispute regarding questions of inheritance on their own shastras."

In *Mst. Chimnee Baee & Soojan Baee vs. Mst. Gutto Baee* (1853) " a large body of evidence was adduced on the side of the plaintiff, comprising the depositions of a number of persons of the same persuasion, together with a statement delivered by the law officer of the Court in another case in which it was distinctly declared that the Saraogis as followers of Parasnath, differed materially in their creed and worship from the orthodox Hindus."

The Courts of law were not inclined to deny, in the words of Sir Montague N. Smith of the Privy Council, "to the large and wealthy communities existing among the Jainas, the privilege of being governed by their own laws and customs, when these laws and customs were by sufficient evidence, capable of being ascertained and defined and were not open to objection on grounds of public policy or otherwise." But they found a real difficulty in discovering the Jain Law, and laboured under an incorrect notion that the Jainas were Hindu dissenters and in absence of special custom being proved to the contrary, principles of Hindu Law applied to them. In *Sheo Singh Rai* vs. *Mst. Dakho* (6 N. W. P., H. C. R. 382) the High Court remarked "the Jains have no written law of inheritance. The law on the subject can be ascertained only by investigating the customs which prevail among them, and for the ascertainment of those customs, we think the court below would exercise a wise discretion if it issues commissions for the examination of the leading members of the Jaina community in places in which they are said to be (most) numerous or respectable *viz* Delhi, Muttra, and Benares." No law books, such as the late Mr. J. L. Jaini and Mr. C. R. Jain Bar-at-law have compiled since, were then available (though some of what is said in them is not correct), and the original texts that existed in manuscript copies, and could have been consulted do not seem to have been forthcoming. The courts had to fall back on the return of commissions, and the method of commissions was necessarily imperfect and inadequate. Commissions were issued as cases came to court. In each case there was always one party which stood to gain by leading false evidence regarding Jaina Law or pleading that Hindu Law applied to them, or at any rate resisting strongly the application of Jaina Law. Thus a difficult task of proving usage or custom became all the more difficult. A single failure to prove a principle worked as an effective barrier against that principle for all time to come. Besides, the inquiry was confined only to the points at issue in each case, and the returns were, made applicable only to the particular section of the Jainas concerned and of the particular locality. In 1890 in *Sarnath Pershad* vs. *Mandil Das* (27 Cal. 379) the homogeneity of the Jainas was recognised by holding that Jaina customs

of one place were relevant as evidence of existence of the same custom amongst Jainas of other places, and that there was no material difference in the custom of the Agarwala, Choreewal, Khandelwal, and Oswal sect of the Jainas. But Jaina Law did not make much headway with the courts of law in India, till in an able and courageous judgment in 1915 Mr. Jugmander Lal of the Indore High Court (Orig. Suit No. 3 of 1914,) emphasised the independent origin of the Jaina community and discussed the value of a few old Jaina law books. This judgment did not go unnoticed in British India.

" Were the matter " res integra" says Kumaraswami Shastri Offtg. C. J. in a recent Madras case (Gateppa vs. Erama A. I R. 1927 Madras 228) " Iwould be inclined to hold that modern researches have shown that Jainas are not Hindu dissenters but that Jainism has an origin and History long anterior to the Smritis and commentaries which are recognised authorities on Hindu law and usage." In fact Mahaveer, the last of the Jaina Tirthankaras, was a contemporary of Buddha and died about 527 B. C. The Jaina religion refers to a number of previous Tirthankars and there can be little doubt that Jainism as a distinct religion was flourishing several centuries before Christ. In fact Jainism rejects the authority of the Vedas which form the bedrock of Hinduism and denies the efficacy of the various ceremonies which Hindus consider essential.

" There is a great force in the observations of Holloway J. in *Rathama Lall* vs. *Soojan Mull Lall* that, Hindu Law can not be applied to them. So for as Jaina Law is concerned it has its own law books of which *Bhadrabahu Samh-i-ta* is an important one. *Vardhaman Ni-ti & Arhun Ni-ti* by the great teacher Hem Chandra deal also with Jaina Law. (There are other books also equally important which the judge does not mention.) No doubt by long association with Hindus who form the bulk of the population, Jainism has assimilated several of the customs and ceremonial practices of the Hindus, but this is no ground for applying Hindu Law as developed by Vignanesara and other commentators, several centuries after Jainism was a distinct and separate religion with its own

religious ceremonial and legal systems, enblock to Jainas and throwing on them the onus of showing that they are not bound by the law except as laid down by Jaina Law givers. seems to me that in considering questions of Jaina Law relating to adoption, succession and partition we have to see what the law as expounded by Jaina Law givers is, and to throw the onus on those who assert that in any particular matter the Jainas have adopted Hindu Law and custom and have not followed the Law as laid down by their law givers."

This judgment has already found a place in the 1931 edition of Sir D. F. Mulla's "Hindu Law." But while His Lordship of the Privy Council does not refute these facts, he has not yet revised his statement about the origin and history of the Jaina religion. This is a matter of vital importance to the community. The antiquity and independence of Jainism once recognised, the law for the Hindus would not apply to Jainas, if theology has anything to do with jurisprudence and the fundamentals of the two religions differ.

THEOLOGY AND JURISHPRUDENCE,

"Among the Hindus," says Maine, "the religious element in law has acquired a complete predominence." Their Lordships of the Privy Council also observed in *Sheokuar Bai* vs. *Jeoraj* (1920) 25 C. W. N. 273 that the due performance of the shradha or religious ceremonies for the dead is at the base of the religious theory of adoption (among the Hindus)." In fact "every great event in the life of a Hindu seems to be regarded as leading up to and bearing upon these (Shradh) solemnities. If he marries, it is to have children who may celebrate them after his death; if he has no children, he lies under the strongest obligation to adopt them from another family, with a view to the funeral cake, the water, and the solemn sacrifice." Pin-dām is not only at the root of the Hindoo theory of adoption but is also the very soul of the Hindoo law of inheritance according to Manu (IX 106) "On the birth of the first son a man is freed from the the debts to the manes, that (son) therefore is worthy to (receive) the whole estate."

But the Jaina author of Bhadrabahu Samhita expresses surprise at this belief :—

यस्मिन् जाते पितुर्जन्म सफलं धर्मजे सुते ।
पापित्व मन्यथा लोका वदन्ति महदद्भुतम् ॥७॥
पुत्रेणस्यात्पुण्यत्वमपुत्रः पाप युग्भवेत् ।
पुत्रवन्तोऽत्र दृश्यन्ते पामराः कणयाचकाः ॥८॥
दृष्टास्तीर्थकृतो ऽपुत्रा पञ्चकल्याण भागिनः ।
देवेन्द्रपूज्य पादाब्जाः लोकत्रय विलोकिनः ॥९॥

" Jainas differ particularly from the Brahmanical Hindus in their conduct towards the dead omitting all obsequies after the corpse is buried or burnt. They also regard the birth of a son as having no effect on the future state of his progenitor and consequently adoption is a merely temporal arrangement and has no spiritual object." (6 N. W. P., H. C. R. 391).

Both in their religious practices and in their beliefs Jainas and Hindus are wide apart. There is and has always been a vast difference between the fundamental principles of the two religions They agree only in subordinating law to theology, or life in this world to life here-after, with the result that the difference in the religious out look of the two communities is passed on to their principles of jurisprudence also.

In Jainism, the son or for the matter of that any other individual is incapable of conferring any spiritual benefit on the soul of the deceased father. Every individual soul stands all alone by itself on its own merits and karmās, no one else can alter their course. A son is therefore merely a source of happiness in the world here. Consequently he may even be turned out if hostile to Dharma and incorrigible (C. R. Jainas' Jaina Law p. 22; Bhadrabahu Samhita shlokas 42, 55 and 75. Vardhaman Niti 28 and 30; Arhan Niti 57 & 124; and Indranandi Jaina Samhita 42). The soul of the deceased being unaffected by the existence or nonexistence of a son, a Jaina widow can adopt if she likes merely *for her own convenience*. No authority, or consent of her deceased husband or his relatives therefore need be proved (Bhadrabahu Samhita shlokas 42, 55 & 75 ; Vardhaman

Niti S. 28 & 30; Arhan Niti 57 & 124—as numbered in C. R. Jaina's book). If she loves her daughters so that she does not like to adopt she may not adopt but by a will leave the property to her daughters (Bh.S. 95-96, Arhan nity 115-117). Or she may adopt a daughter's son if she likes (8 All. 919; Arh. N. 55-56). She may adopt, an orphan, a married or un-married boy of young of advanced age so long as he is not older than her. (23 B. L. R. 227, Bh. S. 116; Indranandi Jin Samhita 19). There are practically no restrictions on her powers to adopt except these dictated by commsn sense, such as these being a son of her husband by another wife she shovld not adopt (Bh. S. 39). In extreme cases she may even disinharit a bad son (Bh. S. 52-54; V. N. 25-29; Arh. N. 86-89 & 120.)

In keeping also with the spirit of Jaina religion Jaina Law gives much greater powers to a widow than Hindu Law allows. The son not conferring any benefit on the soul of the deceased father, does not occupy any preferential position as against the widow. The wife is more to a Jaina than the son. She is after her husband, the eldest member of the divided family. Besides, she may not be treated well, if left to the tender mercies of a son and a daughter-in-law. In the Jaina Law of inheritance, the widow therefore precedes the son (Indra S. 35-36 & 46; V. N. 8, 11, also Bh. S. 4; & Arh. N. 15). And she does not inherit merely a life estate as a Hindu widow does but holds in absolute right (Arh. N. 54, 115 & 125; Indra S. 15). She can in the absence of a son give away the property to her daughters completely by a will even in the face of such reversioners as husbands' brothers or their sons. Of course her authority to sell or allienate the immoveable property of her husband is restricted but so is the case with every male member of the family too. They are enjoined to avoid partition of the immoveable property and to divide its use among themselves amicably by a private settlement. (Bh. S. 16 & 112 Arh. N. 5). Thus the division of the immoveable property into small holdings is prevented and the economic and social status of the family preserved. When the moveable property is partitioned, she gets an equal share with the sons, nay even more. (Bh. S. 21; V. N. 10; Indra S. 27). Jainism recognises the equality of sex, and females occupy a

respectable position in Jaina society, and enjoy equal privileges under the law. The daughter's, son is at par with the son's son (Bh. S. 25, 26, 28 Arh. N, 33-34.) And the daughters take equal share with their brothers. (V.N. 52 and Adi Purana parva 38. Shloka 154:-

पुत्र्यश्च संविभागार्हाः समं पुत्रैः समांशकैः ।
त्वं तु भुत्वा कुलाज्येष्ठः संततिं नो अनुपालय ॥१५४॥

Again, Jaina religion has a very great horror of Kashāyās (feelings of anger, pride, affection etc.) which are mainly responsible for the bandha of Karmās, and are the greatest obstacles in the progress of a soul to Moksha or salavation. So as to banish these kashāyās, as far as possible, and for the increase of Dharma, Jain Law favours separate living as against the Joint family system of the Hindus (Bh. S. 3, 11-13). In living separately there is greater freedom of action and less of heart burnings and quarrels. Partition is therefere recommended even in the life-time of the father, soon after the marriage (Adi Purana Parva 38, Shlokas 135-139.) But if the family remains joint the heirs of a member of it are not dis-inherited by his death or turning ascetic, for Jaina law recognises joint tenancy, not joint estate and survivorship as in Hindu Law (Arh. N. 90.)

The Jaina Law of marriage also is more liberal than that of the Hindus in as much as it permits marriage with a girl, if she is of another gotra, whether she be the father's sister's daughter, or a mother's brother's daughter, or the wife's sister. Even the girl of a lower caste is acceptable, though her issues get less in the inheritance.

But the most important peculiarity of Jaina Law is its provision of *Wills & Trusts.* A man may in his own lifetime appoint a trustee for the protection of his widow and property, the trustee being removeable through court, if he proves to be dishonest (Arh. N. 46-48, V. N. 16-17, 20-21, 49-50 and Bh. S. 71-72.)

OLDEST JAIN IMAGES DISCOVERED.

Old Theories On Jain Iconography Upset.

DR. K. P. JAYASWAL INTERVIEWED.

On the 14th of this month at Lohanipur, within a mile from the Patna Junction Station, the villagers dug out a stone piece which turned out to be a broken image. They dug further and found another broken image. On Monday last the villagers noticed a stone piece in a water channel, formerly made by the canal department. The villagers put the two images under a mango tree and started worshipping them A student of the B. N College informed Mr. C. C. Chandra, Superintendent, Archaeological Survey, who phoned up Dr. Jayaswal. The latter had the images removed to the Patna Museum during the day.

Interviewed by the representative of the United Press, Dr. Jayaswal showed him a torso of two feet and six inches in height, nearly three-fourths of life-size. The image is highly polished and shines like glass. Dr. Jayaswal declared that it was the oldest Jain image yet found in India. The nude figure is of a TIRTHANKAR and the statue is of the original school. The moulding of the body is in the round and highly realistic. It resembles the Mohan-je-Daro torso. Dr. Jayaswal thinks it to be a most perfect specimen of sculpture, unequalled in the whole Jain iconography. He considers it to be of early Maurya age, about 300 B. C. The image is also the oldest image yet discovered in stone for the purposes of worship for the historical period.

The second statue is also of a Jain Tirthankara, 18 inches in height, but it is not polished.

The heads, arms and legs may be discovered if proper excavation is made at the site. To-day's surface excavation disclosed remains of a brick structure at the site. The bricks are very large. Dr. Jaysawal thinks that a temple had existed there, probably up to the twelfth century, as the depth at which the images have been found is five feet below the surface. The smaller image probably belongs to pre-Gupta age.

The larger image with Maurya shining polish upsets several old theories on Jain iconography and proves that in and before the time of Asoka images of Jain Tirthankaras and of the original school were already in existence and were worshipped, while yet no such ancient figure of Buddha has yet been found or of Shiva or any other Hindu deity.

The Searchlight.
20th Feb. 1937.

The Jaina Chronology.

(By Kamta Prasad Jain, M. R. A. S.)

Continued from Vol. II, page 96.

"THE PRE-HISTORICAL PERIOD EVENTS."

No.	Period & Date.	Event.
20		Bharata after hearing the first discourse of Ṛṣabhadeva, who thus founded Jainism in this cycle of time, came back to Ayodhyā, and at first visited his arsenal where he beheld the glorious discus (*Chakra Ratna*). After this he went to see his new-born son, whom he welcomed with paternal affection
21		Bharata started to subdue the world and remained in camp life for a very long period. He returned home from the world-conquest, laden with booty and costly gifts from the numerous kings who had paid homage to him, and accompanied by many princesses, daughters of the vanquished foe, whom he married. A good many of these ladies belonged to the *Mlekṣa* race ; but Bharata did not hesitate to accept them for wife.
22		When Bharata reached to his capital he demanded submission from his own brothers, which was naturally refused. All of them, except Bāhubali, became hurt at heart owing to the arrogant and conceitful behaviour of their brother and renounced the world.

No.	Period & Date.	Event.
23		Bharata made an attack on Podanapur, the capital of Bāhubali and the armies of the two brothers came face to face with each other; but the ministers intervened and avoided the unnecessary bloodshed. The brothers themselves were made to fight out the issue in other ways. Bāhubali came out truimphant in them and this infuriated Bharata all the more. He tried to struck Bāhubali with his irresistible *Chakra*, but in vain.
24		Bharata's action filled the heart of Bāhubali with disgust for the world and he renounced the world instantly.
25		Bharata came back to Ayodhyâ, where under great rejoicings the emperor's coronation ceremony was performed.
26		For a whole year Bāhubali performed the severest austerities, standing motionless immegred in contemplation; yet he could not gain the divine knowledge owing to the little thought which troubled him now and then, that he caused pain to his brother's heart unnecessarily. At last Bharata came to worship him and this made the heart of Bāhubali concentrated and at ease. He destroyed the obstructing *Karmas* and attained Omniscience. Bharata celebrated the auspicious occasion with great joy. Bāhubali preached the *Dharma* for sometime, and finally obtained emancipation (Nirvāṇa) at Mt. Kailāsa.

No.	Period & Date.	Event.
27		Bharata in order to elevate and propagate the *Dharma*, as taught by his divine father Vṛaṣabhadeva, established the fourth *varna* of the *Brāhmaṇas* by selecting out the *Vrati* householders from all the three classes—Kṣatriya, Vaiśya and Śûdra and decorated them with Brahma Sûtra (golden thread). He also laid down rites (Kiriyās) for the admission of all classes of men into the Jaina Religion and the Jaina Society, providing even for the fixing of the castes of the new converts. Even *Mlekṣas* could be admitted into Jainism without objection or hitch in his time.
28		Akampana, the king of *Kāśi* celebrated for the first time the marriage of his daughter Sūlochanā by convening a *svayamvara*. Sulochanā selected Jayavarmā of Hastināpur as his bridegroom and put the garland round his neck. This enraged Arkakîrti, the son and heir of Emperor Bharata and also the founder of the *Suryavamśa*—a branch of the *Ikṣwāku Kṣatriyas*. He fought out at battle with Jayavarmā, in which the latter came out truimphant. When Bharata heard these news, he like a just monarch, only scolded his son for his misbehaviour.
29		Bharata saw a number of dreams one night, which alarmed him. He went te Mt, Kailása where Ṛsabhadeva was stāying and sought their explanation from him. " He was told that his dreams bore reference to the

No.	Period & Date.	Event.
		next age (the *panchama Kāla*) which would be marked with much deterioration and misery."
30		Tīrthankara Ṛṣabhadeva had 84 *gaṇas* and 84 *gaṇadharas*, of whom Vṛaṣabhasena was prominent. He was fortunate to systematise and record the tenets of *Dharma* propounded by the World Teacher for the first time, and styled them as " Anga " and " Pûrvas." Ṛṣabhadeva had an excellent community of 84000 Śramaṇas, with Vṛasabhasena at their head; 350000 nuns with Brāhmî at their head; 300000 lay votaries with Draḍaratha at their head and 500000 female lay votaries with Suvratā at their head.
31	Pauṣa Śukla Pûrṇimā.	Ṛṣabhadeva ceased preaching and proceeded to accomplish the destruction of the remaining *karmas*. 'He seated Himself in the middle of the two summits Śrî Śikhara and Siddha Śikhara of the Mt. Kailāśa and applied Himself to pure self-contemplation of the higher type.' Bharata heard the news from a person named Ānanda and hastened to Mt. Kailāśa to worship the Great Teacher. He performed the worship known as the "Mahāmaha-yajña," for a whole fortnight.
32	Māgha Kṛaṣṇā *Chaturdaśi.*	At the time of sunrise, when the moon was passing out of the Abhijit constellation on Māgha Kṛaṣṇā Chaturdaśi Ṛṣabhadeva passed into *Nirvāṇa* and became a venerable *Siddha Paramātmā*. *Devas* & men celebrated the great

No.	Period & Date.	Event.
	Māgha Kṛaṣnā *Chaturdaśi*—Contd.	and auspicious occasion in a befitting manner. According to Jaina calculation this event happened 413452630308203177749512191999999999999999999999999999999999999999960482 years ago.
33	,,	Gaṇadhara Vraṣabhasena became the head of the Jaina Order and he instructed Emperor Bharata on religious topics in order to wash away the tinge of grief which he felt on the great departure of his divine father.
34	,,	Bharata returned to Ayodhyā and ruled peacefully. He was one of the greatest kings of the world, who lent his name to India, which it still bears. (तस्मात्तु भारतंवर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः) Nearing to old age Bharata retired from active life. He gave his kingdom to his son Arkakirti and become a naked ascetic of the Jaina Order, only to attain omniscience instantly. As an enlightened Teacher Bharata preached *Dharma* allround and afterwards attained to *Nirvāṇa* at Mt. Kailāsa.
35		After Arkakîrti the most famous kings in the Sûryavaṃśa were Yaśahśruti, Bala, Subala, Mahābala Atibala, Amratabala, Subhadra, Sāgara, Bhadra, Raviteja, Shaśi, Prabhūtateja, Tejasvî, Tapana, Pratāpavāna, Ativîrya, Sûrvîrya, Uditaparākrama, Mahendravîkrama, Sûrya, Indradyumna, Mahendrajit, Prabhû, Vibhu, Aridhwansa, Vitābhî, Vraṣabhadhwaja, Garuḍānka, Mrgānka.

No.	Period & Date.	Event.
36		Somayaśa, the son of Bāhubali ruled at Podanapura and his family came to be known as *Soma* or *Chandra Vaṃśa.* Thus after Bharata the Ikṣwāku Kṣatriyas were divided into two divisions, known as *Sūrya* and *Chandra vaṃśas.* *References.* *Ādipurāṇa* of Jinasena, *Abhidhānachintamaṇi* of Hemachandra, *Harivaṃśapurāṇa* of Jinasena, *Kalpsūtra* of Bhadrabāhu, C. R. Jain's 'Risabha-Deva,' B. L. Chaitānya's "Vrahad-Jaina-Sabdārṇava.' etc.
37	Māgha Śukla *Daśami.*	After 50 crore lakh sāgaropama years since the *Nirvaṇa* of *Ṛṣabhadeva,* second Tīrthamkara Ajitanātha appeared. His father was a prince named Jitāśatru of the Ikṣwāku who ruled at Ayodhyā. His mother was Vijayādevī.
38	Māgha Śukla *Aṣṭami.*	Ajitanātha took the vows of a Jaina ascetic and set himsalf to observe severest austerities and penances in the *Sahsrāmra-vana* with one thousand other kings, who, also renounced the world with him.
39	Māgha Śukla *Dwādasi.*	Ajitanātha broke his fast after renunciation and wās entertained by one Brahmadatta of Ariṣṭapuri.
40	Pauṣa Śukla *Ekādasi.*	As a result of observing 11 years 11 months and one day's severe ascetic life, Ajitanātha became an omniscient teacher. He began to preach the *Dharma* at large. Siṃhasena was his first and chief apostle.

No.	Period & Date.	Event.
41		Sagara, the second Chakravaratî king flourished. He was born to Ikṣwākurāja Samudravijaya from his queen Subalā at Ayodhyā. He was a paramount monarch like Bharata. Out of grief which he felt owing to the untimely death of his sons, Janhukumāra and others, which they met at the hands of a Nāgarāja of Himālaya, he renounced the world and took vows of a Jaina recluse near Tîrthankara Ajitanātha. Sagara became the chief disciple of the Tîrthankara, who asked a good many number of question to Him and passed to Nirvāṇa.
42		Bhagiratha, the brother of Sagara succeeded him at Ayodhya and in his afterlife he also became a Jaina recluse. Bhagiratha attained omniscience near Himālayas, where he was anointed by the *Devas.* Sacred water flow to the Ganges, which was taken as sanctified henceforth.
43		Ajitanātha had 90 gaṇadharas and a community of 100090 śramaṇas with Simhasena at their head; 320000 nuns with Phālgu or Prakubjā at their head; 300000 lay votaries and 500000 female lay votaries.
44	Phālguṇa Śukla *Panchami.*	Ajitanātha reached Mt. Sammeda Sikhara (Pārasnāth Hill) and ceased preaching. He absorbed himself in deep meditation on the summit named Siddhakuṭa of the said hill.
45	Chaitra Śukla *Panchami.*	At the dawn of day when constellation present was Rohini and it was, Chiatra Śukla Panchami that Ajitanātha attained Nirvāṇa in a Kāyotsarga (standing) position.
		Refs. *Uttarapurāṇa* of Guṇabhadrācārya, B. L. Chaitanya's 'Vrahad-Jaina-Śabdārṇava,' Vol. I and J. L. Jaini's "Outlines of Jainism."
		To be Continued,

REVIEWS.

Mahāvīra : His Life and Teachings.—By Dr. Bimala Churn Law, Ph. D.. M.A., B.L. pp. 113, London : Luzac & Co., 1937.

Dr. Law's readable and informative works on the history and literature of Buddhism and Jainism here receive a welcome addition in the shape of his new monograph entitled, "*Mahāvīra : His Life and Teachings.*" It is a nice handy book on the life and teachings of the last Jaina Tîrthankara; special feature of it being the information encorporated in it about the *Nirgranthas* and their *Tirthankara* from the Buddhistic texts. Had the learned author utilised the traditions and literature of the Digambara sect as well, the value of the book would have enhanced. It may be pointed out that Pārśva and Supārśva were two different Tîrthankaras and that it is not borne out by the evidence of the Buddhistic or other non-Jaina literature that Pārśva and his ascetic followers wore clothes. On the whole it is a valuable publication, for which author deserves congratulations.

Pauma Chariyaṃ (chps. I to IV) of Vimalasūrî edited with introduction, translation and notes by Prof. V. M. Shah, M.A., M. T. B. College, Surat pp. 15+135, Surat, 1936.

'*Paumchariyaṃ*' is an ancient Prākrata poem of 118 Chapters, which gives a Jain version of the Rāmāyaṇa. Prof. Shah has edited here its first four chapters in an scholarly manner; which as meant for college students, no doubt will prove useful to them. In his short introduction Prof. Shah discusses the date of its author Vimalasuri and assigns him to the first century A. D. The printing of the book is defective. We wait anxiously for its other parts.

K. P. J.

RULES.

1. The "Jaina Antiquary" (जैन-सिद्धान्त भास्कर is an Anglo-Hindi quarterly, which is issued annually in four parts, *i.e.*, in June. September, December, and March

2. The inland subscription is Rs 4 (including postage and foreign subscription is 6 shillings (including postage) per annum. payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt cf Rs 1-4-0.

3. Only the literary and other decent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to

THE MANAGER,
The "Jaina Antiquary"
Jain Sidhanta Bhavan, Arrah (India).

to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly.

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office should be informed at-once

6. The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archæology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc , from the earliest times to the modern period.

7. Contributors are requested to send articles, notes, reviews, etc., type-written, and addressed to,

K. P. JAIN, Esq. M. R. A. S ,
EDITOR, "JAINA ANTIQUARY"
Aliganj, Dist. Etah (India).

(*N.B.*—Journals in exchange should also be sent to this address.)

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting, or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc

9. The rejected contributions are not returned to senders, if postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology :—

PROF. HIRALAL JAIN, M A., L.L B.
PROF. A. N. UPADHYE, M A
B. KAMTA PRASAD JAIN, M R.A.S.
PT. K. BHUJABALI SHASTRI.

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD., ARRAH.

श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर

AND

THE JAINA ANTIQUARY

Editors :

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL. B.
Prof. A. N. Upadhye. M. A.
B. Kamta Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri.

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH, BIHAR, INDIA.

श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम।

१ जैन-सिद्धान्त-भास्कर अङ्गरेजी-हिन्दी-मिश्रित त्रैमासिक पत्र है, जो वर्ष में जून, सितम्बर, दिसम्बर और मार्च में चार भागों में प्रकाशित होता है

२ इसका वार्षिक चन्दा देशके लिये ४) रुपये और विदेश के लिये डाक व्यय लेकर ४॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १।) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुबिधा होगी।

३ केवल साहित्यसंबन्धी तथा अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। मैनेजर, जैन-सिद्धान्त-भास्कर, आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं; मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में हेर-फेर की सूचना भी तुरन्त उन्हीं को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि "भास्कर" नहीं प्राप्त हो, तो इसकी सूचना जल्द आफिस को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्तिविज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन, प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना—यह सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक, श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर, आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकमण्डल को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ "भास्कर" आफिस, आरा के पते से भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से जैन-तत्व के केवल उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.

प्रोफेसर ए.एन. उपाध्ये, एम. ए.

बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.

पण्डित के. भुजबली, शास्त्री

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

(जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र)

भाग ४] भाद्रपद [किरण २

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४) विदेश में ४॥) एक प्रति का १।)

विक्रम-सम्वत् १९९४

विषय-सूची

हिन्दी-विभाग—

पृष्ठ

१ राजगृह [श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन] ७१

२. डाक्टरशाही इतिहास (?) [श्रीयुत जैनाचार्य विजय इन्द्र सूरि] ... ८४

३ जैन-प्राकृत-वाङ्मय [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री] ९०

४ श्रीबाहुबली की मूर्ति गोम्मट क्यों कहलाती है ? [श्रीयुत गोविन्द पै] ... १०२

५ जैन-ज्योतिष और वैद्यक-ग्रंथ [श्रीयुत बाबू अगरचन्द नाहटा] ... ११०

७ विविध विषय—(१) श्रीसंघ तपागच्छ और खरतरगच्छ [श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन] ... ११९

(२) एक प्राचीन गुटका की कतिपय रचनायें [श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जन] ... १२२

(३) "जैन एन्टीक्वेरी" के लेख [श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन] १२४

(४) धर्मपुरा-दिल्ली के नये जैनमन्दिर की वेदी का परिचय [श्रीयुत बाबू अजित प्रसाद एम० ए०, एल०एल०बी०] १२५

(५) धन्यवाद [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री] ... १२६

(६) इतिहास-संसार पर अनभ्र-वज्रपात [पं० के० भुजबली शास्त्री] १२६

(७) जैन-सिद्धांत-भवन, आरा की संक्षिप्त रिपोर्ट १२७

८ साहित्य-समालोचना—(१) मूड़विदुरेय चरित्रे [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री] १२९

(२) कर्मदहनाराधना-विधान ,, ,, ... १३०

(३) स्तोत्र-मंजरि ... ,, ,, ... १३१

(४) श्रीकुन्दकुन्दाचाय का कुरल-काव्य [ए० एन० उपाध्ये] १३२

ग्रन्थमाला-विभाग—

१ तिलोयपण्णत्ती—[श्रीयुत प्रो० ए० एन० उपाध्ये] ... पृष्ठ २५ से ३२ तक

२ प्रशस्ति-संग्रह—[श्रीयुत पं०के० भुजबली शास्त्री] ... ,, ७३ से ८० ,,

३ वैद्यसार—[श्रीयुत पं० सत्यन्धर आयुर्वेदाचार्य] ... ,, ७३ से ८० ,,

अंग्रेजी-विभाग—

1. Mystic Elements in Jainism [Prof. A. N. Upadhye] .. 27
2. The Jaina Calendar [Dr. Sukumar Ranjan Das, M.A., Ph.D.] 31
3. The Jaina Chronology [K. P. Jain, M.R.A.S.] ... 37
4. New Studies in Jainism [Barom B. Seshagiri Rao, M.A. Ph. D., M.S.A.] 40
5. A Jaina Tirthaṅkara in a Buddhist Maṇḍala [Prof. Dr. H. v. Glassenapp, Ph, D.] 47
6. Obituary [O. Stein] 49
7. The Jaina Siddhânta Bhâskara (our Hindi Portion Vol. IV-1) 53
8. Select Contributions to Orientol Journals 55

॥ श्रीजिनाय नमः ॥

THE JAINA ANTIQUARY.
जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक त्रैमासिक पत्र

भाग ४ | सितम्बर, १९३७। भाद्रपद, वीर नि० २४६३ | किरण २

राजगृह

[लेखक—श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन, एम०आर०ए०एस०]

परिचय

राजगृह प्राचीन भारत का एक समृद्धिशाली नगर था। उसका महत्त्व इतना ही नहीं है कि वह प्राचीन भारत में एक प्रमुख व्यापारिक केन्द्रस्थल था और उसे कई शताब्दियों तक भारत की राजधानी होने का गौरव प्राप्त रहा; प्रत्युत उसका महत्त्व इस बात में है कि वह एक अत्यन्त प्राचीनकाल से तीर्थरूप में प्रसिद्ध रहा। वहाँ से धर्म-जाह्नवी बही है, जिसने राजगृह को परम पवित्र बना दिया है। ब्राह्मण, जैन और बौद्ध—सभी सम्प्रदायों के लोगों ने राजगृह को अपनाया है। यहाँ तक कि आज विदेशी और विजातीय मुसलमान लोग भी राजगृह की पवित्रता के क़ायल हैं। आइये पाठगण, निम्न पंक्तियों में इस पवित्रस्थान का इतिहास अवलोकन कर लें।

किन्तु पहले यह तो देखिये कि इस प्राचीन और पवित्र स्थान का अस्तित्व आज कहाँ

है ? किस जगह ऊँची ऊँची प्राचीरोंवाला राजगृह हमें मिल सकता है ? क्रूरकाल ने राजगृह का शैशव, यौवन और बुढ़ापा सब ही कुछ मिटा छोड़ा है। उस हिंसानन्दी को इसी में मज़ा आया कि वह इठलाते हुए राजगृह को अपने ध्वंसक पैरों के तले दबा कर चूर-चूर कर दे और उस पर ढेर के ढेर मिट्टी-पत्थर लाद दे, जिससे उसका नामोनिशान ही न रहे ! परन्तु वह भूल गया कि राजगृह निरा पार्थिव ही नहीं है—वह आध्यात्मिक सन्त है—उसकी आत्मा पवित्र है; इसलिये वह अमर है—लाख प्रयत्न करने पर भी उसे कोई मिटा नहीं सकता ! और हुआ भी ऐसा ही। इतिहास इसका साक्षी है। प्राचीन राजगृह के चिह्न अब भी अवशेष हैं—उसकी आत्मा अब भी जीवित है और अपनी पवित्रता से एक नहीं अनेक संसारी भव्य-जीवों का आत्मकल्याण करने में सहकारी हो रही है। बिहार प्रांत में आज उसकी प्रसिद्धि 'राजगिरि' के नाम से है और वहाँ के पुरातत्त्व से यह स्पष्ट है कि वहीं प्राचीन राजगृह था।

राजगिरि राजगृह है

अच्छा यही सही परंतु मानवबुद्धि कौतूहल से खाली नहीं है। राजगिरि के पुराने खंडहरों में खड़े रहकर आप और मैं क़ुदरतन यह सोचेंगे ही कि आख़िर प्राचीन राजगृह किस तरह जन्म में आया ? कैसा उसका वैभव रहा और कब और कैसे वह नष्ट हो गया ? प्राचीन साहित्य को टटोलने पर हमारे इन प्रश्नों का उत्तर मिल जाता है और उससे हमारी मनस्तुष्टि तो होती ही है परन्तु आंतरिक आह्लाद सूद में ही मिलता है। राजगृह की महिमा हमारा रोम-रोम हुलसा देती है। उसका इतिहास भारतीय जीवन के धार्मिक और राष्ट्रीय उत्थान—पतन का इतिहास है—वह अपने में नई नई क्रान्तियों और नये नये परिवर्तनों के रहस्यों की धरोहर लिये हुआ है। मनुष्य जीवन की पहेलियों को सुलझाने के लिये उसका इतिहास एक अनुपम साधन है। परन्तु वह दस-बीस पंक्तियों के लिख देने और पढ़ लेने से हल नहीं होता—उसके लिये गहन अध्ययन, परिशीलन और मनन अपेक्षित है। फिर भी यहाँ उसकी एक झाँकी तो ले लीजिये। शायद आपका मन राजगृह की पवित्रात्मा में पर्यटन करने के लिए उत्सुक हो जाय !

राजगृह का जन्म

राजगृह कब अस्तित्व में आया यह ठीक से बताया नहीं जा सकता; परंतु फिर भी अपने प्राचीनरूप में वह 'रामायण'-काल में मौजूद था। 'रामायण' में उसका उल्लेख 'गिरिव्रज' के नाम से हुआ है और यह नाम राजगृह की प्राकृत स्थिति का द्योतक है—निस्सन्देह राजगृह पहाड़ियों से घिरा हुआ है।* जैनशास्त्रों से स्पष्ट है कि भगवान् मुनिसुव्रतनाथ का जन्म यहीं हुआ था। उन्हीं तीर्थङ्कर के तीर्थकाल में रामचन्द्र और लक्ष्मण हुए थे। इससे स्पष्ट है कि राजगृह का प्राचीन अस्तित्व रामायण-काल से पहले का है। शास्त्रों में उसे

* कनिंघम, एन्शयेन्ट जॉगरफी ऑफ इण्डिया पृष्ठ ५३०।

मगधदेश की राजधानी बताया है और उसका अपर नाम 'कुशाग्रपुर' भी लिखा है। भोगोपभोग-सम्पत्ति से परिपूर्ण राजकीय आवास होने के कारण उसकी प्रसिद्धि राजगृह-रूप में हुई कही गई है।[1] यह ठीक है, परंतु वह आखिर अस्तित्व में आया कब? तर्क कहता है कि मगधदेश के साथ ही उसका जन्म हुआ होगा, क्योंकि आरंभ से मगध की राजधानी होने का सौभाग्य उसे ही प्राप्त रहा है। उधर 'आदिपुराण' से स्पष्ट ही है कि कर्मभूमि की आदि में भगवान् ऋषभदेव की आज्ञा से इन्द्र ने जिन बावन देशों की रचना की थी उनमें एक देश मगध था।[2] इस अपेक्षा राजगृह का अस्तित्व कर्मभूमि का प्रारंभिक काल ही कहा जायगा।[3] किन्तु अपने नवीन रूप में राजगृह का जन्म सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार द्वारा हुआ था। उन्होंने प्राचीन राजगृह से अलग उसी नाम का एक दूसरा दिव्यनगर बसाया था।[4]

राजगृह किस तरह फला-फूला और क्या उसका रूप-रंग रहा, यह जानने के लिये अच्छा यह है कि उपलब्ध साहित्य में जो भी वर्णन उसके सम्बन्ध में उपलब्ध है वह पाठकों के समक्ष उपस्थित कर दिया जाय। पाठकगण, उसमें स्वयं उसका महत्त्वशाली परिचय पा लेंगे।

दिग० जैन-साहित्य में राजगृह

अतः आइये पहले दिगम्बर जैन-साहित्य में राजगृह के वर्णन का अवलोकन कीजिये। इसी लेख में हम पहले लिख चुके हैं कि बीसवें तीर्थङ्कर मुनिसुव्रतनाथ जी का जन्म यहीं हुआ था। 'तिलोयपण्णत्ति' जैसे प्राचीन ग्रंथ में इस घटना का उल्लेख है।[5] उस ग्रंथ के अतिरिक्त 'हरिवंशपुराणादि'

---

१ 'पुरं राजगृहं तस्मिन्पुरंदरपुरोपमं।'
'स्वर्गादेत्यात्तभूष्णूनां राज्ञां यद्गृहमेव तत्। भोगोपभोगसंपत्त्या नाम तस्यार्थवर्त्तनः॥'

—उत्तरपुराण

२ आदि पुराण (इन्दौर) पृष्ठ ५६८।

३ आदिपुराण में जहाँ चक्रवर्ती भरत की दिग्विजय का वर्णन दिया है वहाँ पूर्व दिशा के वर्णन में मगध देश का उल्लेख नहीं है, बल्कि गंगा के द्वार से आगे किञ्चित् समुद्र में प्रवेश करके मागधदेव को वश करने का उल्लेख है। उसे उपसमुद्र अर्थात् द्वीप के भीतर उछलकर पानी भर गया था, कहा है। (पृष्ठ १०३२—३८) इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय मगध पानी से घिरा हुआ एक द्वीप था और उसमें व्यंतरों अथवा अयर्थेनर असभ्य जातियों का आवास था। नेपाल के इतिहास से स्पष्ट है कि अत्यन्त प्राचीन काल में नेपाल तक समुद्र था। स्वयं राजगृह के पुरातत्व से स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में वहाँ नाग जातीय लोगों का आवास था। मनियारमठ के एक शिलालेख में 'मणि नाग' का उल्लेख है। विद्वानों का अनुमान है कि वही वहाँ का अधिष्ठाता देव था।

४ कनिंघम० पृष्ठ ५३५।

५ "रायगिहे मुणिसुव्वयदेवा पउमा सुमित्त राएहिं।
अस्सज वारसीए सिदपक्खे सवणमे जादो॥३३॥"

ग्रंथों में भी लिखा है कि भ० मुनिसुव्रतनाथ जी के जन्म से राजगृह पवित्र हो चुका है। 'हरिवंशपुराण' में राजगृह का उल्लेखनीय वर्णन है। उसमें लिखा है कि :—

"युक्तः प्राप जिनो जैन्या जगद्विस्मयनीयया।
लक्ष्म्या लक्ष्मीगृहं राजद्गृहं राजगृहं पुरं ॥५१॥
पंचशैलपुरं पूतं मुनिसुव्रतजन्मना।
यत्परध्वजिनीदुर्गं पंचशैलपरिष्कृतं ॥५२॥
ऋषिपूर्वो गिरिस्तत्र चतुरस्रः सनिर्झरः।
दिग्गजेंद्र इवेंद्रस्य ककुभं भूषयत्यलं ॥५३॥
वैभारो दक्षिणामाशां त्रिकोणाकृतिराश्रितः।
दक्षिणापरदिग्मध्यं विपुलश्च तदाकृतिः ॥५४॥
सज्यचापाकृतिस्तिस्रो दिशो व्याप्य बलाहकः।
शोभते पांडुको वृत्तः पूर्वोत्तरदिगंतरे ॥५५॥
फलपुष्पभरानम्रलतापादपशोभिताः।
पतन्निर्झरसंघातहारिणो गिरयस्तु ते ॥५६॥
वासुपूज्यजिनाधीशादितरेषां जिनेशिनां।
सर्वेषां समवस्थानैः पावनीकृतकंदराः ॥५७॥
तीर्थयात्रागतानेकभव्यसंघनिषेवितैः।
नानातिशयसंबद्धैः सिद्धक्षेत्रैः पवित्रताः ॥५८॥३॥"

अर्थात्—"मगध देश में लक्ष्मी का स्थान अनेक उत्तमोत्तम महलों से मंडित एक राजगृह नगर है, जहाँ तहाँ अनेक स्थानों पर विहार कर भगवान् महावीर ने अपनी आश्चर्यकारी समवशरण की विभूति से मंडित हो राजगृह में प्रवेश किया ॥५१॥ राजगृह नगर में पांच शैल (पर्वत) हैं, इसलिये इसका दूसरा नाम 'पञ्चशैल' भी है और वह भगवान् मुनिसुव्रतनाथ के जन्म से परमपवित्र महामनोहर पाँच पर्वतों से रमणीय एवं शत्रुओं का अजेय स्थान है ॥५२॥ पाँचों पर्वतों में प्रथम पर्वत का नाम ऋषिगिरि है—यह पर्वत चतुष्कोण है—झरते हुए सुन्दर झरनों से महामनोहर है एवं इन्द्र के ऐरावत हाथी के समान पूर्व दिशा में स्थित है। दूसरा पर्वत वैभार है जो त्रिकोण और दक्षिण दिशा में है। तीसरा पर्वत विपुलाचल है। यह पर्वत दक्षिण और पश्चिम के मध्य में है और वैभारगिरि के समान त्रिकोण है। चौथा पर्वत बलाहक है और वह इन्द्र के धनुष के समान तीनों दिशाओं में व्याप्त है तथा पाँचवें पर्वत का नाम पांडुक है और यह गोल एवं पूर्व दिशा में है ॥५३—५५॥ ये समस्त पर्वत हरएक प्रकार के फल और फूलों से व्याप्त वृक्ष और शीतल जल के झरनों से महामनोज्ञ जान पड़ते हैं ॥५६॥ भगवान् वासुपूज्य के समवशरण के सिवाय समस्त तीर्थंकरों के समवशरण इन पर्वतों पर आये हैं, इसलिये ये परमपवित्र हैं—अनेक भव्यजीव तीर्थयात्रा के लिए यहाँ आते हैं एवं नाना प्रकार के अतिशय और सिद्धिक्षेत्रों से मंडित है ॥५८॥

अन्तिम तीर्थङ्कर भ० महावीर का प्रथम सावजनिक उपदेश राजगृह के विपुलाचल[1] पर्वत पर से ही हुआ था।[2] भगवान् महावीर के प्रमुख शिष्य मगध-सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार वहाँ उनकी वंदना करने कई दफा आये थे। वह अपने प्रारंभिक जीवन में बौद्ध थे।[3] जैनी हो जाने पर श्रेणिक ने अनेक मनोहर जिनमंदिरों से राजगृह को समलंकृत कर दिया था।[4] भगवान् वीर के प्रमुख गणधर इन्द्रभूति गौतमादि भी मगध के निवासी थे और राजगृह में भगवान् के साथ रहे थे।

राजगृह में वीर प्रभु के भक्त

राजगृह में भगवान् महावीर के अनेक उल्लेखनीय शिष्य थे। स्वयं सम्राट् श्रेणिक का राजपरिवार जिनेन्द्र वीर का अनन्य भक्त था। युवराज अभयकुमार भगवान के धर्मोपदेश से ऐसे प्रभावित हुए कि वह दिगंबर मुनि हो गये थे।[5] श्रेणिक के एक अन्य पुत्र वारिषेण का हृदय भी भगवान् की भक्ति से ओतप्रोत था। आखिर वह एक दिन सूरदेवाचार्य के निकट दिगम्बरीय दीक्षा से भूषित हुए थे। सम्यक्त्व की दृढ़ता के लिये वारिषेण मुनि का नाम आज भी जैनसंघ में बहु प्रख्यात है।[6] राजगृह में ही अंतिम केवली जंबूकुमार का जन्म हुआ था। वह अर्हद्दास सेठ के पुत्र थे। वह और उनके साथ विद्युच्चर नामक चोर अपने पाँच सौ साथियों के साथ मुनि हुए थे। आखिर राजगृह के विपुलाचल पर्वत से ही वह मुक्त हुए थे।[7] सेठ प्रीतंकर ने भी भगवान महावीर से मुनि-दीक्षा ले आत्मकल्याण किया था।[8]

---

१ हरिवंशपुराण (कलकत्ता) पृ० २१-२२।

२ हरिवंश०, सर्ग १ श्लोक ६१-६२, पद्मपुराण पर्व २ श्लोक ११३, महापुराण पर्व १ श्लोक १९६ इत्यादि।

३ संक्षिप्त जैन इतिहास, भा० २ खंड १ पृष्ठ १८-१९।

४ "ततो जिनगृहैस्तुंगैः राज्ञा राजगृहं पुरं।
कृतमंतर्बहिर्व्याप्तमत्यन्तमहिमोत्सवैः॥१४८॥
पुरेषु ग्रामघोषेषु पर्वताग्रेष्वदृश्यत।
नदीतटवनांतेषु तदा जिनगृहावली॥१५०॥
—हरिवंश० सर्ग २।

५ संक्षिप्त जैन इतिहास, भाग २ खंड १ पृष्ठ २०-२१।

६ आराधनाकथाकोष भाग १ पृ० १०५।

७ उत्तरपुराण, पर्व ७६ श्लोक ३४-४२ व जंबूकुमारचरित (मा० ग्रं०) पर्व ५—१३।
"ततो जगाम निर्वाणं केवली विपुलाचलात्।"
उत्तरपुराण पर्व ७६ श्लोक १८६।

राजगृह में जिनदत्त सेठ बड़े धर्मात्मा थे। चौदस को कायोत्सर्ग ध्यान करते उपसर्ग सहने में दृढ़ रहे। आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हुई; वह रोज तीर्थवंदना करते थे। माली के आग्रह से उसे भी तीर्थयात्रा के लिये विद्या बताई, परंतु वह भयातुर हो सिद्ध न कर सका। अंजन चोर ने वह विद्या उससे लेकर सिद्ध कर ली। आखिर वह मुनि होकर कैलाश पर्वत से सिद्ध हुआ। (आ० क० २।६) सारांश यह कि राजगृह में श्रेणिक और उनकी महारानी चेलना के अतिरिक्त और भी अनेक गण्यमान्य महापुरुष भगवान् महावीर के भक्त थे।

राजगृह और जैनधर्म

किंतु राजगृह भ० महावीर के बहुत पहले से ही जैनधर्म का केन्द्र रहा, यह बात हमारे पूर्वोक्त कथन से स्पष्ट है। भ० मुनिसुव्रतनाथ अपने जन्म से उस स्थान को पवित्र कर चुके थे। उन्होंने वहाँ नीलगुफा के निकट दीक्षा ली थी और वहीं नीलवन में चंपा के वृक्ष-तले वह केवलज्ञानी हुए थे।[1] विपुलाचलादि पंचशैलों पर तो स्वयं पहले तीर्थङ्कर और वासुपूज्य के अतिरिक्त अन्य तीर्थङ्करों का सर्वज्ञदशा में शुभागमन हुआ था और उन्होंने इन पंचपर्वतों से पापनाशिनी धर्मगिरा की पवित्र धारा बहाई थी। कल्पना कीजिये उस दिव्य समय की जब भव्यचातकों के मध्य जिनेन्द्र भगवान धर्मसुधा की वर्षा कर उनकी तृप्ति करते थे। अनेक धर्मात्मा जीव इन पर्वतों पर सदा विचरते स्वपरकल्याण करने में निरत रहते थे।[2] केवली धनदत्त, सुमंदर और मेघरथ राजगृह की सिद्धशिला से ही मुक्त हुए थे।[3] हरिवंश के मुकुटमणि वसुदेव अपने पूर्व भव में ब्राह्मण-पुत्र था, जो राजगृह में आ रहा। किंतु अपने जीवन से वह ऐसा हताश हो चुका था कि आत्मघात करने के लिये वैभार पर्वत पर आ निकला। वह अपने को पर्वत से नीचे गिराकर मारना ही चाहता था कि वहाँ पर तप करनेवाले अनेक जैनमुनियों ने उसे ऐसा दुष्कर्म करने से रोक दिया। वह पीछे नंदिषेण नामक मुनि हुआ, जो अपने वैयावृत गुण के लिये प्रसिद्ध था।[4] राजकोठारी की पुत्री भद्रा कुण्डलकेशा की कथा भी ऐसी है। उसने क्रोधावेश में अपने दुराचारी पति को पर्वत पर से ढकेल कर मार डाला था; किन्तु अपना पापमोचन करने के लिये वह वहीं जैनमुनियों के निकट साध्वी हो गई थी।[5] न जाने

---

१ हरिवंशपुराण, सर्ग ६० श्लोक २१६ व उत्तरपुराण पर्व ६७ श्लोक २०-४७।

२ बौद्धों के 'मज्झिमनिकायादि' ग्रंथों से स्पष्ट है कि राजगृह के ऋषिगिरि पर्वत पर अनेक निर्ग्रन्थ मुनि तपस्या किया करते थे। (देखो भ० महावीर और म० बुद्ध पृ० ११०)

३ हरिवंश० १८।११६।

४ हरिवंश० १८।१२८—३०।

५ थेरीगाथा—भ० महावीर और म० बुद्ध, पृष्ठ २५४।

ऐसी कितनी पापात्माओं का उद्धार इस पंचशैल के जैनसंघ-द्वारा हुआ था। काठियावाड़ के सोपारकनगर से वंदना के लिये आर्यिकासंघ राजगृह आया था। उस संघ के साथ धर्मात्मा विदुषी परंतु जन्म की धीवरी (शूद्रा) पूतिगंधा भी थी। पूतिगंधा ने अपनी जीवनलीला समाप्त होती देखकर यहीं नीलगुफा में सल्लेखना-व्रत ग्रहण कर प्राण-विसर्जन किये थे।[१] निस्सन्देह राजगृह की पवित्रता इन्हीं शुद्ध संस्कारों से है और यही कारण है कि उसका नाम लेते ही आंतरिक आह्लाद अनुभव होता है।

यह बात भी नहीं कि राजगृह केवल अपनी धार्मिकता के लिये ही प्रसिद्ध हो, बल्कि दिगंबर जैनसाहित्य में उसकी कर्मशीलता का परिचायक वर्णन भी खूब मिलता है। मुनि

राजगृह के प्रमुख राजपुरुष

सुव्रत भगवान् के पिता राजा सुमित्र यहाँ रामायणकाल में राज्य करते थे। वह एक खासे वीर थे। उपरांत उन्हीं के वंश में अर्द्धचक्री राजा जरासिंधु हुआ था। वह महापराक्रमी रणशूर था। उसी के आक्रमणों से तंग आकर यादवों ने मथुरा को छोड़ कर द्वारिका को प्रयाण किया था। आखिर जरासिंधु कृष्ण के हाथों से मृत्यु को प्राप्त हुआ। कृष्ण ने उसके पुत्र सिहदेव को मगध के चौथाई ग्रामों का राजा बनाया था।[२] जरासिंधु के बाद राजगृह में अनेक शूरवीर राजा हुए, जिनमें शिशुनागवंश के राजा प्रसिद्ध थे। सम्राट् श्रेणिक विम्बसार इसी वंश के नररत्न थे। वह एक महान् वीर थे। आस पड़ोस के राजाओं को उन्होंने अपने आधीन कर लिया था। वृजिराजसंघ के लिच्छवि आदि क्षत्रियों के साथ उनका घोर संग्राम हुआ था।[३] जंबूकुमार ने सम्राट् श्रेणिक के मित्र की रक्षा करने के लिये केरलदेश के राजा से युद्ध कर विजय प्राप्त की थी।[४] सम्राट् श्रेणिक की तरह उनका पुत्र अजातशत्रु भी महापराक्रमी था। सुधर्मा स्वामी से उसने श्रावक के व्रत ग्रहण किये थे। अजातशत्रु ने अपने पौरुष से कौशल, तिरहुत और शाक्यदेश पर अधिकार जमाया था। उसने सोन और गङ्गा नदियों के संगम पर पाटलिग्राम के समीप एक क़िला भी बनवाया था। अजातशत्रु के पौत्र उदयन ने यहीं पर पाटलिपुत्र अथवा कुसुमपुर नामक एक महान नगर बसाया था।[५] इसी समय से राजगृह की महत्ता को राहु ने ग्रसित कर लिया था। अब वह

---

१ हरिवंश० ६० । ६६—३७ ।

२ हरिवंश० सर्ग १८।२४—२७ व २६।२६ व ५३।४४ ।

३ सं० जैन इतिहास भाग २ खंड १ पृष्ठ १४—२३ ।

४ जंबूकुमारचरित (मा० ग्रंथ) पर्व ७ ।

५ सं० जैन इतिहास भाग २ खंड १ पृष्ठ २४—२६ ।

मगध की राजधानी न रह कर एक प्रधान नगरमात्र ही रह गया था। एक समय यहाँ प्रजापाल राजा राज्य करता था जो जैनमुनि हो गया था।[१]

इस प्रकार दिगंबर जैनसाहित्य में राजगृह का गौरवशाली वर्णन है। वह एक महान् नगर—कई शताब्दियों तक राजनीति का प्रमुख क्षेत्र—भारतीय राष्ट्र के भाग्य का विधाता और यहाँ के लोगों को सन्मार्ग का प्रदर्शक रहा था—अनेकों ऋषिपुंगवों का यहाँ आवागमन रहता था। भला विचारिये ऐसे महानगर का महत्त्व! वह हरतरह सर्वतोभद्र था। इसीलिये महाकवि पुष्पदन्त का उसके विषय में यह कहना ठीक है कि सोने, चांदी से घड़ा गया वह पुरवर राजगृह ऐसा ही भासता था मानो आसमान से अमरपुरी ही इस धरातल पर उतर आई हो।[२] रविषेणाचार्य जी ने उसे लोक का यौवन बताया है।[३] और भी अनेक कवियों ने राजगृह के महत्त्व का दिग्दर्शन अपनी काव्यमयी रचनाओं में किया है। पाठकों को दिगम्बर जैन-साहित्य में विचरण कर उसका रसपान करना चाहिये—यह तो आभास मात्र है!

राजगृह की महिमा

श्वेतांबर जैन साहित्य में भी राजगृह का वर्णन मिलता है। श्वेतांबरीय आगमग्रंथों में लिखा है कि राजगृह नाम का एक नगर था जहाँ श्रेणिक राजा राज्य करता था, चेलना उनकी महादेवी थी।[४] राजगृह में गुणशील नाम का चैत्य था। चेलना के अतिरिक्त नंदा, धारिणी आदि १२ रानियाँ श्रेणिक की और कही गई हैं।[५] चेलना रानी के विहल्ल और विहसि, नंदा के अभय-कुमार और धारणी देवी के दीर्घसेन, महासेन, लष्ठदन्त, गूढ़दन्त, शुद्धदन्त, हल्ल, द्रुम, द्रुमसेन महासेन, सिंह, सिंहसेन, महासिंहसेन और पुण्यसेन कुमार थे।[६], भगवान महावीर के

श्वेताम्बर जैन साहित्यमें राजगृह

१ आराधनाकथाकोष भाग १ पृष्ठ १८६।

२ "तहिं पुरवरु णामें रायगिहु कणयरयण कोडिहिं घडिउ।
बलिबंड धरंतहो सुरवइहिं णं सुरणयरु गयणपडिउ ॥६॥"
—णायकुमारचरिउ १।

३ "तत्रास्ति सर्वतः कांतं नाम्ना राजगृहं पुरं। कुसुमामोदसुभगं भुवनस्यैव यौवनं ॥३३॥२॥"
—पद्मपुराण

४ 'तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णाम णयरे होत्था, सेणिअनामं राया होत्था, चेलणा देवीए, गुणसिलाए चेइए वण्णओ।......' —अणुत्तरोववाई दशाङ्गसूत्र इत्यादि।

५ 'नंदा तह नंदवई नंदुत्तर नंदसेणिया चेव, मरुय सुमरुय महमरुय मरुदेवा य अट्ठमा।
भद्दा य सुभद्दा य सुजाया सुमणा वि य, भूयदिण्णा य बोधव्वा सेणियभज्जाणं नामाइं ॥'
—अंतगडदसाओ।

६ अणुत्तरोववाई दशाङ्गसूत्र देखें।

यह सब अनन्य भक्त थे और बहुतेरे इनमें से साधु हो गये थे। कहा गया है कि दीक्षित होने के उपरांत म० महावीर ने दूसरी वर्षा राजगृह के निकट ईशान कोण में नालंदा पाड़ा के बाहर तंतुवायशाला में व्यतीत की थी।[1] इसके उपरांत भी म० महावीर का आगमन राजगृह में कई बार हुआ था। नालंदा में राजमान्य लेप नामक श्रमणोपासक रहता था, जो निःशंकित गुण के लिये प्रसिद्ध और प्रोषधव्रतधारी था।[2] स्वयं राजगृह में नंद मनिहार श्रमणोपासक था—वह भी श्रावकाचार पालन में दृढ़ था।[3] राजगृह के सुदर्शन सेठ मुनि हुए थे, जिनपर मोग्गपाणि यक्ष ने उपसर्ग किया था, परंतु वह उनका कुछ भी बिगाड़ न सका था। यक्ष ने अर्जुन माली को सताया, परंतु जब वह होश में आया तो म० महावीर के समवशरण में पहुंचा और मुनि हो गया। लोगों के आक्रमणों को समभाव से सहन कर वह मुक्त हुआ।[4] इस प्रकार श्वेतांबरीय उल्लेखों से भी राजगृह में जैनधर्म का बाहुल्य स्पष्ट होता है।

जैनों के अतिरिक्त राजगृह से ब्राह्मणों और बौद्धों का भी सम्पर्क था। गृह त्याग कर म० गौतमबुद्ध राजगृह आये थे और सम्राट् श्रेणिक ने उनको अपने साथ रहने के लिये प्रेरणा की थी, यह बात 'विनयपिटक' के उल्लेख से स्पष्ट है। परन्तु बुद्ध ने श्रेणिक की बात नामंजूर की थी। आखिर जब वह बौद्धधम का प्रचार करने लगे तब श्रेणिक बौद्ध उपासक हो गये थे। (आदित्त परियायसुत्त ४७०) म० बुद्ध अपने मत का प्रचार करने कई बार राजगृह आये थे। वह बहुधा गृद्धकूट पर्वत, कलन्दक—निवाप वेणुवन में विचरा करते थे।[5] जब बुद्ध जावक कौमारभृत्य के आम्रवन में थे तब जीवक ने उनमें हिंसा-अहिंसा विषयक चर्चा की थी। और जब वह वेणुवन में थे तब अभय राजकुमार ने उनसे निगण्ठनातपुत्त के कहने से वाद किया था।[6] साधु सकलोदायि ने भी यहीं बुद्ध से वार्तालाप किया था।[7] एक दफा बुद्ध तपोदाराम अर्थात् वैभार गिरिपर्वत के नीचे गर्म पानी के निकट विहार करते बताये

म० बुद्ध और राजगृह

---

१ 'दोच्चवासंमासं मासेणं :खममाणे पुव्वाणिपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दुइज्जमाणे जेणेव रायगिहे नयरे जेणेव नालिंदा बाहिरिया जेणेव तंतुवायसाला तेणेव उवगच्छइ।' —भगवतीसूत्त

२ सूत्रकृताङ्ग सूत्र (हैदराबाद संस्करण) पृष्ठ ५३३।

३ ज्ञाताधर्मकथांग (हैदराबाद) पृष्ठ ४८६।

४ Antagada—Dasao (Modi, Ahmedabad), p. 48.

५ मज्झिमनिकाय, (सारनाथ १९३३) देखें।

६ अभय राजकुमार सुत्तन्त—मज्झिम० पृ० २३४।

७ चूलसकलोदायी सुत्तन्त — मज्झिम० पृ० ३०५।

हैं, इससे[1] उस समय भी राजगिरि के गर्म पानीवाले कुंडों का अस्तित्व प्रकट होता है। म० बुद्ध ने 'इसिगिलि-सुत्तन्त' में राजगृह के पंचशैलों अर्थात् ऋषिगिरि पर्वत, पांडव पर्वत, वपुल्य पर्वत, गृध्रकूट पर्वत और वैभार पर्वत का उल्लेख किया है।[2] इन एवं ऐसे ही अन्य उल्लेखों से म० बुद्ध का राजगृह से घनिष्ट संबंध स्पष्ट होता है।

राजगृह का वर्णन उन चीनी यात्रियों ने भी किया है जो समय समय पर भारतवर्ष में आते रहे हैं। सन् ४०० ई० में फाह्यान नामक यात्री यहाँ आया था—उसने राजगृह के विषय में लिखा है कि 'नगर से दक्षिण दिशा में चार 'ली' चलने पर वह उपत्यका मिलती है जो पाँच पर्वतों के बीच में स्थित है। यहाँ पर ही प्राचीनकाल में सम्राट् बिम्बसार का नगर विद्यमान था। निर्ग्रन्थों ने यहाँ एक गड्ढा खोदा था और विषाक्त भोजन बना कर बुद्ध को खिलाने के लिये निमंत्रित किया था। निर्ग्रन्थ वह साधु थे जो नंगे रहते थे। नगर में सब बियाबान है और वह नागरिक-हीन है।'[3] फाह्यान के इस वर्णन से राजगृह में दिगंबर जैनों का आवास प्रमाणित होता है और वह वहाँ प्रभावशाली भी थे, यह भी उसके कथन से स्पष्ट है, यद्यपि उसने जो कुछ लिखा है वह साम्प्रदायिकता को लिये हुये है। निर्ग्रन्थों के लिये यह संभव नहीं है कि वह किसी को जानबूझ कर विषाक्त भोजन खिलावें।

फाह्यान

फाह्यान के उपरांत चीनदेश से सन ६२९—६४५ ई० के मध्य ह्यु्न्त्सांग नामक यात्री भारत भ्रमण करने आया था। वह भी राजगृह पहुंचा था और उसने राजगृह के विषय में लिखा था कि "राजगृह के विपुलपर्वत पर एक स्तूप उस स्थान पर है जहाँ म० बुद्ध ने एक दफा धर्मोपदेश किया था। बहुत से दिगंबर उस स्थान पर ठहरे हुए हैं और वे खूब नाना प्रकार की तपस्या करते हैं। वह सूर्य के साथ ही घूमते हुये उसके उदय-अस्त तक बराबर तप तपते हैं।"[4] ह्यु्न्त्साँग के इस उल्लेख से भी विपुलाचल पर्वत पर दिगंबर जैनों का बाहुल्य प्रमाणित होता है और यह भी स्पष्ट है कि राजगृह के विपुलाचलादि पंच शैल साधुओं की तपस्या और धर्मामृत वर्षा से पवित्र हो चुका है। ह्यु्न्त्सांग ने जरासिंधु के पुराने क़िले की टूटी हुई दीवालों को देखा था। मालूम ऐसा होता है कि मगध की राजधानी पटना जाने पर राजगृह अपनी समृद्धि खो बैठा। यहाँ तक कि ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में वह धन-जन-हीन ध्वंशावशेष रह गया। समय ने

ह्यु्न्त्साँग

१ मज्झिमनिकाय पृष्ठ ५४६।

२ मज्झिम० पृष्ठ ४८३।

३ Travels of Fah-Hian, Beal (London 1869) pp. 110—113.

४ Watter's Yuan Chuang's Travels in India, Pt. II p. 154.

जिसे अमरावती बनाया था उसे ही मिट्टी में मिला दिया। फिर भी उसकी पवित्र आत्मा जीवित रही और 'तीर्थ' रूप में वह आज भी लोक के कल्याण का साधन बन रहा है।

पुरातत्त्व

भारतीय पुरातत्त्व से भी राजगृह की प्राचीनता और पवित्रता स्पष्ट है। पुरातत्त्वविदों को वहाँ सब से पुरानी वस्तु जरासिंधु के किले की कच्ची दिवालें मिली हैं। जरासिंध का उल्लेख 'महाभारत' में है और 'महाभारत' में पाँचों पर्वतों के नाम क्रमशः वैहार, वराह, वृषभ, ऋषिगिरि और चैत्यक लिखे हैं। वैभार पर्वत पर महादेव का मंदिर हिंदुओं की एक प्राचीन वस्तु थी, किंतु उसके स्थान पर एक जैनमंदिर बन गया है। १८ जनवरी सन् १८११ ई० को बुचनन सा० ने इस स्थान को देखा था और इसका बहुत कुछ हाल लिखा था। जरासिंधु के क़िले को उन्होंने हाथी पर बैठकर ४८ मिनट में देखा था। वहीं शेरशाह का बनवाया हुआ क़िला भी था, जिसे बुचनन सा० ने देखा था। उनसे राजगृह के ब्राह्मणों ने कहा था कि जरासिंधु के क़िले को किसी नास्तिक ने बनाया था—जैनी उसे श्रेणिकद्वारा बना बताते हैं। ब्राह्मणों ने यह भी कहा था कि राजगृह पर पहले राजा चतुर्भुज का अधिकार था—उपरांत राजा बसु अधिकारी हुए थे जिन्होंने महाराष्ट्र से १४ गोत्रों के ब्राह्मणों को लाकर बसाया था। बसु ने श्रेणिक के बाद राज्य किया था और वह वहीं रणभूमि में मारा गया था। बुचनन ने बहुत से श्रावकों (जैनों) को वहाँ दूर-दूर से यात्रा करने आया देखा था।[1] उपरांत कनिंघम साहब ने यहाँ का हाल लिखा था जिससे प्रकट है कि प्राचीन राजगृह पाँचों पर्वतों के मध्य विद्यमान था। वहाँ उन्हें ईंटों के खंडहर रूप एक स्तूप मिला था। मनियारमठनामक छोटासा जैन मन्दिर वहाँ सन् १७८० ई० का बना हुआ था। मनियारमठ के पास एक पुराने कूए को साफ कराने पर कनिंघम साहब को तीन मूर्तियाँ मिली थीं, जिनमें एक मायादेवी की बौद्धमूर्त्ति थी। दूसरी सप्तफणमंडलयुक्त एक नग्न मूर्ति थी, जो निस्सन्देह दिगंबर जैनों द्वारा निर्मित हुई थी।[2] कनिंघम साहब के बाद और भी विद्वानों ने राजगिरि की खोज की है। एक खोज के हाल में लिखा गया है कि "यहाँ जैनियों की दो प्रसिद्ध गुफाएँ हैं जिनके नाम सत्तपन्नी या सप्तपर्ण गुफा तथा सोनभद्र गुफा है। यह गुफा वैभारगिरि की उत्तर तरफ एक जैनमन्दिर के नीचे है। ....यहाँ जैनमंदिर यद्यपि आधुनिक बनावट के हैं तथापि जिन चबूतरों पर ये बने हैं वे प्राचीन बने हुए मालूम होते हैं। ......ये गुफाएँ श्रीआदिनाथ जी के मंदिर के पास हैं—बहुत प्राचीन हैं। इनमें एक गुफा में शिलालेख है जो तीसरी शताब्दी का है, जिससे प्रकट है कि मुनि वैरदेव के समय में ये

१ बुचनन, टूर्स इन बिहार इन पटना डिस्ट्रिक्ट, पृ० १२५—१४३।

२ Archaelogical Survey of India, Vol. I (1871) pp. 25-26

गुफायें जैनसाधुओं के लिये निर्मित थीं।"[1] इस प्रकार पुरातत्त्व से भी राजगृह का एक तीर्थ और प्राचीन नगर होना स्पष्ट है। हाल में मम० श्रीकाशीप्रसाद जी जायसवाल ने मनियार मठवाली पाषाणमूर्ति पर के लेख को पढ़ा है—वह लेख पहली शताब्दी का है और उसमें सम्राट् श्रेणिक तथा विपुलपर्वत का उल्लेख है।[2]

इसके अतिरिक्त मध्यकाल में राजगिरि एवं उसके पर्वतों पर अनेक भव्य-मंदिर बन गये हैं और उनमें मनोज्ञ प्रतिमायें विराजमान की गई हैं। भक्तवत्सल श्रावकों ने वहाँ लक्षावधि रुपये जीर्णोद्धार और निर्माण-कार्य में व्यय किये हैं। उनका अपना इतिहास है, जो एक स्वतंत्र लेख की अपेक्षा रखता है। अधिकारी लेखनी उसे लिखकर 'भास्कर' के पाठकों का उपकार करे तो अच्छा है।

श्रीयुत बाबू कामताप्रसाद जी ने इस गवेषणात्मक लेख में 'राजगृह' के विषय में काफी प्रमाण संग्रह किये हैं; फिर भी इसमें जो प्रमाण संग्रह में नहीं आये हैं और इस समय मेरे स्मृतिगोचर हो रहे हैं—उनका यहां उल्लेख कर देना मैं समुचित समझता हूं। वे प्रमाण निम्न रूप में हैं :—

साहित्य—द्वितीय या तृतीय शताब्दी के प्रमुख दिगम्बराचार्य स्वामी समन्तभद्र जी "रत्नकरण्ड श्रावकाचार" नामक ग्रन्थ के

"अर्हच्चरणसपर्य्यामहानुभावं महात्मनामवदत् ।
भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥ १२० ॥"

इस पद्य में राजगृह का उल्लेख मिलता है। बल्कि उल्लिखित पद्य-गत यह कथा ब्रह्मनेमिदत्त-कृत "आराधना-कथाकोष" में भी 'जिनपूजन-प्रभावक-कथा' नाम से मिलती है। पण्डित-प्रवर आशाधर (वि० १३ वीं श०) के शिष्य कविवर अर्हद्दास-द्वारा रचित "मुनिसुव्रतकाव्य" में भी राजगृह नगरी का विशेष वर्णन पाया जाता है।

श्वेतांबराचार्य श्रीजिनप्रभ सूरि-प्रणीत "तीर्थकल्प" नामक ग्रन्थ के पृ० ८, ५२ से ५४ तक के श्लोकों में यों राजगृह का वर्णन मिलता है :—

"अयोध्या, मिथिला, चम्पा, श्रावस्ती, हस्तिनापुर, कौशाम्बी, काशी, काकन्दी, कम्पिल, भद्रिल, रत्नवा, सूर्यपुर, कुण्डलग्राम, चन्द्रपुरी, सिंहपुरी और राजगृह इन तीर्थों की यदि निष्पाप रूप से यात्रा की जाय तो गिरनार, सम्मेदशिखर, वैभारपर्वत और अष्टापद की यात्रा से शतगुण अधिक पुण्य मिलता है।"

---

१ बंगाल, बिहार, उड़ीसा के प्राचीन जैन-स्मारक, पृष्ठ १०-१२।

२ Journal of the Bihar and Orissa Res: Soc: Vol, XXII (June 1936

पृ० ४१, श्लोक ५९ से ६०—

"पावापुरी, चम्पापुरी, अष्टापद, गिरनार, सम्मेदशिखर, काशी, नासिक, मिथिला राजगृह आदि तीर्थों की यात्रा, पूजन और दान के द्वारा जो फल-प्राप्ति होती है: वह भगवान् पार्श्वनाथ जी की प्रतिमा के दर्शनमात्र से हो जाती है। "

फिर इसी ग्रन्थ के पृ० ७२ से ७५ तक के श्लोक १ से २९ तक में राजगृहान्तर्गत वैभारगिरि की स्तुति सूरि जी ने विस्तृत रूप में भिन्न भिन्न रूपों में की है जो दर्शनीय एवं पठनीय है।

इसी प्रकार " मज्झिम-निकाय " आदि प्राचीन बौद्ध साहित्य में भी जैसा मान्यलेखक ने भी बतलाया है यत्र तत्र 'राजगृह' का उल्लेख प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होता है। जैसे—
"एक समय महानाम ! मैं राजगृह में गृध्रकूट पर्वत पर विहार करता था। उस समय बहुत से निगंठ (=जैन साधु) ऋषिगिरि की काल-शिला पर खड़े रहने (की व्रत) ले, आसन छोड़, उपक्रम करते दुःख कटु, तीव्र, वेदना झेल रहे थे।"........................,, ('बुद्धचर्या' पृ० २३०)

"................................अङ्ग मगधों का लाभ है अङ्ग-मगधों का अच्छा लाभ मिला: जहां पर कि 'राजगृह में (ऐसे २) संघपति=गणी=गणाचार्य, ज्ञात=यशस्वी बहुजनों के सुसम्मानित, तीर्थङ्कर (=पंथ स्थापक) वर्षा-वास के लिये आये हैं।.........." (बुद्धचर्या पृ० २६६)

"ऐसा मैं ने सुना—एक समय भगवान् राजगृह में वेणुवन कलन्दक-निवाप में विहार करते थे। उस समय सकुलउदायी परिव्राजक महती परिषद् के साथ परिव्राजकाराम में वास करता था।" (बुद्धचर्या पृ० २८०)

पुरातत्त्व—बङ्गाल के प्राचीन स्मारकों की सूची में राजगिरि के पर्वतों की बाबत लिखा है कि " उन पर जैनमन्दिर हैं जो प्राचीन सामग्रियों से निर्मित है। "

एम० ए० स्टीन साहब लिखते हैं कि " वैभार गिरि पर जो मन्दिर बने हुए है उनके ऊपर का हिस्सा तो आधुनिक है किन्तु उनकी "चौकी" जिन पर वे बने हुए हैं वे प्राचीन हैं।" इस बात के प्रमाण के लिये ' दापन-संघ ' ने नग्न साधुओं का वैभार गिरि पर विहार करना वर्णन किया है।

इसके अतिरिक्त १६ वीं शताब्दी से लेकर २० वीं शताब्दी तक के बहुत से जैनशिलालेख राजगृह के विपुलाचलादि पहाड़ों में उपलब्ध होते है

—के० बी० शास्त्री

*डाक्टरशाही इतिहास (?)

(समालोचना)

[ले० जैनाचार्य श्रीविजयइन्द्र सूरि]

थोड़े दिन हुए मैंने धोखाशाही (!) साहित्य बाचन पढ़ा और जाना कि शिक्षित समुदाय भी ऐसा पाखंड कर सकता है, यह इस ज़माने की विशेषता है। आज मैं यहाँ एक डाक्टर-शाही (?) इतिहास के विषय में लिख कर इस कथन को स्पष्ट करूँगा। इस इतिहास का नाम 'प्राचीन भारतवर्ष' है। निस्सन्देह इस पुस्तक को इतिहास कहना 'इतिहास' शब्द को कलंकित करना है। मेरे सामने इस इतिहास के दो भाग हैं। इनको पढ़ कर मैंने 'अशोक के शिलालेखों पर दृष्टिपात' नामक एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखा है और उसमें इस कपोलपुराण का शुद्ध स्वरूप स्थापित किया है। किंतु उतने से इस पुस्तक का अज्ञानमय लेप शायद ही दूर हो। अभी तो इसके तीसरा और चौथा भाग और प्रकट होंगे। इसलिये इन सब की खरी आलोचना करने के लिये मुझे एक विशिष्ट प्रबंध-प्रवाह तैयार करना है, जिसके द्वारा इस पुस्तक की प्रत्येक कल्पना की धज्जियाँ उड़ा दी जायँगी। तो भी यहाँ पर उसकी कपोलकल्पना प्रकट करने के लिये कुछ चर्चा करना अभीष्ट है। अस्तु :

(१)

डाक्टरशाही 'प्राचीन भारतवर्ष' (भाग २ पृ० २२४) के सामने एक मूर्ति का चित्र नं० १३ दिया गया है। इस चित्र को देते हुए डा० साहब ने पहला पाखंड यह किया है कि मूर्ति को यथार्थ स्वरूप के विपरीत प्रकट किया है। यह मूर्ति स्वाभाविक स्थिति अर्थात् यथाजात रूप (नग्न) में हैं; परंतु उसके बदले डॉ० साहब ने बड़ी चालाकी से उस मूर्ति की नग्नता को ढक कर प्रकट किया है। ऐसा विपर्यास शायद ही किसी ने कभी किया हो !†

---

*गुजराती भाषा में डॉ० त्रिभुवनदास लहेरचद् शाह-कृत 'प्राचीन भारतवर्ष' नामक ग्रंथ बड़ोदा से प्रकाशित हुआ है। सूरि जी ने इस लेख में उसकी अप्रमाणिकता सिद्ध कर साहित्य का उपकार किया है; जिसे उन्होंने गुजराती भाषा में लिखा है। यहां उसका सार उनके आदेशानुसार दिया गया है। —का० प्र०

† मुझे भलीभाँति स्मरण है कि कुछ दिन हुए मैसोर के एक प्रमुख एवं प्रतिष्ठित साहित्यिक विद्वान् वेंकट कृष्णय्य ने भी अपने एक कन्नड भाषा में लिखित हुए भारतवर्ष संबंधी इतिहास में इसी नग्नमूर्ति को लंगोट पहनाकर चित्रित करने का दुस्साहस किया था, पर वहाँ के जैनियों ने धर्म पर आघात होता देख विरोध कर उस संस्करण को बन्द करवा दिया।

के० बी० शास्त्री

इस मूर्ति का चित्र 'ऐशिया' नामक पत्र के मार्च सन् १९३४ के अंक में (पृष्ठ १५३) छपा है और श्रीमाणिकचंद्र ग्रंथमाला बंबई में प्रकाशित हुए ग्रंथ 'जैन-शिलालेख-संग्रह' (पृष्ठ १७) में भी वह प्रकट हुआ है। "जैन-साहित्य-संशोधक" में उस मूर्ति के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार है:—

"यह मूर्ति दिगम्बर है और उत्तराभिमुख सीधी खड़ी है........जंघों के ऊपर वह बिना सहारे के है। ऊरुस्थल तक वह वाल्मीक से अच्छादित बनी हुई है, जिसमें से सर्प निकल रहे हैं। उसके दोनों पदों और बाहुओं के चारों ओर एक बेलि लिपटी हुई है जो बाहुओं के ऊपरी भाग में फलों के गुच्छों में समाप्त होती है। एक विकसित कमल पर उसके पैर स्थित हैं।" (पृष्ठ १३४ प्रथम खण्ड तथा एपिग्राफिया कर्नाटिका भाग २, भूमिका पृष्ठ २८)

दूसरा विपर्यास यह है कि डा० साहब इस मूर्ति को 'आचार्य भद्रबाहु' की इन ऐतिहासिक शब्दों में सिद्ध करते हैं: "जिस प्रकार स्तंभलेख और शिलालेख तथा स्तूप महाराज प्रियदर्शिन के पोते (संप्रति) के धर्म-संबंधी संस्मरण के चिह्नरूप कृतियाँ हैं, इसी तरह यह प्रचंड मूर्ति भी उन्हीं की बनवाई हुई है। उसके बनवाने में उनका हेतु अपने धर्मविषयक किसी कार्य का महत्तादर्शक होना चाहिये। इस खयाल के साथ जब हम श्रवणबेल्गोल की प्रचंड मूर्ति की कथा जोड़ते हैं तो इस हक़ीकत पर विशेष प्रकाश पड़ता है और यह अनुमान करने का लालच होता है कि जब यह श्रवणबेलगोल स्थान राजा चंद्रगुप्त और उनके धर्मगुरु श्रीभद्रबाहु के अंतिम जीवन से संबंधित है, तो इस मूर्ति को बनवाने में वह निमित्त कहीं कारण न बना हो? इसलिये यह निर्णय होता है कि यह मूर्ति राजा चंद्रगुप्त अथवा उनके गुरु श्रीभद्रबाहु की है।" (प्रा० भा०, भाग २, पृष्ठ ३७८)

उपर्युक्त लेखांश में डा० साहब 'यह मूर्ति भद्रबाहु की है' कहने को ललचाते हैं और 'महाराज प्रियदर्शिन की बनाई हुई होना चाहिये' अनुमान करते हैं! परंतु इसके लिये उनके पास एक भी प्रमाण अथवा साक्षी नहीं है। उन्हें जानना चाहिये कि उनके लालच या अनुमानमात्र से इतिहास नहीं रचा जा सकता। इतिहास के लिये प्रमाण और साक्षी चाहिये। इतिहासविद् तो 'नामूलं लिख्यते किञ्चित्' की उक्ति का अक्षरशः पालन करते हैं। किंतु हमारे यह नये इतिहासकार (?) तो 'अमूलं लिख्यते सर्वम्' की उक्ति को चरितार्थ करके पृष्ठ के पृष्ठ भरते चले गये हैं!

डा० सा० ने इस मूर्ति के संबंध में अपनी तरंग-परंपरा का व्यवहार किया सही है, परंतु यह मूर्ति न आचार्य भद्रबाहु की है और न उसे सम्राट् प्रियदर्शिन ने ही बनाया है।

यह बात तो मूर्ति पर का शिलालेख स्पष्ट बताता है, जो इस प्रकार है :—

" श्रीचामुण्डराजं माडिसिदं "

इस पंक्ति की भाषा और लिपि दोनों कन्नड हैं। उसका भाव तामिल भाषा में उस पंक्ति के नीचे यों दिया गया है :—

" श्रीचामुण्डराजन (शे) य्व (व) इत्तां "

अर्थात् 'श्रीचामुण्डराज ने निर्माण किया'। यह चामुण्डराय राजा मारसिंह द्वितीय और रायमल्ल जी द्वितीय के मंत्री थे। मारसिंह द्वितीय की मृत्यु इ० सन् ९७५ में हुई थी। इससे स्पष्ट है कि मंत्री चामुण्डराय का समय ईस्वी दसवीं शताब्दी था। इसलिये इस मूर्ति का निर्माणकाल भी ई० दसवीं शताब्दी होना चाहिये। मंत्री चामुण्डराय-सम्बन्धी अन्य लेखों को देखते और उनके उपास्य सैद्धांतिक सार्वभौम मुनि नेमिचन्द्र के ग्रंथों एवं अन्य शास्त्रों में मिलती इस मूर्ति की हकीकत को देखते इसका ठीक निर्माणकाल ई० ९७८ से ९८४ तक ठहरता है। उस पर यह तो स्पष्ट ही लिखा है कि वह 'चामुण्डराय की बनवाई हुई है'। ऐसा स्पष्ट प्रमाण होते हुये भी डॉ० सा० इस मूर्ति के निर्माता सम्राट् प्रियदर्शिन को बतलाने का विपर्यास करते हैं। किन्तु इस मूर्ति के लेख में जो चामुण्डराय का नाम है उसका वह क्या करेंगे? मूर्ति की नग्नता की तरह क्या वह उसे भी छिपाना चाहते हैं?

वास्तव में यह मूर्ति चामुण्डराय द्वारा निर्मापित हुई श्रीऋषभदेव के पुत्र बाहुबली या भुजबली की है और इसकी ऊंचाई ५७ फीट है। शिल्पशास्त्र का यह नियम है कि जिसका जितना क़द हो उसी मुताबिक़ उसकी मूर्ति बनाई जाय। बाहुबली की आयुकाय विशाल थी उसी के अनुरूप यह मूर्ति थी। पांच या सात हाथ ऊंचाई वाले श्रीभद्रबाहु की मूर्ति भला यह कैसे हो सकती है?

डॉ० सा० ने मूर्ति पर के उक्त लेख-विषयक एक हास्यजनक कल्पना की है। आप कहते हैं कि 'मूर्ति पर लेख पीछे से लिखा गया है—मूर्ति तो राजा प्रियदर्शिन् की बनाई हुई है!' किन्तु उनकी यह कल्पना सर्वथा असंगत है क्योंकि उनके पास इसके लिए कोई प्रमाण नहीं है।

(२)

डॉ० सा० ने एक दूसरी शोध (?) जो आजतक किसी विद्वान् ने नहीं की, यूं बताई है कि "पार्श्वनाथ चार महाव्रतों की प्ररूपणा करते थे। गौतम बुद्ध ने अपने प्रचार किये हुये बौद्ध धर्म में भी चार व्रतों का उपदेश दिया है; (जिन्हें उनके धर्म ग्रंथों में 'अण्हय कहा है')"

[प्रा० भा० पृ० १४ टि० ६२]

श्रवणबेल्गोलस्थ श्री बाहुबली स्वामी की मूर्ति

... बाहुबली स्वामी की मूर्ति ...
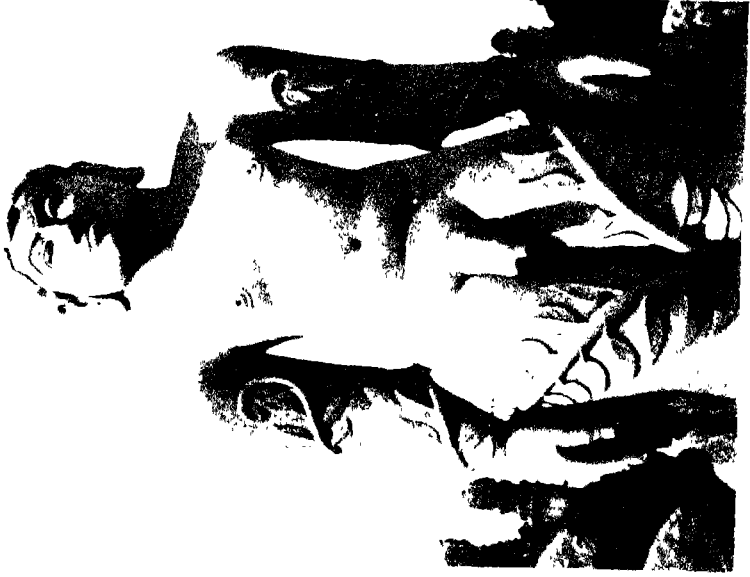
इस लेख में डॉ० सा० महाव्रतों और 'अरहय' को एक मानते मिलते हैं। और उनकी यह समझ ऐसी विलक्षण है जैसे कोई अंधकार को प्रकाश और प्रकाश को अन्धकार बतादे! असल में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, और अपरिग्रह—ये चार महाव्रत हैं। इनका दूसरा नाम संवर है और संवर पाप को रोकने की प्रवृत्ति है। यह चार महाव्रत पाप को रोकते हैं इसलिये संवररूप भी हैं। इसके विपरीत हिंसा, असत्य, चौर्य और परिग्रह—यह चार पापवृत्तियां हैं; जिनको जैन और बौद्ध दर्शन में आस्रव और आस्त्रव नाम से उल्लिखित किया है। आस्रव या आस्त्रव अर्थात् जिस तरह कुंड़ो में से पानी चूता है उसी प्रकार वह हिंसादि प्रवृत्ति है। 'आस्त्रव' शब्द में मूल धातु 'स्रु' है और 'आस्रव' में मूल धातु 'स्नु' है—दोनों धातुओं का अर्थ 'झरना' 'टपकना'—'चूना' होता है। 'आस्रव' का प्राकृतरूप 'आसव' होता है और 'आस्त्रव' का प्राकृतरूप 'अएहव या अएहय' होता है अर्थात् अएहय शब्द आस्रव का पर्यायवाची है। और वह हिंसा, असत्य, चौर्य, परिग्रह वगैरह पापवृत्तियों का सूचक है। इसके विपरीत डॉ० सा० इस पापप्रवृत्ति के सूचक 'अएहय' शब्द को चार महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह का सूचक कह कर एक नई शोध करते हैं!

जैनों के अंगसूत्र 'प्रश्नव्याकरण सूत्र' में भी यह 'अएहय' शब्द आस्रव अर्थ में व्यवहृत हुआ है। 'पाइय सद्दमहण्णव' कोप के संकलक पं० हरगोविन्ददास ने भी 'अएहय' शब्द का अर्थ आस्त्रव बताया है :—

अएहग }
अएहय } [आश्रव] कर्मबंध के कारण हिंसादि।

परन्तु डॉ० सा० की गप्पों का क्या ठिकाना?

(३)

एक स्थान पर डॉ० सा० ने लिखा है कि "अब तक जैन प्रजा में यह मान्यता प्रचलित है कि श्रीमहावीर का निर्वाण-स्थान बंगाल प्रान्त की पावापुरी है; परन्तु इसकी पुष्टि में कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है।" (प्रा० भा० पृ० ३७१) इस लेखांश पर एक टिप्पणी-द्वारा आप यह भी प्रकट करते हैं कि "इस तीर्थ के लिये श्वेताम्बर व दिगम्बर दोनों ने, कि वह मंदिर उनकी मालिकी का है, मुकद्दमेबाजी में लाखों रुपये फूंक डाले हैं: परन्तु वस्तुतः वह स्थान मोक्षकल्याणक की भूमि नहीं है!" (प्रा० भा० पृ० ३७१ टिप्पण ५४) डॉ० सा० की यह शोध कमाल की है और जैनागम की वाणी को भी अन्यथा करने वाली है। जैनों के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कल्पसूत्र' में लिखा है कि "एगं पावाए मज्झिमाए हत्थिवालस्स रन्नो रज्जुगसभाए अपच्छिमं अन्तरावासं वासावासं उवागए ॥१२२॥"—अर्थात् भगवान् महावीर ने अपना अन्तिम चौमासा मध्यम पावा में राजा हत्थिवाल की रज्जुकसभा में किया था।"*

*दिगम्बर जैन ग्रंथों से भी विहारस्थ पावापुरी ही भ० महावीर का निर्वाणस्थान सिद्ध है; किन्तु दिगम्बर मान्यतानुसार केवली भगवान् का चतुर्मास करना बाधित है। — का० प्र०

यह पावा अथवा पावापुरी वर्तमान में विहार के निकट अवस्थित है और भ० महावीर का निर्वाण स्थान भी यही है। इस बात का प्रमाण कल्पसूत्र के उपर्युक्त प्राचीन सूत्र के अतिरिक्त आचार्य गुणचन्द्रकृत 'महावीरचरित्र', आचार्य हेमचन्द्रकृत 'महावीरचरित्र' तथा श्री जिनप्रभसूरिकृत 'अपापावृहत्कल्प' इत्यादि के तद्विषयक उल्लेख हैं। प्राचीन तीर्थमालाओं से भी यह बात प्रमाणित है। इस पर भी डॉ० सा० कहते हैं कि पावा को मोक्ष स्थान प्रकट करने वाले कोई प्रमाण नहीं हैं, और वह बताते हैं कि 'वास्तव में मोक्षस्थान विदिशानगरी की पूर्व दिशा में था। यही कारण है कि कवि समयसुन्दरकृत गाथा में आई—'पूर्व विदिशा पावापुरी ऋद्ध भरी रे—यह कड़ी ठीक है। पावापुरी के बदले शायद पर्वतपुरी शब्द था, क्योंकि इस स्थान के चारों ओर पर्वतमाला है। लेखक ने पर्वतपुरी शब्द लिखा हो, परन्तु नकल करने में 'पर्वत' के स्थान पर 'पावा' पढ़कर पावापुरी लिखा गया!"

(प्रा० भा० पृ० १९६ टि० १२४)

डॉ० सा० ने यहाँ कल्पना के भी पैर तोड़ दिये हैं, परन्तु उन्हें अपनी स्वच्छन्दबुद्धि पर काबू रखना चाहिये। मुझे भय है कि इन इतिहास लेखक को कोई धतूरे का मित्र न कहे! देखिये 'तीर्थकल्प' में पावापुरी कल्प वर्णन में लिखा है कि :—

"मज्झिमपावाए पुव्विं अपावापुरित्ति नामं आसि। सक्केणं पावापुरि त्ति नाम कयं जेण इत्थ महावीर सामी कालगओ। इत्थेव य पुरीए वइसाह सुद्ध इक्कारसी दिवसे जंभिअगामाओ रत्ति बारसजोअणाणि आगंतूण पुव्वण्हदेसकाले महासेणवने भगवया गोअमाई गणहरा खंतिअगण परिवुडा दिक्खिआ पमुइआ।"

—विविध तीर्थ कल्प पृ० ४४

अर्थात—"जिस मध्यम पावानगरी में भ० महावीर कालधर्म को प्राप्त हुए उसका असली नाम अपावापुरी था, परन्तु भगवान् के वहां कालधर्म प्राप्त करने से शक्र ने उसे पावापुरी कहा। वैशाख सुदी एकादशी के दिन जंभिरा ग्राम से बारह योजन एक रात में चल कर भगवान यहां आये थ और यहां आकर उन्होंने गौतमादि को प्रतिबुद्ध कर दीक्षित किया था।"

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि जंभिरा ग्राम से पावापुरी बारह योजन की दूरी पर थी। यह जंभिरा ग्राम ऋजुवालुका नदी के पास था, जो आज की अजया नदी है और जंभिरा आज का जमग्राम है। यह दोनों स्थान आज भी पूर्व दिशा में विद्यमान हैं। और भ० महावीर का निर्वाण इस जंभिरागांव के पास स्थित पावापुरी से हुआ निर्वाध सिद्ध है।

कवि समयसुन्दर जी के जिस पद का उल्लेख डॉ० सा० ने इस प्रकार किया है "पूर्व

विदिशा पावापुरी ऋद्धें भरीरे।" उसका वास्तविक रूप निम्नप्रकार है :—

"पूरव दिशि पावापुरी रिद्धं भरी रे।
मुगती गया महावीर तीरथ ते नमुं रे॥"
—तीर्थमालास्तवन ६ठी कड़ी

इसका सीधा सा अर्थ यह है कि "पूर्व दिशा में ऋद्धिवाली पावापुरी नगरी है और वहां भ० महावीर ने निर्वाण पाया है—इसलिए उस तीर्थ को नमस्कार है।" इस स्पष्ट अर्थ को तिलांजलि देकर डॉ० सा० 'पूरव दिशि' वाक्य में 'पूरव' को 'पूर्व' बनाकर एक नई 'वि' उपस्थित कर उसे 'दिशि' शब्द में जोड़कर 'विदिशि' शब्द का प्रादुर्भाव कर के पावापुरी को विदशा (भेलसा) के पास अवस्थित घोषित करते हैं। उनका मत है कि भेलसा अथवा सांची में भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ था। कैसी गजब की कल्पना है! धन्य है यह अद्भुत शोधन-शक्ति।

यह ग्रंथ इतिहास का एक कल्पना ग्रन्थ है, जिसकी स्पष्ट आलोचना होना वाञ्छनीय ही है।

परमात्मा सब को सम्मति प्रदान करें और सत्य की ओर पहुंचाय!

जैन-प्राकृत-वाङ्मय

(लेखक—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री)

यह भाषा सुप्राचीन काल में यहाँ के आर्यों की बोल-चाल की भाषा थी। इसी भाषा में भगवान् महावीर एवं गौतम बुद्ध ने अपने पुनीत सिद्धांतों का उपदेश और प्रचार किया था। इसी भाषा को जैन और बौद्ध विद्वानों ने अपना कर विविध विषयक विपुल साहित्य का जन्म दिया। इसी भाषा के मौलिक साहित्य की भित्ति पर संस्कृत भाषा में अनेक उत्तमोत्तम ग्रंथों का निर्माण हुआ। विद्वानों की राय है कि संस्कृत के नाटक-साहित्य में संस्कृत-भिन्न जिस भाषा का प्रयोग हमें दृष्टिगोचर होता है, जिस भाषा से हमारे भारतवर्ष की वर्तमान अन्यान्य आर्य-भाषाओं की उत्पत्ति हुई है और जो भाषायें भारतवर्ष के कई प्रदेशों मे भिन्न भिन्न रूप में बोली जाती हैं—इन सभी भाषाओं का सामान्य नाम 'प्राकृत' है। क्योंकि ये सभी भारतीय भाषायें एकमात्र प्राकृत के भिन्न-भिन्न रूपान्तर है, जो कि काल, देश आदि अन्यान्य कारणों से भिन्न भिन्न रूपों में परिवर्तित हुए हैं। जैसे—अर्द्ध मागधी प्राकृत, पालि प्राकृत, पैशाची प्राकृत, सौरसेनी प्राकृत, महाराष्ट्री प्राकृत और अपभ्रंश प्राकृत आदि।

भाषातत्त्व के मर्मज्ञों के कथनानुसार भारतवर्ष की अर्वाचीन भाषायें निम्नलिखित पाँच भागों में विभक्त की जाती है :—

(१) आर्य (२) द्राविड (३) मुण्डा (४) मन्‌ख्मेर (५) तिब्बत-चीना।

भारतीय आधुनिक भाषाओं में मराठी, बंगला, उडिया, बिहारी, हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, पञ्जाबी, सिन्धी और काश्मीरी की उत्पत्ति आर्य भाषा से मानी गयी है। साथ ही साथ भाषा-शास्त्रियों का यह भी मत है कि फारसी, अंग्रेजी तथा जर्मनी आदि आधुनिक अनेक वैदेशिक भाषाओं की मूलभित्ति भी भारतीय आर्य-भाषा ही है। बल्कि 'भास्कर' भाग ३, किरण ३ में पं० हीरालाल जी शास्त्री ने "वर्तमान हिन्दी" शीर्षक अपने लेख में पाठकों को इसका कुछ दिग्दर्शन कराया भी है। तमिलु, कन्नड, तेलुगु, मलयालि और तुलु ये भाषायें 'द्राविड' भाषा के अन्तर्गत हैं। इसी प्रकार कोल एवं सांथली भाषायें 'मुंडा' भाषा के अन्तर्भूत हैं। खासी भाषा 'मन्‌ख्मेर' और भोटानी तथा नाग भाषा "तिब्बत-चीना' भाषा के आश्रित हैं। इन उल्लिखित सभी भाषाओं की उत्पत्ति किसी आर्य भाषा से संबंध नहीं रखती। इसीलिये ये सभी अनार्य भाषा ठहरायी गयी हैं। ये भाषायें प्रायः

भारत के दक्षिण, उत्तर एवं पूर्व प्रदेश में बोली जाती हैं। ये सब बोल-चाल की भाषायें वर्तमान में जिस रूप में व्यवहृत हैं, पूर्वकाल में इसी रूप में प्रचलित नहीं थीं। क्योंकि यह निर्विवाद सिद्ध है कि कोई भी बोल-चाल की भाषा एक रूप में नहीं रह सकतीं। सांसारिक नियमानुसार अन्यान्य वस्तुओं की तरह भाषाओं की भी कायापलट होती रहती है। देश, काल और उच्चारण आदि के भेद से भाषाओं का रूपान्तर होना अनिवार्य है। यद्यपि भाषाओं का यह परिवर्तन उन भाषाओं के बोलनेवाले व्यक्तिओं के द्वारा ही हुआ करता है, फिर भी उस समय उनका ध्यान उस ओर नहीं जाता। जब पूर्वकालीन भाषा के आदर्श के साथ वर्तमान कालीन भाषाओं की तुलना की जाती है तभी भाषाओं के रूपान्तर का पता लगता है।

विद्वानों की राय है कि साहित्य में स्थान पानेवाले वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत, पालि, अशोक लिपि और इसके बाद की लिपि की भाषा तथा प्राकृत-भाषा-समूह इनमें आदि की दो भाषायें कभी भी जन-साधारण की बोल-चाल की भाषा नहीं रहीं। केवल वे लेख्य अर्थात् साहित्यिक भाषा ही के घेरे में पड़ी रहीं। परन्तु जन-श्रुति के आधार पर क्रमशः मण्डन मिश्र की ग्रामनिवासिनी पनिहारिन, अविवाहिता बालिका, काष्ठभार-वाहक ब्राह्मण, नदी नांघते हुए विप्र एवं भोज की राजधानी में रहनेवाले जुलाहे से दिये गये निम्नलिखित संस्कृत पद्यबद्ध उत्तरों से अनुमान किया जा सकता है कि संस्कृत भी किसी प्रान्त में यत्र-तत्र बोल-चाल की भाषा रही होगी। यह मेरा अनुमान कात्यायन और पतंजलि के संस्कृत के स्थानिक तथा प्रान्तिक विभेदों के उल्लेख से भी निराधार नहीं कहा जा सकता। बल्कि कुछ विद्वानों की राय है कि ईसा से २ शताब्दी पूर्व आर्यावर्त में संस्कृत बोली जाती थी। पर इस संस्कृत का व्यवहार शिष्ट लोगों तथा उन से सम्बन्ध रखनेवाले लोगों में ही परिमित था:—

"स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा जानीहि तन्मण्डनमिश्रधाम॥"

"यस्य षष्ठी चतुर्थी च विहस्य च विहाय च।
अहं कथं द्वितीया च द्वितीया स्यामहं कथम्॥"

"कियन्मात्रं जलं विप्र जानुदघ्नं नराधिप।
ईदृशस्याप्यवस्थेयं न हि सर्वे भवादृशाः॥"

"स्कन्धो न बाधति विप्र········।
स्कन्धो न बाधते राजन् यथा बाधति बाधते॥"

"काव्यं करोमि नहि चारुतरं करोमि
यत्नात्करोमि यदि चारुतरं करोमि ।
भूपालमौलिमणिमण्डितपादपीठ
हे साहसाङ्क कवयामि वयामि यामि ॥"

शेष भाषायें कथ्य और लेख्य दोनों रूप में व्यवहृत थीं। हां, उल्लिखित ये सभी भाषायें आज-कल बोल-चाल की भाषा नहीं रहीं, इसी का परिणाम है कि आज इन्हें 'मृत-भाषा' कहने में किसी को हिचक नहीं होती। पूर्वोक्त वैदिक संस्कृत आदि सभी भाषायें आर्य भाषा के अन्तर्गत हैं और इन्हीं आर्य भाषाओं में से रूपान्तरित हो कर आधुनिक समस्त भाषायें उत्पन्न हुई हैं। अस्तु, ये प्राचीन आर्य-भाषायें किस-किस युग में, किस-किस रूप में रूपान्तरित हो क्रमशः आधुनिक बोल-चाल की भाषाओं में परिणत हुई—इस बात का संक्षिप्त इतिहास यों है।

सर जार्ज ग्रियर्सन के मत में वैदिक भाषा पूर्वोक्त साहित्य-भाषाओं में सर्व प्राचीन है ❋। अनेक विद्वानों की राय में इस का समय ई० पूर्व दो हजार वर्ष है। परन्तु प्रोफेसर मैक्समूलर इसे ई० पूर्व १२ सौ वर्ष की पुरानी मानते हैं। यही वेद-भाषा क्रमशः परिमार्जित होती हुई ब्राह्मण, उपनिषद् और निरुक्त की भाषा में, बल्कि बाद में पाणिनि प्रभृति के व्याकरण-द्वारा नियन्त्रित हो कर लौकिक संस्कृत में अवतरित हुई। ऐतिहासिक पण्डितों का कहना है कि 'संस्कृत' शब्द के प्रयोग से ही यह बात सिद्ध हो जाती है कि यह भाषा संस्कार को प्राप्त हो कर इस नाम से प्रसिद्ध हुई। यह हुई ऐतिहासिक विवेचना। किन्तु पाणिनि ने 'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' इस सूत्र से 'संस्कृत' शब्द को व्युत्पन्न कर इसे समलंकृत भाषा होने का दावा उपस्थित किया है न कि संस्कार-प्राप्त। उपर्युक्त ऐतिहासिक आलोचना से यह तो पाठकों को भलीभांति मालूम हो गया होगा कि वैदिक संस्कृत ही लौकिक संस्कृत का जन्मदाता है। पर आश्चर्य की बात है कि पाणिनि के बाद आज तक लौकिक संस्कृत के रूप में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। अनुमानतः वेद-भाषा को लौकिक संस्कृत रूप में परिमार्जित होने में डेढ हजार वर्ष का कालक्रम माना जाता है।

अस्तु, उपर्युक्त वेद-भाषा प्राचीन होने पर भी वैदिक युग में वह जन-साधारण की बोल-चाल की भाषा न हो कर केवल ऋषियों की साहित्यिक भाषा थी। उस जमाने में जनसाधारण में वैदिक भाषा के समान ही अनेक प्रादेशिक भाषायें बोली जाती थीं। क्योंकि आजकल भी देखा जाता है कि भोजपुरी, मगही आदि अनेक प्रादेशिक भाषाओं का लेख्य अर्थात्

❋ देखें— Linguistic Survey of India".

साहित्यिक भाषा होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ ही नहीं। बहुतों को तो यही राय है कि उस युग की प्रादेशिक भाषाओं में से ही परिमार्जित हुई किसी एक को वैदिक साहित्य में स्थान मिला। पर वैदिक युग से पूर्व आये हुए प्रथम दल के आर्यों ने वैदिक युग अथवा उसके पूर्व के दूसरे दलवाले आर्यों की वेद-रचना की तरह अपनी-अपनी प्रादेशिक कथ्य भाषाओं में किसी साहित्य का निर्माण नहीं किया। अतः इन प्रादेशिक आर्य-भाषाओं का तात्कालिक साहित्य में कोई उदाहरण नहीं मिलता। इसीका नतीजा है कि उनका प्राचीन रूप सर्वथा लुप्त हो गया है। सर ग्रियर्सन ने वैदिक काल एवं उस के पूर्व की उन सभी बोल-चाल की भाषाओं को प्राथमिक प्राकृत माना है। प्राकृत भाषा-समूह की यही पहली श्रेणी है। इसका समय ई० पूर्व २००० से ई० पू० ६०० तक निर्दिष्ट है। प्रथम श्रेणी की ये समस्त प्राकृत भाषायें स्वर एवं व्यञ्जनादि के उच्चारण में तथा विभक्तियों के प्रयोग में वैदिक भाषा के ही समान थीं। इसी से ये भाषायें विभक्ति-बहुल कहलाती हैं।

वैदिक युग में जो प्रादेशिक प्राकृत भाषायें बोल-चाल के रूप में प्रचलित थीं उनमें परवर्ति-काल में अनेक परिवर्तन हुए। जैसे (१) ऋ,ॠ आदि स्वरों का लोप होना (२) शब्दों के अन्तिम एवं संयुक्त व्यञ्जनों का रूपान्तर होना (३) विभक्ति और वचन-समूह का लुप्त होना आदि। जब इन परिवर्तनों से उक्त कथ्य भाषायें अधिक मात्रा में रूपान्तरित हुईं तब द्वितीय श्रेणी की प्राकृत भाषाओं का जन्म हुआ। इस श्रेणी की ये प्राकृत भाषायें भगवान् महावीर और गौतम बुद्ध के समय से अर्थात् ई० पू० छठी शताब्दी से ले कर ई० सन् ९ मी अथवा १० मी शताब्दी तक प्रचलित रहीं। श्रीमहावीर एवं बुद्ध के समय में उपर्युक्त सभी प्रादेशिक प्राकृत भाषायें द्वितीय श्रेणी के आकार में भिन्न-भिन्न प्रदेशों में कथ्य भाषा के तौर पर व्यवहृत होती थीं। उन्होंने अपने सिद्धान्त तथा उपदेश का प्रचार इन्हीं कथ्य प्राकृत भाषाओं में से एक में किया था। बल्कि बुद्ध ने अपने शिष्यों को यही आदेश दिया था कि मेरा उपदेश संस्कृत-बद्ध न कर इस प्रचलित प्राकृत भाषा में ही करना। इसका मुख्य कारण यही मालूम होता है कि साधारण से साधारण जनता भी उनके सिद्धान्तों से लाभ उठायें। वास्तव में यह मार्ग है भी अधिक लाभकारी। इसका रहस्य जैनी भी खूब जानते थे। इसीका परिणाम है कि वे भारत के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में जैसे-जैसे फैलते गये वैसे-वैसे वहां की प्रांतीय भाषाओं में नये-नये साहित्योंका निर्माण करते गये। आर्य-भाषाओं को कौन कहे! तमिलु, कन्नड जैसी द्राविड साहित्यों के भी जन्म-दाता ये ही कहे जा सकते हैं। इन भाषाओं में प्राचीन से प्राचीन व्याकरण, अलङ्कार, छन्द, काव्य एवं नीति आदि साहित्य के मौलिक अङ्गोपाङ्ग की रचना इन्हीं की उपलब्ध होती है। इसी से इन प्रान्तों में जैन सिद्धान्त का प्रचार भी अधिक है। इन प्रान्तोंके जैनेतर

विद्वान् भी जैन सिद्धान्तों से अच्छे परिचित हैं। वास्तव में निष्पक्षपात विचार से काम लिया जाय तो भाषा-सेवा की दृष्टि में जैनियों को प्रथम स्थान मिलना समुचित है।

अस्तु इस तरह कथ्य प्राकृत भाषाओं का क्रमशः साहित्यिक भाषाओं में परिणत होनेका सूत्रपात यहीं से हुआ। इसका फलस्वरूप पश्चिम मगध और सूरसेन देश के मध्यवर्ती प्रदेश में प्रचलित कथ्य भाषा से जैनियों की अर्द्ध मागधी भाषा तथा पूर्व मगध में प्रचलित लोक-भाषा से बौद्ध-धर्म ग्रन्थों की पालि भाषा उत्पन्न हुई। साथ ही साथ इसी द्वितीय श्रेणी की प्राकृत भाषा से प्रायः पांचवीं शताब्दी के पूर्व भिन्न-भिन्न प्रदेशों की अपभ्रंश भाषाओं का भी जन्म हुआ। द्वितीय श्रेणी की भाषा में चतुर्थी विभक्ति का, सब विभक्तियों के द्विवचनों और आख्यात की अधिकाँश विभक्तियों का लोप होने पर भी विभक्तियों का प्रयोग अधिक मात्रा में वर्तमान था। इसी से प्रथम श्रेणी की प्राकृत भाषा के समान इस श्रेणी की प्राकृत भाषा भी विभक्ति-बहुल कहलाती है।

सर ग्रियर्सन का सिद्धान्त है कि आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं की उत्पत्ति द्वितीय श्रेणी की प्राकृत भाषा से—खास कर उस के शेष भाग में प्रचलित अन्यान्य अपभ्रंश भाषाओं से हुई है और ये ही आधुनिक भाषायें तृतीय श्रेणी की प्राकृत भाषा हैं। इन भाषाओं की उत्त्पत्ति का समय ई० सन् १० वीं शताब्दी माना गया है। इनमें अधिकाँश विभक्तियों का लोप हुआ है और भाषाओं की प्रकृति विभक्ति-बहुल न हो कर विभक्तियों के बोधक स्वतन्त्र शब्दों का व्यवहार हुआ है। इसी से ये विश्लेषणशील भाषायें कही जाती हैं।

साधारणतया लोगों की यही धारणा है कि संस्कृत भाषा से ही द्वितीय श्रेणी की सभी प्राकृत भाषायें एवं आधुनिक भारतीय आर्यभाषायें उत्पन्न हुई हैं। बल्कि कई प्राकृत वैयाकरणों ने भी इस मत को पुष्ट किया है, पर वास्तव में ऐसा नहीं है। क्योंकि आठवीं शताब्दी के विद्वान् वाक्पतिराज ने 'गउडवहो' नामक महाकाव्य में एवं नवमी शताब्दी के विद्वान् कविवर राजशेखर ने अपनी 'बालरामायण' में प्राकृत भाषा ही सर्व भाषाओं की जननी है इस सिद्धान्त को डंके की चोट से प्रमाणित कर दिया है।* बल्कि प्राचीन अन्यान्य जैन अंग ग्रन्थों से भी प्राकृत भाषा की सर्व प्राचीनता सिद्ध हो जाती है। प्राकृत वैयाकरणों के सिद्धान्त से प्राकृत भाषा के शब्द तीन प्रकार के माने गये हैं—(१) तत्सम (२) तद्भव (३) देशज। जो शब्द संस्कृत एवं प्राकृत में एक रूप हैं वे तत्सम या संस्कृतसम कहलाते हैं। जैसे—आगम, उत्तम, एरण्ड, किंकर, छल, तिमिर, दल, धवल आदि। जो शब्द संस्कृत से वर्णलोप, वर्णागम या वर्ण-परिवर्तन के द्वारा उत्पन्न हुए हैं, उन्हें तद्भव अथवा संस्कृत-भव

* देखें—'भास्कर' भाग ३, किरण ३, पृष्ठ ११४।

कहते हैं। जैसे—आर्य=आरिअ, इष्ट=इट्ठ, उद्गम = उग्गम, गज=गअ, धर्म=धम्म, ध्यान = ज्झाण, नाथ=णाह, मेघ=मेह आदि। जिन शब्दों का संस्कृत के साथ कोई सादृश्य या सम्पर्क नहीं है उन को देशज कहते हैं। जैसे—जक्ष (पुरुष) डाल (शाखा) तोमरी (लता) दाणि (शुल्क) भुण्ड (शूकर) लंच (कुक्कट) रत्ति (आज्ञा) भयण (गृह) आदि। अपने 'साहित्य-दर्पण' के 'अलङ्कार-प्रकरण' में विश्वनाथ कवि ने 'भाषासम' अलङ्कार का यह "मंजुलमणिमञ्जीरे कलगम्भीरे विहारसरसीतीरे। विरसासि केलिकीरे किमालि धीरे च गन्धसारसमीरे॥" जो उदाहरण दिया है वह तत्सम के लिये एक सुन्दर निदर्शन है। प्राकृत वैयाकरणों का अभिप्राय है कि उपर्युक्त तत्सम शब्द संस्कृत से ही सर्व-देशीय प्राकृतों में आ मिले हैं। दूसरे प्रकार के तद्भव शब्द संस्कृत से उत्पन्न होने पर भी क्रमशः भिन्न भिन्न देश में भिन्न-भिन्न रूप को प्राप्त हुए हैं। अब रहा तीसरा देशज शब्द। ये वैदिक या लौकिक संस्कृत से उत्पन्न न हो कर भिन्न-भिन्न देशों में प्रचलित देशी भाषाओं से लिये गये हैं।

द्वितीय श्रेणी की जिन प्राकृत भाषाओं ने साहित्य एवं शिलालेखों में स्थान पाया है, उन प्राकृत भाषाओं के प्रधान भेद निम्नलिखित तीन मुख्य काल-विभागों में बाँटे जा सकते हैं:—

(१) प्रथम युग—ई० पूर्व ४०० से ई० सन् १०० तक, (२) मध्ययुग—ई० सन् १०० से ५०० तक, (३) शेष युग ई० सन ५०० से १००० तक। श्वेताम्बर जैन अङ्ग-ग्रन्थों की अर्द्धमागधी एवं इन से भिन्न प्राचीन सूत्र तथा 'पउम चरिअ' आदि ग्रन्थों की जैन महाराष्ट्री भाषा प्रथम युग में, दिगम्बर जैनग्रन्थों की सौरसेनी और परवर्त्ती काल के श्वेताम्बर ग्रन्थों की जैनमहाराष्ट्री भाषा मध्य-युग में, भिन्न-भिन्न प्रदेशों की परवर्ति-काल की अपभ्रंश भाषायें शेष युग में ली गयी हैं। प्राकृत के निम्नलिखित दस भेद माने गये हैं—

(१) पालि (२) पैशाची (३) चूलिका-पैशाची (४) अर्द्धमागधी (५) जैन महा-राष्ट्री (६) अशोकलिपि (७) सौरसेनी (८) मागधी (९) महाराष्ट्री (१०) अपभ्रंश। परन्तु इन में से प्रत्येक का परिचय देने से लेख का कलेवर बढ़ जायगा, इसलिये यहाँ पर केवल जैनवाङ्मय से संबन्ध रखनेवाली अर्द्धमागधी, जैन महाराष्ट्री, जैन सौरसेनी एवं अप-भ्रंश भाषाओं का ही संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

(१) अर्द्धमागधी—दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों का सिद्धान्त है कि भगवान् महावीर अपना धर्मोपदेश अर्द्धमागधी भाषा में ही देते रहे और उनका यह उपदेश दीर्घकाल तक शिष्य-परम्परा से कंठ-पाठ-द्वारा ही संरक्षित रहा। भगवान् महावीर के निर्वाण से लग-भग

दो सौ वर्ष के बाद सम्राट् चन्द्रगुप्त के शासन-काल में मगध देश में बारह वर्षों का भीषण दुर्भिक्ष पड़ा था। उस समय भद्रबाहु स्वामी के नेतृत्व में एक महान् जैन-मुनि-संघ को अपने चारित्र की रक्षा के लिये ही बहुदूरवर्ती दक्षिण देश में जाना पड़ा। क्योंकि इस दुर्वह मुनि-चारित्र-रक्षा के लिये यह दक्षिण देश बहुत उपयुक्त रहा है। इधर का अवशिष्ट मुनि-संघ उस भीषण दुर्भिक्ष-काल में सूत्र ग्रन्थों का परिशीलन भलीभांति न कर सकने के कारण उन सूत्रों को भूल सा गया था। इसके फलस्वरूप उक्त दुर्भिक्ष के बाद पाटलीपुत्र (पटना) में मगध-प्रदेशस्थ इस अवशिष्ट मुनिसंघ ने एकत्रित हो कर जिस जिस साधु को जिस जिस अंग ग्रन्थ का जो जो अंश जिस जिस रूप में याद रह गया था उस उस साधु से उस उस अंग ग्रन्थ के उस उस अंश को उस उस रूप में प्राप्त कर ग्यारह अङ्गों का संकलन किया।* पर श्वेताम्बर ग्रन्थों के कथनानुसार ही ये अङ्ग-ग्रन्थ महावीर-निर्वाण के बाद ९८० ई० सन ४५४ में वल्लभी (वर्तमान बला-काठियावाड़) में श्रीदेवर्द्धि गणि क्षमा-श्रमण के द्वारा वर्तमान आकार में लिपिबद्ध हुये थे। एक बात यह है कि उपर्युक्त पाटलीपुत्र के संघ ने जिन ग्यारह अंगों का सङ्कलन किया था उन अङ्गों को अपूर्ण एवं विकृत मान कर दक्षिण-प्रवासी मुनि-संघ ने स्वीकार नहीं किया। पर साथ ही साथ उस संघ ने स्वयं भी उन पूर्व अंगग्रन्थों का सङ्कलन करने की चेष्टा भी नहीं की। इसका परिणाम यह हुआ कि उस संघ को इन अङ्ग ग्रंथों से सदा के लिये हाथ धो बैठना पड़ा। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि उत्तर का मुनिसंघ जब अंगगत 'अचेलक' आदि शब्दों का अर्थ दुर्भिक्ष के उपरान्त 'ईषच्चेलक' (थोड़ा कपड़ा) आदि करने लगा तब अपने मूल सिद्धान्त में धक्का पहुंचता देख कर दक्षिण का मुनिसङ्घ सङ्कलित उन ग्रंथों को स्वीकार करने को सहमत नहीं हुआ। अगर वास्तव में यह बात सच्ची है तो मानना पड़ेगा कि उस दक्षिण के मुनि संघ ने भारी भूल की। बल्कि बचे-खुचे अपने उन अङ्ग-ग्रंथों को सर्वथा परित्याग न कर अपने मूल सिद्धान्त के अनुकूल ही वह उस की व्याख्या करता। आप हिन्दुओं के सर्वप्राचीन एवं पवित्र ग्रंथ 'वेद' को ही लीजिये। सुप्राचीन काल से आज तक इस की अनेक टीकायें लिखी गयीं। साथ ही साथ इन टीकाओं में मतभेद की भी कमी नहीं है; फिर भी मौलिक अर्थ को माननेवाली हिन्दू जाति ने मतभेद से घबड़ा कर 'वेद' का परित्याग नहीं किया। अस्तु यहां पर प्रायः यह स्पष्ट करने की जरूरत नहीं है कि दक्षिण का वही संघ पीछे दिगम्बर के नाम से और उत्तर का संघ श्वेताम्बर के नाम से प्रसिद्ध हुए।

प्रोफेसर जैकोबी आदि विद्वानों के मत से श्वेतांबर सूत्र-ग्रंथों में महाराष्ट्री प्राकृत का गहरा प्रभाव पड़ा है। अर्द्धमागधी और आर्ष प्राकृत वास्तव में एक ही चीज है। जैकोबी

* देखें—स्थविरावली-चरित, सर्ग ९।

प्रभृति कुछ पण्डितों ने इन्हें जो भिन्न भिन्न मान लिया है, यह उनका भ्रममात्र है। साथ ही साथ यह भी जान लेना आवश्यक है कि अर्द्धमागधी महाराष्ट्री प्राकृत से पृथक् एवं प्राचीन है। प्रो० जैकोबी ने प्राचीन जैन-सूत्रों की भाषा को प्राचीन महाराष्ट्री कह कर जो इसका जैन महाराष्ट्री नाम दिया है—इनके इस सिद्धांत का डाक्टर पिश्चेल (Pischel) ने अपने प्रख्यात प्राकृत व्याकरण में सयुक्तिक खण्डन किया है। नाटकीय अर्द्धमागधी और जैनसूत्रों की अर्द्धमागधी एक नहीं है। मार्कण्डेय आदि प्राकृत वैयाकरणों ने अर्द्ध-मागधी का जो लक्षण दिया है वह नाटकीय अर्द्धमागधी का, न कि जैनसूत्रों की अर्द्धमागधी का। अर्द्धमागधी का मूल उत्पत्तिस्थान ऊपर पश्चिम मगध और सूरसेन देश का मध्यवर्त्ती प्रदेश बतलाया जा चुका है। परन्तु जैन अर्द्धमागधी में मागधी एवं सौरसेनी भाषा के विशेष लक्षण नहीं पाये जाते हैं। प्रो० जैकोबी आदि विद्वानों के कथनानुसार महाराष्ट्री के साथ ही इसका अधिक सादृश्य दृष्टिगोचर होता है। इसी से कोई कोई इसके उत्पत्ति-स्थान के सम्बन्ध में शंका उपस्थित करते हैं। प्रो० जैकोबी जैनसूत्रों की भाषा और मथुरा के शिलालेखों (ई० सन् ८३ से १७६) की भाषा से यह अनुमान करते हैं कि जैन अङ्गग्रन्थों की अर्द्धमागधी का काल चतुर्थ शताब्दी का शेष भाग अथवा तृतीय शताब्दी का प्रथम भाग है।

(२) जैन महाराष्ट्री—जैन सूत्र-ग्रंथों के अतिरिक्त श्वेतांबर जैन विद्वानों के द्वारा प्रणीत अन्य ग्रन्थों की प्राकृत भाषा को जैन महाराष्ट्री नाम दिया गया है। इस भाषा में महापुरुषों की जीवनी (चरित्र), दर्शन, ज्योतिष, भूगोल, काव्य एवं स्तोत्र आदि विषयों का विशाल साहित्य भरा पड़ा है। प्राचीन प्राकृत वैयाकरणों ने जैन महाराष्ट्री के नाम से किसी भिन्न भाषा का निर्देश नहीं किया है। किंतु आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों ने काव्य नाटकादि ग्रंथों में महाराष्ट्री का जो रूप मिलता है, उस से श्वेतांबर ग्रंथों की भाषा में पर्याप्त पार्थक्य देख कर इसे जैन महाराष्ट्री नाम दिया है। इसमें प्राकृत व्याकरण में प्रतिपादित महाराष्ट्री का लक्षण विशेष रूप से समन्वित होते हुए भी जैन अर्द्धमागधी का बहुत कुछ प्रभाव देखा जाता है। पयन्ना ग्रंथ, निर्युक्तियाँ, पउम चरित्र, उपदेशमाला, कई भाष्यग्रन्थ, निशीथचूर्णि, धर्म-संग्रहणी, प्रवचनसारोद्धार, उपदेश-रहस्य और भाषा-रहस्य आदि इसी जैन महाराष्ट्री के कुछ उदाहरणभूत हैं।

(३)जैन सौरसेनी—डॉ० पिश्चेल के मत से दि० जैनियों के प्रवचनसार, कार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि ग्रंथों की भाषा जैन सौरसेनी है। इस बात को कुछ जर्मन विद्वान् नहीं मानते। परंतु साथ ही साथ इस विषय में उन लोगों ने जो कुछ अनुसंधान किया है उसका परिणाम आजतक कुछ भी नहीं निकला। अब तो इसका फलितांश भविष्य के गर्भ में ही समझना चाहिये। अतः जब तक इस डा० पिश्चेल के मत के विरुद्ध कोई पुष्ट

प्रमाण नहीं मिलते हैं, तबतक इन्हीं के मत को मानना समुचित होगा। यह जैन सौरसेनी अर्द्धमागधी और प्राकृत व्याकरणों में निर्दिष्ट सौरसेनी के मिश्रण से बनी हुई है। जैन सौरसेनी जैन महाराष्ट्री की अपेक्षा अर्द्धमागधी से अत्यधिक निकटता रखती है। दोनों की प्रकृति (मूल) एक होना ही इसका प्रधान कारण है। कोल्हापुर के राजाराम कौलेज के अर्द्धमागधी के प्रोफेसर मित्रवर ए० एन० उपाध्ये ने 'रायचन्द्र जैनशास्त्र माला' बंबई-द्वारा प्रकाशित 'प्रवचनसार' की गवेषणापूर्ण अपनी भूमिका में सहेतुक प्रकट किया है कि प्रवचनसार—जैसे पुरातन और सौरसेनी भाषा के ग्रन्थ जो कि देशी शब्दों से रहित है उन प्रचलित श्वेतांबरीय आगम-ग्रन्थों से प्राचीन है। क्योंकि आगम-ग्रन्थों में तो देशी शब्दों का विपुल मिश्रण पाया जाता है। उपाध्ये जी ने अपनी भूमिका में प्राकृत भाषा की आलोचना के साथ साथ एक भाषा पर दूसरी भाषा के प्रभाव आदि विषय को बड़ी ही पाण्डित्यपूर्ण युक्तियों से व्यक्त किया है। इन्होंने इसमें भाषा-विषयक बहुतेरी ऐतिहासिक बातों पर भी काफी विचार किया है। इस विषय के विशेष जिज्ञासु-गण उपाध्ये जी-द्वारा लिखी प्रवचनसार की भूमिका एक बार अवश्य पढ़ें।

श्वेतांबरों की तरह दिगंबरों पर दीर्घकाल तक महाराष्ट्री का प्रभाव नहीं पड़ा। इसका प्रधान कारण यह है कि दिगंबर सौरसेनी के कट्टर पक्षपाती थे और उसी सौरसेनी व्याकरण से ही वे सहायता लेते थे। दिगंबरों में पुष्पदंत, भूतबली, वट्टकेर, कुन्दकुन्द, शिवार्य्य आदि इस भाषा के आदिम ग्रंथ-रचयिता थे। इन उद्भट दिगंबराचार्यों के द्वारा प्रणीत अष्ट-पाहुड, रयणसार, षट्पाहुड, बारसअणुवेक्खा, नियमसार, पञ्चास्तिकायसार, प्रवचनसार, समयसार, भगवती-आराधना, मूलाचार, कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा आदि कृतियाँ इस भाषा के समुज्ज्वल रत्न हैं। कुछ जर्मन विद्वानों की राय है कि षट्पाहुड और कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा में अपभ्रंश शब्द अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। पर ए० एन० उपाध्ये जी का कहना है कि यह कथन षट्पाहुड के लिये ही लागू हो सकता है। पीछे दिगंबर जैनग्रन्थकर्त्ता जब संस्कृत का आश्रय लेने लगे तब सौरसेनी का संस्कृत पर अधिक प्रभाव पड़ने लगा। श्रीसमंतभद्र, पूज्यपाद, अनंतवीर्य एवं अकलङ्कादि आचार्यों ने संस्कृत में ही ग्रंथ-प्रणयन किया है। इसी से अर्द्धमागधी से संबंध विछिन्न सा होकर सौरसेनी पर संस्कृत का प्रभाव पड़ा। श्वेतांबरों पर संस्कृत का प्रभाव बहुत पीछे पड़ा। हाँ, उनके साहित्य में इसके विपरीत संस्कृत भाषा पर प्राकृत का ही प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

(४) अपभ्रंश—पतञ्जलि प्रभृति संस्कृत वैयाकरणों के मत में संस्कृत-भिन्न समस्त प्राकृत भाषायें अपभ्रंश के अन्तर्गत हैं, किंतु प्राकृत वैयाकरणों के मत में अपभ्रंश प्राकृत का ही एक अवांतरभेद है। इस भाषा में भी जैनियों का विपुल साहित्य [illegible]ा पड़ा है। भविष्यदत्त-कथा,

महापुराण, यशोधरचरित, नागकुमारचरित, कथाकोष, पार्श्वपुराण, सुदर्शनचरित, करकण्डु-चरित, दर्शनसार, योग-सार, श्रुतपञ्चमी-कथा, सावयधम्मदोहा, पाहुडदोहा एवं षट्कर्मोप-देशादि रचनायें इस अपभ्रंश भाषा के आदर्शभूत निदर्शन हैं। इन में से कई ग्रन्थ प्रकाशित हो भी चुके हैं। यह बात निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है कि इसी अपभ्रंश भाषा से हिन्दी का अवतरण हुआ है। इस दृष्टि से इस भाषा का स्थान बहुत ही उच्च है। क्योंकि इसी से प्रादुर्भूत यह हिंदी भाषा आज राष्ट्रभाषा होने जा रही है। इसके संबंध में मैं इस समय अपनी ओर से कुछ भी न लिख कर 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' भाग ८, अङ्क २ में प्रकाशित स्वर्गीय श्रीकाशीप्रसाद जायसवाल, विद्यामहोदधि, पटना के 'पुरानी हिंदी का जन्मकाल' शीर्षक लेख की निम्नलिखित कुछ पंक्तियों को उद्धृत किये देता हूं। इन्हीं पंक्तियों से विज्ञपाठक अपभ्रंश भाषा का महत्त्व परख लेंगे :—

"संतोष का फल मीठा होता है। वह मीठा फल जाबालिपुर से आया। इसे मैं अकेला न खाकर समस्त हिंदी-भाषियों को भेंट करता हूं। मैं परोसने मात्र का अधिकारी हूं। इसके चुननेवाले मेरे और हिंदी भाषियों के श्रद्धा-भाजन, 'नागरी प्रचारिणी सभा' के सभापति, लब्धकीर्त्ति, पण्डितप्रवर राय हीरालाल बहादुर हैं। उन्होंने जांगल्य मध्यप्रदेश के पवित्र जैनमंदिर-वृक्षों से यह सत्य फल संकलित किया है। पण्डितवर रायबहादुर ने मध्य-प्रदेश की सरकार के लिये एक तालिका संस्कृत और प्राकृत पोथियों की, जो उस प्रदेश में पायी गयी हैं (Catalogue of Sanskrit & Prakrit manuscripts in the Central Provinces, & Berar, Government Press, Nagpur, 1926) बनाई है। इस अनुसंधान-तालिका में ८१८५ हस्तलिखित पुस्तकों की चर्चा है जिनमें से नं० ६९२२ से ८१८५ तक प्राकृत ग्रंथों की इतिवृत्ति है। इनमें १४१५ संवत् तक की हाथ की लिखी किताबें हैं। इनमें बेरार जिला अकोला के कारंजा शुभस्थानस्थ श्रीसेनगणीय तथा बलात्कारगणीय और काष्ठासंघीय जैन भाण्डारों में सुरक्षित पुराने आचार्यों के ग्रंथ हैं, जो हिंदी भाषा का पूर्व इतिहास लगातार शताब्दियों की हिंदी-भाषा-जीवनी-स्वरूप, अपने अङ्क में छिपाये हुए थे। मातृभाषा के इस इतिहास को, फल की जगह, अब रत्न से तुलना करनी चाहिये, क्योंकि रत्न के समान यह चिरस्थायी और प्यारा, हिंदी भाषियों का उत्तराधिकार और बपौती धन भविष्य में बहुत दिनों तक बना रहेगा। यह स्वनामधन्य ख्यातनामा राय हीरालाल बहादुर के प्रयास और उनकी सूक्ष्मदर्शिता से हमलोगों को प्राप्त हुआ है। इस इतिहास से विदित होता है कि हिंदी भाषा प्राकृत से अलग हो विक्रमीय दसवीं शताब्दी के पूर्व ही प्रादुर्भूत हो चुकी थी। इस काव्यगत प्राचीन भाषा के लक्षण ये हैं। प्राकृत के छन्द छोड़ हिंदी के छंदों का प्रयोग, अन्त्यानुप्रास का, जो प्राकृतकाव्य में कभी नहीं बरता गया, उदय और

अवश्योपयोग; शब्दकलाप में देशी शब्दों का प्राकृत शब्दों के साथ बाहुल्य (देशी शब्द वे हैं जिनकी निस्सृति संस्कृत-प्राकृत से नहीं है); फिर सबके ऊपर यह कि व्याकरण प्राकृत का एकदम दूर होकर, हिंदी व्याकरण का शासन। इन बातों को देखते हुए, हमें इस भाषा को पुरानी हिंदी कहते हुए कोई संदेह या हिचकिचाहट नहीं होती।"

डा० होर्नेलि के मत में आर्यों की कथ्य भाषायें भारतवर्ष के आदिम निवासी अनार्य लोगों की अन्यान्य भाषाओं के प्रभाव से जिन विकारों को प्राप्त हुई थीं वे ही भिन्न भिन्न अपभ्रंश भाषायें हैं और ये महाराष्ट्री की अपेक्षा अधिक प्राचीन हैं। पर इस मत को डा० ग्रियर्सन आदि आधुनिक भाषा-शास्त्री स्वीकार नहीं करते। सर ग्रियर्सन के मत में भिन्न भिन्न प्राकृत भाषायें साहित्य एवं व्याकरण में नियन्त्रित होकर जनसाधारण में अप्रचलित होने के कारण जिन नूतन कथ्य भाषाओं की उत्पत्ति हुई थी वे ही अपभ्रंश हैं। चण्ड के प्राकृत व्याकरण तथा कालिदास के विक्रमोर्वशीय के निदर्शनों से यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है कि ई० सन् ५वीं शताब्दी के पहले से ही ये साहित्य में स्थान पाने लग गयी थीं। अतः इससे बहुत पूर्वकाल से भारत में कथ्य भाषाओं के रूप में अपभ्रंश भाषाओं का व्यवहृत होना स्वाभाविक है। ये अपभ्रंश भाषायें लगभग दसवीं शताब्दी तक साहित्यिक भाषा में रहीं। फिर पीछे इन्हीं से हिंदी, बंगला, गुजराती एवं मराठी आदि आधुनिक आर्य भाषायें उत्पन्न हुईं। प्राकृत वैयाकरणों के मत में अपभ्रंश के अनेक भेद माने गये हैं और वास्तव में यह है भी ठीक। इस भाषा के उत्पत्ति-स्थान भी भिन्न भिन्न माने गये हैं। ई० सन ५वीं शताब्दी के पूर्व से लेकर दसवीं शताब्दी तक भारत के भिन्न भिन्न प्रदेशों में बोल-चाल के रूप में प्रचलित जिस जिस अपभ्रंश भाषा से भिन्न भिन्न प्रदेशों की जो जो आधुनिक आर्यभाषायें उत्पन्न हुई हैं उनका विवरण निम्न प्रकार है :—

महाराष्ट्री अपभ्रंश से मराठी और कोंकणी भाषायें, मागधी अपभ्रंश की पूर्व शाखा से बंगला, उड़िया और आसामी भाषायें, अर्द्धमागधी अपभ्रंश से पूर्वीय हिंदी भाषायें, सौरसेनी अपभ्रंश से बुंदेली, कन्नौजी, ब्रजभाषा, बांगरू, हिंदी या उर्दू ये पश्चिम हिंदी भाषायें, नागर अपभ्रंश से राजस्थानी, मालवी, मेवाड़ी, जयपुरी, मारवाड़ी एवं गुजराती भाषायें, पालि से सिंहली और मालदीवन भाषायें, टाक्की अपभ्रंश से पश्चिमी एवं पूर्वी पंजाबी भाषायें, व्राचड अपभ्रंश से सिंधी भाषा और पैशाची अपभ्रंश से काश्मीरी भाषा उत्पन्न हुईं। ऊपर कहा जा चुका है कि जैन एवं बौद्धों ने संस्कृत भाषा का परित्याग कर उस समय की कथ्य भाषा में ही अपने पवित्र धर्मोपदेश को लिपिबद्ध करने की प्रथा प्रचलित की। इससे जैनसूत्रों की अर्द्धमागधी एवं बौद्ध धर्मग्रन्थों की पालि इन साहित्यिक भाषाओं का जन्म हुआ। किंतु ये दोनों साहित्यिक भाषायें अन्यान्य प्राकृत भाषाओं के साथ संस्कृत के प्रभाव को उल्लङ्घन नहीं

कर सकीं। इसका यही एक प्रबल प्रमाण है कि इन समस्त प्राकृत भाषाओं में संस्कृत के अनेक शब्द अविकल रूप में गृहीत हुए हैं, जो कि 'तत्सम' कहलाते हैं। यद्यपि पूर्व कथनानुसार ये तत्सम शब्द प्रथम श्रेणी की प्राकृत भाषा से ही लिये गये हैं। फिर भी यह स्वीकार करना ही होगा कि परवर्त्ति-काल की प्राकृत भाषाओं में संस्कृत भाषा से ही ये शब्द आ मिले हैं। बल्कि ललितविस्तर, सद्धर्मपुण्डरीक एवं चन्द्रप्रदीपसूत्र आदि बौद्ध ग्रंथों में तो संस्कृत शब्दों की भरमार है। इनमें अनेक प्राकृत शब्दों के आगे भी संस्कृत की विभक्ति लगाकर उन्हें भी संस्कृत बना डाला गया है। हाँ, यहाँ पर यह भी याद रखना होगा कि संस्कृत पर भी प्राकृत का प्रभाव कम नहीं पड़ा है। इसके लिये मैंने ऊपर कुछ श्वेतांबर ग्रंथों का नाम-निर्देश किया है। यह बात है भी ठीक; क्योंकि संस्कृत की जननी जब प्राकृत है—यह अपनी अंगपुष्टि के लिये अपनी माता की उपेक्षा कर किस भाषा के दरवाजे को खट-खटाती फिरे? प्रत्येक कथ्य भाषा सदैव परिवर्तनशील होती है। साहित्यिक और व्याकरण-नियम के बंधनों से तो जकड़ कर ये गति-हीन (पङ्गु, एवं कूटस्थ बन जाती हैं। इसका नतीजा यह होता है कि क्रमशः वह कथ्य भाषा से अलग होकर जनसाधारण में अप्रचलित होती हुई मृत-भाषा में परिणत हो जाती है। प्रत्येक साहित्यिक-भाषा किसी कथ्य भाषा से ही उत्पन्न होती है और जब वह मृत-भाषा में परिणत होती है तब उससे एक नयी साहित्यिक भाषा की सृष्टि होती। इसी अविचल नियमानुसार एक समय की कथ्य भाषा से ही वैदिक एवं संस्कृत भाषा का जन्म हुआ। जब वह सर्वसाधारण के लिये दुर्बोध हुई तब अर्द्धमागधी, पालि आदि ने साहित्य में स्थान पाया। ये समस्त प्राकृत भाषायें भी समय पाकर जब सर्वसाधारण के लिये दुर्बोध हुईं तब संस्कृत की तरह मृतभाषा में परिणत होकर भिन्न भिन्न प्रदेशों की अपभ्रंश भाषायें साहित्यिक भाषाओं के रूप में व्यवहृत होने लगीं। अपभ्रंश भाषायें भी जब सर्वसाधारण के लिये कष्ट-बोध्य होकर मृतभाषा के रूप में परिणत हुईं तब हिन्दी, बंगला, गुजराती और मराठी आदि आधुनिक आर्य कथ्य भाषायें साहित्यिक भाषाओं के रूप में प्रचलित हुईं। प्रत्येक भाषा का प्रधान लक्ष्य होता है अर्थ-प्रकाश। इसलिये जिसके द्वारा स्पष्ट एवं अल्प प्रयास से अर्थबोध होता है—वही भाषा उत्कृष्ट मानी जाती है और ये ही दो भाषा-परिवर्तन के मुख्य कारण हैं।

श्रीबाहुबली की मूर्ति गोम्मट क्यों कहलाती है ?

(लेखक—श्रीयुत गोविन्द पै)

प्रसिद्ध दिगंबर जैन सेनापति चामुण्डराय ने मैसूर के श्रवणबेलगोल नामक ग्राम के सन्निकट छोटी सी पहाड़ी पर एक विशाल आकृति और अत्यन्त मनोहर मूर्ति निर्माण कराई थी। यह बाहुबली जी की मूर्ति है और 'गोम्मट' कहलाती है। बाहुबली जी प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव जी के सुपुत्र थे। श्रवणबेलगोल की देखा-देखी वैसी ही दो और मूर्तियां कार्कल (ई० १४३२) और वेणूर (ई० १६०४) में स्थापित हुईं और वे भी 'गोम्मट' 'गोमट' गोमट्ट, 'गुम्मट', अथवा 'गोम्मटेश्वर' कहलाती हैं। इस लेख-द्वारा हमें देखना है कि ये मूर्तियां 'गोम्मट' क्यों कहलाती हैं ?

यह तो स्पष्ट है कि बाहुबली जी के अपर नाम गोम्मट आदि नहीं थे—वह भुजबली अथवा दोर्बली अवश्य कहलाते थे। परन्तु भाव उन सब नामों का एक है (बाहु=भुज=दोः=हाथ)। इसके साथ यह बात भी मोलूम आते ठीक है कि सब से पहले श्री चामुण्डराय-द्वारा निर्मित मूर्ति ही 'गोमट्ट' आदि नाम से विख्यात हुई थी। अतः श्रवणबेलगोल की मूर्ति इस नाम से क्यों परिचित हुई, यह जान लेना पर्याप्त है।

अन्यत्र यह सिद्ध किया जा चुका है कि श्रवणबेलगोल की मूर्ति सन् ९८१ ई० में संस्थापित हुई थी। श्रीचामुण्डराय के संरक्षण में रन्न कवि ने अपना कन्नड 'अजित पुराण' सन् ९९३ ई० में पूर्ण किया था और उसमें इस मूर्ति का उल्लेख 'कुक्कुटेश्वर' के नाम से किया गया है। यह उक्त मूर्ति का पौराणिक नाम है। 'अजितपुराण' में इस मूर्ति का गोम्मट नाम देखने को नहीं मिलता। अतः कहना होगा कि सन ९९३ तक यह मूर्ति इस नाम से परिचित नहीं हुई थी।

उधर प्रायः इस ओर और कर्णाटक के सब ही जैनों एवं अजैन विद्वानों का मत है कि इस मूर्ति के निर्मापक श्रीचामुण्डराय जी का ही दूसरा नाम 'गोम्मट' अथवा 'गोम्मटराय' था। क्योंकि 'गोम्मटसार' नामक ग्रंथ में उनका उल्लेख इसी नाम से हुआ है। अतः उनके द्वारा स्थापित मूर्ति 'गोम्मटेश्वर' कहलाना उपयुक्त है अर्थात् "गोम्मटस्य (चामुण्ड-रायस्य)+ईश्वरः"। किन्तु निम्नलिखित कारणों से यह मान्यता निस्सार प्रकट होती है।

पहली बात तो यह है कि न तो श्रवणबेलगोल के 'ब्रह्मदेवस्तंभ' में, जिसमें चामुण्डराय का चरित्र अङ्कित है, न उनके कन्नड 'त्रिषष्टि-लक्षण-महापुराण' अर्थात् 'चामुण्डराय पुराण' में

और न संस्कृत गद्य ग्रंथ 'चारित्रसार' में चामुण्डराय ने अपना अपर नाम अथवा विरुद-रूप में 'गोम्मट' या गोम्मटराय नाम प्रकट किया है। दूसरे खास चामुण्डराय के आश्रय में रहे हुए कवि रन्न के 'अजितपुराण' में उनका उल्लेख इस नाम से न कहीं हुआ है। इस दशा में यह मानना अनुचित नहीं है कि सन् ९९३ ई० तक चामुण्डराय का 'गोम्मट' अथवा 'गोम्मटेश्वर' ऐसा कोई नाम नहीं था।

पिरियापट्टण-निवासी कवि दोड्डय्य ने अपने संस्कृत ग्रन्थ 'भुजबलि-शतक' (सन् १५५०) में लिखा है कि श्रवणबेल्गोल की छोटी पहाड़ी चंद्रगिरि पर खड़े होकर चामुण्डराय ने बड़ी पहाड़ी 'इन्द्रगिरि' अथवा 'विंध्यगिरि' पर तीर मारा था; जिससे उस विन्ध्यगिरि पर पौदनपुर के गोम्मट प्रकट हो गये थे और उनकी पूजा के लिए चामुण्डराय ने कई ग्राम भेंट किये। यह सुन कर गंगराजा राचमल्ल ने चामुण्ड राय को 'राय' के पद से या बिरुद से विभूषित किया था। अब चूंकि 'भुजबलि-शतक' में भरत-द्वारा निर्मित बाहुबली जी की पौराणिक मूर्त्ति, 'पौदनपुर के गोम्मट' नाम से उल्लिखित है और चामुण्डराय का उल्लेख उसमें भी 'गोम्मट' नाम से नहीं है; अतः यह नहीं कहा जा सकता कि श्रवणबेल्गोल की मूर्त्ति का नाम उसके संस्थापक चामुण्डराय की अपेक्षा 'गोम्मटेश्वर' पड़ा था। बल्कि मालूम तो यह होता है कि स्वयं चामुण्डराय 'गोम्मट' नाम से इस मूर्त्ति की स्थापना कराने के कारण परिचित हुए थे। इस प्रकार यह बिल्कुल स्पष्ट है कि श्रवणबेल्गोल वाली श्रीबाहुबली जी की मूर्त्ति ही पहले 'गोम्मट' नाम से परिचित हुई थी और उसी से चामुण्डराय की प्रसिद्धि भी गोम्मट नाम से हो गई।

चामुण्डराय का खास नाम अथवा बिरुद 'राय' था और वह उन्हें राजा राचमल्ल-द्वारा प्राप्त था, यह बात निम्न प्रमाणों से स्पष्ट है :—

(१) कवि रन्न ने चामुण्डराय की अपेक्षा ही अपने पुत्र का नाम 'राय' रक्खा था। (अजितपुराण, १२।५१, ५३)

(२) चामुण्ड राय के आश्रित कन्नड कवि नागवर्म्म 'छन्दोऽम्बुधि' में कहते हैं कि "उनके संरक्षक वह हैं जो 'नृप' और 'अण्ण' कहलाते हैं—" ये दोनों चामुण्डराय के विरुद हैं और इनमें पहला 'राय' शब्द का पर्य्यायवाची है और दूसरे का अर्थ 'बड़े भाई' है।

(३) श्रवणबेल्गोल के नं० ७३, १२५ और २५१ (सन् १११८ ई०) के शिला-लेखों में है कि "क्या गङ्गराज गङ्गराजाओं के राय से शतगुण अधिक भाग्यवान् नहीं है ?" यहां 'राय' शब्द अवश्य ही चामुण्डराय का द्योतक है; जो गङ्गवंश के तीन राजा अर्थात् मारसिंह, राचमल्ल चतुर्थ और रक्कस गङ्ग के राजमंत्री और सेनापति थे।

(४) श्रवणबेल्गोल के शिलालेख नं० ३४५ (सन् ११५९ ई०) में लिखा है कि :—

"यदि यह पूछा जाय कि पहले ही पहल अद्वितीय जैनधर्म के प्रभावक कौन हैं; नृप, राचमल्ल के श्रेष्ठ मंत्री राय·········इत्यादि।" (यहां भी 'राय' से मतलब राचमल्ल के हैं)

तिस पर चामुण्डराय ने जो गोम्मट-मूर्ति के पाद-मूल में तीन लेख अङ्कित कराये हैं उनमें भी उन्होंने अपने को 'गोम्मट' अथवा 'गोम्मटेश्वर' नहीं लिखा है। वे ये हैं:—

(१) नं० १७५—"श्रीचामुण्डराय ने निर्मापित कराया"।—क्या और कब यह नहीं लिखा है। यह कन्नड भाषा में है।

(२) नं० १७६—"श्रीचामुण्डराय ने निर्मापित कराया।"—क्या और कब यह नहीं लिखा है। यह तमिल भाषा में और प्रथमार्ध ग्रंथाक्षर में और द्वितीयार्ध बट्टेलुत्तु में है।

(३) नं० १७९—"श्रीचामुण्डराय ने निर्मापित कराया।"—(यह मराठी भाषा और नागरी लिपि में है)

मूर्ति-स्थापना-सम्बन्धी इन सर्व-प्राचीन लेखों से स्पष्ट है कि न तो मूर्ति ही 'गोम्मट' (या गोम्मटेश्वर) कहलाती थी और न चामुण्डराय ही इस नाम से परिचित थे। तो अब जब कि न तो मूर्ति की स्थापना-समय और न सन ९९३ ई० तक चामुण्डराय अथवा बाहुबली की मूर्ति ही 'गोम्मट' नाम से परिचित थी, तो उनमें से कौन—कब उस नाम से विख्यात हुए, यह प्रश्न उपस्थित होता है।

श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों से (इपीग्राफिया कर्णाटिका, भा० २ अनुक्रमणी (Index) पृष्ठ १३) प्रकट है कि उनमें से जिन लेखों में गोम्मट नाम का उल्लेख हुआ है, वे सर्व-प्राचीन-रूप में सन १११८ के नं० ७३ व १२५ के शिलालेख हैं। इनमें मूर्ति को गोम्मटदेव लिखा है और चामुण्डराय "राय" कहे गए हैं, उन्हें 'गोम्मटराय' नहीं लिखा है परन्तु इस मूर्त्ति को। उन शिलालेखों में प्रयुक्त उस छन्द में 'गोम्मटदेव' के बदले में 'गोम्मटराय' लिखा जाता तो भी छन्दोभंग नहीं होता। अतः यह मानना ठीक जँचता है कि चामुण्डराय नहीं बल्कि उपर्युक्त मूर्ति ही पहले पहल 'गोम्मट' नाम से परिचित हुई थी। फिर सन १११८ ई० के बाद सन् ११८० ई० के शिलालेख नं० २३४ में मूर्ति के साथ साथ चामुण्डराय भी गोम्मट नाम से उल्लिखित हुए हैं। किन्तु ये शिलालेख चामुण्डराय के बहुत पीछे के हैं—इसलिए प्राचीन प्रमाण की खोज करना ठीक है।

चामुण्डराय का 'गोम्मट' रूप में सर्व-प्राचीन उल्लेख श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती के 'पञ्चसंग्रह' अथवा 'गोम्मटसार' में है। और यह ग्रन्थ उन्होंने खास चामुण्डराय के लिए ही रचा था। किन्तु इसकी ठीक रचना-तिथि स्पष्ट नहीं है। हाँ, यह स्पष्ट है कि इसकी रचना तब हुई थी जब उक्त आचार्य चामुण्डराय के गुरु हो लिए थे। अभयचन्द्र ने इस ग्रंथ पर जो टीका लिखी है उसमें प्रकट है कि इस ग्रंथ की रचना खास चामुण्डराय के लिए

और उन्हीं के प्रश्नों के उत्तर रूप में श्रीनेमिचन्द्राचार्य ने की थी। अब चूंकि न कवि रन्न और न नागवर्म चामुण्डराय को 'गोम्मट' नाम से लिखते हैं, इसलिये यह मानना बेजा नहीं कि नेमिचन्द्र ने 'गोम्मटसार' की रचना सन् ९९३ ई० के बाद की थी। साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि इन्हीं आचार्य के द्वारा चामुण्डराय के लिये रचे गए दूसरे ग्रंथ 'त्रिलोकसार' में चामुण्डराय का उल्लेख गोम्मट-रूप में नहीं हुआ है। अतः कहना होगा कि 'गोम्मटसार' के रचे जाने से पहले ही 'त्रिलोकसार' की रचना हुई थी। 'त्रिलोकसार' की प्रथम गाथा से इस बात की पुष्टि होती है। इस गाथा में 'नृप राचमल्ल और चामुण्डराय नेमिचन्द्राचार्य की पाद-वन्दना करते थे' यह कहा गया है और इस पर से यह स्पष्ट है कि 'त्रिलोकसार' उस समय लिखा गया था, जब राचमल्ल जीवित थे अर्थात् सन् ९८४ ई० के पहले। अब 'त्रिलोकसार' में चामुण्डराय कहीं भी 'गोम्मट' नाम से परिचित नहीं हुए हैं, इसलिये कहना होगा कि नृप राचमल्ल की मृत्यु (सन् ९८४ ई०) के बाद वह इस नाम से प्रसिद्ध हुए थे।

अब प्रश्न यह है कि चामुण्डराय ने कब नेमिचंद्र को अपना गुरु स्वीकार किया? यह तो मालूम है कि नेमिचंद्र के पहले नृप राचमल्ल और चामुण्डराय के एक गुरु बङ्कापुर के आचार्य अजितसेन थे और इन्होंने ही श्रवणबेलगोल की मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई थी। गङ्गवंश के तीनों राजा—(१) मारसिंह, (२) राचमल्ल और (३) रक्कसगङ्ग—इनके शिष्य थे। इनमें से मारसिंह ने बङ्कापुर जाकर इनके चरणों में समाधिमरण किया था। कवि रन्न ने भी अपने 'अजितपुराण' मे अजितसेन को अपना, राचमल्ल और चामुण्डराय का गुरु लिखा है। (१।७) और उसी ग्रंथ में आगे अजितसेन और चामुण्डराय का एक साथ उल्लेख है (१३।४८) चामुण्डराय के आश्रित कवि नागवर्म्म ने भी अजितसेन को अपना गुरु लिखा है। स्वयं चामुण्डराय ने अपने 'पुराण' में उन्हें अपना गुरु प्रकट किया है। तथापि श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं० १२१ (सन् ९९५) से प्रकट है कि वह चामुण्डराय के पुत्र जिनदेव के भी गुरु थे। उधर नेमिचन्द्राचार्य भी उन्हें चामुण्डराय का गुरु प्रकट करते हैं (गोम्मटसार—जीवकाण्ड ७३३) और सेनगण की पट्टावली में भी उन्हे चामुण्डराय का गुरु प्रकट किया गया है। इन बातों से श्रवणबेलगोल की मूर्ति की स्थापना के समय अजितसेन जी का चामुण्डराय जी का गुरु होना उचित है और इसी समय, अथवा इसके बाद नेमिचंद्र जी से चामुण्डराय का परिचय होना संभव है।

श्रवणबेलगोल के केवल तीन (नं० ५९, ६७ व १२१) शिलालेखों में अजितसेन का उल्लेख है; किन्तु उनसे यह प्रकट नहीं है कि वह स्थायीरूप से श्रवणबेलगोल में रहते थे। अतः चामुण्डराय-द्वारा किये गये उक्त प्रतिष्ठोत्सव के उपरांत वे फिर वापस बङ्कापुर चले गये होंगे और शेष जीवन वहीं बिताया होगा। बस, जब अजितसेन बङ्कापुर चले गये, तब

चामुण्डराय ने नेमिचन्द्र जी को अपना गुरु स्वीकार कर लिया और राचमल्ल ने भी वैसा ही किया। यदि श्रवणबेल्गोल की प्रतिष्ठा-तिथि सन ९८१ मानी जाय, तो सन् ९८१ व ९८४ के मध्यवर्ती समय में नेमिचन्द्र, राचमल्ल और चामुण्डराय के गुरु हुए कहे जा सकते हैं। इसी समय में उन्होंने 'त्रिलोक-सार' की रचना की होगी, जिसकी प्रथम गाथा में उनके इन दोनों नये शिष्यों का उल्लेख है। और इसमें चामुण्डराय को गोम्मट नहीं कहा है, इसलिए चामुण्डराय को वह नाम सन् ९८४ तक नहीं मिला था तथापि नेमिचन्द्र की बाद की रचना 'गोम्मटसार'—जिसमें गोम्मटराय नाम पहले पहल आया है—उसमें राचमल्ल का उल्लेख नहीं है—अतः वह सन् ९८४ ई० के बाद रचा गया, जबकि राचमल्ल की मृत्यु हो चुकी थी, यह स्पष्ट है। इन बातों को देखते हुए यह विश्वास करने योग्य है कि नेमिचन्द्राचार्य ने ही पहले पहल चामुण्डराय का अपर नाम गोम्मट राय रक्खा था और यह नाम उन्हें श्रवणबेल्गोल की प्रतिष्ठा से कम से कम तीन वर्ष बाद प्राप्त हुआ था तथा 'गोम्मटसार' की रचना श्रवणबेल्गोल की विशाल मूर्ति की प्रतिष्ठा के बाद हुई थी।

अब देखना यह है कि 'गोम्मट' नाम कैसे प्रयोग में आया ?—इसका भाव क्या है ? कन्नड़ भाषा में 'गोम्मट' शब्द का अर्थ 'सुन्दर' है और इस पर से किन्हीं लोगों का कहना है कि इसी अपेक्षा चामुण्डराय 'गोम्मट' कहलाये थे! किन्तु यह कथन संभवपरक नहीं है, क्योंकि जिस समय उन्होंने उक्त मूर्ति की स्थापना कराई थी, उस समय उनकी अवस्था पचास वर्ष से कम नहीं हो सकती और इस उम्र में किसी को सुन्दर कहना कठिन है। तिस पर जबतक चामुण्डराय ने धार्मिक व्रत ग्रहण नहीं किया, तब तक उनके जीवन का अधिकांश भाग तलवार चलाने और लड़ाइयों में बढ़-बढ़ कर खेत लेने में बीता था—इस दशा में उनके शरीर में न जाने कितने घावों के दाग़ आ रहे होंगे। उनके रहते हुए, भला उन्हें कोई कैसे सुन्दर कह सकता ? तिस पर उनके 'राय' 'अण्ण' 'सम्यक्त्वशिरोमणि' आदि नाम वा विरुद होते हुए 'गोम्मट' नामको रखने की कोई ख़ास आवश्यकता भी प्रतीत नहीं होती।

दूसरे श्रीशांतिराज शास्त्री न्यायतीर्थ मैसूर का कहना है कि चामुण्डराय के नाम का सम्पर्क हिन्दुओं की भयानक देवी काली (चामुण्डी) से है, इसलिये वह जैनभावना के प्रतिकूल है और इस कारण से ही संभवतः नेमिचंद्रजी ने उनका नाम बदल कर गोम्मट रख दिया था। किंतु हम इससे सहमत नहीं हैं; क्योंकि दिगंबर जैनों में स्वयं २१वें तीर्थङ्कर नेमिनाथ की यक्षिणी देवी का नाम 'चामुण्डी' है और इसी नाम की अपेक्षा चामुण्डराय का नाम रक्खा गया होगा। 'चन्द्रगिरि' पर चामुण्डराय के बनवाये हुए मंदिर में श्रीनेमिनाथ जी की प्रतिमा विराजमान हैं और उस मंदिर के द्वार पर ताक़ में इन्हीं तीर्थङ्कर की यक्षिणी

'कूष्माण्डिनी' देवी की मूर्ति भी है। देवी का यह नाम भी कुछ कम भयानक नहीं है, इतने पर भी चामुण्डराय ने उस मूर्ति की स्थापना की और नेमिचन्द्र ने उनके इस काम को बुरा नहीं बताया। अतः 'चामुण्ड' नाम का संपर्क 'रौद्रकोली' से होने के कारण नेमिचंद्र जी ने वह नाम 'गोम्मट' रूप में बदल दिया—यह नहीं कहा जा सकता।

तीसरा इस सम्बन्ध में यह भी मत है कि गोम्मट नाम का सम्पर्क स्वयं बाहुबली जी से है। उन्होंने दूर दूर देशों में चहुंओर विहार किया था—इसलिये वह गोम्मट कहलाये। (गाम् अटतीति गोमटः) किंतु दुःख है, यहां पर अन्वयार्थ सार्थक नहीं है। क्योंकि 'गोम्मट' शब्द में 'म' आगम कहाँ से आ गया ? (whence could the augment 'm' which is so prominent in the word 'Gomata' come then ?)

'गोम्मट' नाम के सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करने के पहले, हम यह बतला देना चाहते हैं कि चामुण्डराय नहीं, बल्कि मूर्ति ही पहले पहल गोम्मट नाम से विख्यात हुई थी।

(१) नं० २४२ (११७५ ई०), ३३३ (१२०६ ई०), ३४५ (११५९ ई०), ३४९ (११५९ ई०) और ३९७ (११२९ ई०) के शिलालेखों में श्रवणबेल्गोल को 'गोम्मटपुर' अर्थात् 'गोम्मट का नगर' कहा गया है। इससे साफ़ ज़ाहिर है कि इसका मतलब 'देवता गोम्मट के नगर से' है अर्थात् बाहुबली की मूर्ति की अपेक्षा वह गोम्मटपुर कहा गया है। चामुण्डराय के कारण नहीं।

(२) नेमिचंद्राचार्य के 'गोम्मटसार' की ९६८ वीं गाथा में है कि "गोम्मट के शिखर पर खड़े हुए जिन—गोम्मट हैं।" क्या इससे यह स्पष्ट नहीं है कि पर्वत का यह शिखर भी मूर्ति के कारण ही 'गोम्मट' नाम से परिचित हुआ है ? चामुण्डराय के नाम की अपेक्षा वह गोम्मट नहीं कहला सकती। यह मूर्ति बड़ी पहाड़ी 'विंध्यगिरि' या 'इन्द्रगिरि' पर अवस्थित है। अब यदि यह कहा जाय कि यह पहाड़ी चामुण्डराय के 'गोम्मट' नाम की अपेक्षा 'गोम्मट' कहलाई, तो यह बताना कठिन होगा कि छोटी पहाड़ी चंद्रगिरि उस नाम से क्यों नहीं परिचित हुई, जब कि उस पर भी चामुण्डराय ने मंदिर बनवाया था ? अतएव क्या यह मानना ठीक न होगा कि मूर्ति ही पहले से गोम्मट नाम से प्रसिद्ध हो गई थी ? कार्कल में भी वह पहाड़ी जहां गोम्मट की मूर्ति है, मूर्ति की अपेक्षा 'गोम्मट' नाम से प्रसिद्ध है, यद्यपि उस मूर्ति को राजा वीर पाण्ड्य ने (ई० १४३२) बनवाया है।

(३) नेमिचंद्र ने 'त्रिलोकसार' में चामुण्डराय का उल्लेख 'गोम्मट' नाम से नहीं किया है, जो सन् ९८१—९८४ ई० में रचा गया है। केवल उपरांत के रचे हुए 'गोम्मटसार' में उन्होंने ऐसा उल्लेख किया है। इससे प्रकट है कि मूर्ति की ही प्रसिद्धि इस अन्तरालकाल में गोम्मट नाम से हो गई थी।

(४) कार्कल (ई० १४३२) और वेणूरु (ई० १६०४) की दो अन्य मूर्तियां भी 'गोम्मट' नाम से प्रसिद्ध हैं और इन दोनों के शिलालेख में उनका उल्लेख 'गुम्मट' नाम से हुआ है। अतएव कहना होगा कि श्रवणबेलगोल की मूर्ति ही इस नाम से परिचित थी; जिसकी देखा-देखी बनी हुई ये मूर्तियाँ भी उसी नाम से विख्यात हुईं।

इन कारणों से हम यह मानने के लिये तैयार नहीं हैं कि चामुण्डराय का ही नाम या विरुद गोम्मट था और उनके द्वारा स्थापित होने के कारण श्रवणबेलगोल की मूर्ति गोम्मट कहलाई। बल्कि इन कारणों के बल पर हम यह निर्णय करते हैं कि पहले श्रवणबेलगोल की मूर्ति ही 'गोम्मट' नाम से विख्यात हुई थी, क्योंकि वह बाहुबली जी की मूर्ति थी, जो विशेष कारणवश 'गोम्मट' कहलाते थे और उनकी स्थापना करने के कारण नेमिचंद्र जी ने चामुण्डराय का नया नाम 'गोम्मटराय' रख दिया था।

अब देखना चाहिये कि 'गोम्मट' शब्द का क्या अर्थ है? कात्यायन की 'प्राकृत-मञ्जरी' में 'न्मो मः' सूत्र है (३।४२) और इसके आधार से संस्कृत का 'मन्मथ' शब्द प्राकृत में 'गम्मह' हो जाता है। उधर कन्नड भाषा में संस्कृत का 'ग्रंथि' शब्द 'गन्टि' और 'पथ' शब्द 'बट्टे' आदि हो जाते हैं—अतएव संस्कृत के 'मन्मथ' शब्द का 'ह' उच्चारण जो उसे प्राकृत-रूप में नसीब होता है कन्नड़ में नहीं रहेगा—बल्कि वह 'ट' में बदल जायगा। इस तरह पर संस्कृत 'मन्मथ'=प्रा० 'गम्मह' का कन्नड तद्भवरूप 'गम्मट' हो जायगा। और वही 'गम्मट' 'गोम्मट' हो जायगा; क्योंकि बोलचाल की कन्नड़ में 'अ' शब्द का उच्चारण धीमे 'ओ' की आवाज में होता है। उदा० - कन्नड—'मगु'='मोगु'; सप्पु=सोप्पु इत्यादि।

उधर कोङ्कणी और मराठी भाषाओं का उद्गम क्रमशः अर्द्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत से हुआ प्रकट है और यह विदित है कि मराठी, कोङ्कणी एवं कन्नड़ भाषाओं का शब्द-विनिमय पहले होता रहता था; क्योंकि इन भाषाभाषी देशों के लोगों का पारस्परिक संबंध विशेष था। अब कोङ्कणी भाषा में एक शब्द 'गोमटो' या 'गोम्मटो' मिलता है और यह संस्कृत के 'मन्मथ' शब्द का रूपांतर है। और यद्यपि 'सुन्दर' अर्थ में व्यवहृत है। कोङ्कणी भाषा का यह शब्द मराठी भाषा में पहुंच कर कन्नड़ भाषा में प्रवेश कर गया हो, तो कोई आश्चर्य नहीं! कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि गोम्मट शब्द संस्कृत के मन्मथ शब्द का तद्भवरूप है और इस दशा में वह कामदेव का द्योतक है।

अब प्रश्न यह है कि बाहुबली की विशालमूर्ति मन्मथ या कामदेव क्यों कहलाई? क्या बाहुबली कामदेव कहलाते थे? इसके उत्तर में कहना होगा—हाँ! संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़ सबही ग्रंथों में बाहुबली इस युग के प्रथम 'कामदेव' कहे गये हैं; जैसे संस्कृत के 'आदि पुराण' में (१६।९) कन्नड़ के कवि पंप-कृत 'आदिपुराण' में (८८।५२-५३) और 'चामुण्डराय पुराण'

में। श्रवणबेल्गोल के नं० २३४ (सन् ११८०) के शिलालेख में भी उनको 'कामदेव' कहा गया है।

सारांशतः उपर्युक्त वक्तव्य के आधार से यह स्पष्ट है चूंकि स्वयं बाहुबली मन्मथ (कामदेव) नाम से परिचित थे, इसलिये श्रवणबेल्गोल में स्थापित हुई उनकी विशालमूर्ति उसके तद्रूवरूप 'गोम्मट' नाम से प्रख्यात हो गई। इसके बाद मूर्तिस्थापना के इस पुण्यकार्य की पवित्रस्मृति को जीवित रखने के लिये श्रीनेमिचंद्र जी ने इसके संस्थापक चामुण्डराय का उल्लेख 'गोम्मटराय' के नाम से किया और इस नाम को प्रख्याति देने के लिये ही चामुण्डराय के लिये रचे गये अपने 'पञ्च-संग्रह' ग्रंथ का नाम उन्होंने 'गोम्मटसार' रख दिया। अस्तु, विश्वास है कि पाठकगण अब यह समझ गये होंगे कि गोम्मट का क्या मतलब है और बाहुबली की विशाल मूर्ति 'गोम्मट' क्यों कहलाती है।

नोट—विद्वद्वर श्रीयुत गोविन्द पै का यह लेख अंग्रेजी एवं कन्नड भाषा में वृहद् कार में पत्रों में निकल चुका है। उसी का सारांश हिन्दी में भास्कर के सुविज्ञ पाठकों के समक्ष उपस्थित कर दिया गया है।

—का० प्र०

जैन-ज्योतिष और वैद्यक-ग्रन्थ

(ले०—श्रीयुत अगरचन्द नाहटा)

जैन-साहित्य की विविध विशेषताओं में उसकी सर्वाङ्गपूर्णता भी विशेष उल्लेखनीय है। साहित्य के किसी अंग को ले लीजिये, जैनाचार्यों की प्रतिभा-सम्पन्न लेखनी न चली हो; ऐसा विषय ही नहीं मिलेगा। व्याकरण, कोष, अलङ्कार, छंद, शिल्प, सामुद्रिक, न्याय, नीति, संगीत, मंत्र, यंत्र, ज्योतिष, वैद्यक इत्यादि सभी विषयों पर उत्तमोत्तम जैन ग्रंथ लिखे गये हैं। प्रस्तुत लेख में ज्योतिष और वैद्यक के जैनग्रंथों की संक्षिप्त सूची दी जाती है क्योंकि अद्यावधि हमारे बहुत से साहित्यिक विद्वान् भी उन ग्रंथों से अपरिचित हैं। ज्योतिष एवं वैद्यक का काम करनेवाले जैनज्योतिषी और जैन वैद्य अधिकांश जैनेतर ग्रंथों का ही उपयोग कर रहे हैं। ऐसे कई व्यक्तियों से वार्तालाप के प्रसंग में सुना गया है—"क्या करें न तो जैन ग्रन्थों का पूरा पता ही है और न वे प्रकाशित ही हुए हैं, अतः विवश हैं।"

भारतीय ज्योतिषशास्त्र में जैन-ज्योतिष-विज्ञान अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। ग्रीक के आगमन से पूर्व भारतीय ज्योतिष की क्या अवस्था थी, यह जानने के लिये ज्योतिष वेदाङ्ग और सूर्य-प्रज्ञप्ति दो ही ग्रंथ विशेष उल्लेखनीय है। पाश्चात्य और भारतीय जैनेतर विद्वानों ने सूर्य्यप्रज्ञप्ति एवं जैन ज्योतिष पर कई निबंध लिखे हैं,※ पर खेद है हमारे जैन-विद्वान् इस ओर सर्वथा उदासीन से हैं।

भारतीय ज्योतिषशास्त्र के ऐतिहासिक अनुसंधानात्मक ग्रंथों† में भी जैन ज्योतिष ग्रंथों का विशेष उल्लेख नहीं किया गया है, पर दोष हमारा ही है कि हमने अपने ज्ञान-भाण्डारों में सुरक्षित ग्रन्थों का न तो स्वयं ही उपयोग किया और न साहित्य-संसार ही उनका परिचय रखा। अन्यथा ताजिक-सार और कर्णकौतूहल पर जैनकवि सुमतिहर्ष-कृत टीका और मानसागरी पद्धति जैनेतर समाज-द्वारा ही प्रकाशित हुई है, इसी प्रकार अन्य उत्तम ग्रंथ भी अच्छी संख्या

※ देखें—'जैन-प्रकाश' के महावीर अङ्क में "जैन ज्योतिष और उसका महत्त्व।"

† महोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी रचित 'गणकतरङ्गिणी' और शंकर बालकृष्ण दीक्षित-द्वारा लिखित "भारतीय ज्योतिष शास्त्र" एवं बंगला भाषा में श्री योगेशचन्द्र राय M. A. F. R. A. S. "आमादेर ज्योतिषीओ ज्योतिषी" नामक ग्रन्थ।

में कभी के प्रकाशित हो जाते। गुजराती ‡ भाषा में तो कई श्वेतांबर जैन ज्योतिष ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं, पर हिंदी में तो मेघ-महोदय और ज्योतिषसार के अतिरिक्त कोई भी जैन ज्योतिष ग्रंथ प्रकाशित देखने में नहीं आया।

हमें लिखते विशेष दुःख होता है कि जो जैन ज्योतिष ग्रंथ छपे हैं उनका प्रकाशन भी जैसा चाहिये नहीं होने से जैनेतर विद्वान् तो क्या जैन विद्वान् भी लाभ नहीं उठाते। इससे भी अधिक परिताप की बात तो यह है कि जैन वैद्यक ग्रंथ अद्यावधि एक भी प्रकाशित नहीं हुआ है। हाल ही में कतिपय दिगंबर विद्वानों का इस ओर ध्यान आकर्षित हुआ है और वैद्यसार, कल्याणकारक, खगेन्द्र मणिदर्पण, ग्रंथ प्रकाशित भी होनेवाले हैं, पर श्वेतांबर वैद्यों की निद्रा अभी तक भी भङ्ग हुई ज्ञात नहीं होती। तालिका में उल्लिखित कई वैद्यक ग्रन्थ तो बहुत ही उच्चकोटि के हैं। उनमें ऐसे ऐसे अद्भुत अनुभूत प्रयोग हैं जो अन्य जैनेतर ग्रन्थों में उपलब्ध ही नहीं होते।

इस लेख के साथ दी हुई सूची सम्पूर्ण नहीं है। जैन ग्रन्थावली में और भी कई नाम उपलब्ध होते हैं, पर हमने जो ग्रंथ बीकानेर के ज्ञानभाण्डारों में हैं या जिनका निश्चित पता है उन्हीं को सूची में स्थान दिया है।

दिगंबर ग्रन्थों की खोज करने पर भी विशेष ग्रन्थों का पता नहीं चला। हमारे खयाल से उनके भी इन विषयों में बहुत से ग्रंथ होंगे पर खेद है कि श्वेतांबर ग्रन्थों की कई एक सूचियां व मोहनलाल दलीचंद देसाई बी० ए०, एल० एल० बी०—सम्पादित इतिहास रिपोर्ट इत्यादि प्रकाशित हो चुके हैं, पर दिगम्बर-समाज अद्यावधि उस ओर सर्वथा उदासीन प्रतीत होता है। कई वर्ष पूर्व प० नाथूराम जी प्रेमी और पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार आदि ने ऐतिहासिक क्षेत्र में

‡ नारचंद्र भाषान्तर, ज्योतिषहीर सानुवाद, भद्रबाहु संहिता भाषान्तर, दिनशुद्धि दीपिका, विश्व-प्रभा (गुजराती विवेचन-सहित), वर्षप्रबोध अने अष्टाङ्ग निमित्त, आदि प्रकाशित हैं। जिनमें प्रथम के तीन ग्रन्थ मेघजी हीरजी, बंबई; चतुर्थ श्रीचारित्र स्मारक सिरोज, बढ़वाण; पांचवां मास्टर पोपट लाल साकरचंद शाह भावनगर-द्वारा प्रकाशित हुए हैं। आरम्भसिद्धि नामक ज्योतिष ग्रन्थ 'पुरुषोत्तम दास जीगाभाई' भावनगर से भी प्रकाशित है।

जैन कवि मेघ-कृत एक वैद्यक ग्रन्थ मेघविनोद (हिन्दी भाषा) पंजाबी लिपि में पंजाब के जैनेतर प्रकाशक ने छपाया है, जिससे अनेकों वैद्य लाभ उठाते हैं पर लिपि नागरी न होने से सर्वोपयोगी नहीं है। कलकत्ते के राजवैद्य जसवंत राय जी जैन से इस ग्रन्थ के विषय में वार्त्तालाप होने पर ज्ञात हुआ कि इसमें कई ऐसे अनुभूत नुस्खे हैं जो अपना तत्काल असर दिखाते हैं।

हमारी सूची में उल्लिखित कई ग्रन्थ वैद्यक की दृष्टि से उपयोगी होने के साथ साथ भाषा और काव्य की दृष्टि से भी अत्युत्तम हैं। कवि मानकृत कविप्रमोद, ज्वरनिदान आदि इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

अच्छा काम किया था, परंतु अभीतक दिगंबर-साहित्य का कोई विशेष विवरणात्मक इतिहास प्रकाशित नहीं हुआ जिससे जैन साहित्य के एक विशेष अंग से साहित्य-संसार अनभिज्ञ सा है। दिगंबर-समाज में विद्वानों और द्रव्य की कोई कमी नहीं है। अत: दिगंबर-जैन डायरेक्टरी के अनुसार दिगंबर जैन-साहित्य के इतिहास के कार्य में कई विद्वानों को नियुक्त कर प्रसिद्ध प्रसिद्ध सभी भाण्डारों के ग्रन्थों का विवरणात्मक सूचीपत्र तैयार करवा के 'जैन-साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास' की भांति एक ग्रंथ प्रकाशित किया जाना नितांत आवश्यक और उपयोगी है। आशा है दिगम्बर समाज और विद्वान लोग इस ओर शीघ्र ही ध्यान देंगे।

श्वेताम्बर-जैन-ज्योतिष ग्रन्थ

सूर्य-प्रज्ञप्ति	टी० मलयगिरि	मुद्रित
चन्द्र-प्रज्ञप्ति	,,	×
ज्योतिष-करण्ड	,,	मुद्रित
अंगविज्जा, गणिविज्जा, मंडलप्रवेश आदि		×
लग्नशुद्धि	हरिभद्रसूरि	×
नारचन्द्र	मू० नरचन्द्र सूरि, टीका सागरचंद्र सूरि	अनुवाद मुद्रित
आरंभसिद्धिवृत्ति	उदयप्रभसूरि टी० हेमहंस सं० १५१४	मुद्रित
ज्योतिष-सारोद्धार	हर्षकीर्त्ति सूरि	×
जन्मपत्री-पद्धति	,, ,,	×
जन्मपत्री-पद्धति	खरतर लब्धिचंद्र सं० १७५१ कार्त्तिक	×
जन्मपत्री-पद्धति	खरतर महिमोदय	×
मानसागरी-पद्धति	मानसागर	मुद्रित
भुवनदीपकवृत्ति मू० पद्मप्रभ सूरि वृ० सिंहतिलकसूरि सं० १३२६		×
ज्योतिषमंडलविचार	तपा विनयकुशल सं० १६५२	×
गणित साठि सौ	महिमोदय सं० १७३३ राखीपूनम	×
पासाकेवली	गर्गर्षि	×
जोइसहीर †	हीरकलश सं० १६२१ नागौर	सानुवाद मुद्रित
त्रैलोक्य-प्रकाश	हेमप्रभसूरि	मुद्रित
लग्न-विचार	नारचंद्र	×

† दिन-शुद्धि-दीपिका की प्रस्तावना में इसका कर्त्ता विजयहीर सूरि लिखा है। मुद्रित ज्योतिष-हीर में कर्त्ता का नाम नहीं है। जै० सा० सं० इ० में कर्त्ता हीरकलश लिखा है।

मेघमाला	मेघराज सं० १८८१	
जन्मसमुद्र सटीक	नरचंद्रोपाध्याय	
अंगफुरकण चौपाई	खरतर हेमानंद	
वर्षफलाफल ज्योतिष चौ०	सूरचंद्र खरतर	
सामुद्रिक तिलक	दुर्लभराज सं० १२१६	
शकुनदीपिका चौ०	जयविजय सं० १६६०	
दोषरत्नावली	जयरत्न सं० १६६२ खंभात	
स्वप्नसप्ततिका वृत्ति	मू० जिनवल्लभ टी० जिनपाल	
शकुनशास्त्र	जिनदत्त सूरि	
शकुन-शास्त्रोद्धार	माणिक्य सूरि	
अष्टांगनिमित्त अने दिव्य ज्ञान	×	मुद्रित
लग्नघटिका चौ०	सोमविमल	,,
मासहानि-वृद्धि-विचार	नेमकुशल	,,
भद्रबाहु संहिता	×	अनुवाद मुद्रित
यंत्रराजवृत्ति	मू० महेन्द्र सूरि टीका मलयचंद्र—२ जयपुर, नरेशजयसिंह	
ज्योतिष-लग्नसार	विद्याहेम सं० १८३०	
पंचाङ्गनयन-विधि	महिमोदय सं० १७२३ माघ शु० ७	
तिथिसारणी, जगचन्द्रिकासारणी	हीरचंद्र	
षट्ऋतु संक्रांति-विचार	कवि खुश्याल	
हायनसुन्दर	पद्मसुंदर	
दिनशुद्धिदीपिका	रत्नशेखर सूरि टी० विश्वप्रभा	मुद्रित
प्रश्नशतक	नरचन्द्रोपाध्याय, स्वोपज्ञ बेडालवृत्ति	
प्रश्नचतुर्विंशतिका	नरचन्द्रोपाध्याय	
मेघमहोदय	मेघविजय	
गणित-तिलक-वृत्ति	सिंह तिलक सूरि	
उदयदीपिका	मेघविजय सं० १७५२	
रमलशास्त्र	मेघविजय	
हस्तसंजीवन	मेघविजय स्वोपज्ञवृत्ति	मुद्रित
यशोराजी राजपद्धति	यशस्वत्सागर सं० १७६२	
ज्योतिष-रत्नाकर	महिमोदय	
विवाह-पटल	अभयकुशल	

विवाह-पटल	रूपचंद		
विवाह-पटल	हीर		
भुवनदीपक बाला (मू० हरिभद्र)	लक्ष्मीविनय	सं० १७६७	
मूहूर्त्तचिंतामणि टबा	चतुरविजय		
चमत्कार चिंतामणि टबा	जैनमतिसार	,, १८२७	
,, ,, वृत्ति	अभयकुशल		
,, ,, टबा	नाम अज्ञात		
वसंतराज शकुनशास्त्र	भानुचंद्र		

दि० जैन ज्योतिष-ग्रन्थ

केवलज्ञान होरा	कर्त्ता चन्द्रसेन मुनि

जैनेतर ज्योतिष ग्रन्थों पर जैन टीकाएँ

लघुजातक टीका	भक्तिलाभ	सं० १५७१ वीकानेर	
,, वार्त्तिक	मतिसागर	,, १६०५ के लगभग	
,, टबा	नाम अज्ञात		
जातक पद्धति टीका	सुमतिहर्ष	सं० १६७३	
ताजिकसार ,,	,,	,, १६७७	मुद्रित
करणकुतूहल-वृत्ति	,,	,, १६७८	मुद्रित
होरामकरंद	,,		
महादेवीसारणी वृत्ति	धनराज	,, १६८२	
विवाहपटल बालावबोध	अमर (खरतर)		
,, टीका	हर्षकीर्त्ति सूरि		
ग्रहलाघव वार्त्तिक	यशस्वत सागर	सं० १७६०	
ज्योतिर्विदाभरण वृत्ति	भावप्रभ सूरि	,, १७६८	
षटपंचाशिका बालावबोध	महिमोदय		
चंद्रार्की वृत्ति	कृपाविजय		

श्वेताम्बर जैन वैद्यक ग्रन्थ

योगचिंतामणि	मू० हर्षकीर्त्ति सूरि टी० नरसिंह खरतर
वैद्यकसारोद्धार	

ज्वरपराजय	जयरत्न	सं० १६६२
वैद्यवल्लभ	हस्तरुचि	
रामविनोद	रामचंद्र	,, १७५०
कविप्रमोद	कविमान	,, १७५६
ज्वरनिदान	कविमान	,, १७४५
कालज्ञान	लक्ष्मीवल्लभ	
मेघविनोद	कवि मेघ	
रसमंजरी चौपाई	कवि समरथ	,, १७६४
निव्वसहावी (वैद्यविलास)	मल्लूकचंद्र	
वैद्यकसार-रत्न चौपाई	लक्ष्मीकुशल	,, १६९४ फा० सु० १३
सुबोधिनी वैद्यक	लक्ष्मीचंद्र	
लंघनपथ्योपचार	दीपचंद्र	,, १७९२
बालचिकित्सा निदान		
योगरत्नाकर चौपाई	नयनशेखर	
दम्भक्रिया	धर्मसिंह	
पथ्यापथ्य	महो० रामलाल जी वीर सं० २४३९	
रामानदान (टबा-सहित) ,,	रामलालजी	

जैनेतर वैद्यक ग्रन्थों पर जैन टीकाएँ

योगरत्नमाला वृत्ति	गुणाकर सं० १२९६	
अष्टांग हृदय	पं० आशाधर (दिगम्बर)	अनुपलब्ध
पथ्यापथ्य टबा	चैनसुखमुनि सं० १८३५	
माधव निदान टबा	ज्ञानमेरु	
सन्निपातकलिका टबा	हेमनिधन ,, १७३३	
सन्निपातकलिका	खरतर रूपचंद ,, १७३१ मा० सु० १ पाली	

दिगम्बर जैन वैद्यक ग्रन्थ

वैद्यसार	पूज्यपाद
निदानमुक्तावली	पूज्यपाद (?)
मदनकामरत्न	पूज्यपाद (?)
कल्याणकारक	उग्रादित्याचार्य

सुकरयोगरत्नावली	पार्श्वदेव
बालग्रह-चिकित्सा	देवेन्द्रमुनि
वैद्यनिघण्टु	अमृतनन्दि मुनि
वैद्यामृत	श्रीधरदेव
खगेन्द्रमणिदर्पण	मंगराज
हयशास्त्र	अभिनव चन्द्र
कल्याणकारक	सोमनाथ
गोवैद्य	कीर्त्तिवर्मा

सं० नोट—श्रीयुत नाहटा जी ने इस जैन ज्योतिष और वैद्यक की ग्रन्थतालिका में दिगंबर जैन ज्योतिष एवं वैद्यक ग्रन्थों के जो नाम दिये हैं वे भास्कर में धाराप्रवाह से प्रकाशित होते हुए मेरे प्रशस्ति-संग्रह-गत कतिपय ग्रन्थों के ही नाममात्र हैं। इनके अतिरिक्त दिगम्बर जैन साहित्य में एतद्विषयक रचनाओं का जहाँ तहाँ अधिकतर उल्लेख मिलता है। सावकाश होकर अन्वेषण करने पर दि० जैन ज्योतिष और वैद्यक ग्रंथों की एक बृहत् सूची तैयार की जा सकती है। अभी तत्क्षण मेरी नजरों से जो कुछ नाम गुजरे हैं, वे नीचे दिये जाते हैं। ये पं० नाथूराम प्रेमी जी-द्वारा संगृहीत 'दिगंबर जैनग्रंथकर्त्ता और उनके ग्रंथ' आदि पर से संगृहीत हुए हैं :—

दिगम्बर जैन ज्योतिष ग्रन्थ

(१) आयज्ञान तिलक	भट्टवोसरि	मूल प्राकृत, टीका संस्कृत	अमुद्रित
(२) जिनेन्द्रमाला	×	मूल संस्कृत, टीका कन्नड	मुद्रित
(३) चन्द्रोन्मीलन	×	,, ,, ,, हिंदी	अमुद्रित
(४) ज्ञानप्रदीपिका	×	,, ,, ,, ,,	मुद्रित
(५) सामुद्रिकशास्त्र	×	,, ,, ,, ,,	,,
(६) निमित्तशास्त्र	ऋषिपुत्र	सं०	अमुद्रित
(७) निमित्तदीपक	जिनसेन	,,	,,
(८) भद्रबाहु निमित्त	भद्रबाहु	,,	,,
(९) ज्योतिषपटल	महावीर	,,	,,
(१०) शकुनदीपक	वीरपण्डित	,,	,,
(११) होराज्ञान	गौतमस्वामी	,,	,,

(१२) ज्योतिषसार	नरचन्द्र	सं०	(?)
(१३) अरहन्तपासा केवली	विनोदीलाल	,,	अमुद्रित
,,	वृन्दाबन	हिंदी	मुद्रित

('दि० जैनग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ' से)

(१४) अरिष्टाध्याय	×	प्रा०	अमुद्रित
(१५) अक्षरकेवली शकुन	×	हिंदी	,,

('भवन' की सूची से)

(१६) नरपिङ्गलि	शुभचन्द्र	कन्नड	मुद्रित
(१७) जातक तिलक	श्रीधर	,,	अमुद्रित

(कन्नड कविचरिते' से)

दि० जैन वैद्यक

(१) कनकदीपक	उग्रादित्य	सं०	अमुद्रित
(२) भिषक्प्रकाश	,,	,,	,,
(३) रामविनोद	,,	,,	,,
(४) वैद्यगाहा	कुन्दकुन्द	प्रा०	,,
(५) गुणपाठ	चिक्कण्ण कवि	सं०	,,
(६) वैद्यक निघण्टु	धनञ्जय	,,	,,
(७) ,,	पद्मनंदि	,,	,,
(८) ,,	पद्मसेन	,,	,,
(९) कल्याणकारक	पूज्यपाद	,,	,,
(१०) वैद्यनिघण्टु	रेवणसिद्ध	,,	,,
(११) अष्टांगहृदय	वाग्भट्ट	,,	मुद्रित
(१२) वैद्यनिघण्टु	,,	,,	(?)
(१३) ,,	अभिनव	,,	अमुद्रित

('दि० जैनग्रंथकर्त्ता और उनके ग्रंथ' से)

(१४) योगचिंतामणि (वैद्यसार संग्रह)	हर्षकीर्त्ति भ०	सं०	मुद्रित
(१५) विद्याविनोद	अकलङ्क	,,	अमुद्रित
(१६) अकलङ्क-संहिता	,,	,,	,,

(१७) बालग्रह-चिकित्सा	मल्लिषेण	सं०	अमुद्रित
(१८) मेरुतन्त्र	मेरुतुंग	”	”

(‘भवन’ की सूची से)

(१९) अश्ववैद्य	बाचरस	कन्नड	अमुद्रित
(२०) वैद्यसांङ्गत्य	सालुव	”	”
(२१) वैद्यनिघण्टु	लक्ष्मण पण्डित	”	”

(‘कन्नड कविचरिते’ से)

(२२) सिद्धांत-रसायन कल्प	समन्तभद्र	प्रा०	अमुद्रित
(२३) जगत्सुन्दरी	उग्रादित्य	सं०	”
(२४) कल्याणकारक	”	”	मुद्रित
(२५) वैद्यकनिघण्टु	धनमित्र	”	अमुद्रित
(२६) वृद्धवाग्भट्ट	वाग्भट्टाचार्य	”	”
(२७) रससार	शिवघोष	”	”
(२८) वैद्यकयोग संग्रह	पूज्यपाद	”	”
(२९) रसतन्त्र	”	”	”
(३०) प्रयोगसंग्रह	शिवनंदि	”	”
(३१) प्रयोगचन्द्रिका	रामचन्द्र	”	”

(‘आदर्श जैनचरितमाला’ वर्ष २, अङ्क ७-८ से)

उग्रादित्य के ‘कल्याणकारक’ से पता लगता है कि इन उल्लिखित ग्रंथों के अतिरिक्त आचार्य पूज्यपाद जी ने शालाक्य, शिरोभेदन आदि, पात्रस्वामी ने शल्यतन्त्र, आचार्य सिद्ध-सेन जी ने विष एवं ग्रहशांति-विधान, आचार्य दशरथ गुरु और मेघनाद जी ने शारीरिक-चिकित्सा, सिंहनाद जी ने महारोगशांति-विधान एवं आचार्य समन्तभद्र जी ने अष्टांग आयुर्वेद का प्रणयन किया है। कन्नड और तमिलु साहित्य का भी बारीकी से अन्वेषण करने पर इस विषय के अनेक ग्रंथ उपलब्ध हो सकते हैं।

—के० बी० शास्त्री

विविध विषय

श्रीसंघ, तपागच्छ और खरतरगच्छ*

[१]

अधिकांश विद्वत्समाज की प्रायः यह धारणा है कि श्रीसंघ, तपागच्छ और खरतरगच्छ शब्दों का सम्बन्ध एकमात्र श्वेताम्बर जैन समाज से है; परन्तु वस्तुतः बात यह नहीं है। 'श्रीसंघ' शब्द तो नितान्त सामान्य शब्द है—वह किसी विशेष संप्रदाय का द्योतक नहीं कहा जा सकता। जैनों की दोनों संप्रदायों—दिगम्बर और श्वेताम्बर ने इसका उपयोग किया है और बौद्धों के प्राचीन शास्त्रों में भी 'संघ' शब्द का प्रयोग हुआ मिलता है। अशोक के एक शिलालेख में भी 'संघ' शब्द प्रयुक्त हुआ है और कतिपय विद्वान उसे बौद्ध संघ का द्योतक बताते हैं। सारांशतः 'संघ' या 'श्रीसंघ' शब्द से केवल श्वेताम्बर जैन संघ का अर्थ नहीं लिया जा सकता। हाँ, तपागच्छ और खरतरगच्छ श्वेताम्बर जैन संघ के प्रसिद्ध अंग हैं; परन्तु पाठक आश्चर्य करेंगे कि वह भी एकमात्र श्वेताम्बरीय नहीं हैं; दिगम्बर जैनों के काष्ठासंघ में इन गच्छों का उल्लेख हुआ मिलता है। निम्नलिखित पंक्तियों में इन तीनों शब्दों का संबंध दिगम्बर जैन सम्प्रदाय से सिद्ध किया गया है।

'संघ' या 'श्रीसंघ' शब्द का प्रयोग दिगम्बर जैनों द्वारा एक प्राचीनकाल से होता आया है। प्राचीन दिगम्बर जैन साहित्य ग्रंथों जैसे 'तिलोयपण्णत्ती', 'धवलादि', 'वसुनन्दि-श्रावकाचार' (गाथा ४२४) प्रभृति में 'संघ' का प्रयोग हुआ ही है; परन्तु सन ७०० ई० के निम्नलिखित शिलालेख में ठीक 'श्रीसंघ' शब्द प्रयुक्त हुआ मिलता है :—

"......श्रीपूरान्वय गन्धवर्म्मन् अभित श्रीसंघदा पुरायद् इसनूपौरा......"

इस शिलालेख के सम्पादक प्राक्तनविमर्ष-विचक्षण रा० ब० श्रीनरसिंहाचार्य, एम० ए० ने 'श्रीसंघ' शब्द का अर्थ सामान्यरूपेण Community 'समाज' किया है।† उपरान्त

---

* "जैनसन्देश" आगरा (भा० १ सं० ७ पृ० ४) में श्रीताराचन्द्र जी रपरिया का एक लेख "श्रीसंघ और तपागच्छ" शीर्षक नामसे प्रकट हुआ था। उसके पढ़ने से हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ और रपरिया जी के विषय को और भी पुष्ट करने के लिये यह नोट लिखना हमने उचित समझा। इस नोट में रपरिया जी द्वारा दिये गए प्रमाणों के अतिरिक्त और भी प्राचीन प्रमाण दिये गये हैं।

† Epigraphia Carnatica, Vol. II, p. 46 and Index p. 32.

अनेक दिगम्बर जैन लेखों में इसी भाव में 'संघ' शब्द व्यवहृत हुआ मिलता है; यथा :—*

(१) "सम्वत् १६५३ वर्षे मूलसंघे भ० श्रीरत्नचन्द्र उपदेशेन उपाध्याय श्रीजयकीर्ति प्रतिष्ठितं······ग्रामे श्रीसंघेन कारापितं।"

(२) "ॐ नमः सिद्धेभ्यः संवत् १७८७ वर्षे कार्तिक सुदि १५ शुक्ले श्रीभानपुरनगरे श्रीचन्द्रप्रभचैत्यालये श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे·········श्रीसंघैः सह······श्रीरतनचन्द···।"

इनके अतिरिक्त और भी उल्लेख उपस्थित किये जा सकते हैं, परन्तु वह पिष्टपेषण-मात्र होगा।

अब 'तपागच्छ' को लीजिये। दिगम्बराम्नायी काष्ठासंघ में भी तपागच्छ था, इस बात को बाबू ताराचंद्र जी रपरिया ने निम्न लेख उपस्थित कर के प्रकट किया है :—

"संवत् १७६५ वर्षे माघमासे कृष्णपक्षे पंचमी तिथौ सोमवासरे भट्टारक श्रीविजय-रत्नकेश्वर तपागच्छे काष्ठासंघे ·····।"

श्रीमान् बाबू अजितप्रसाद जी ने दिल्ली के नया दि० जैन मंदिर की एक दिगम्बर मूर्ति पर यह शब्द निम्न प्रकार पढ़ा था, यह बात उनके संग्रह से प्रकट है जिसे उन्होंने कृपापूर्वक मुझे भेज दिया था :—

"संवत् १७८० रा प ग द्रा व र्के त ल र स म स वा त ठ तपागच्छ ग० दलपसागर।"

यह मूर्ति श्याम पाषाण की है और इसे उक्त बाबू जी pure Digamber image लिखते हैं; किन्तु इस पर के लेख को वह स्पष्ट नहीं पढ़ सके हैं। अतः लेख को फिर से पढ़ने की ज़रूरत है। फिर भी इससे तपागच्छ का अस्तित्व दिगंबर संघ में स्पष्ट है।

'तपागच्छ' की तरह ही संभवतः 'खरतरगच्छ' का संबंध भी दिगंबरीय काष्ठासंघ से था, यह बात दिगंबर जैन पंचायती (बड़ा) मंदिर मैनपुरी के एक प्राचीन गुटके से प्रमाणित है। यह गुटका सं० १८१७ प्रथम श्रावण शुक्र ५ का ढाका शहर का लिखा हुआ है और इसमे लिखी हुई रचनायें सभी दिगंबरीय हैं। नित्य पूजा काष्ठासंघी आम्नाय की है—इससे इसका संबंध काष्ठासंघ से अनुमानित होता है। यह एक अग्रवाल श्रावक के लिये लिखा गया था और अग्रवाल प्रायः काष्ठासंघ में ही दीक्षित होते थे। इस गुटके में दिये हुये 'नेमनाथ जी अष्टक' में 'संघ' शब्द का भी प्रयोग निम्न प्रकार हुआ है :—

'अनुपम अष्टक एह, नेमिजिनिंद तणो पढ़ो,
होय विमल नरदेह, छेह सुरग गति ते लहै ॥११॥

* 'जैन सन्देश'' भा० ३ अंक ७ पृ० ५

वर्द्धमान निरवाण थी, वत्सर शत बाईस।
गाए सत्यासी ऊपरै, बरस अधिक सुजगीस ॥१२॥
श्रावण वदि आठमि दिनै, ढाका शहर मंझार।
संघ सकल अध्ययन कुं, किय नरसिंह विचार ॥१३॥'

इस उल्लेख से भी संघ शब्द सामान्य रूप में जैनों द्वारा व्यवहृत होने का समर्थन होता है। उक्त गुटके की अन्तिम प्रशस्ति निम्नप्रकार है :—

"अथ संवत लिख्यते ॥ वरधमान निरवाण थी वत्सर।
शत बाइस, गए सत्यासी ऊपरे, तादिन अधिक जगीस ॥१॥
संवत अष्टादश शतक, व मतरै वरम्म प्रमाण।
श्रावण सुदि द्वितीया दिनै, सोमवार सुप्रमाण ॥२॥
ढाका सहर सुहामणा, देश बंग के माँहि।
जैनधर्मधारक जिहाँ, श्रावक अधिक सुहाहिं ॥३॥
अग्रवाल कुल में प्रगट, गोत गरग गंभीर।
दिलदातार हुनी कहै, ववधगावण धीर* ॥४॥
तिम कुल में परमारथी, पर उपगारी साह।
श्री श्री सीताराम जू, जसु गुण रतन अथाह ॥५॥
मानत जिनवर देव जो, निश्चय मन वच काय।
दया धरम निग्रन्थ गुरु, मन में सदा सुहाय ॥६॥
उत्तम आदिपुराण जू, सुन्यौ जिन्है धरिभाव।
जैनशास्त्र अरु और भी, सुने प्रसंग प्रभाव ॥७॥
तसुनंदन विनयी सुबुधि, बिपुल बुद्धि गुणवंत।
इच्छाराम सुधर्म्म रत, मानत लोक महंत ॥८॥
तिनके पूजा पढ़न कौ, चित में देखि अभ्यास।
चुंपिकरी पुस्तक लिख्यो, अक्षर अधिक प्रकाश ॥९॥
खरतर गछ में दीपता, नंदलाल उवझाय।
सर्वशास्त्र पाठक सदा, शिष्य पढ़त चितलाय ॥१०॥
तासु शिष्य विनयी विबुध, हर्षचंद गुणवंत।
मुनि नरसिंह विनेयविधि, पुस्तक यह लिखंत ॥११॥

* शायद यह पद्य इस प्रकार हो 'दिलदातार सभी कहैं, विश्व धरावन धीर।'

मेरु महीधर सूर शशि, सागर दीप विमान।
जां लगि तां लगि थिर रहो, पुस्तक चतुर सुजाण ॥ २॥"

इस प्रशस्ति से स्पष्ट है कि ढाका शहर में संवत् १८१७ में खरतरगच्छीय उपाध्याय नंदलाल के शिष्य हर्षचंद व मुनि नरसिंह थे। इन्होंने ही उक्त गुटका सेठ इंछाराम के पढ़ने के लिये लिखा था और उन्हें 'आदिपुराण' भी सुनाया था। इससे खरतरगच्छ के उक्त महानुभावों का संबंध दिगम्बर संप्रदाय से स्पष्ट है। वे लोग रुचिपूर्वक दिगम्बराम्नाय की रचनाओं का पठनपाठन करते थे और उसके क्रियाकाण्ड से भी परिचित थे, यह बात उस गुटका के पढ़ने से स्पष्ट होती है। विद्वानों को इस दिशा में अधिक खोज कर के इस विषय पर प्रकाश डालना चाहिये।

—का० प्र०

एक प्राचीन गुटका की कतिपय रचनायें

[२]

उपर्युक्त गुटका में कतिपय रचनायें मेरे देखने में अनूठी आई हैं। पाठकों के परिज्ञानार्थ उनका सामान्य परिचय यहाँ दिया जाता है। उस गुटको में एक रचना 'मालारोहण' नाम से दी हुई है और यह आजकल प्रचलित 'फूलमाल' का प्राचीन रूप भासती है। इसमें अग्रवाल-खंडेलवालादि उपजातियां नहीं गिनाई गई हैं; बल्कि यह एक आध्यात्मिक रचना है और इससे प्रकट है कि मंदिर के द्वार पर माला (वंदनवार) बांधते समय इसे पढ़ना चाहिये। पहले यह क्रिया महोत्सव-पूर्वक की जाती प्रतीत होती है, परन्तु आजकल उत्तर भारत के जैनी इसे भूल-से ही गए हैं और मंदिर-द्वार पर वंदनवार यदि कोई लगता भी है तो चुपचाप बांध देता है अथवा व्यास या माली से बंधवा देता है। जिनेन्द्र के पवित्रगेह के वृहद्-द्वार पर माला तो अवश्य भक्त श्रावकों को ही महोत्सव-पूर्वक बांधना चाहिये। देखिये उक्त 'मालारोहण' के आरंभ में कहा है कि सौधर्मेन्द्र ने उसे चैत्यालय के द्वार पर बांध कर आत्मभावना भाई थी :—

"सुरलोकात्समुत्तीर्णां सौधर्मेन्द्रेण निर्मिता मान्ये चैत्ये गृहद्द्वारे मालाभव्यैः प्रतिष्ठिता ॥१॥

"णमिव जिणवर सिद्ध आइरिय उज्झायइ पयजुयल।
णमिवि साहु वज्झीववकलउव्वाहवि भव्वयणि कहमि माल सुन्दर समुज्वल ॥"

इस रचना का अन्त निम्न गाथाओं में हुआ हैं; जो जिस तरह लिखी हुई है वैसे ही यहां दी जाती हैं :—

"विजयराय हं कुशलुलोया हं, कम्मरकउ मुणिवर हं।
धम्मविहि अणवरउ भव्वजहं, जिणइंदह पावरकउ ॥

संति पुच्छे जिणफरउ सव्वहं, माल पढंत सुणंतय हं ।
जं वट्टइ परिऊसु, उवगाउ मंगल वीरतहिं जिण इंदहु सविसेसु ॥३०॥"

इस रचना के आगे उक्त गुटका में कुछ 'गद्य' रचना भी है, जो उस समय के गद्य-लेखन का एक नमूना कहा जा सकता है; यथा :—

"देउ परम वीतराग सर्वज्ञनाथ ॥१॥ देव दृढ़ कर्म्मवन दहन दावानल ॥२॥
देउ अष्टादश दोष निर्मुक्त ॥३॥ × × × × देउ शांतिकल्याण कारक ॥३६॥
देउ त्रिभुवन-चूडामणि ॥४०॥

स जयति सर्वज्ञनाथ। एवं विधि गुणयुक्त शिवपद सुखानुरक्त जो अन्तिम तीथकर क्षेमंकर जगत्रयलब्धमान श्रीवर्द्धमान ....भट्टारकर श्री परमाला। आनंदित भव्यकुलपुष्पधूलीधूसरितालिकुलं। हरिचंदनसौरभ्यसुरविमानावतीर्णा। इह लोके कोऽपि महाभव्य निजभुजोपार्ज्जित वित्तवेचइं ॥ इति ॥"

आगे 'हिंडोलना' नामक रचना भी अध्यात्मक रस से ओतप्रोत है। नमूना देखिये :—

"सहज हिंडोलना झूलत चेतनराज ।
जहाँ धर्म्म कर्म्म संयोग उपजत, रस सुभाउ विभाउ ।
जहाँ सुमनरूप अनूपमंदिर सुरुचि भूमि सुरंग ।
तहाँ ग्यान दरसन थंभ अविचल चरन आड़ अभंग ।
मरुवासु गुन परजायइ विवरन संवर विमल विवेक ।

× × × × ×

इह भांति सहजहि हिंडोल झूलत करत आतम काज ।
भव तरणतारण दुख निवारण सकल मुनि सिरताज ॥
ते नर विचक्षण सदय लक्षण करत ग्यान विलास ।
कर जोरि भगत विशेष विधि सौं नमत केशौदास ॥"

यह केशौदास कौन हैं ? यह कुछ पता नहीं, परन्तु उनकी यह रचना सरस है। इसी गुटके में श्रीलालचंदजी-कृत वीर भगवान के अष्टक भी दिये हैं, जिनका नमूना इस प्रकार है :-

"भृङ्गार कंचन को मनोहर रतन जरित अपाऊ ।
हिमवंत गिरि पर पद्मद्रह भरि नीर निरमल ल्याऊँ ॥
सो आनि छानि सुगंध सौरभ प्रासुक करो गुनधीर ।
जिनराजपद प्रक्षालिये, पिय पाप न रहत शरीर ॥

चलहु पिय पूजहु वीर जिनिंद, चेलना कहत सुनो पिय सैनिक, आनंद को सुखकंद ॥१॥"

इन उल्लेखों से हिन्दी की प्राचीन लेखन-प्रणाली पर भी प्रकाश पड़ता है, क्योंकि वे अपने असली रूप में ही उद्धृत किये गये हैं।

— का० प्र०

"जैन एन्टीक्वेरी" के लेख

[३]

जैन "सिद्धान्तभास्कर" का अंग्रेजी भाग "जैन एन्टीक्वेरी" नाम से उसी के साथ प्रकट होता है; परंतु अंग्रेजी भाषा से अनभिज्ञ पाठकगण उससे लाभ नहीं उठा सकते। उनकी इस असुविधा को यथासाध्य मेंटने के भाव से हम यहां उसके पिछले (जून मास के) अङ्क का सार उपस्थित करते हैं। आशा है, कि पाठकों को यह रुचिकर होगा।

(१) 'प्रभावक-चरित्र' के आधार से प्रो० दशरथ शर्मा ने 'बप्पभट्टि सूरिचरित' में आये हुए (१) कन्नौजराज आम, (२) गौड़ शासक धर्म, (३) कन्नौजराज यशोवर्मन् मौर्य—नं० १ के पिता, (४) 'गौड़ वध' के कर्त्ता कवि वाक्पतिराज, (५) गुजरातस्थ पाटलनगर के राजा जितशत्रु, (६) बौद्ध विद्वान् वर्द्धनकुञ्जर (७) राजगिरि के राजा समुद्रसेन, (८) दुंदुक नं० १ का पुत्र, (९) भोज, नं० १ का पौत्र और नं० ८ का पुत्र, (१०) बप्पभट्टि के गुरु आचार्य सिद्धसेन, (११) बप्पभट्टि के सहपाठी गोविंदसूरि और नन्नसूरि तथा (१२) बप्पभट्टि नामक व्यक्तियों की ऐतिहासिकता प्रमाणित की है। आम कन्नौज के प्रतिहार राजा नागभट्ट द्वितीय हैं, जिनका अपर नाम नागावलोक था और जो बप्पभट्टिसूरि के शिष्य एवं मित्र थे। धर्म पालवंश के राजा धर्मपाल हैं। यशोवर्मन् मौर्य का नाम इतिहास में नहीं मिलता। शायद यह वाक्पतिराज के समसामयिक यशोवर्मन् होंगे; जिनकी मृत्यु से तीन वर्ष बाद बप्पभट्टि सूरि का जन्म हुआ था। इन यशोवर्मन् को काश्मीर के मुक्तापीठ ललितादित्य ने वि० सं० ७९७ में परास्त कर तलवार के घाट उतारा था। वाक्पतिराज 'गउडवहो' के रचयिता थे, परंतु वह बप्पभट्टि के समकालीन नहीं थे। जितशत्रु राजा ने संभवतः चावड़ा वनराज के पहले गुजरात में कहीं पर शासनाधिकार प्राप्त किया था। इतिहास में राजगिरि के समुद्रसेन का पता नहीं चलता। शायद यह कोई सरदार होंगे, जो संभवतः सेन राजवंश से संबंधित हों। दुंदक महाराजाधिराज रामभद्र प्रतिहार हैं। भोज प्रतिहार राजा भोज प्रथम हैं। उस समय जैनियों में उच्चकोटि के विद्वान् और कवि थे जिनका सम्मान भारत के अनेक राजा महाराजाओं ने किया था।

(२) श्री महेशचंद्र जैन ने जैनी कानून की प्रगति के इतिहास और उसकी विशेषताओं पर विद्वत्तापूर्ण लेख लिखा है। सन् १९२७ ई० में मद्रास हाईकोर्ट में मुकद्दमा नं० २२८ गटेप्प बनाम एरम में माननीय जज कुमार स्वामी शास्त्री ने जैन कानून को मान्य किया है और लिखा है कि जैनी हिन्दुओं में से नहीं निकले हैं—जैनों का अपना निजी इतिहास है। वह बहुत प्राचीन समय के हैं—हिन्दू-कानून के आधारभूत स्मृतियों आदि से पहले के हैं—ये वेदों को नहीं मानते। उनकी अपनी कानून की किताबें हैं। हिन्दू कानून उनसे लागू नहीं हो सकता।

(३) पटना जंकशन के निकट लोहनीपुर से दो प्राचीन पाषाण मूर्तियाँ उपलब्ध हुईं जो पटना म्यूज़ियम में भेज दी गई हैं। एक मूर्ति इनमें दिगंबर जैन प्रतिमा है और शीशे की तरह चमकती है। म० म० जायसवाल महोदय ने इस मूर्ति का समय ई० पू० ३०० बताया है और यह मोहनजोडरो की मूर्ति के समान है। दूसरी मूर्ति भी जैन तीर्थङ्कर की है। खेद है कि म० म० जायसवाल जी सख्त बीमार हैं, वरन् इन मूर्तियों पर उनका स्वतंत्र मत उन्हीं के शब्दों में प्रकट किया जाता।

(४) जैनकालगणना में लेखक ने जैनसंघ में कर्मयुग की आदि से जो घटनायें घटित हुईं उनका उल्लेख समयानुसार देना आरंभ किया है।

—का० प्र०

धर्मपुरा-दिल्ली के नये जैनमन्दिर की वेदी का परिचय

(४)

ई० सन् १८०३ में श्रीलाला हरसुखराय जी ने धर्मपुरा में नए मंदिर जी की बुनियाद रखी जो ७ वर्ष में ८ लाख रुपये की लागत से बनकर तैयार हुआ। इस मंदिर की वेदी जयपुर के स्वच्छ मकराने, संगमरमर की बनी है। और उसमें सच्चे बहुमूल्य पाषाण की पच्चीकारी का काम और बेलबूटों का कटाव ऐसी बारीक और अनुपम है कि ताजमहल के काम को लजाता है। और जगद्भ्रमण करने वाले अन्य देशों के यात्री इस वेदी के दर्शन बिना किए देहली से नहीं जाते। जिस कमल पर श्रीआदिनाथ मूलनायक की प्रतिमा विराजमान है उस कमल की लागत १००००) रुपए की है। और उसके नीचे चारों दिशा में जो सिंहों के जोड़े बने हुए हैं, उनकी कारीगरी अपूर्व और आश्चर्यजनक है। पहले इस मंदिर में एक यही वेदी थी। फिर एक पृथक् वेदी उस प्रतिबिम्ब-समूह के विराजमान करने के वास्ते बनाई गई, जिनकी रक्षा सन् १८५७ ई० के बलवे के समय में अपने जी-जान से जैनियों ने की थी।

उसके बहुत वर्ष पीछे दो स्वर्गीय आत्माओं की स्मृति में उनके प्रदान किए हुए रुपयों से दोनों वेदियां बनाई गईं। श्रीलाला हरसुखराय जी ने ६२ विशाल मंदिर जयसिंहपुरा-दिल्ली हस्तिनापुर, अलीगढ़, सोनागिरि, पानीपत, जयपुर, सांगानेर, आदि स्थानों में बनवाए। और उन मंदिरों के खर्चे के वास्ते भी यथेष्ट जायदाद प्रदान की।

—अजित प्रसाद एम०ए०, एल एल०बी०

धन्यवाद

(५)

जवाहरगंज, जबलपुर के रईस सिंघई श्रीप्रेमचन्द जी जैन ने धर्म-भावना से अनुप्राणित होकर मूल संस्कृत श्लोक-सहित पद्यात्मक 'हिन्दी भक्तामर' की प्रतियाँ भास्कर के पाठकों को विना मूल्य वितरण करने को जो भेजी हैं—एतदर्थ आप को अनन्त धन्यवाद है। पुस्तक की छपाई-सफाई चित्ताकर्षक एवं हिन्दी पद्य सुन्दर एवं सुगम हैं।

—के० बी० शास्त्री

इतिहास-संसार पर अनभ्र-वज्रपात

(६)

बेंगलोर के महामहोपाध्याय आर० नरसिंहाचार्य, एम०ए० एवं कलकत्ता-निवासी बाबू पूर्णचन्द्र नाहर एम०ए०, बी०एल० जैसे उद्भट इतिहास-वेत्ताओं का चिर-वियोग अभी हम भूले ही नहीं थे कि तबतक पटना के डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल एम०ए०, बार-एट-ला, विद्या-महोदधि के क्रांतिकारी निधन ने भारतीय-इतिहास-मर्मज्ञों के सामने एक विकट एवं विषादमय परिस्थिति उपस्थित कर दी। आप पटना म्यूजियम एवं वहाँ से निकलनेवाले जर्नल के अनन्य आधारस्तम्भ थे। आप की ऐतिहासिक गवेषणा विलक्षण एवं असन्दिग्ध होती थी। आप के पुरातत्त्व की गवेषणा सम्बन्धी प्रतिभा सर्वतोमुखी होने के कारण जैनपुरातत्त्व के भी आप विशेष मर्मज्ञ थे—इसका प्रमाणभूत निदर्शन खारवेल के शिलालेख का रहस्योद्घाटन आदि ही पर्याप्त है। भवन तथा भास्कर से आपको हार्दिक स्नेह था। सचमुच बिहार ने अपने एक समुज्ज्वल अन्तर-राष्ट्रीय पुरुष-रत्न को खो दिया। दिवंगत ऐसे पुरुषरत्न की आत्मा की चिरशांति एवं उनके परिवारवर्ग को इस असह्य शोक सहन करने की असीम शक्ति की प्राप्ति का यह "जैन-सिद्धांत-भास्कर" हार्दिक इच्छुक है।

—के० बी० शास्त्री

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा की संक्षिप्त रिपोर्ट

(वीर नि० स० २४६२ से २४६३ तक)

(७)

वीर सं० २४६२ ज्येष्ठ शुक्ल पञ्चमी से वीर सं० २४६३ ज्येष्ठ शुक्ल चतुर्थी तक लगभग ४००० पाठकों ने भवन से साहित्यिक लाभ उठाया है। विशिष्ट दर्शकों में से निम्नलिखित विद्वानों के नाम उल्लेखनीय है: -

(१) पं० वंशीधर शास्त्री न्यायतीर्थ, शोलापुर, (२) विन्ध्येश्वरी प्रसाद वकील, भागलपुर (३) विन्देश्वरी प्रसाद वकील, भागलपुर ४) गङ्गाधर अम्बष्ठ वकील, मुंगेर (५) परमेश्वरी प्रसाद वकील, मुंगेर (६) श्री पलटू झा प्रधानाध्यापक, गीताश्रम, दरभङ्गा (७) पं० राजकुमार शास्त्री, उदासीनाश्रम, इंदौर (८) पं० जयकुमार काव्य-तीर्थ, ललितपुर (९) पं० रामप्रसाद जैन, शास्त्री, आगरा। इन विद्वानों ने अपनी बहुमूल्य सम्मतियों द्वारा भवन के प्रवन्ध एवं संग्रहादि की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है।

इस वर्ष भवन में मुद्रित प्राकृत, संस्कृत हिंदी, कन्नड, मराठी, गुजराती आदि भारतीय विविध भाषाओं की चुनी हुई १०६ तथा अंग्रेजी का ४५ अर्थात कुल १५१ पुस्तकें संगृहीत हुई हैं।

भवन को ग्रन्थ भेंट करनेवाले दाताओं में धनकुमारचन्द जैन, बाढ़, रावजी सखाराम दोशी, शोलापुर, अगरचन्द नाहटा, विकानेर, राजकीय पुस्तकालय, मैसूर, आर्किलाजिकल रिसर्च मैसूर आदि सहृदय साहित्यिक सज्जनों और संस्थाओं के नाम विशेष उल्लेखनीय है।

इस साल निम्नलिखित हस्तलिखित ग्रन्थ भवन में लिखवा कर संगृहीत हुए है :—

(१) श्रेणिक-चरित्र—जयमित्र (प्राकृत)।

(२) पार्श्वपुराण—रइधू (प्राकृत)।

(३) अम्बिकाकल्प—शुभचन्द्र (संस्कृत)।

(४) नेमिनिर्वाण-पंजिका—ज्ञानभूषण (संस्कृत)।

(५) महीपाल-चरित्र—चारित्रभूषण (संस्कृत)।

इस संग्रह में दिल्ली-निवासी बाबू पन्नालाल जी जैन अग्रवाल से विशेष सहायता मिली है अतः भवन आपका आभारी है।

नियमानुसार भवन में आकर अध्ययन करनेवालों के अतिरिक्त अपवादरूप में बाहर भी ३५० ग्रंथ पठनार्थ दिये गये हैं। इनसे स्थानीय पाठकों के सिवाय कोल्हापुर, कलकत्ता, पानीपत, अलीगंज, उज्जैन, मैसूर आदि भारत के भिन्न भिन्न स्थानों के विद्वानों ने भी लाभ उठाया है।

फुटकर लिखाई के सिवाय इस साल भी 'ऐलक पन्नालाल सरस्वती-भवन' बंबई एवं 'रायचन्द्र आश्रम अगास' के लिये सिद्धांत ग्रंथ जयधवल का अवशिष्ट अंश लिखवाया गया है।

प्रकाशन-विभाग में इस वर्ष भी कोई अलग ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ है। इसी भास्कर में धारावाहिकरूप से "तिलोयपरणत्ती", "प्रशस्तिसंग्रह" एवं "वैद्यसार" प्रकाशित हो रहे हैं। इन ग्रन्थों में 'तिलोयपरणत्ती' जैनवाङ्मयमहार्णव का एक सर्वोज्ज्वल रत्न है। क्योंकि भौगोलिक एवं साहित्यिक दोनों दृष्टियों से इसका महत्त्व कहीं ऊँचा है। इसके प्रकाशन से जैनसाहित्य में एक नया प्रकाश पड़ेगा। इसी प्रकार "प्रशस्तिसंग्रह" भी कम महत्त्व का नहीं है। क्योंकि इसमें अमुद्रित जैनग्रंथरत्नों के उपयोगी अंश उद्धृत कर एवं यावच्छक्य ग्रंथों के रचयिता आदि के विषय में विशेष प्रकाश डालकर साहित्यिक एवं ऐतिहासिक विद्वानों के समक्ष एक अपूर्व उपयोगी साधन उपस्थित कर दिया गया है। बल्कि ऐतिहासिक विद्वानों ने इसके प्रकाशन का हार्दिक स्वागत किया भी है। तीसरा प्रकाशन वैद्यसार का भी जैनियों के लिये अल्प गौरव की वस्तु नहीं है। क्योंकि कई वैद्यों ने इसकी उपयोगिता की बड़ी प्रशंसा की है।

अब रहा 'भास्कर' का प्रकाशन। यद्यपि इसकी ग्राहक-संख्या बहुत ही अल्प है। किंतु जर्मन, इङ्गलैण्ड, अफ्रिका, अमेरिका तथा सिलोन आदि भारतेतर विदेशी विद्वान भी इसके सहृदय पाठक हैं और उन्होंने भी इसकी पर्याप्त प्रशंसा की है। बल्कि भास्कर के लिये यह गौरव की बात है कि इसके हिन्दी-विभाग में प्रकाशित लेखों का बिहार गवर्नमेण्ट की ओर से अङ्गरेजी में अनुवाद होकर इंडिया ऑफिस लायब्रेरी लंडन में जाता है। जैनपत्रों में यह सम्मान भास्कर ही को प्राप्त है।

इस वर्ष अंग्रेजी में Indian Culture (2) Indian Historical quarterly. (3) Journal of B & O research Society (4) Annals of the Bhandarkar Oriental research Institute, (5) Karnataka Historical Review (6) The Adyar Library Bulletin (7) Inner Culture (8) Indian Library Journal (9) Jain Hostel Magazine (10) Jain gazette और हिन्दी में—(१) नागरी-प्रचारिणी पत्रिका (२) विशाल भारत (३) सरस्वती (४) जैन दर्शन (५) वैद्य (६) महिलादर्श (७) धर्म-दूत (८) शान्ति सिंधु (९) जैन बोधक (१०) दिगंबर जैन (११) जैन बन्धु (१२) जैन-मित्र (१३) जैन गजट (१४) जैन संदेश (१५) धर्मदिवाकर (१६) खंडेलवाल जैन हितेच्छु (१७) स्याद्वाद-केशरी (१७) विश्वमित्र। संस्कृत में (१) सूर्योदय (२) उद्यान-पत्रिका। कन्नड में (१) कर्नाटक साहित्य-परिषत्पत्रिका (२) प्रबुद्ध कर्नाटक (३) सुबोध आदि ३२ पत्रपत्रिकायें भवन में आयी हैं। इनमें से दो तीन के सिवाय सभी परिवर्तन तथा भेंट में आये हैं अतः इनके संचालकों का भवन सदा कृतज्ञ रहेगा।

ज्येष्ठ शुक्ल पञ्चमी, वि० सं० १९९४
ता० १३ जून, १९३७।

मन्त्री,
श्रीजैनसिद्धान्त भवन, आरा।

साहित्य-समालोचना

मूडबिदुरेय चरित्रे

(१)

[लेखक—सरस्वतीभूषण वि० लोकनाथ शास्त्री; प्रकाशिका श्रीवीरवाणी-विलास जैन-सिद्धान्त-भवन की समिति, मूडबिदुरे; भाषा कन्नड पृष्ठ ७४, सन् १९३७, मूल्य छः आने। छपाई-सफाई एवं सुन्दर।]

इस पुस्तक में शास्त्री जी ने तेरह विषयों पर प्रकाश डालने का परिश्रम किया है। मेरी समझ में इसमें एक दो विषय ऐसे हैं, ऐतिहासिक कृति के नाते इस रचना में इनका समावेश नहीं होना चाहिये था। साथ ही साथ "दक्षिण कन्नड ज़िले के जैनियों का पूर्वेतिहास" जो एक बड़ा ही गहन एवं दुरूह विषय है इस पर बहुत कुछ लिखा जा सकता था—इस दृष्टि से इस पर जो कुछ लिखा गया है वह बहुत ही थोड़ा तथा क्रम-रहित है। क्योंकि विशेषतः मध्ययुग एवं मध्ययुग के उत्तर काल की शताब्दियों में इस ज़िले में जैनधर्म अधिक ऊर्जितावस्था में था। साथ ही साथ उस समय वहाँ जैन-समाज भी विशेष समृद्धिशाली रहा। इसके लिये वहां के भिन्न भिन्न स्थानों में उपलब्ध अनेक तत्कालीन भव्य जिनालय, गोम्मटेश्वर की शिलामय मनोज्ञ अखण्ड दो मूर्त्तियाँ, चित्ताकर्षक कई मानस्तंभ, धातु और शिला-निर्मित बहुमूल्य हजारों अन्यान्य प्रतिमायें, अलभ्य धवलादि ग्रन्थों का श्रुत-भाण्डार, आचार्यों के समाधिस्थान एवं राजमान्य जैनमठ आदि ही ज्वलन्त निदर्शन हैं। इनमें उस युग के जैन समाज की आदर्श संस्कृति, धार्मिक प्रभावना और राजाश्रय आदि निस्सन्देह प्रकटित होते हैं। कार्कल के भैररस ओडेय, मूडबिदुरे के चौट, बंगवाडि या नन्दावर के बंग और अलदंगडि के अजिल आदि जैन राज-वंश यहाँ के जैन-समाज को समुन्नत बनाने में प्रधान सहायक थे।

अब रही मूडबिदुरे की बात। यह स्थान जैनियों का एक प्रसिद्ध पुण्यक्षेत्र है। प्रति-वर्ष भारत के भिन्न भिन्न प्रान्तों से हजारों जैनयात्री यहाँ पर वंदनार्थ आया करते हैं। वास्तव में यहाँ के प्राचीन जिन-मंदिर, अन्यत्र अप्राप्य रत्न मूर्त्तियाँ, धवलादि सिद्धान्त ग्रन्थ, जैनमठ, सरस्वती भवन तथा जैन पाठशाला आदि उल्लेखनीय संस्थाओं से जैनियों में इस क्षेत्र को दक्षिण काशी कहना सर्वथा उपयुक्त है। ऐसे पवित्र स्थान का इतिवृत्त प्रकट होने की परमावश्यकता थी। शास्त्री जी का यहाँ की बातों का संग्रह कर प्रकाश में लाना वास्तव में

अभिनंदनीय है। अतः शास्त्री जी इस संकलन के लिये विशेष धन्यवाद के पात्र हैं। पुस्तक की रचना-शैली भी सहज-गम्य है। इसमें संदेह नहीं कि शास्त्री जी का यह प्रयास स्तुत्य है। इसी प्रकार शास्त्री जी, कार्कल, वेणूरु आदि इस ज़िले के अन्यान्य प्रमुख क्षेत्रों का भी इतिहास लिख डालें। पीछे दक्षिण कन्नड ज़िले के जैनियों का एक बृहत् एवं विश्वस्त इतिहास-प्रणयन करने वालों को इन संक्षिप्त इतिहासों से पर्याप्त सहायता मिलेगी। इन भिन्न भिन्न स्थानों के चरित्र लिखने में आर्थिक एवं मास्तिष्किक भार भी अधिक नहीं पड़ेगा। हाँ, उन्हें तैयार करते समय इन स्थानों के संबंध में प्राचीन एवं अर्वाचीन शिलालेख, ताम्रपत्र, स्थलपुराण और साहित्य आदि जितने भी साधन उपलब्ध हो सकें—उन सबों का उपयोग करना परमावश्यक होगा। यदि इस ज़िले में उपलब्ध भिन्न भिन्न स्थानों के जैन लेखों को संगृहीत कर प्रकट कर दिया जाता तो अनुसन्धान कर्त्ताओं को इनसे बहुत मदद मिलती। अन्त में मैं फिर एकबार इस स्तुत्य कार्य के प्रयासी पं० लोकनाथ जी शास्त्री को धन्यवाद दिये देता हूं। खास कर दक्षिण कन्नड़ ज़िले की जैन जनता से मेरा अनुरोध है कि इस पुस्तक को पढ़ कर अपने ज़िले के अन्यतम पवित्र तथा प्रमुख स्थान मूडबिद्रे के गत वैभव को ज्ञात कर समाज में नवजीवन भरें। साथ ही साथ शास्त्री जी से अनुरोध है कि इस 'चरित्र' के दूसरे संस्करण में प्रस्तुत संस्करण में जो जो त्रुटियाँ रह गयी हैं, उन्हें ऐतिहासिक विद्वानों की राय से दूर करने की अवश्य चेष्टा करेंगे।

—के० बी० शास्त्री

कर्मदहनाराधना-विधान

(२)

सम्पादक—सरस्वती भूषण पं० लोकनाथ शास्त्री, प्रकाशक—जैन ब्राह्मणविद्या-वर्द्धक-संघ मूडबिद्रे, भाषा संस्कृत, पृष्ठ-संख्या ३७, सन् १९३७ ई०। मूल्य एक आना।

यह लघुकलेवर ग्रन्थ संस्कृत भाषा में है। इसके रचयिता चन्द्रकीर्त्ति जी हैं। पता नहीं कि यह चन्द्रकीर्त्ति कौन हैं। रचयिता के विषय में कुछ प्रकाश डालना आवश्यक था। पद्मपुराण, पूजाकल्प, विमान-शुद्धि आदि कृतियों के प्रणेता भट्टारक चन्द्रकीर्त्ति ही इसके रचयिता हैं, या और कोई, इस बात की जाँच होनी चाहिये। एक चंद्रकीर्त्ति का नाम श्रवणबेल्गोलस्थ कई शिलालेखों में भी पाया जाता है। 'कर्णाटक-कवि-चरिते' भाग २य, पृष्ठ २४ में भी एक चंद्रकीर्त्ति का उल्लेख मिलता है। 'कवि चरिते' के रचयिता के अनुमानानुसार इनका समय लगभग सन् १५०० ई० है। इन्होंने कन्नड भाषा में 'परमागम-सार' नामक ग्रन्थ की रचना की है। यह ग्रन्थ 'कन्द' वृत्त के १३२ पद्यों में समाप्त हुआ है।

इसका विषय आध्यात्मिक है। अन्यान्य शिलालेख एवं पट्टावलियों में भी चंद्रकीर्त्ति का नाम मिलता है। अस्तु, भाषा की दृष्टि से यह ग्रन्थ साधारण है। कहीं कहीं अशुद्धियाँ भी रह गयी हैं। आशा है कि द्वितीय संस्करण में इसका परिमार्जन हो जायगा। छपाई-सफाई साधारणतया अच्छी है। एक नवीन कृति को कन्नड जैन जनता के समक्ष प्रकाश में लाने के उपलक्ष में हमारे उत्साही शास्त्री जी धन्यवाद के पात्र हैं।

—के० भुं० शास्त्री

स्तोत्र-मंजरि

(३)

सम्पादक—सरस्वती-भूषण पं० लोकनाथ शास्त्री, प्रकाशक—किज्जनारु अनन्तराज शेट्टि, भाषा संस्कृत एवं कन्नड, पृष्ठ ५०, सन् १९३५ ई०, मूल्य शास्त्र-विनय, पठन और आचरण।

इसमें निम्नलिखित विषय क्रमशः दिये गये हैं :—(१) प्राक्कथन (२) प्रकाशकीय वक्तव्य (३) शास्त्रदानी प्रकाशक के पूज्य पिता की संक्षिप्त जीवनी (४) श्रीमानतुङ्गाचार्य (५) पञ्च-गुरुस्तवन (कन्नड) (६) चतुर्विंशति तीर्थङ्कर-स्तवन (कन्नड) (७) कन्नड टीका-सहित भक्तामरस्तोत्र (८) कन्नडटीका-सहित महावीरस्तवन (९) कन्नडटीका-सहित सरस्वती-स्तोत्र (१०) आहारदान-विधि। उल्लिखित स्तोत्र-प्रणेताओं में इसमें केवल भक्तामर के प्रणेता श्रीमानतुङ्गजी का परिचय दिया गया है। ज्ञात होता है कि सम्पादक जी को शेष स्तोत्र रचयिताओं का परिचय न मिल सका, या इसकी प्राप्ति के लिये इन्होंने उद्योग ही नहीं किया। अथवा यह भी संभव है कि भक्तामर के रचयिता मानतुङ्गजी को प्रधान मान कर सिर्फ उन्हीं का परिचय आपने दे दिया हो। मेरा जहाँ तक अनुमान है कि यह परिचय हिन्दी का कन्नड रूपान्तर है। ऐतिहासिक विद्वानों में इस परिचय की कुछ बातों में मतभेद है। यहाँ उस मत-भेद का चर्चा करना अप्रासंगिक होगा, इसलिये नहीं किया।

इस स्तोत्रसंग्रह में नाम के नाते 'आहारदानविधि' का यह विषय उपयोगी होते हुए भी शामिल करना अप्राकरणिक जँचता है। एक बात और है कि इसमें भक्तामर स्तोत्र न देकर कोई अमुद्रित स्तोत्र देते तो अच्छा था, क्योंकि एक तो दिगंबर जैन समाज में ग्रन्थ प्रकाशनार्थ पैसा देने वाले ही कम हैं। अगर किसी की शुभभावना होती है तो प्रायः इसी प्रकार इधर उधर से स्तोत्र-भजन, कथा आदि संगृहीत कर छपवा दिये जाते हैं। हाँ, इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि दानी की इच्छा और दातव्य द्रव्य की तायदाद देखकर काम करना पड़ता है। मैंने भी इस बात को थोड़ी देर के लिये मान लिया। फिर भी दानी का

समझा बुझाकर उनका मन अत्युपयोगी प्रकाशनीय ग्रन्थों की ओर आकृष्ट करना मेरे जानते विद्वानों के लिये कोई दुस्साध्य नहीं है। अब रही द्रव्य की बात। उतनी ही छोटी परिमित रकम से चाहे तो कोई सम्पादक छोटा-मोटा प्राचीन उपयोगी ग्रन्थ ही प्रकाशन में ला सकते हैं; या देश, काल आदि को दृष्टि में रखते हुए कोई नया सामयिक साहित्य ही तैयार कर दे सकते हैं। इससे अधिक लाभ होगा। शास्त्री जी मेरे इस निष्पक्ष एवं स्पष्ट वक्तव्य को बुरा नहीं मानेंगे। क्योंकि मैं जो यह लिख रहा हूं—वह समाज की भलाई की दृष्टि से और शास्त्री जी भी एक सच्चे समाज और साहित्य-सेवक हैं। अन्त में मैं शास्त्री जी को अवश्य धन्यवाद देता हूं कि उन्होंने कतिपय नवीन स्तोत्रों को उपस्थित करते हुए शास्त्र-दानी महोदय की सदिच्छा को सम्पन्न कर औरों को भी अनुकरणीय कार्य करने का आदर्श उपस्थित किया है। इस "मंजरि" की छपाई-सफाई आदि साधारणतया अच्छी है। दैनिक स्तोत्र पाठ के लिये यह संग्रह श्रावकों के लिये उपयोगी है।

—के० बी० शास्त्री

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य का कुरल-काव्य

(४)

[जैन-वाङ्मय कुसुम-माला का नवम पुष्प, श्रीमान कुन्दकुंदाचार्य्य के 'कुरल-काव्य' का मराठी संस्करण, अनुवादक श्री 'अज्ञात', प्रकाशक श्री मोतीलाल हीराचन्द गाँधी तथा श्रीरावजी सखाराम दोशी, उस्मानाबाद, क्राउन पेपर ३६—१२८ उस्मानाबाद १९३७। मूल्य ।॥) आने]

भारतवर्ष के समस्त साहित्य में तामिल भाषा का प्राचीन कुरलकाव्य एक विचित्र रचना है जिसमें सार्वजनिक उपदेशकों की भरमार है। जैन, शैव, बौद्ध तथा इसाई सभी इसको अपनी सम्प्रदाय का ग्रंथ होने का दावा करते हैं। यह एक नैतिक ग्रंथ है जो व्यावहारिक जीवन के विभिन्न सामाजिक धर्म्मों से सम्बन्ध रखता है। इसमें किसान और कुमार दोनों को स्वल्प और संक्षिप्त दो पंक्तियों के पद्यों में, जो कि महत्त्वपूर्ण और नैतिक-समुत्तेजना-समन्वित हैं, प्रशस्त शिक्षाएँ दी गई हैं। प्रधानरूप से यह तीन भागों में विभक्त है जिनमें क्रमशः धर्म, सम्पत्ति तथा प्रेमविषयक वर्णन हैं। इस पुस्तक में कुल १३३ प्रकरण हैं जिनमें हरएक में १० पद्य हैं एवं सम्पूर्णतः १३३० पद्य हैं। युरोप तथा भारत दोनों देशों की अनेक भाषाओं में 'कुरल' का अनुवाद हुआ है। आङ्गलभाषा में सर्वप्रसिद्ध अनुवाद जी० यू० पोप और बी० बी० एस ऐयर के हैं।

प्रस्तुत समालोच्य पुस्तक 'कुरल-काव्य' अङ्गरेज़ी में अनुवादित कुरल के १०८० पद्यों का अविकल मराठी अनुवाद है। जहाँ तक हमें मालूम है कुरल के विषयों को मराठी पाठकों की सेवा में उपस्थित करने का यह प्रथम प्रयास है। पाठकों के इसके आधार तथा ऐतिहासिक अस्तित्व समझने की सुविधा के लिये तीन उपयोगी भूमिकायें दी गयी हैं। प्रथम भूमिका (Pancastikaya S B J III Arrah, 1920) की प्रो० चक्रवर्ती-लिखित अङ्गरेज़ी भूमिका का मराठी अनुवाद है, जिसमें विद्वान लेखक का यह निष्कर्ष है कि 'कुरल' एलाचार्य जो कुन्दकुन्दाचार्य का दूसरा नाम है, उनके द्वारा लिखित एक जैनकृति है। इसमें पुस्तक के निर्माणकाल की भी विवेचना की गयी है। दूसरी भूमिका स्वयं मराठी अनुवादक-द्वारा लिखी गयी है जो यह 'कुरल' के अध्ययनार्थ एक बहुत ही उपयोगी आधार है। तीसरी भूमिका जिसमें जनसाधारण के कर्त्तव्यों का वर्णन है सेठ रावजी सखाराम दोशी-द्वारा लिखी गई है जिन्होंने 'कुरल' के प्रकाशन में सहायता पहुंचाई है। किंतु संस्कृत तथा प्राकृत पद्यों और व्यक्तिवाचक नामों में अशुद्धियों को छोड़ सामूहिक विचार से यह पुस्तक एक सन्तोषजनक कृति है। आशा है 'कुरल' के इस मराठी संस्करण के लिये मराठी पाठक अवश्य अनुवादक तथा प्रकाशक के आभारी होंगे।

—ए० एन० उपाध्ये

तिलोयपण्णत्ती
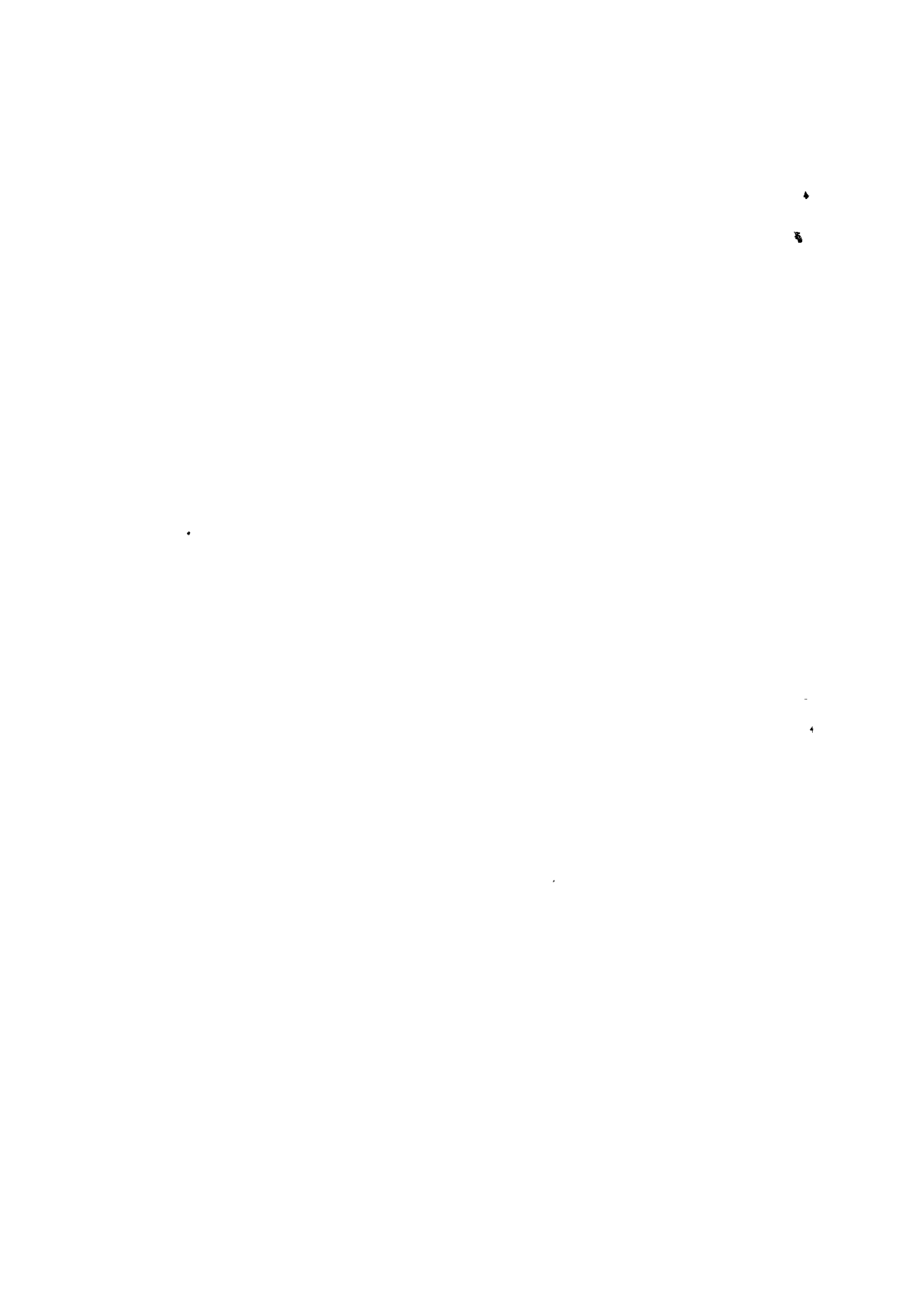
प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये.

≡ १४७३३ / ३४३ । ६ | ≡ १९९ / ३४३ । ८ | ≡ ६५९ / ३४३ । १४४ | ≡ ४५ / ३४३ । ८ |

सत्तहिदगुणलोगो विंदफलं बाहिरुभयबाहाणं ।
पणभजिदुगुणं[1] लोगो दूसं(?) सब्भंतरोभयभुजाणं ॥२३३॥
तस्साइं लहुबाहुं तग्गुणलोओ अ पट्टिसहिदाउ ।
विंदफलं जवखेत्ते लोओ सत्ते वि पविहत्ते ॥२३४॥
तप्पणतीसंपहदं सेढिघणं घणफलं च तम्मिस्सं ।
सत्तहिदो होदि सद्धो चउगुणिदो लोयखिदि पदे(?) ॥२३५॥
सामण्णे विंदफलं भुजकोडिसेढिचउरज्जूओ तइज्जएवेदा (?) ।
बहुजवमज्झे मुरवजवमुरयं होदि णियमेण ॥२३६॥
तम्मि जवे विंदफलं चोद्दसभजिदो य तियगुणो लोओ ।
मुरवमहोविंदफलं चोद्दसभजिदो य पणगुणो लोओ ॥२३७॥
घणफलमेक्कम्मि जवे लोओ बादालभाजिदो होदि ।
तच्चउवीसंपहदं सत्तहिदो चउगुणो लोगो ॥२३८॥
रज्जूवो तेदालं बारसभागो तहेव सत्तगुणो ।
ते लंभं (?) रज्जूओ बारसभजिदा हवंति उड्ढुड्डं ॥२३९॥
सत्तहदबारसं सो दिवड्ढगुणिदा हवेइ रज्जू य ।
मंदरसरिसायामे उच्छेहा होइ खेत्तम्मि ॥२४०॥
अट्ठावीसविहत्ता सेढी मंदरसमम्मि तलवासे ।
चउतद(?)कारणखंडिदखेत्तेणं चूलिया होदि ॥२४१॥
अट्ठावीसविहत्ता सेढी चूली य होदि मुहरुंदं ।
तत्तिगुणं भूवासं सेढी बारसहिदा तदुच्छेहो ॥२४२॥
अट्ठाणवदिविहत्तं सत्तट्ठाणेसु सेढिउड्ढुड्डं ।
ठविदूण वासहेदुं गुणगारं वत्तइस्सामि[2] ॥२४३॥
अडणउदी बाणउदी उणणवदी तह कमेण बासीदी ।
उणदालं बत्तीसं चोद्दस इय होंति गुणगारा ॥२४४॥
हेट्ठादो रज्जुघणा सत्तट्ठाणेसु ठविय उड्ढुड्ढे ।
ठविदूण वासहेदुं गुणगारं वत्तइस्सामि ॥२४५॥

---

1 S पणभत्ति, 2 AB वत्तइज्झा(ज्भा)मि ।

गुणगारा पणणउदी एक्कासे देहि जगमेकसयं ।
सगसीतेहि (हि?) दुस्संतिय धियदुसेया घणसहस्सा(?) ॥२४६॥
अडवीसं उणहत्तरि उणवण्णं ओवरि उवरिहाराय ।
चउचउवग्गं बारं अडदालं तिचउक्कचउवीसं ॥२४७॥
चोद्दसभजिदो वि यदि होदि विंदफलं बाहिरुभयबाहूणं ।
लोउ पत्त्वविहत्तदूसस्सब्भंतरोभयभुजाणं (?) ॥२४८॥
सत्ताइं लहुबाहू तिगुणियलोओ य पंचतीसहिदो ।
विंदफलं जवखेत्ते चोद्दसभजिदो हवे लोगो ॥२४९॥
एक्कम्मि गिरिविडए चउसीदी भाजिदो हवे लोओ ।
तं अट्ठतालपहदं विंदफलं तम्मि खेत्तम्मि ॥२५०॥
एवं अट्ठवियप्पा हेट्ठिमलोउए[1] वण्णिदो एसो ।
एण्हि उवरिमलोयं[2] अट्ठपयारं णिरूवेमो ॥२५१॥
सामण्णे विंदफलं सत्तहिदो होइ तिगुणिदा लोगो ।
विदिए वेदभुजासे सेढी कोडींतिरज्जूओ ॥२५२॥
तदिए भुवि कोडीउ सेढी वेदो वि तिण्णि रज्जूउ ।
बहुजवमज्झे मुरयं जवमुरयं होदि तक्खेत्तं ॥२५३॥
तम्मि जवे विंदफलं लोगो सत्तेहि भाजिदो होदि ।
मुरयम्मि य विंदफलं सत्तहिदो दुगुणिदो लोओ ॥२५४॥
घणफलमेक्कम्मि जवे अट्ठावीसेहिं भाजिदो लोओ ।
तं बारसेहिं गुणिदं जवखेत्ते होदि विंदफलं ॥२५५॥
तिहिदो दुगुणिदरज्जू तियभजिदा चउहिदा तिगुणरज्जू ।
एक्कत्तीसं च रज्जू बारसभजिदा हवंति उड्ढुड्ढं ॥२५६॥
चउहिदतिगुणिदरज्जू तेवीसं ताउ बारपडिहत्ता ।
मंदरसरिसायारे उस्सेहो उड्ढखेत्तम्मि ॥२५७॥
अट्ठाणवदिविहत्ता तिगुणा सेढी तदा णि वित्थारो ।
चउवत्त[3]कारणखंडिदखेत्तेणं चूलिया होदि ॥२५८॥
तिण्णि तदा भूवासो ताण तिभागेण होदि मुहरुंदं ।
तच्चूलियए उदउ चउभजिदा तिगुणिदा रज्जू ॥२५९॥
सत्तट्ठाणे रज्जू उड्ढुड्ढं एक्कवीसपविभत्तं ।
ठविदूण वासहेदुं गुणगारं तेसु साहेमि ॥२६०॥

1 विवण्णो हेट्ठिमलोओ य ; 2 AB ओवरिम ; 3 AB चउवृत, but in 241 ABS चउतद ।

पंचुत्तं एक्कसयं सत्ताणउदी तिअधियणउदीउ ।
चउसीदी तेवण्णा चउदालं एक्कवीसगुणगारा ॥२६१॥
उड्ढुड्ढं रज्जुघणं सत्तसु ठाणेसु ठविय हेट्ठादो ।
विंदफलजाणणट्ठं वोच्छं गुणगारहाराणि ॥२६२॥
दुसुदाणि दुसयाणि पंचाणउदी य एक्कवीसं च ।
सत्तत्तालसुदाणि बादालसयाणि एक्करसं ॥२६३॥
पणणवदियधियचउदससयाणि णवइ य हवंति गुणगारा ।
हारा णउणवएक्कं बाहत्तरि इगिविहत्तरी चउरो ॥२६४॥
चोदसभजिदो तिउणो विंदफलं बाहिरोभयभुजाणं ।
लोओ दुगुणो चोद्दसहिदो य अब्भंतरम्मि दूसस्स[1] ॥२६५॥
तस्स य जवखेत्ताणं लोओ चोद्दसहिदो दु विंदफलं ।
एत्तो गिरिविडखंडं वोच्छामो आणुपुव्वीए ॥२६६॥
छप्पणहिदो लोओ एक्कस्सि गिरगडम्मि विंदफलं ।
तं चउवीसं पहदं सत्तहिदो तिगुणिदो लोगो ॥२६७॥
अट्ठविहप्पं साहिय सामण्णं हेट्ठउड्ढ होदि जगं ।
एण्हिं साहेमि पुढ संठाणं वादवलयाणं ॥२६८॥
गोमुत्तमुग्ग (प्र ?) वण्णा घणोदही तह घणाणिलो वाऊ ।
तणुवादो बहुवण्णो रुक्खस्स तयं व वलयं पि ॥२६९॥
पढमो लोयाधारो घणोवही इह घणाणिलो तत्तो ।
तप्परदो तणुवादो अंतम्मि णहं णिआधारं ॥२७०॥
जोयणवीससहस्साबहलं तम्मारुदाण पत्तेक्कं ।
अट्ठ खिदीणं हेट्ठे लोअतले उवरि जाव इगि रज्जू ॥२७१॥

२०००० । २००० । २००० ।

सगपणचउजोयणयं सत्तमणारयम्मि पुहविपणधीए ।
पंचचउतियपमाणं तिरीयखेत्तस्स पणिधीए ॥२७२॥

७ । ५ । ४ । ५ । ४ । ३ ।

सगपंचचउसमाणा पणिधीए होंति बम्हकप्पस्स ।
पणचउतियजोयणया उवरिमलोयस्स यंतम्मि ॥२७३॥

७ । ५ । ४ । ५ । ४ । ३ ।

---

1 S वूसस्स व ।

कोसदुगमेक्ककोसं किंचूणेक्कं च लोयसिहरम्मि।
ऊणपमाणं दंडा चउस्सया पंचवीसजुदा ॥२७४॥

को २ को १ दंड १५७५

तिरियखेत्तपणिधिं गदस्स पवणत्तयस्स बहलत्तं।
मेलिय सट्ठमपोढवीपणिधिगमरुद्यबहलम्मि ॥२७५॥

तं सोधिदूण तत्तो भजिदव्वं छप्पमाणरज्जूहिं।
लद्धं पडिप्पदेसं जायंते हाणिवड्ढीउ ॥२७६॥

१२। ४। ६।

अट्ठछचउदुगदेयं तालं तालं तालट्ठतीसछत्तीसं।
तियभजिदा हेट्ठादो मरुवहलं(?) सयलपासेसु ॥२७७॥

$\frac{४८}{३}$	$\frac{४६}{३}$	$\frac{४४}{३}$	$\frac{४२}{३}$	$\frac{४०}{३}$	$\frac{३८}{३}$	$\frac{३६}{३}$

उड्ढजुगे खलु वड्ढी इगिसेढीभजिदअट्ठजोयणया।
एवं इत्थप्पहदं[I] सोहिय मेलिज्ज भूमिमुहे ॥२७८॥

मेरुतलादो उवरिं कप्पाणं सिद्धखेत्तपणिधीए।
चउसीदी छण्णउदी अडजुदसय(वार)बारसुत्तरं च सयं ॥२७९॥

एत्तो चउचउहीणं सत्तसु ठाणेसु ठविय पत्तेक्कं।
सत्तविहत्ते होदि हु मारुदवलयाण बहलत्तं ॥२८०॥

$\frac{८४}{७}$	$\frac{९६}{७}$	$\frac{१०८}{७}$	$\frac{११२}{७}$	$\frac{१०८}{७}$	$\frac{१०४}{७}$	$\frac{१००}{७}$	$\frac{९६}{७}$	$\frac{९२}{७}$	$\frac{८८}{७}$	$\frac{८४}{७}$

तीसं इगिदालदलं कोसा तियभाजिदा य उणवण्णा।
सत्तमखिदिपणिधीए बम्हजुगे वाउबहलत्तं ॥२८१॥

घ	घ	तनु
३०	$\frac{४१}{२}$	$\frac{४९}{३}$

पाठांतरं

दोच्छबारसभागब्भहिउ कोसो कमेण वाउघणं।
लोयउवरिम्मि एवं लोयविभायम्मि पण्णत्तं ॥२८२॥

१	१	१
$\frac{१}{१}$	$\frac{१}{६}$	$\frac{१}{१२}$

I इत्थं पहदं (?)।

वादवरुद्धं खेत्ते विंदफलं तह य अट्ठपुढवीए।
सुद्धायासखिदिस्स[1] लवमेत्तं वत्तइस्सामो ॥२८३॥

यहगाथांश है — संपहि लोगपेरंतट्ठिदवादवलयरुद्धखेत्ताणं[2]।
याणयणविधाणं उच्चद[3] लोगस्स तले तिणिवादाणं(?) ॥२८४॥

बहलं वादेक्कस्स य वीससहस्सा य जोयणमेत्तं।
तेसंमेलिदं कदे सट्ठि[4] जोयणसहस्सबाहल्लं ॥२८५॥
जगपदरं होदि

णवरि दोसु वि अंतेसु सट्ठिजोयणसहस्सउस्सेह।

परिहाणखेत्तेण ऊणं[5] पढमजोयदूणं सट्ठिसहस्स बाहल्लजगपदरमिदि संकप्पिय तच्छेदूण पुढं ति दव्वं ॥२८६॥

६००००

पुणो परज्जूसेदेण[6] सत्तरज्जूआयामेण सट्ठिजोयणसहस्सबाहल्लेण दोसु पासेसु ठिदवादखेत्तं बुद्धि[7] पुढक्करिय[8] जगपदरपमाणेण णिबद्धे वीससहस्साहिअजोयणलक्खस्स सत्तभागबाहल्लं जगपदरं होदि ॥२८७॥

= १२००००
७

तं पुव्विल्लक्खेत्तस्सुवरि ठिदे चालीसजोयण सहस्साहिय पंचण्हं[9] लक्खाणं सत्तभागबाहल्लं जगपदरं होदि ॥२८८॥

= ५४००००

पुणो अवरासु दोसु दिसासु एगरज्जुस्सेदेण तले सत्तरज्जुआयामेण मुहे सत्तभागाहियछरज्जुरुंदत्तेण ॥२८९॥

सट्ठिजोयणसहस्सबाहल्लेण ठिदवादखेत्तेण जगपदरपमाणेण कदे वीसजोयणसहस्साहियपंचपंचासजोयणलक्खाणं तेदालीसतिसदभागबाहल्लं जगपदरं होदि ॥२९०॥

= ५५२००००
१४३

एदं पुव्विल्ले[10] खेत्तस्सुवरिं पक्खित्ते एगूणवीसलक्खअसीदिसहस्सजोयणाहियतिण्हं कोडीणं तेदालीसतिसदभागबाहल्लं जगपदरं होदि

३१९८००००
३४३

1 BS खिदिदिस्स; 2 AB चिंताणं; 3 उच्चदि (?); 4 AS वासट्ठिं; 5 S उणं; 6 एगरज्जूसेधेण(?); 7 AB बुद्धि; 8 पुधक्करिय (?); 9 ABS 1 after पंचण्हं; 10 S पिव्वल्ल। पि

पुणो सत्तरज्जुविक्खंभतेरहरज्जुआयामसोलहबारहजोयणबाहल्लेण दोसु वि पासेसु ठिदवादखेत्ते जगपदरपमाणेण कदे चउसट्ठिसदजोयणूणअट्ठारहसहस्सजोयणाणं, तेदालीस-तिसदभागबाहल्लं जगपदरमुप्पज्जदि ॥२६१॥[1]

≡ १७८३६
३४३

पुणो सत्तभागाहियछरज्जुमूलविक्खंभेण छरज्जुउच्छेदेण एकरज्जुमुहेण सोलहबारह-जोयणबाहल्लेण दोसु वि पासेसु ठिदवादक्खेत्तं जगपदरपमाणेण कदे बादालीसजोयणसदा तेदालीसतिसदभागबाहल्लं जगपदरं होदि ॥२६२॥

=४२०००
३४३

पुणो एगपंचएगरज्जुविक्खंभेण सत्तरज्जुउच्छेदेण बारहसोलहबारहजोयणबाहल्लेण उवरिमदोसु वि पासेसु ठिदवादखेत्त जगपदरपमाणेण कदे अट्ठासीदिसमहियपंचजोयण-सदाणं एगूणवण्णासभागबाहल्लं जगपदरं होदि ॥२६३॥

≡ ५८८
४९

उवरि रज्जूविक्खंभेण सत्तरज्जुआयामेण किंचूणजोयणबाहल्लेण ठिदवादखेत्तं जगपदरपमाणेण कदे तिउत्तरतिसदाणं। बेसहस्सविसदचालीसभागबाहल्लं जगपदरं होदि ॥२६४॥

≡ ३०३
२२४०

एदं सव्वमेगंपथमेलाविदे चउवीसकोडिसमहियसहस्सकोडीओ एगूणवीसलक्खतेसीदि-सहस्सचउसदसत्तासीदिजोयणाणं णवसहस्ससत्तसयसट्ठिरूवाहियलक्खाए अवहिदेग-भागबाहल्लं जगपदरं होदि ॥२६५॥

= १०२४१९८३४८७
१०९७६०

पुणो अट्ठण्हं पुढवीणं हेट्ठिमभागावरुद्धवादखेत्तरफलं वत्तइस्सामो।

तत्थ पढमपुढवीए हेट्ठिमभागावरुद्धवादखेत्तरफलं एक्करज्जुविक्खंभसत्तरज्जुदीहा-सट्ठिजोयणसहस्सबाहल्लं एसा ?) अप्पणो बाहल्लस्स सत्तमभागबाहल्लं जगपदरं होदि ॥२६६॥

= ६००००
७

1 AB 300 and so on hereafter.

बिदियपुढवीए हेट्ठिमभागावरुद्धवादखेत्तघणफलं सत्तभागूणबेरज्जुविक्खंभा सत्तरज्जु-आयदा सट्ठिजोयणसहस्सबाहल्ला असीदिसहस्साहियसत्तण्हं लक्खाणं एगूणवण्णास-भागबाहल्लं जगपदरं होदि ॥२९७॥

$$= \frac{780000}{49}$$

तदियपुढवीए हेट्ठिमभागावरुद्धवादखेत्तघणफलं बेसत्तमभागहीणतिण्णिरज्जुविक्खंभ सत्तरज्जुआयदा सट्ठिजोयणसहस्सबाहल्ला चालीससहस्साधियएक्कारसलक्खजोयणाणं एगूणवंचासभागबाहल्लं जगपदरं होदि ॥२९८॥

$$= \frac{1140000}{49}$$

चउत्थपुढवीए हेट्ठिमभागावरुद्धवादखेत्तघणफलं तिण्णिसत्तभागूणचत्तारिरज्जुविक्खंभा सत्तरज्जुआयदा सट्ठिजोयणसहस्सबाहल्ला पण्णरसलक्खजोयणाणं एगूणवंचासभागबाहल्लं जगपदरं होदि ॥२९९॥

$$= \frac{1500000}{49}$$

पंचमपुढवीए हेट्ठिमभागावरुद्धवादखेत्तघणफलं चत्तारिसत्तभागूणपंचरज्जुविक्खंभा सत्तरज्जुआयदा सट्ठिजोयणसहस्सबाहल्ला सट्ठिसहस्साहियअट्ठारसलक्खाणं एगूणवंचास-भागबाहल्लं जगपदरं होदि ॥३००॥

$$= \frac{1860000}{49}$$

छट्ठपुढवीए हेट्ठिमभागावरुद्धवादखेत्तघणफलं पंचसत्तमभागूणछरज्जुविक्खंभा सत्तरज्जु-आयदा सट्ठिजोयणसहस्सबाहल्ला वीससहस्साहियबावीसलक्खाणमेगूणवंचासभागबाहल्लं जगपदरं हो[दि] ॥३०१॥

$$= \frac{2220000}{49}$$

सत्तमपुढवीए हेट्ठिमभागावरुद्धवादखेत्तघणफलं छसत्तमभागूणसत्तरज्जुविक्खंभा सत्त-रज्जुआयदा सट्ठिजोयणसहस्सबाहल्लासीदिसहस्साधियपंचवीसलक्खाण एगूणवंचास-भागबाहल्लं जगपदरं होदि ॥३०२॥

$$= \frac{2580000}{49}$$

अट्ठमपुढवीए हेट्ठिमभागवादावरुद्धखेत्तघणफलं सत्तरज्जुआयदा एगरज्जुविक्खंभा सट्ठिजोयणसहस्सबाहल्ला एसा अप्पणो बाहल्लं से सत्तभागबाहल्लजगपदरं होदि ॥३०३॥

= ६००००
७

एदं सव्वमेगं एमेलाविदे एत्तियं होदि

= १०६२००००
४६

॥ एवं वादावरुद्धखेत्तघणफलं समत्तं ॥३०४॥

संपहि अट्ठण्हं पुढवीणं पत्तेक्कं बिंदफलं[1] थोरुच्चएण (?) वत्तइस्सामो।

तत्थ पढमपुढवीए एगरज्जुविक्खंभा सत्तरज्जुदीहा वीससहस्सूणबेजोयणलक्खबाहल्ल एसा अप्पणो बाहल्लस्स सत्तमभागबाहल्लं जगपदरं होदि ॥३०५॥

= १८००००
७

बिदियपुढवीए सत्तमभागूणबेरज्जूविक्खंभा सत्तरज्जुआयदा बत्तीसजोयणसहस्स-बाहल्ला सोलससहस्साहियचउण्हं लक्खाणमेगूणवंचासभागबाहल्लं जगपदरं होदि ॥३०६॥

= ४१६०००
४६

तदियपुढवीए बेसत्तमभागहीणतिण्णिरज्जूविक्खंभा सत्तरज्जुआयदा अट्ठावीसजोयण-सहस्सबाहल्ला बत्तीससहस्साहियपंचलक्खजोयणाणं एगुणवंचासभागबाहल्लं जगपदरं होदि ॥३०७॥

= ५३२०००
४६

चउत्थपुढवीए तिण्णिसत्तमभागूणचत्तारिरज्जूविक्खंभा सत्तरज्जुआयदा चउवीसजोयण-सहस्सबाहल्ला छजोयणलक्खाणं एगूणवंचासभागबाहल्लं जगपदरं होदि ॥३०८॥

= ६०००००
४६

पंचमपुढवीए चत्तारिसत्तभागूणपंचरज्जुविक्खंभा सत्तरज्जुआयदा वीसजोयणसहस्स-बाहल्ला वीससहस्साहिय छण्णं लक्खाणमेगूणवंचासभागबाहल्लं जगपदरं होदि ॥३०९॥

६२००००
४६

1. S बिंद°।

प्रशस्ति-संग्रह

पं० के० भुजबली शास्त्री

अन्तिम भाग—

श्रीशान्तिवर्णिविरचितायां प्रमेयकण्ठिकायां पञ्चमः स्तवकः समाप्तः ।

प्रमेयकण्ठिका जीयात्प्रसिद्धानेकसद्गुणा ।
लसन्मार्तण्डसाम्राज्ययौवराज्यस्य कण्ठिका ॥
सनिष्कलङ्कं जनयन्तु तर्कं वा बाधितर्कों मम तर्करत्ने ।
केनानिशं ब्रह्मकृतः कलङ्कश्चन्द्रस्य किं भूषणकारणं न ॥

इस प्रमेयकण्ठिका के प्रणयन-द्वारा श्रीशांतिवर्णी जी ने माणिक्यनन्दिकृत परीक्षामुख-सूत्र के आधार पर अन्यान्य सांख्य, सौगत, भाट्ट एवं प्रभाकरादि दार्शनिकों के प्रमाणलक्षण आदि सदोष सिद्ध किये हैं। गुरुपरम्परा एवं गण-गच्छादि की चर्चा इस ग्रन्थ में नहीं होने के कारण शांतिवर्णी जी के विषय में अभी कुछ कहना असम्भव है। इसमें पाँच स्तवक हैं। प्रत्येक में अपने दार्शनिक सिद्धान्त का मण्डन तथा अन्य मत का खण्डन है। रचना-शैली परिष्कृत है।

---

(२३) ग्रन्थ नं० २३१/ख

शृंगारार्णवचन्द्रिका

कर्त्ता—विजयवर्णी

विषय—अलङ्कार

भाषा—संस्कृत

लम्बाई—८॥ इञ्च   चौड़ाई—७ इञ्च   पत्रसंख्या १०६

प्रारम्भिक भाग—

जयति संसिद्धकाव्यालापपद्माकरेयम् (?)
बहुगुणयुतजीवन्मुक्तिपंस............ ।
...स्वाणीसारमिक्षाणरम्यो—
जिनपतिकलहंसश्चारुसंनीति (?) वक्ष्ये ॥१॥

अमन्दानन्दसन्दोहपीयूषरसदायिनीम् ।
स्तवीमि शारदां दिव्यां सज्ज्ञानफलशालिनीम् ॥२॥
समन्तभद्रादिमहाकवीश्वरैः कृतप्रबन्धोज्ज्वलसत्सरोवरे ।
लसद्रसालंकृतिनीरपंकजे सरस्वती क्रीडति भावबंधुरे ॥३॥
श्रीमद्विजयकीर्त्यन्दोस्सूक्तिसन्दोहकौमुदी ।
मदीयं चात्मसन्तापं हृत्वानन्दं ददा त्वरम् ॥४॥
श्रीमद्विजयकीर्त्याख्यगुरुराजपदांबुजम् ।
मदीयचित्तकासारे स्थेयात्संशुद्धधीजले ॥५॥
मलयानिलसंकाशो गुणसौरभवर्द्धकः ।
सन्तापहृज्जनानन्दः सुजनो जीवताच्चिरम् ॥६॥
गुणवर्मादिकर्नाटकवीनां सूक्तिसञ्चयः ।
वाणीविलासं संदेयात् रसिकानन्ददायिनम् ॥७॥
राजनीतिमहाशास्त्रनिरूपितफलप्रदाम् ।
नानातटाककासारनदीवनविभूषिताम् ॥८॥
सं···दे पुरसंकाशनानानगरभासुराम् ।
जिनराजमहाधर्मश्रावकोत्तमराजिताम् ॥६॥
अष्टादशमहाश्रेणीभूषितां श्रीमतीतराम् (?) ।
पश्चिमार्णवपर्यन्तां दशां सर्वसुखप्रदाम् ॥१०॥
श्रीमद्भरतराजेन्द्रनामचक्रधरोपम् ।
श्रीवीरनरसिंहाख्यबंगभूमीश्वरो महान् ॥११॥
पालयंत्यमलां बंगवाडीपुरसमन्विताम् ।
कादम्बवंशजनितानेकभूमीशपालिताम् ॥१२॥
तस्यानुजो गुणा······दी पाराड्यनरेश्वरः ।
सत्येन रामचन्द्रोऽभूद्धर्मेण भरतेश्वरः ॥१३॥
रत्नत्रयमहाधर्मरत्नको राजशेखरः ।
महाकविजनस्तूयन् (?) मानसत्कीर्त्तिनायकः ॥१४॥
सोऽपि श्रीपाराड्यबंगोऽयं जिनपादाब्जिषट्पदः ।
अनुक्रमगतां भूमिं पूर्वोक्तां रक्षतिस्म वै ॥१५॥
तस्य श्रीपाराड्यबंगस्य भागिनेयगुणार्णवः ।
विट्ठलाम्बा महादेवी पुत्रो राजेन्द्रपूजितः ॥१६॥

श्रीकामरायबंगोऽभून्नाम्ना नृपतिकुञ्जरः।
वैरिसन्दोहगन्धेभघटाकण्ठीरवोपमः ॥१७॥
क्रमागतामिमां भूमिं पश्चिमाम्भोधिभूषिताम्।
श्रीकामिरायबंगेन्द्रः पालयत्यमलश्रियम् ॥१८॥
सराजकां···गोष्ठीषु सभाजनविभूषितः।
अपृच्छद्वितीयं (?) नाम्ना कविताशक्तिभासुरम् ॥१९॥
काव्यस्य लक्षणं किम्वा वर्णशुद्धिश्च कीदृशी।
रसभावौ कथम्भूतौ ते नृभेदाश्च कीदृशाः ॥२०॥
कीदृश्यलंकृती रीतिः कीदृग्वृत्तिश्च कीदृशी।
कीदृग्दोषो गुणो कीदृक् पृच्छतिस्मेति मां नृपः ॥२१॥
इत्थं नृपप्रार्थितेन मयाऽलङ्कारसंग्रहः।
क्रियते सूरिणा(?) नाम्ना शृङ्गारार्णवचन्द्रिका ॥२२॥

× × ×

मध्य भाग (पत्रपृष्ठ ३६, पंक्ति २)

सुकुमारत्वमौदार्यं श्लेषः कान्तिः प्रसन्नता।
समाधिरोजोमाधुर्यमर्थव्यक्तिस्तु साम्यकम् ॥४॥
एते दशगुणाः प्रोक्ता दश प्राणाश्च भाषिताः।
यथासंख्यं मया तेषां लक्षणं प्रतिपाद्यते ॥५॥
श्रुतिचेतोद्वयानन्दकारिणां कोमलात्मनाम्।
वर्णानां रचना-न्यासः सौकुमार्यं निरूप्यते ॥६॥
श्रीरायबंगक्षितिनायकस्य कीर्त्तिर्विशाला वरचन्द्रिकेव।
न चेत्त्रिलोकीजनचित्तजातं सन्ताप-जालं क निराकरोति ॥७॥
अर्थचारुत्वगमकं पदान्तरविराजितम्।
पदानां यदुपादानं तदौदार्यं मतं यथा ॥८॥
शब्दानामभिधेयानां गुणोत्कर्षो यथाथवा।
तदौदार्यं मतं लोके तदुदाहरणं यथा ॥९॥
कादम्बनाथस्य मदान्धशूरक्षोणीधरोत्तुंगमहागजेन्द्रः।
दिग्दन्तिनैरावतनामकेन स्पर्धां विधत्ते जगदद्भुतोऽसौ ॥१०॥
परस्परं प्रयुक्तानि स्यूतानीव पदानि वै।
निबिडानि प्रवर्त्तन्ते यत्र स श्लेष उच्यते ॥११॥

यस्योत्तुङ्गविशालकीर्त्तिविसरं दृष्ट्वा जगन्मोदते
क्षीराब्धिर्दिगिभो(?) महाधवलिमा व्योमापगा बन्धुरा।
नानाकारविचित्रशारदमहामेघावलीप्रोल्लसत्-
कैलाशाचलभूरिसारमिति का मत्वा(?)जगज्जृम्भितम् ॥१२॥

× × × ×

अन्तिम भाग :—

निर्दोषे सगुणे काव्ये सालङ्कारे रसान्विते।
रायबंगमहीनाथ तव कीर्त्तिः प्रवर्तताम् ॥११४॥
स्याद्वादधर्मपरमामृतदत्तचित्तः सर्वोपकारिजिननाथपदाब्जभृंगः।
कादम्बवंशजलराशिसुधामयूखः श्रीरायबंगनृपतिर्जगतीह जीयात् ॥११५॥
गर्वारूढविपक्षदक्षबलसंघाताद्भुताडम्बर
मन्द्रोद्दर्जनघोरनीरदमहासन्दोहझंझानिल।
प्रोद्यद्भानुमयूखजालविपिनव्रातानलज्वालमद्-
दृश्योद्दामसुरवीरविक्रमगुणास्ते रायबंगोद्भवः ॥११६॥
कीर्तिस्ते विमला सदा वरगुणा वाणी जयश्रीपरा
लक्ष्मीः सर्वहिता सुखं सुरसुखं दानं विधानं महत्।
ज्ञानं पीनमिदं पराक्रमगुणास्तुङ्गा नयः कोमलः
रूपं कान्ततरं जयन्तमिव(?) भो श्रीरायभूमीश्वर ॥११७॥

इति परमजिनेन्द्रवदनचन्द्रिरविनिर्गतस्याद्वादचन्द्रिकाचकोरविजयकीर्त्तिमुनीन्द्रचरणाब्ज-चञ्चरीकविजयवर्णिविरचिते श्रीवीरनरसिंहकामिरायनरेन्द्रशरदिन्दुसन्निभकीर्त्तिप्रकाशके शृङ्गारार्णवचन्द्रिकानाम्नि अलङ्कारसंग्रहे दोषगुणनिर्णयो नाम दशमः परिच्छेदः समाप्तः।

सुप्रसिद्ध प्राचीन अलङ्कारग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' की तरह इस में भी भिन्न भिन्न नाम के निम्नलिखित दश परिच्छेद हैं पर है यह स्वतन्त्र एवं सरल अलङ्कार-ग्रन्थ :—

(१) वर्ण-गण-फल-निर्णय (२) काव्यगत शब्दार्थ-निर्णय (३) रस-भाव-निर्णय (४) नायक-भेद-निर्णय (५) दश-गुण-निर्णय (६) रीति-निर्णय (७) वृत्ति-निर्णय (८) शय्या-भाग-निर्णय (९) अलङ्कार-निर्णय (१०) दोष-गुण-निर्णय।

मंगलाचरण के पाँचवें श्लोक से ज्ञात होता है कि इस 'शृङ्गारार्णवचन्द्रिका' के प्रणेता विजयवर्णी विजयकीर्त्ति के शिष्य थे। किन्तु इन विजयकीर्त्ति के सम्बन्ध में साधनाभाव

के कारण इस समय कुछ भी नहीं लिखा जा सका। दक्षिण कन्नड जिला में शासन करनेवाले जैनराज-वंशों में बंगवंश तुळु राज्य में सर्वमान्य सम्मान प्राप्त किये हुआ था। यह सम्मान आज भी इस वंश को पूर्ववत् प्राप्त है। शालिवाहन शक १०७९ (ई० सन् ११५७) के पहले का इस वंश का कोई विश्वस्त परिचय नहीं मिलता। बंगवंश के मूल चरित्र के सम्बन्ध में ऐतिहासिक विद्वानों में मतभेद है। इसीलिये शालिवाहन शक १०७९ (ई० सन् ११५७) से इस वंश का प्रामाणिक चरित्र वीरनरसिंह बंगराज से प्रारंभ होता है। बल्कि इस चरित्र में किसी को कोई आपत्ति भी नहीं है। मैसूर में जो गंगवंश चिरकाल तक शासन कर चुका है वही यह बंगवंश माना जाता है। वास्तव में 'गंग' और 'बंग' इन नामों में अक्षर-साम्य स्पष्टतया प्रतीत होना ही इसके एकीकरण का समर्थन करता है।

इनके वंशज पहले मैसूर प्रांतान्तर्गत गंगवाडि नामक स्थान में दीर्घकालतक राज्यशासन करते रहे। पीछे होयिसळ राजा विष्णुवर्द्धन के द्वारा युद्ध में इन वीरनरसिंह के पूज्यपिता चन्द्रशेखर के मारे जाने पर वहाँ का राज्यशासन-सूत्र विष्णुवर्द्धन के हस्तगत हुआ। इसके बाद स्वर्गीय चन्द्रशेखर के शुभ-चिन्तक मन्त्री पुरोहित आदि इनके पुत्र वीरनरसिंह को लेकर कुछ कालतक मलेनाडु में छिप-लुक कर जीवन बिताते रहे। पश्चात् विष्णुवर्द्धन के लोकान्तरित होने पर ये निर्भीक होकर पश्चिम-घाटी से उतर कर बंगवाडि (दक्षिण कन्नड ज़िला) में आकर रहने लगे। ज्ञात होता है कि 'गंग' 'बंग' के नामानुकूल ही क्रमशः इनकी राजधानी का नाम गंगवाडि एवं बंगवाडि रक्खा गया था। वास्तव में बाद की यह बंगवाडि उनकी पूर्वराजधानी गंगवाडि की याद दिला रही है।

अस्तु, एक समय विष्णुवर्द्धन के पुत्र त्रिभुवनमल्ल अपनी प्रजाओं की देख-रेख करने के निमित्त जब दक्षिण कन्नड ज़िला में आये तब वह बंगवाडि भी गये। इस सुअवसर को पाकर मन्त्री पुरोहित आदियों ने राजकुमार को उक्त त्रिभुवनमल्ल के समक्ष उपस्थित कर दिया। इन्होंने इस राजकुमार को होनहार देख एवं प्रसन्न हो इन्हें उस प्रांत का शासक बनाकर अपने ही नामानुसार इनका नाम भी वीरनरसिंह रक्खा। इनका भी पूरा नाम त्रिभुवनमल्ल वीरनरसिंह ही था। यह बात बंगचरित्र आदि पुस्तकों में विस्तृतरूप से प्रतिपादित है।

शालिवाहन शक ११३० (ई० सन् १२०८) में इन वीरनरसिंह का पुत्र चन्द्रशेखर बंग सिंहासनारूढ हुए। इनके बाद शालिवाहन शक ११४७ (ई० सन् १२२४) में इनके छोटे भाई पाण्ड्यप्प बंग शासक हुए। इनके बाद शालिवाहन शक ११६२ (ई० सन् १२३९) में इनकी बहन बिट्ठलादेवी राज्यशासन की सञ्चालिका नियत हुई। तत्पश्चात् शालिवाहन

शक ११६६ (ई० सन् १२६४) में इनका पुत्र प्रथम कामरायबंग राजसिंहासन पर आरूढ़ हुए। इन्हीं की प्रेरणा एवं प्रार्थना से श्रीमान् कविवर विजयवर्णी जी ने इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है। उल्लिखित ये ऐतिहासिक बातें इनकी प्रतिपादित राजपरम्परा-वर्णन से भी अक्षरशः मिलती हैं। इस अलंकार-ग्रन्थ में गुण, रीति, दोष एवं अलङ्कारादि के लक्षणों के जितने उदाहरण दिये गये हैं, वे सभी अपने प्रेरक कामराय बंग के प्रशंसा-परक पद्यमय हैं। कवि के "श्रीवीर-नरसिंह-कामरायबंगनरेन्द्रशरदिन्दुसन्निभकीर्त्तिप्रकाशके शृङ्गारार्णव चन्द्रिकानाम्नि अलङ्कारसंग्रहे" इस अन्तिम वाक्य से भी उक्त राजा का प्रशंसा-परक काव्य लिखना ही सिद्ध होता है। कवि वर्णी जी प्रारंभिक सातवें पद्य में सुप्रसिद्ध कन्नड कवि गुणवर्मा का भी स्मरण करना नहीं भूले हैं। इसी के प्रारंभिक अन्यान्य कई पद्यों से बंगवाडि की प्राचीन समृद्धि स्पष्ट झलकती है। बारहवें पद्य से कदम्बराजवंश भी इस प्रांत का शासक रह चुका है—यह बात पुष्ट होती है। ग्यारहवें से १७वें तक के पद्यों में वीरसिंह पांड्यप्पबंग एवं कामराय की विशेष रूप से प्रशंसा की गयी है। वर्णी जी ने इस ग्रन्थ के कई पद्यों में छन्दोभंग न हो इस लिहाज से 'श्रीराय' 'रायराट्' आदि संक्षिप्त संकेतों के द्वारा ही अपने आश्रयभूत कामराय का उल्लेख किया है। १९५ के पद्यगत "कादम्बवंश-जलराशिसुधामयूखः" इस कथन से तो यह बंगवंश 'गंग' वंश न होकर 'कदम्ब' सा ज्ञात होता है—यह बात अवश्य विचारणीय है।

---

(२४) ग्रन्थ नं० २३५/ख

त्रैवर्णिकाचार

कर्त्ता—श्रीब्रह्मसूरि

विषय—श्रावकाचार

भाषा—संस्कृत

लम्बाई १७ इञ्च चौड़ाई ७ इञ्च पत्रसंख्या ५६

प्रारम्भिक भाग—

अथोच्यते त्रिवर्णानां शौचाचारविधिक्रमः।
शौचाचारविधिप्राप्तौ देहं संस्कर्तुमर्हसि ॥१॥

संस्कृतो देह एवासौ दीक्षणाद्यभिसम्मतः ।
विशिष्टान्वयजोऽप्यस्मै नेष्यतेऽयमसंस्कृतः ॥२॥
असंस्कृता सुभूमिश्च नहि शस्यप्रवृद्धये ।
सुवस्तुनिर्मितादर्शो मलसङ्गान्नहीक्ष्यते ॥३॥
दीक्षणं जिनदीक्षाव ततोहि परमं तपः ।
ततो दुष्कृतिनाशः स्यात्ततो हि परमं सुखम् ॥४॥
सुखं वाञ्छन्ति सर्वेऽपि जीवा दुःखं न जातुचित् ।
तस्मात्सुखैषिणो जीवाः संस्कारायाभिसम्मताः ॥५॥
शौचमाचारवारोऽपि संस्कार इति भाषितः ।
अस्मादेव बहिश्शुद्धिरुदिता गृहचारिणाम् ॥६॥
अन्तश्शुद्धिस्तु जीवानां भवेत्कालादिलब्धितः ।
एषा मुख्यापि संस्कारं बाह्यशुद्धिरपेक्ष्यते ॥७॥
बीजस्याङ्कुरशक्तिस्तु विद्यमानापि वृद्धये ।
सुभूमिलेखातोयादिबाह्यहेतुरपेक्ष्यते ॥८॥
देहद्वारविशुद्धिश्च स्नानमाचमनादिकम् ।
सूतकाद्युपशुद्धिश्च शौचमित्यत्र भाषितम् ॥९॥
आचारो बहुधा प्रोक्तो गर्भाधानादिभेदतः ।
वक्ष्यतेऽस्माविदानीन्तु शौचस्य विधिरुच्यते ॥१०॥

× × ×

मध्य भाग (पूर्व पृष्ठ २२, पंक्ति ४)—

अथ नत्वा जिनाधीशमनघं विश्ववेदिनम् ।
ब्राह्मणादित्रिवर्णानामघभेदोऽभिधीयते ॥
इज्यादि कर्म घटते नास्मिन्निति निरुच्यते ।
अघमाशौचशब्देनाप्येतदेवाभिलप्यते ॥
चतुर्विधं भवेदेतदार्तवादिविभेदतः ।
आर्तवं सौतिकं आर्तं तत्संसर्गजमित्यपि ॥
आर्तवं पुष्परजसि ऋतुश्चेत्यभिधीयते ।
प्रकृतं विकृतं चेति स्त्रीणां तद् द्विविधं भवेत् ॥
मासे मासे समुद्भूतं प्रायः प्रकृतमुच्यते ।
द्रव्यरोगादिभिर्जातमकाले विकृतं रजः ।

कालजे त्र्यहमाशौचं तद्रजोदर्शनात्परम् ।
अर्धरात्रात्परं तच्चेत्प्रभाताद्यघमिष्यते ॥

× × ×

अन्तिम भाग :—

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वाणप्रस्थश्च भिक्षुकः ।
इत्याश्रमास्तु चत्वारो जैनानामागमोदिताः ॥

तत्रोपनयादारभ्य समावर्तनपर्यन्तमुपनयनब्रह्मचारी। स्त्रीसेवां कुर्वाणो जुगुप्सया गुरुसमक्षे तन्निवृत्तः आलम्बनब्रह्मचारी। विवाहपूर्वकं नियुवनपरिग्रहारम्भादिक्रियाप्रवृत्तो गृहस्थः। परिग्रहानुमत्युद्दिष्टनिवृत्ता वाणप्रस्थाः। वैराग्यदीक्षितो महाव्रती भिक्षुः। इत्याश्रमलक्षणम् ।

आदावाचारवार्धिशुद्धः सम्यग्गृह्णत्युदग्रव्रताभिरामः (?)
भव्यः सेव्यो वर्णिभिर्वन्द्यमानं यास्यत्यतो (?) ब्रह्मसौख्यास्पदं तत ॥

इति ब्रह्मसूरि विरचिते जिनसंहितासारोद्धारे प्रतिष्ठा (?) तिलकनाम्नि त्रैवर्णिकाचारग्रन्थे (संग्रहे) गर्भाधानादिविवाहपर्यन्तकर्मणां मन्त्रप्रयोगो नाम पञ्चमं पर्व समाप्तम् ।

इस त्रैवर्णिकाचार के कर्त्ता श्रीब्रह्मसूरि हैं। इसमें इन का कोई आत्मपरिचय नहीं है, किंतु इन्हीं के प्रणीत 'प्रतिष्ठासारोद्धार' नामक प्रतिष्ठा-ग्रन्थ में जो इनका परिचय उपलब्ध होता है—वह इस प्रकार है :—

पाण्ड्य देश में गुडिपत्तन नामका एक द्वीप था। वहाँ का शासक पाण्ड्य नरेन्द्र था। यह बड़ा ही धर्मात्मा, शूरवीर, कला-कुशल और पण्डितसेवी रहा। वहीं वृषभ तीर्थङ्कर का एक मनोज्ञ रत्न एवं सुवर्णजटित मन्दिर था; उसमें विशाखनन्दी आदि अनेक परम विद्वान् मुनिगण निवास करते थे। इसके बाद यह आगे सुप्रसिद्ध पुराण-प्रणेता जिनसेनाचार्य की आचार्य-परम्परागत गोविन्दभट्ट को ही अपना पूर्वपुरुष व्यक्तकर निम्न-रीति से अपनी वंशपरम्परा का उल्लेख करते हैं :—

उक्त गोविन्दभट्ट के श्रीकुमार, सत्यवाक्य, देवरवल्लभ, उदयभूषण, हस्तिमल्ल और वर्द्धमान नाम के छः लड़के थे। प्रख्यात कवि हस्तिमल्ल का पुत्र पण्डित पार्श्व जी थे। यह अपने पिता के समान ही यशस्वी, धर्मात्मा एवं शास्त्रमर्मज्ञ विद्वान् थे। पीछे यह पार्श्व पण्डित वशिष्ठ, काश्यपादि गोत्रज अपने बन्धुबान्धवों के साथ होयिसळ देश में जाकर रहने लगे। यह होयिसळ राजवंश पश्चिमी घाटी की पहाड़ियों में कडूरु जिले के

वैद्य-सार

पं० सत्यन्धर जैन, आयुर्वेदाचार्य

तेजपत्ता, इलायची, जायपत्री, कोड़ी की भस्म ये सब बराबर बराबर लेकर तीन दिन तक अलग अलग शतावरी तथा मूसली के रस से सात दिन तक घोंटे और उसकी एक एक रत्ती की गोली बनावे और दो दो रत्ती की मात्रा से शहद के साथ सेवन करावे तो यह वीर्य को स्तम्भन करनेवाला है और ऊपर से शक्कर, दूध एवं घी का सेवन करे। यह कामांकुशरस कामी जनों को आनन्द देनेवाला, हजारों स्त्रियों को तृप्तकरनेवाला उत्तम रसायन है। शरीर की कांति तथा बल को देनेवाला है। यह बाजीकरण पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ उत्तम प्रयोग है।

टिप्पणी—यह रस भी बहुत बढ़िया मालूम होता है लेकिन बहुत कीमती है। हरएक नहीं बना सकता है। इसमें जो व्योमसिंदूर शब्द आया है सो मल्लसिंदूर, ताम्र सिंदूर, ताल सिंदूर तो आये हैं लेकिन व्योमसिंदूर की जगह एक अभ्रसिंदूर रसयोगसागर में लिखा है, जो एक प्रकार की अभ्रक की भस्म ही है इसमें पारद नहीं है। बाजीकरण औषधियों के ३१ पुट लिखे हैं। कांतसिंदूर नहीं मिला, यह भी एक प्रकार का सिंदूर मालूम होता है जो लौहभस्म डालकर बनाया जाता है।

१०६—कुष्ठे तांडवाख्यरसः

तालं गंधं माक्षिकं च कुष्ठं पारदभस्म च।
श्वेतापराजिताम्भोभिः मर्दयेद्दिवसत्रयम् ॥१॥
धात्रीफलरसेनापि सप्तधा भावयेदमुं।
अन्धमूषागतं रुद्ध्वा चोर्ध्वं मृण्मयवेष्टितं ॥२॥
कुक्कुटाख्ये पुटे दग्ध्वाथगोमूत्रेण मर्दयेत्।
तांडवाख्यो रसो ह्येषः गुंजाद्वयनिषेवितः ॥३॥
कुष्ठानां वमनं पूर्वं विरेचनमतः परं।
ततो महाकषायश्च मंजिष्ठादिः प्रशस्यते ॥४॥
अष्टादशविधानां हि कुष्ठानां च विनाशकः।
तांडवाख्यरसश्चासौ पूज्यपादेन भाषितः ॥५॥

टीका—तवकिया हरताल की भस्म, शुद्ध गंधक सोनामक्खी की भस्म, मीठा कूट, पारे की भस्म (रससिन्दूर) इन सब को खरल में एकत्रित करके सफेद कोयल के स्वरस से तीन दिन तक बराबर मर्दन करे, फिर आँवले के फल के रस से सातबार भावना देवे बाद सुखाकर अंधमूषा में बंद करदे ऊपर से सात कपड़मिट्टी करके सुखा लेवे और फिर कुक्कुटपुट में

पकावे जब स्वांग शीतल हो जाय तब इसको गोमूत्र मे घोंट कर रख लेवे। इस रस को दो दो रत्ती अनुपान-विशेष से सेवन करे तथा ऊपर से महामंजिष्ठादि काढ़ा पीवे। इस रस के सेवन करने के पहले वमन, विरेचन, अवश्य करना चाहिये। यह रस अठारह प्रकार के कुष्ठों को नाश करनेवाला है। यह पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ उत्तम रस है।

११०—कुष्ठे तालकेश्वररसः

तालस्य सत्वमादाय तत्समा तु मनःशिला।
द्विभागं सूतकं चापि गंधकं च समं समं ॥१॥
गोकर्णिकारसैश्चापि धात्रीमोचोद्भवैः रसैः।
मर्दयित्वा तथा सर्वं खल्वे तत् पंचवारकं ॥२॥
रसैः पुनर्नवायाश्च पिष्ट्वा पिष्ट्वा पुनः पुनः।
तस्य पिण्डःप्रदातव्यो मूषिकायां तथापरं ॥३॥
कृत्वांध्रमूषिकां चापि वेष्टितां वसनादिभिः।
ततः पातालयंत्रेण पाचयश्च करिणीपुटं ॥४॥
ततस्तत्समभाकृष्य गुंजकां वा द्विगुंजकां।
भक्षयेत् प्रातरुत्थाय पर्णखंडेन केनचित् ॥५॥
गोऽजापयश्च धारोष्णमनुपानं कुष्ठरोगिणे।
श्वेतापराजिता देया कामलाव्याधिपीडिते ॥६॥
पयसा शर्करा देया जीर्णकुष्ठे च पुष्कले।
सप्तधातुगते कुष्ठे सप्ताहं च पिबेदनु ॥७॥
तालकेश्वरनामाऽयं पूज्यपादेन भाषितः।
नानाकुष्ठमहाव्याधिवने चरति सिंहवत् ॥८॥

टीका—तबकिया हरताल का सत्व, शुद्ध मैनशिल, एक एक भाग, शुद्ध पारा २ भाग, शुद्ध गंधक २ भाग इन सब को एकत्रित कर खरल में घोंटकर गोकर्णिका (मूर्वा), आँवले और केले के रस से पाँच पाँच बार अलग अलग घोंट कर तथा पुनर्नवा के रस से भी पाँच बार घोंट कर उसका पिंड बना कर अन्धमूषा में बंद करे एवं ऊपर से वस्त्र से वेष्टित कर और पाताल में गजपुट की आँच देवे। जब स्वांग शीतल हो जाय तब निकालकर एक रत्ती अथवा २ रत्ती प्रातःकाल पान के रस के साथ सेवन करे और ऊपर से गाय या बकरी का धारोष्ण दूध पिये। यह अनुपान कुष्ठ रोग का है। कामला से

पीड़ित मनुष्य के लिये सफेद कोयल (विष्णुकान्ता) का अनुपान देवे तथा पुराना कुष्ठरोग हो एवं सातो धातुओं में प्रविष्ट हो गया हो तो दूध और शक्कर सात दिन तक बराबर अनुपान में पिलावे। यह तालकेश्वर रस अनेक प्रकार के कुष्ठरोग को दूर करनेवाल पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

१११—अतीसारे महासेतुरसः

जातीफललवंगैलाकर्कोटजटिलांबुदाः।
ग्रन्थिका दीप्यकद्वन्द्वारलु बिल्वाम्रदाडिमाः ॥१॥
सैंधवातिषा मोचो (?) वनयत्तात्तिवीजकाः (?)।
धातकीकुसुमं व्योषत्वयाचित्रकजांबवं ॥२॥
लोहभस्माभ्रसिन्दूरविषपारदहिंगुलं।
एतानि समभागानि सर्वाणि खलु मेलयेत् ॥३॥
गुंजामात्रवटीं कुर्यात् मर्द्य धत्तूरवारिणा।
अनुपानविशेषेण सर्वातीसारनाशनः ॥४॥
महासेतुरिति ख्यातः महावेगस्य रोधकः।
सर्वश्रेष्ठप्रयोगोऽयं पूज्यपादेन भाषितः ॥५॥

टीका—जायफल, लवंग, छोटी इलायची, कांकरकोड़ा, जटामांसी, नागरमोथा, पीपरामूल, अजमोदा, अजवायन, श्योनाक, बेल की गिरी, आम की छाल, अनार का बकला, सेंधा नमक, अतीस, मोचरस, बहेरा, तालमखाने की लाई, धवई के फूल, सोंठ, मीर्च, पीपल, अरनी, चित्रक, जामुन की छाल, लोह भस्म, अभ्रक की भस्म, रससिन्दूर, शुद्ध विषनाग, शुद्ध पारा, और शुद्ध सिंगरफ इन सब को समान भाग ले और सबको एकत्रित करके धतूरे के रस मे घोंट कर गोली बना लेवे। यह सब प्रकार के अतीसारों को नाश करनेवाला है अतीसार के बढ़े हुए वेग को रोकनेवाला यह महासेतु रस पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ उत्तम प्रयोग है।

११२—प्रमेहे मेहारिरसः

सूतं गंधक कांतवंगगगनं मङ्डूरकं शीसकं
सौवीराद्रिजगैरिकं शशिशिला बब्बूलवीजं दलं।
कार्पासास्थिजलारिसिंधुलवणं चिंचाम्बुवीजत्वचं।
सारं बिल्वकपित्थनिंबकुटजमत्स्याक्षिमेदायुगं ॥१॥

गुंजायुग्मकिरीटनक्रजतुका भृंगं वराभिः समम्
चूर्णपारिणतलं सतक्रमथवा मध्वन्वितं तल्लिहेत् ।
पिण्याकोदनभोजनं प्रतिदिने तैलेन तक्रेण वा
विंशतिर्मेहजयी रसोनिगदितः श्रीपूज्यपादेन वै ॥२॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, कांत लौह भस्म, बंगभस्म, अभ्रक भस्म, मंडूर भस्म, शीशा भस्म, सफेद सुरमा, गेरू, शिलाजीत, कपूर, शिला, (मनशल), बब्बूल का बीज़ तथा पत्ती, कपास के बीज की गिरी, चित्रक, सेंधा नमक, इमली का बीज और इमली की छाल, बेल का सार, कवीट का सार, नीम का सार, कुरैया का सार, मजीठ, मेदा, महामेदा दोनों प्रकार के घुंघुचियों का फूल, हल्दी, लाख, दालचीनी, त्रिफला ये सब बराबर लेकर योग्य-मात्रा से छाँछ के साथ, मधु के साथ तथा पथ्य में रबड़ी मलाई, चावल खावे अथवा तैल से तथा छाँछ से भोजन करे तो यह रस बीस प्रकार के प्रमेह को नाश करता है।

११३—प्रमेहे मेहबद्धरसः

भस्मसूतं मृतं कांतं मुंडभस्म शिलाजतु ।
शुद्धं ताप्यं शिलाव्योषं त्रिफला कोलबीजकम् ॥१॥
कपित्थरजनीचूर्णं समं भाव्यं च भृङ्गिणा ।
विषमंनहिभागेन सघृतं समधुलिहेत् ॥२॥
निष्कमात्रं हरेन्मेहान् मेहबद्धरसो महान् ।
महानिबस्य बीजानि शिलायां पेषितानि च ॥३॥
पलतंडुलतोयेन घृतनिष्कद्वयेन च ।
एकीकृत्य पिबेच्चानु हन्ति मेहं त्रिदोषजम् ॥४॥

टीका—पारे की भस्म, कांतलोह भस्म, मंडूरभस्म, शिलाजीत, शुद्ध सोनामक्खी, शुद्ध शिला, त्रिकटु, त्रिफला, बेर की गुठली, कवीट (कैथा), हल्दी ये सब बराबर लेकर भंगरा के रस से गोली बनावे और बलाबल के अनुसार घी तथा शहद विषमभाग से मिला कर उसके साथ देवे तो सब प्रकार के प्रमेहों को दूर करे। इसको बकायन के बीजों को ४ तोला चांवल के पानी में पीसकर तथा उसी में ६ मासे घी मिलाकर ऊपर से पिलावे तो प्रमेह की शांति होवे।

११४—वाजीकरणादि प्रयोगे मदनकामरसः

सूतं गंधकतालकं मणिशिला ताप्यं तथा रौप्यकं
आरं वंगभुजंगहेमदरदं शुल्वं च लोहत्रयम्
वज्रं विद्रुममौक्तिकं मरकतं भस्म निरुत्थम् समम्
सर्वं भस्मकृतं पृथक्क्रमगतं वृद्धं च तत्संमितम् ॥१॥
खल्वमध्ये विनिक्षिप्य चार्कक्षीरेण मर्दितः।
कुमारीपत्रनिर्यासैः मर्दयेद्दिवसत्रयम् ॥२॥
वज्रमूषां दृढां कृत्वा तस्यां कल्कं विनिक्षिपेत्।
मृद्वग्निना पचेत् सम्यक् स्वांगशीतलमुद्धरेत् ॥३॥
मर्दयेत् मुसलीस्वरसैः छायायां च विशोषयेत्।
दातव्यः कुक्कुटपुटे पंचविंशतिवारकम् ॥४॥
खल्वमध्ये विनिक्षिप्य शाल्मलिद्रावसंयुतः।
शतावरीरसैश्चापि मुसलीक्षुरसैस्तथा ॥५॥
कोकिलाक्षा मुद्गपर्णी गोक्षुरश्च पुनर्नवा।
प्रत्येकेषां रसेनैव मर्दयेत्सूर्यवासरं ॥६॥
निक्षिपेत् वज्रमूषायां पुटं मध्यन्तु दीयते।
मर्दितस्य पुनर्द्रावैः पुटं सप्त यथाविधि ॥७॥
स्वांगशीतलमुद्धृत्य चातसीपुष्पद्रावकैः।
कूष्माण्डस्वरसेनैव विजयानागकेशरैः ॥८॥
चातुर्जातस्य निर्यासैः प्रत्येकः मर्दितं तथा।
शुष्कं कृत्वा समालोक्य पूरयेत् काचकूपिकाम् ॥९॥
यंत्रमध्ये विनिक्षिप्य चतुर्विंशतियामकम्।
धमेदग्निक्रमेणैव दीप्तमध्यमृदुवह्निना ॥१०॥
स्वांगशीतलमादाय चोद्धरेत् काचकूपिकाम्।
स्थापयेच्च शिलाखल्वे भावनाकारयेद्बुधः ॥११॥
इक्षुदाडिमखर्जूरमुसलीकनकगोक्षुराः।
चातुर्जातं गवांक्षीरः शर्करा मधुजीरकाः ॥१२॥
नीलोत्पलं च वकुचीनालिकेरैश्च भावना।
अपामार्गश्च विजया गुडूची त्रिफला तथा ॥१३॥

श्वेतवानरिबीजञ्च कौमारीकेतकीपयः।
रंभापक्वफलं चैव मोचमत्तश्च पिप्पली ॥१४॥
अश्वगंधा च कूष्मांडं विल्वकोबीजपूरकः।
प्रियालशुद्धबीजञ्च चीरवृक्षस्य पल्लवाः ॥१५॥
एषां निर्यासमुद्धृत्य प्रत्येकं पंचविंशतिम्।
भावनाः कारयेद्यस्तु शाल्मलीशतभावनाः ॥१६॥
भावितः शोषितः सिद्धः मदनकाम इतिस्मृतः।
एक गुंजो द्विगुंजो वा रसोऽयं सेवितः सदा ॥१७॥
अनुपानविशेषेण सर्वथा तु विवर्धनः।
वपुःकान्तिकरः श्रेष्ठः पूज्यपादेन भाषितः ॥१८॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक इन दोनों की कज्जली बनावे फिर तबकिया हरताल की भस्म, शुद्ध मैनशिल, शुद्ध सोनामक्खी, चांदी की भस्म, पीतल की भस्म, बंगभस्म, शीश की भस्म, सोने की भस्म, शुद्ध सिंगरफ, तामे की भस्म तीनों लोह (कांत, तीक्ष्ण, मुंड) की भस्म, हीरा की भस्म, प्रवाल भस्म, मोती की भस्म, मरकतमणि (पन्ना) की भस्म, इन सब की निरुत्थ भस्म, अलग करके तथा इनको एक से दूसरा क्रमशः बढ़ा कर लेवे (जैसे पारा एक भाग, गंधक २ भाग इत्यादि) इस प्रकार सबको एकत्रित कर खरल में अकौवा के दूध से घोंटे पश्चात् घीकुमारी के स्वरस से तीन तीन दिन तक लगातार घोंटे। बाद सुखाकर वज्रमूषा को बना उसमें उसको रखे और मंद मंद अग्नि से पकावे, जब स्वांगा शीतल हो जाय तब निकाल कर मुसली के स्वरस में अथवा काढ़े में घोंटकर छाया में सुखावे और कुक्कुटपुट में पच्चीसबार फूंके। प्रत्येक बार मुसली के स्वरस की भावना देता जाय, फिर खरल में डालकर सेमल की जड़ के स्वरस से भावना तथा शतावरी मूसली, ईख, तालमखाने, मुद्गपर्णी, गोखरू और पुनर्नवा इन आठों के स्वरस की चार चार दिन तक भावना देवे और सुखाता जावे, अन्त में वज्रमूषा में मध्यम पुट देवे। इस प्रकार यह एक पुट हुई। इसी तरह सात पुट देवे। स्वांग शीतल होने पर निकाल ले तथा अलसी के फूल, काले धतूरे, भांग, नागकेशर, तथा चातुर्जात (इलायची, दालचीनी, तेजपत्र, नागकेशर) के स्वरस की एक एक भावना दे सुखाकर कॉंच की शीशी में कपड़मिट्टी करके उसको भरे एवं बालुकायंत्र में २४ प्रहर तक पाक करे। यह पाक क्रम से मृदु एवं मध्यम आँच से पकावे। जब पाक हो जाय और जब ठंढा हो जाय तब निकालकर पत्थर के खरल में डालकर ईख, अनार खजूर, मूसली, धतूरे, गोखरू और चातुर्जात के रस की, गाय के दूध की, शक्कर की, शहद की, जीरे, नीलोफर, बकची, नारियल, अपामार्ग, भांग, गुरबेल, त्रिफला,

कपिकच्छू, घीकुमारी केवड़े, केला के फल, मोखा (पाढल), बहेरे, असगंध, कुम्हड़ा, बेल, बिजौरा नींबू तथा चिरौंजी, इन सब के स्वरस मे पच्चीस पच्चीस भावना देवे एवं सेमर के स्वरस की १०० एक सौ भावना दे। इस प्रकार भावना दे सुखाकर रख लिया जाय तो यह मदन काम नामका रस तैयार हो जाता है। इसको एक रत्ती, दो रत्ती के प्रमाण से विशेष अनुपान-द्वारा सेवन किया जाय तो सब धातुओं की वृद्धि होती है। तथा शरीर की कांति को बढ़ानेवाला यह पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ है।

११५—अजीर्णादौ प्रभावती बटी

हरिद्रा निंबपत्राणि पिप्पली मरिचानि च।
भद्रमुस्ता विडंगानि सप्तमं विश्वभेषजम् ॥१॥
चित्रकं गंधकं सूतं विषं पाणाहरीतकी।
एतानि समभागानि चाजमूत्रेण पेषयेत् ॥२॥
चणप्रमाणवटिकां छायाशुष्कं तु कारयेत्।
उष्णोदकेन पीतेन अजीर्णं नाशयेद्दृढम् ॥३॥
द्वयं विषूचिकां हंति तथैवोष्णेन वारिणा।
पंच लूतानि विस्फोटकांजयत्यव निश्चितम् ॥-॥
व्रणादावन्यरोगे च पानलेपं च कारयेत्।
वनिता स्तनदुग्धेन चांजने पटलापहा ॥५॥
राज्यंधं तिमिरं कांचं अन्यदार्द्रकवारिणा।
गोमूत्रेण सहैषा हि तृतीयादिज्वरं जयेत् ॥६॥
गुडोदकेन संपीता वातदोषं प्रशाम्यति।
गु..दकेन लेपेन क्षतजातं प्रशाम्यति ॥७॥
लेपनादेव नश्यंति शिरःशूलशिरोगदा।
स्त्रीस्तन्येनांजनं कार्यं नेत्रस्रावविमुक्तये ॥८॥
मधुना पिच्छिलं हंति ताम्रपत्रेण घर्षतः।
पुष्पं च पटलं हंति कदलीकंदवारिणा ॥९॥
नेत्रकाचं जयत्याशु कासमर्दरसान्विता।
छागमूत्रान्विता लेपैः नेत्रभार्मं विनाशयेत् ॥१०॥
अर्कक्षीरान्विता लेपो लूतादोषविनाशनः।
गुटिकासेवनेनैव मूत्रकृच्छ्रं विनाशयेत् ॥११॥

महारक्तप्रवाहे च गंधकेन समं पिबेत् ।
तक्रेण सहितं पीत्वा चातिसारं निकृन्तति ॥१२॥
अर्कदुग्धसमैः लेपो वृश्चिकाणां विषंहरेत् ।
गुटिका केवला च स्यात् नित्यज्वरप्रणाशिनी ॥१३॥
नारिकेलोदकैः लेपात् पुरुषव्याधिनाशिनी ।
ऊषणैः मधुपुष्पैस्तु संनिपातांस्त्रयोदशान् ॥१४॥
मासमेकं प्रयोगेण सर्वव्याधिहरा परा ।
वटी प्रभावतीनाम्ना पूज्यपादेन भाषिता ॥१५॥

टीका—हल्दी, नीम की पत्ती, छोटी पीपल, काली मिर्च, नागरमोथा, वायविडंग, सोंठ, चित्रक, शुद्ध गंधक, शुद्ध पारा, शुद्ध विषनाग, मोनापाठा, बड़ी हर्र का बकला इन सबको बराबर बराबर लेकर बकरी के मूत्र से घोंट कर चना के बराबर गोली बना छाया में सुखावे। इस गोली को गर्म जल से सेवन करे तो तीव्र अजीर्ण को नाश करती, दो दो गोली गर्म जल से सेवन करे तो विषूचिका की शांति, पाँच पाँच गोली सेवन करे तो मकड़ी का काटा हुआ विष शांत होता है। विस्फोटक तथा व्रण इत्यादि में इसके लेप करने से अथवा इसको खिलाने से लाभ होता है। स्त्री-दुग्ध के साथ आँख में अञ्जन करने से नेत्र के पटलरोग की शांति होती है। अदरख के रस के साथ अञ्जन करने से रतौंधी, नेत्रांधता इत्यादि शांत होती है। गोमूत्र के साथ सेवन करने के तिजारी इत्यादि विषम-ज्वर नष्ट होता है। गुड़ के पानी के साथ सेवन करने से वातदोष दूर होता है। वात से उत्पन्न हुआ व्रण भी शांत होता है। इसको शिर में लेप करने से शिर का शूल जाता रहता है। स्त्री के दूध के साथ अञ्जन करने से आँखों की स्राव ठीक होता है। शहद के साथ तामे के पत्र पर घिसने से नेत्र का पिच्छिल दोष शांत होता है, केला के कन्द के पानी के साथ घिस कर लगाने से नेत्र की फुली, माड़ा जाला सब शांत हो जाता है। कंसोदन के रस के साथ आँख में लगाने से आँख का काँच दोष शांत होता है। बकरी के मूत्र के साथ लेप करने से नेत्र की सूजन शांत होती है। अकौवा के दूध के साथ लेप करने से मकड़ी का काटा हुआ विष शांत हो जाता है। इस गोली को अनुपान विशेष के साथ सेवन करने से मूत्रकृच्छ्र (सुजाक) शांत होता है। शुद्ध गंधक के साथ सेवन करने से रक्त का कैसा ही प्रवाह हो बन्द हो जाता है। छाँछ के साथ पीने से अतीसार दूर होता है। अकौवा के दूध के साथ लेप करने से बिच्छू का काटा हुआ विष शांत हो जाता है। इसकी एक-एक गोली अनुपान के बिना सेवन करने से भी ज्वर निर्मूल हो जाता है। इस गोली को नारियल के पानी के साथ इन्द्रिय पर लेप करने से नपुंसकता दूर होती है।

ॐ

THE

JAINA ANTIQUARY

An Anglo-Hindi quarterly Journal.

Vol. III.] SEPTEMBER, 1937. [No. II.

Editors:

Prof. HIRALAL JAIN, M.A., LL.B., P.E.S.,
Professor of Sanskrit,
King Edward College, **Amraoti**, C. P.

Prof. A. N. UPADHYE, M.A.,
Professor of Prakrata,
Rajaram College, **Kolhapur**, S.M C.

B. KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.,
Aliganj, Distt. Etah, U.P.

Pt. K. BHUJABALI SHASTRI,
Librarian,
The Central Jaina Oriental Library, **Arrah**.

Published at

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription:

Inland Rs. 4. **Foreign Rs. 4-8.** **Single Copy 1-4.**

Professor O. STEIN.

Om.

THE

JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

Vol. III. No. II | ARRAH (INDIA) | Sept. 1937.

MYSTIC ELEMENTS IN JAINISM.

By

Prof. A. N. UPADHYE.

Some Aspects of Mysticism.—It is not easy to define mysticism exactly in plain terms. First, to a great extent, it 'denotes an attitude of mind which involves a direct, immediate, first-hand, intuitive apprehension of God.' It is the direct experience of the mutual response between the human and the divine indicating the identity of the human souls and the ultimate reality. Therein the individual experiences a type of consciousness of perfect personality. In the mystical experience the individual is 'liberated and exalted with a sense of having found what it has always sought and flooded with joy.' Secondly, mysticism, if it is to be appreciated as a consistent whole, needs for its back-ground a metaphysical structure containing a spirit capable of enjoying itself as intelligence and bliss and identifying itself with or evolving into some higher personality, whether a personal or an impersonal Absolute Thirdly, if mysticism forms a part of a metaphysico-religious system, then the religious

system must chalk out a mystic course of attaining identity between the aspirer and the aspired. Fourthly, the mystic shows often a temparamental sickness about the world in general and its temptations in particular Fifthly, mysticism takes for granted an epistemological apparatus which can immediately and directly apprehend the reality without the help of mind and senses which are the means of temporal knowledge. Sixthly, religious mysticism always prescribes a set of rules, a canon of morality, a code of virtues, which an aspirant must practise. And lastly, mysticism involves an amount of regard to the immediate teacher who alone can initiate the pupil in the mystical mysteries which cannot be grasped merely through indirect sources like scriptures etc.

Mysticism in Jainism.—An academic question whether mysticism is possible or not in a heterodox system like Jainism is out of court for the simple reason that some of the earliest author-saints like Kundakunda and Pūjyapāda have described transcendental experiences and mystical visions. It would be more reasonable to collect data from earlier Jaina works and see what elements of Jainism have contributed to mysticism, and in what way it is akin to or differs from such a patent mysticism as that of monistic Vedānta. To take a practical view the Jaina Tirthaṅkaras like Ṛṣabhadeva, Neminātha, Pārśvanātha, Mahāvīra have been some the greatest mystics of the world ; and rightly indeed Professor Ranade designates Ṛṣabhadeva, the first Tirthaṅkara of the Jainas, as 'yet a mystic of different kind, whose utter carelessness of his body is the supreme mark of his God-realization,' and gives details of his mystical life. It would be interesting to note that the details about Ṛṣabhadeva given in Bhāgavata practically and fundamentally agree with those recorded by Jaina tradition.

Elements of mysticism in Jainism—Monism and theism, rather than theistic monism, have been detected as the fundamental pillars of mysticism. In the transcendental experience the spirit realizes its unity or identity with something essentially divine. 'Mystical states of mind in every degree,' William James says, 'are shown by history, usually though not always, to make for the monistic view.' Thus

mysticism has a great fancy for monistic temparament; and in Vedānta it is seen at its best in the conception of a All-in-all Brahman, who represents an immanent divinity. Spiritual mysticism of Jñānadeva, however, reconciles both monism and pluralism by preserving 'both the oneness and manyness of experience.' The Jaina mysticism turns round two concepts: Ātman and Paramātman, which we have studied above. It is seen that Paramātman stands for God, though never a creator etc. The creative aspect of the divinity, I think, is not the sine qua non of mysticism. Atman and Paramātman are essentially the same, but in Saṃsāra the Ātman is under Karmic limitations, and therefore he is not as yet eveolved into Paramātman. It is for the mystic to realize this identity or unity by destroying the Karmic encrustation of the spirit. In Jainism the conception of Paramātman is somewhat nearer that of a personal absolute. The Ātman himself becomes Paramātman, and not that he is submerged in the Universal as in Vedānta. Early texts like Kamma-payaḍi, Kasāya and Kamma-pāhuda, Gommaṭasāra etc. give elaborate tables with minute details how the soul, following the religious path, goes higher & higher on the rungs of the spritual ladder called Guṇasthānas, and how from stage to stage the various Karmas are being destroyed. The space does not permit me to give the details here, but I might note here that the whole course is minutely studied and recorded with marvellous calculations that often baffle our understanding. Some of the Guṇasthānas are merely meditational stages, and the subject of meditation too is described in details. The aspirant is warned not to be misled by ceratin Siddhis, miraculous attainments, but go on pursuing the ideal till Ātman is realized The pessimistic outlook of life, downright denunciation of the body and its pleasures and hollowness of all the possessions which are very common in Jainism indicate the aspirant's sick-minded temperament which is said to anticipate mystical healthy-mindness. In the Jaina theory of knowledge, three kinds of knowledge are recognised where the soul apprehends reality all by itself and without the aid of senses: Avadhijñāna is a sort of direct knowledge without spatial limitations, and it is a knowledge of the clairvoyant type; Manaḥparyāya-jñāna is telepathic knowledge where the soul directly apprehends the thoughts of others; and lastly Kevala-jñāna

is omniscience by the attainment of which the soul knows and sees everything without the limitations of time and space. The last one belongs only to the liberated souls or to those souls who are just on the point of attaining liberation with their Jñānāvaraṇīya-Karman destroyed; and thus it is developed when Atman is realized. Jainism is pre-eminently an ascetic system. Though the stage of laity is recognised, everyone is expected to enter the order of monks as a necessary step towards liberation. Elaborate rules of conduct are noted and penancial courses prescribed for a monk; and it is these that contribute to the purity of spirit. A Jaina monk is asked not to wander alone lest he might be led astray by various temptations. A monk devotes major portion of his time to study and meditation; and day to day he approaches his teacher, confesses his errors and receives lessons in Ātmavidyā and Ātma-jñāna directly from his teacher. The magnanimous saint, the Jaina Tīrthakara, who is at the pinnacle of the highest spiritual experience, is the greatest and ideal teacher; and his words are of the highest authority. Thus it is clear that Jainism contains all the essentials of mysticism. To evaluate mystical visions rationally is not to value them at all. These visions carry a guarantee of truth undoubtedly with him who has experienced them; their universality proves that they are facts of experience. The glimpses of the vision, as recorded by Joindu in his Paramātmaprakāśa are of the nature of light or of white brilliance. Elsewhere too we find similar experiences. It may be noted, in conclusion, that the excessive rigidity of the code of morality prescribed for a Jaina saint gives no scope for Jaina mysticism to stoop to low levels of degraded Tantricism. It is for this very reason that we do not find the sexual imagery, so patent in Western mysticism, emphasized in Jainism though similes like *muktikāntā* are used by authors like Padmaprabha. Sex-impulse is considered by Jaina moralists as the most dangerous impediment on the path of spiritual realization, so sensual consciousness has no place whatsoever in Jaina mysticism. The routine of life prescribed for a Jaina monk does not allow him to profess and practise miracles and magical feats for the house-holder with whom he is asked to keep very little company. (From the Introduction to Paramātmaprakāśa which is in the Press).

THE JAINA CALENDAR.

(By Dr. SUKUMAR RANJAN DAS, M. A., Ph. D)

The astronomical chronological period on which the Jaina system is based is the well-known quinquennial Yuga or cycle which is the same as that of the Jyotiṣa Vedāṅga. The same cycle is described in the Garga Saṃhitā as is seen from the extant fragments of the latter work, and it is also learnt from Varāhamihira's Pañcasiddhāntikā that it likewise formed the fundamental doctrine of Paitāmaha Siddhānta which, according to Varāhamihira's Judgment, was one of the more important Siddhāntas known at his time. References to this cycle are met with in the early history of Buddhism.

In the Jaina astronomy a Yuga consists of five years and begins with Abhijit. The lunar year and also the solar year commence at the same point or day and close at the same point or day once in every cycle of 30 years which is equal to 6 cycles of five years each. For the lunar year gains 6×2 months and thus completes one complete intercalary year. Similarly, the solar, the Sāvana or seasonal, the lunar, and the Nakṣatra years begin on the same day and close on the same day or simultaneously begin and close once at the end of 12 cycles of 5 years each *i.e*, 60 years. It must be noted here that the lunar year is really equal to 354 days $5\frac{50}{62}$ muhūrtas. In a cycle of five years, there are 60 solar months, 61 Ṛtu months, 62 lunar months and 67 Nakṣatra months. Similarly, the intercalary lunar year, the solar, the Ṛtu or Sāvana, the lunar and the Nakṣatra years will simultaneously begin and close once in a great cycle of 156 cycles of 5 years each, ; for $156 + 5$ years make 744 intercalary lunar years, 780 solar years, 793 Ṛtu years, 806 lunar, and 871 Nakṣatra years.

One Nakṣatra year $= 327\frac{51}{67}$ days.
One Lunar year $= 354\frac{12}{62}$ „
One Ṛtu year $= 360$ „
One Solar year $= 366$ „
The intercalary lunar year $= 383$ „ $21\frac{8}{62}$ Muhūrtas,

The moon moves and unites 67 times with Abhijit in a yuga of 5 years. The sun comes in contact five times with the same star in a yuga.

The names of the months are :—

	Modern names.			Jaina names.
1.	Śrāvaṅa	...	...	Abhinanda.
2.	Bhādrapada	...	...	Supratiṣṭha.
3.	Aśvayuja	...	...	Vijaya.
4.	Kārtika	...	...	Prîtivardhana.
5.	Mārgaśîrṣa	..	...	Śreyān.
6.	Pauṣya	...	...	Śiva.
7.	Māgha	...	..	Śiśira.
8.	Phālguna	...	...	Haimavān.
9.	Chaitra	...	...	Vasanta.
10.	Vaiśākha	...	...	Kusumasambhava.
11.	Jaiṣṭha	...	...	Nidāgha.
12.	Āṣāḍha	...	...	Vanavirodhi.

The year or the saṃvatsara is of four kinds :—

(1) Nakṣatra – Samvatsara 12 Nakṣatra māsas $= 12 \times 27\frac{21}{67}$ days $= 327$ days $+ \frac{51}{67}$ day.

(2) Yuga – saṃvatsara (cyclic year) = 5 years.

(3) Pramāṇa – saṃvatsara. (4) Saturn – year.

The first is of 12 kinds as Srāvaṇa, Bhādrapada, etc., when Jupiter completes the whole circle of constellations once, it is called, a Nakṣatra-saṃvatsara of 12 years.

Lunar year $= 29\frac{32}{62} \times 12 = 354$ days $+ \frac{12}{62}$ day.

Intercalary Lunar year $= 383\frac{44}{62}$ days.

Saura or Solar year $= 12 \times 30\frac{1}{2} = 366$ days.

Thus, once in 30 solar months there will be one intercalary lunar month. Hence in a yuga of 60 solar months there will be two

intercalary lunar months. Each lunar month contains two parvas. Therefore, a lunar year contains 24 parvas, and an intercalary year of 26 parvas.

The pramāṇa-saṃvatsara is of five kinds: Nakṣatra (sidereal), Ṛtu (seasonal), Cāndra (lunar), Āditya (solar) and intercalary lunar. The Ṛtu and Āditya-saṃvatsaras are thus explained :—

2 Ghatikās make one Muhūrta.

30 Muhūrtas make one Day and Night.

15 Ahorātras (Days and Nights) make one Pakṣa.

2 Pakṣas make one Month.

12 Months make one Year.

The year of 360 days and nights is a Ṛtu-saṃvatsara. This has got two more names, Karma-saṃvatsara and Sāvana – saṃvatsara. Karma = work (laukika vyāvahara). Hence that year which is prominently observed by workmen is so called. Karma month has no fraction and facilitates work and worldly transaction; the rest have fractions and so in usage difficult to be understood. Sāvana means engagement in work. Hence that year which is chiefly agreeable to work is Sāvana year. The year of 360 days is called Karma and also Sāvana year. Similarly, the solar year is the time taken by the rainy and other seasons for completion of one revolution. It is, however, usual to assign 60 days to each of the seasons. Stil each one of them has 61 days. Hence the solar year contains 366 days· In a yuga there are three ordinary lunar years of $354\frac{12}{62}$ days and two intercalary years of $383\frac{40}{62}$ days. Hence in a yuga there are 62 lunar months and 67 Nakṣatra months.

Now a solar year is equal to 366 days; hence one solar month $=\frac{366}{12}=30\frac{1}{2}$ days; A Karma saṃvatsara $=360$ days; hence one Karma-month $=\frac{360}{12}=30$ days. A lunar year $=354\frac{12}{62}$ days; hence lunar month $=\frac{354\frac{12}{62}}{12}=29\frac{32}{62}$ days.[1] One Nakṣatra year $=327\frac{51}{67}$

1. The difference between Karma-māsa and lunar month which is equal to $30 - 29\frac{30}{62} = \frac{32}{620}$ makes Avama-rātras. The difference due to one day is $\frac{1}{62}$. Hence in 62 days there will be one complete Avama-rātra.

days; hence one Nakṣatra month $=\frac{327\frac{51}{67}}{12}=27\frac{21}{67}$ days. An intercalary lunar year $=383\frac{44}{62}$ days; hence one intercalary lunar month $=\frac{383\frac{44}{62}}{12}=31\frac{121}{124}$ days.

In a yuga or cycle of 5 years or 1830 days, there are 60 solar months, or 61 sāvana months, or 62 lunar months or 67 Nakṣatra months or 57 intercalary months, 7 days, $11\frac{23}{62}$ muhūrtas for an intercalary month$=31\frac{121}{124}$ days and therefore $\frac{1830}{31\frac{121}{124}}=\frac{226920}{3965}=57$ months, 7 days and $11\frac{23}{62}$ muhūrtas.

Again one lunar month is divided into two parts or parvas, the white half contains $\frac{29\frac{32}{62}}{2}$days $=29\frac{32}{62}\times 15$ muhūrtas $=442\frac{46}{62}$ muhūrtas and the dark half also $442\frac{46}{62}$ muhūrtas. A tithi or lunar day is equal to $\frac{61}{62}$ parts of a day as it is equal to $\frac{29\frac{32}{62}}{30}=\frac{8130}{62\times 30}=\frac{61}{62}$ day. Hence a day being divided into 30 muhūrtas, a tithi will be equal to $\frac{61}{62}\times 30$ muhūrtas $=29\frac{32}{62}$ muhūrtas. The tithis are of two kinds: (1) day tithis and (2) night tithis. Both kinds are divided into a week of five lunar days, called (*a*) Nanda, (*b*) Bhadra, (*c*) Jaya, (*d*) Tuccha, (*e*) Pūrṇa, in the case of day tithis; and (*a*) Ugravatī, (*b*) Bhogavatī, (*c*) Yaśomatī, (*d*) Sarvasidhā and (*e*) Subhanāmnī, in the case of night tithis. Thus three weeks of day tithis and three weeks of night tithis will make fifteen complete lunar days.

The Jaina astronomical works mention five seasons, *viz.*, the rains, the autumn, the dewy, the spring and the summer The seasons are of two kinds, the solar and the lunar. The solar season is equal to two solar months $=61$ days. The seasons commence with the Aṣāḍha month, though the cycle of 5 years commences with the 1st day of the dark half of the month of Śrāvaṇa. Hence a connection may be sought with the word, Varṣa (year), and it is surmised that the year must have come to acquire this denomination from the fact of the year beginning with Varṣā or rainy season.[1]

1. Vide a paper on the seasons and the year beginning of the Hindus by Sukumar Ranjan Das published in the Indian Historical Quarterly, Dec. 1928.

It may also be mentioned here that Kautilya, in his Arthaśāstra, says that the year in his time began with the summer solstice at the end of Aṣādha.

Now to determine the season on any day, we are to count the number of parvas elapsed since the beginning of the cycle and multiply it by 15 in order to reduce them to lunar days; then we add day in question; next we deduct the Avama days at the rate of $\frac{1}{62}$ per day; we then double the remainder and add again 61. Then we divide the sum by 122 and the quotient by six; the latter quotient in the number of expired Ṛtus and the remainder divided by two gives the days of the current season. For example, to determine the season on the 1st Dipotsavaday, we have the number of parvas from the beginning of the cycle on 1st day of the dark half of Śrāvaṇa to the day in question to be 7. Therefore 7×15. $= 105$ lunar days. Now $105 \times \frac{1}{62} =$ nearly 2 i.e, two Avama rātris. Deducting this from 105, we have 103. Then $103 \times 2 = 206$, $206 + 61 = 267$, $267 \div 122 = 2 + \frac{23}{122}$, $\frac{23}{2} = 11\frac{1}{2}$. Then counting the seasons from Asāḍha we may say that two seasons are past and that 11 days have elapsed in the third season.

Now with regard to the question which season closes with what lunar day, are to take the number of the seasons in question, double it, deduct one from it, double it again and then keep this product in two rows. One indicates the number of parvas and the other being reduced to half showes the number of lunar days (tithis). For example, to find on what lunar day the first season in a cycle happens, we get $1 \times 2 - 1 = 1$ again $1 \times 2 = 2$ keeping on two rows, as 2 2 we have the latter 2. The result is that 2 parvas have elapsed and that on the Pratipat day the first Ṛtu closed. Similarly for the second season, we get $2 \times 2 - 1 = 3$; $3 \times 2 = 6$. Then we have 6 & 3. That is, 6 parvas have elapsed and that on the 3rd day the second season has closed. So on.

Now in one sidereal revolution of the moon, the lunar seasons are six. Hence in a cycle of 5 years which is equal to 57 sidereal revolutions of the moon there are $6 \times 67 = 402$ lunar seasons. In

one lunar season there are $4\frac{37}{67}$ days. Because one sidereal revolution of the moon $=6$ seasons, one revolution $=27\frac{21}{67}$ days, and therefore one season $=27\frac{21}{67}\div 6=4\frac{37}{67}$ days. The formula to determine the lunar seasons is as follows:—Multiply by 15 the number of parvas that has elapsed from the beginning of the cycle; then add the remaining number of days above the parvas, if any. Then deduct Avama rātras at $\frac{1}{62}$ per day. Then multiply the remainder by 134 and add to the product 305 and divide the sum by 610. The quotient is the number of Ṛtus. For example, to find the Ṛtu on the 5th day of the 1st parva from the beginning of the cycle, we get $5-1=4$, $4\times134=536$, $536+305=841$, $841\div610=1\frac{231}{610}$. Then the result is the first season. Taking the remainder 231, divide it by 134, this gives $\frac{231}{134}=1\frac{97}{134}$, *i.e*, one day and $48\frac{1}{2}$ sixty seventh parts of the second day have elapsed. To know what season there will be on the 11th day of the second parva from the beginning of the cycle, we get 1 parva having elapsed, $1\times15+10$ (as 10 days have elapsed up to the 11th day) $=25$, $25\times134=3350$, $3350+305=3655$, $3655\div610=\frac{3655}{610}=5\frac{605}{610}$, *i.e.*, 5 Ṛtus have elapsed. Now $\frac{605}{134}=4\frac{69}{134}$, *i.e.*, 4 days and $34\frac{1}{2}$ sixty sevenths of a day have elapsed after 5 Ṛtus.

In order to determine the closing day of a lunar season the following method is given. As in the case of solar seasons multiply the constant $\frac{305}{134}$ by one for the first and by $2\times$ number of seasons for the second and other seasons up to the last season; and divide the product by 134. Then the quotient is the number of lunar seasons expired. For example, for the first lunar season, the constant is $\frac{305}{134}$; multiply by 1. Then $\frac{305}{134}=2\frac{37}{134}$. Hence after 2 days and $28\frac{1}{2}$ sixty sevenths of the third day the 1st lunar season attains completion. For the 402nd season, $\frac{305}{134}\times(2\times401+1)=\frac{305}{134}\times803=\frac{244915}{134}=1827\frac{97}{134}$. That is, the 402nd. season will be completed when 1827 days and $48\frac{1}{2}$ sixty sevenths of a day after those days have elapsed.

The Jaina Chronology.

(By Kamta Prasad Jain, M. R. A. S.)

Continued from Vol. III, page 25.

"THE PRE-HISTORICAL PERIOD EVENTS."

No.	Period & Date	Event.
46	Phālguna Śukla 8th.	King Draḍaratha Rāya of the Ikṣvāku Kṣatryas ruled at Srāvastî. His queen Suṣenā saw sixteen dreams on the morn of Phālguna Sukla 8th, which predicated the birth of a Tîrthankara son to her.
47	Kārtika Śukla Purnimā.	After 30 lac Karor Sāgaras since Ajitanātha attained Nirvāna, Sambhavanātha, the third Tirthankara, born at Srāvasti, who enjoyed the household life befitting a prince for a long period.
48	Kārtika Kraṣna *Chaturthî*	Sambhavanātha becoming a naked Śramaṇa observed great penances and attained to the highest stage of an omniscient Teacher. He had 105 chief apostles.
49	Chaitra Śukla Ṣaṣṭi.	After preaching the Truth at large, Sambhavanātha reached mount Sammeda Sikhar and absorbing Himself in high meditation, He destroyed the remaining unobstructible karmas and became a Siddha Parmātmā.

No.	Period & Date.	Event.
50	Vaiśākha Śukla Ṣaṣṭi.	Suyaṃvara or Saṃvara of the Kāśyapa gotra was the Ikṣwāku king of Ayodhyā, whose queen was Siddhārta. She saw sixteen auspicious dreams on the morning of Vaiśa-kha Śukla ṣaṣti and came to know that a Tirthankara son will born to her.
51	Māgha Śukla Dvādaśi.	After 10 lac karoṛ Sāgaras since the Nirvāṇa of Sambhavanātha, Abhinandana Nātha, the fourth Tirthankara born at Ayodhyā. King Saṃvara celebrated the occasion with eclat and great rejoicings. When Abhinandanātha became a smart youth, he was crowned king and enjoyed life for a considerable long period.
52	,,	Abhinandananātha renounced the world and observed a fast for two d. ys. King Indradatta of Ayodhyā entertained him.
53	Pauṣa Śukla Chaturdaśi.	Abhinandananātha passed full eighteen years observing hard penances and then became an omniscient teacher.
54	Vaiśākha Śuklā Ṣaṣṭi.	Abhinandannātha attained to Nirvāṇa from mt. Sammeda Sikhar.
55	Chaitra Śukla Ekādasi.	After 9 lac Karor Sāgras since the Nirvāna of Abhinandannātha, Sumati the fifth Tir-thankara was born at Ayodhyā. He was the illustrious son of King Megharatha and his queen Mangalādevi, who also belonged to the clan of Ikṣvāku kṣatriyas.
56	Vaiśākha Śukla Navami.	Sumati adopted the hard life of a naked Jaina Śramana.

No.	Period & Date.	Event.
57	Chaitra Śukla Ekādasi.	Tîrthankara Sumati gained the sacred knowledge: Omniscience and began to preach allround.
58	"	Sumatinātha attained to liberation from Mt. Sammeda Sikhara.
59	Kārtika Kṛaṣṇa Tryodaśi	After 90 thousands Kaṛoṛ Sāgaras since Sumati was liberated, Padmaprabha born at Kauśāmbi. His father by name Dharana or Mukuṭavara of the Ikṣvāku race was ruling there and his mother was queen Susîmā.
60	"	Padmaprabha with one thousand nol les renounced the world and became a naked Jaina Śramaṇa.
61		Padmaprabha after observing fasts for six months, became an omniscient Teacher and preached the Truth in the whole Arya-khaṇḍa; as all other Tirthankaras do.
62	Phālgun Kṛṣana Chaturthi.	Padmaprabha liberated himself from Mt. Sammeda Sikhara and became a Siddha Paramātmā.
63	Jyeṣṭa Śukla Dwādaśi.	After 9 thousand Kaṛoṛ Sāgaras since the Nirvāṇa of Padmaprabha, Supārśvanātha, the seventh Tîrthankara, born at Benares; where his father king Supratiṣṭha ruled. His mother was queen Prathviṣeṇā.
64	"	Supārśvanātha adopted the hard life of a naked Jaina Śramaṇa.

No.	Period & Date.	Event.
65	Phālguṇa Kṛaṣṇa Ṣaṣṭi.	Supārśva becoming an omniscient Teacher began to preach allround.
66	Phālguṇa Kṛasṇa Saptamī.	Supārśva attained to Nirvāṇa from Mt. Sammeda Sikhara. It is presumed that Supārśva is mentioned in the following *mantra* of the Yajuraveda: ' सुपार्श्वमिन्द्रहवे ।'
67	Chaitra Kṛaṣna Pañcami.	Rājā Mahāsena of the Iksavāku race, while ruled at Chandrapuri (Near Benares), his queen by name Lakṣamanā saw sixteen auspicious dreams, like all the mothers of other Tirthankaras; which when enterperated revealed that a World Teacher will born to her.
68	,,	After 9 thousand Karoṛ Sāgaras since the Nirvāṇa of Supārśva, Chandraprabha, the eighth Tirthankara born.
69	Pauṣa Śukla Ekādasi.	Chandraprabha ruled over his father's kingdom for a considerable long period, likewise as his predecessive Tîrthankaras did and he having abdicated in favour of his son named Varacandra, became a naked Jaina Śramaṇa.
70	Phālguṇa Kṛaṣaṇa Saptami.	As a result of the observance of a continuous fast for three months, Chandraprabha attained to omniscience and began to preach the truth.
71	,,	Chandraprabha became a Siddha Parmātmā from Mt. Sammeda Sikhara.

No.	Period & Date.	Event.
72	Mārgaśirṣa Śukla Pratipadā.	After 90 karoṛ Sāgaras since Chandaprabha's Nirvāṇa, Puṣpadanta, the ninth T rthankara born at Kākandipura ; where his fathe by name Sugrīva, a scion of Ikṣvāku race ruled, with his queen Jayarāmā
73	,,	Puṣpadanta having enjoyed an householder's life and ruling for a long time, renounced and became a naked śramana. His son Sumati succeeded him and was enthroned at Kakandi.
74	Kartika Śukla Dvitiyā.	Puṣpadanta passed a life of hard discipline and observances for full four years, at the end of which he became an omniscient Teacher.
75	Bhādrapada Śukla Aṣṭami.	Puṣpadanta liberated himself from the Mt. Sammeda Sikhara.

To be Continued.

NEW STUDIES IN JAINISM.

II

EMOTIONAL INTERPRETATION

OF

THE JAINA RELIGIOUS IDEAL,

[Baron B. Seshagiri Rao, M.A., Ph. D., M.S.A., Sree Bharatitirtha, Vizianagram.]

In my paper on "Jainism in Action" published in the first number of "The Jain Antiquary", I endeavoured to point out that in South India, according to literature and inscriptions, the ideal of Jainism was the attainmnt of *arhathood* or as the Vaidic Philosophers say, *Brahmasiddhi.* I feel it is the same thing that the Buddhists mean when they talk of the sādhaka becoming *Buddha* or *Bodhisatva* or when they posit *Nirvāna* as the goal of spiritual life. This fundamental similarity or identity of spiritual ideal is obscured or ignored when it is said that the Jaina or Bauddha *sampradāyas* are opposed to Sanātana (or Hindu) *Dharma* or that they are Vedabâhya or A-vaidica. The origins of these *Rajasic* or "*Soul*-Strength-inspired" faiths seem to lie very deep in earlier Bhāratiya speculations, researches and siddhāntas. It is time, that, in the interests of Indian unity and freedom and effeciency of evolutionary effort, the synthetic aspects of religious development in India are brought out in a constructive and conciliatory spirit. I go further and plead that into such a synthetic consideration should be pressed into service all elements of analogical thought, speculation and practice that we discern in the historically later *christa* and *islamia* sampradāyas also. Let not modern Indians belie their ancestry by looking upon all this great heritage of religious ideas, ideals, desciplines, faiths, literature and practices as an obstructive and growing heap of useless debris.

In the present paper I shall briefly outline, so far as may be from South Indian Jaina literature in Manuscripts, a possible view of

the emotional interpretation of the Jaina ideal of *moksha*. I base these observations on the peculiarly personal and emotional self-expressions called *stotras* of various *literary types*. These are, like *Nāmajapams* found even among Moslems, fashioned for daily recital and meditation, even as earlymorning prayers, *prātaḥsmaraniyas*. They are used for saturating the mind, the sub-conscious mind, with the elements of self-consecrating spiritual aspiration and do duty for *śravana* (hearing) and *manana* (Contemplation) in *Ashtāngayoga* (Eight-fold practice). As such they have an undisputed value as aids to spiritual culture and a psychological value as emotional renderings of abstract philosophical concepts converting Bhāvas of *manas* into *rasabhāvas* of *Chitta*.

Jainism and Buddhism are generally held to be protest against the sacrificial religion of the Vedic schools of Karma Mārga. Historically, they appear to have played that role and emphasised, and brought into vogue, principle of *Ahinsā*. But the idea of sacrifice involved in those rites had, when applied to the tendencies of mental life, a spiritual value which had not been lost sight of by Jaina poet philosophers. Such an interpretation of *Homa*, the essence of sacrificial *vedism*, is mentioned in a Jaina Stotra called "*Ahmādibhaktih*" which advocates the necessity for the destruction of the egotistic impulses (ahankāra) in man :—

> Dhyānāśuśu Kshanā-viddhē Manaritvik Samāhitah.
> Svakarmasumidho bhāvasarpishā juhu.nosdhunāk.

In the final verse of this work there occur the words Brahma vidanti param 'yē, which reminds one of the upanishadic words Brahmavidāpnotiparam,' he that knows 'Brahmá' attains the ultimate (reality).

From the point of view of religion as this kind of mental and spiritual culture, *all* guides to it who in themselves have been adepts in it are equally worthy of the devotee's reverence. The catholicity of aspiration in such a Jaina devotional work indicates the free atmosphere of pre-medieval India in which these religious systems and practices had operated as just 'varieties' and mutually res-

pected varities of religious experience." In a Stotra called "*Āchārya-Bhaktih*" occur these words :—

> "Abhinaumi sakalakalushaprabhavōdaya janmamarana-bandhana muktān! Sivamamalamanagham-akshayam-avyāhata-mukti-Saukhyam-astviti satutam"

The ideal of *mukti-saukhyam* "the happiness of freedom" is said to be "the freedom from the limitation of births and deaths." Buddha had stated this to be the ideal of his own religious quest and concepted this 'mukti-saukhyam' as *nirvāna*. It is worthy of note in this context that the religious ideal of the Vedic culture as interpreted in what is known as *Prasthanatraya* of what is called *Sanātana Dharma* is also the same freedom from births and deaths known as *Samsāra*.' The dissolution of *karmabandha* is said to be the way to spiritual freedom in a closing verse of a prayer or stotra called *Jinastuti* as follows :—

> Mōkshamārgasya nētāram chettāram karmabhūbhujām?
> Jñātāram viśvatatwānām vandē tat guna-labdhayē!

This spiritual descipline of salutation of *Jinas* or *Tirthankaras* is commended for the 'acquisition of their virtues,' on the well acknowledged psychological principle of 'yad bhāvam tat bhavati' 'thinking is being.' One of the great virtues of these *Jinas*, who were historical personages, was their conquest of the limitations of *karma* through the conquest of Karma. It is therefore that they are called 'vitaraga'; it is hence they conquered '*Janana-marana bandha*,' or the revolving on the wheel of births and deaths. Here below are a few more passages from other Jaina Stotras illustrating this view :—

(1) "Karmakuksha dahanastapōgnibhih sarma śāsvatamavapa śamkarah."

Dharmatirthapanchakam.

(2) "Pranashta dushtāshtākarma ripusamitin...... . ... namaskarāmi."

Panchagurubhakti.

(3) "Duritamalakalamkadushtakam nirupama yōgabalena nirdahan... .."

Munisuvratapanchakam.

(4) " Anantānamta Samsāra samtatichēdakāranam Jinarāja padāmbhōja smaranam śaranam mam."

Sidhabhaktih.

(5) " Samsārataranakārṇam-asēshadukkhapraharanam sadyah-sukhapravardhanam.

Svapnastavah.

(6) " Yē vīrapādāu pranamamti nityadhyānasthitah *samya-mayogayuktah* ! Tē vîtaśōkā hi bhavanti lokē samsāra durgam vishamamtaramti."

Vîrastoram.

It is the distinctive feature of ancient Jainism that it adumbrates the heroic yogamarga for the realisation of " the freedom of the soul" from all limitations which is the only *sukha* or *satsukha* as *moksha.* Will the *Vaidica Sanātanists* of Bharatakhanda see that the *Samyamayoga* mentioned in the *Vîrastuti* as the means for the conquest of sorrow is found elaborated as a practical descipline or laboratory method of spiritual culture in the first six chapters of the *Bhagavadgītā* which has latterly become a world-gospel ?

A JAINA TĪRTHAṆKARA IN A BUDDHIST MAṆḌALA.

BY

Prof. Dr. H. v. Glassenapp, Ph D., Koenigsberg University, (Germany).

In Tantric Buddhism, the so-called Vajrayāna, "Maṇḍalas" play a prominent rôle, *i.e.*, mystical diagrams used as objects of contemplation. In the "Ārya-mañjuśrī-mūlakalpa," a work, the Sanskrit text of which has been published by Mahāmahopādhyāya T. Gaṇapati Śāstrī in 1920 as No. 70 of the Trivandrum Sanskrit Series, we find in the second parivarta circumstantial descriptions of the different Buddhas, Bodhisattvas, gods, demons, snakes and other beings, male and female, which appear in them. On page 45 last line but two, among the high personages which are to be drawn in a maṇḍala:

> "Kapila-munir nāma ṛṣi-varo, nirgrantha-tirthakara Ṛṣabhaḥ, nirgrantha-rūpī"

are mentioned. It is very interesting to note that, together with the founder of Sāṅkhya Philosophy, the first Tīrthaṇkara of the Jainas appears in a Buddhist maṇḍala. The reason is obvious. If the Budhists wanted to give a complete symbolical picture of the world and the great beings who influenced its destinies in a maṇḍala, they could not omit the great prophet of a religion which, though not in accord with their own, had acquired glory all over India.

The mañjuśrī-mūlakalpa was translated into Chinese between 980-1000 A. D., into Tibetan during the 11th century A. D. A hint for ascertaining the time of its production in India is given by the fact, that one chapter of the work gives a detailed history of the Indian dynasties till about 770 A. D.[1]

---

1. K. P. Jayaswal, "An Imperial History of India" (Lahore, 1934)

OBITUARY.

With the passing away of Prof. Moriz Winternitz, Ph. D., the students of Jainism have lost one cf the most competent collaborators As a pupil of the late Prof. G. Buehler who had spent many years in India, he became first acquainted with Jainism: when this his teacher published a paper 1887. This paper, based on a lecture before the Academy of Sciences, Vienna, held on May 26, 1887, published in the very same year (Feierliche Sitzung der kaiserlichen Akademie der Wissenschaften, Wien) has been translated into English by J. Burgess (London 1903). Winternitz himself got an insight into Jain literature in his capacity as compiler of the Index Volume to the Sacred Books of the East where the most important Sūtras have been translated into English by H Jacobi (vol. 22 & 45). In his German written "History of Indian Literature," vol. II, Part 2, published Leipzig 1920, he offered for the first time a comprehensive survey of Jain literature, apart from those passages in the third volume where he had to mention under the pertaining chapters, the contributions of Jain writers on different topics like on Philosophy, or on Grammar. Since the years preceding that part of his "History" he had exchanged letters with that great saint and scholar to whom many of Western students are as much indebted as they looked upon him with reverence, with the late Vijaya Dharma Sūri. When the late Professor accepted the invitation of Rabindranath Tagore to act as a guest professor on the Viśva-Bhāratī University in Santiniketan, in autumn 1922, he hoped to meet Vijaya Dharma Sūri personally. But on the 5th of September 1922 the Jainācārya had left this world. It was a great satisfaction to Prof. Winternitz as the single European to witness the ceremonies in connectien with the erection of a temple to honour the late saint in Shivpuri. A vivid description of these ceremonies during a week, from 22nd of January till 1st of February 1923, Winterntiz has given in a German paper (Zeitschrift of Buddhismus VII, 1926, p. 349-77). When he had to revise the German original of his "History" for the English version, he had at his disposal a much richer material

as he had in 1920. Thus his "Jaina Literature," forming Section IV in the "History," published 1933 in Calcutta, covered 172 pages against 68 pages of the German version. An Appendix (VIth, p. 614f.) collected all the papers and views on the year of the death of Mahāvīra. Though after the publication of that second volume he was busy with the preparation of the third and with other work, he returned to Jaina literature in a paper, published in "Indian Culture" I (1934-35), p. 143-66. Here he dwelt for the last time on the importance of Jaina Literature and the place she occupies in the literary History of India. But not only as the historian of Indian literature he was interested in Jainism. As a student of religion, as a herold of humanism he admired as much as he advocated the law of *ahiṃsā*. Though that noble teaching was not confined to Jainism, it was that religion which made *ahiṃsā* an absolute rule within the life of monks as well as laity. From here, in some modified form, the term became a political principle. Nothing else could win more the hearts of his countrymen as well as of not-Indians for Gandhi. And among those who always laid stress on the moral height in *ahiṃsā*, in her original and modern meaning, Prof. Winternitz stood in the first line. In Newspapers of his country, in the Golden Book for Rabindranath Tagore he dealt with *ahiṃsā*. But he himself in his life practised her also, by his human mind, by his speech, and by his deeds.

Prof. Winternitz was born in Horn (Lower Austria), 23rd December 1863. After his studies at Vienna under Buehler, he worked with F. M. Mueller in Oxford, for assisting him in the preparation of the second edition of the Rigveda; within this stay in Oxford, 1888-98, he edited his thesis on the Indian Marriage ritual, printed by the Academy of Sciences, Vienna, 1892, though he had published the text of the Āpastambīya-Gṛhyasūtra already 1887, one year after taking his degree of a Ph. D. in 1886. He prepared in Oxford his future editions of Catalogues of Mss., of the Indexes, specially of that General Index to the Sacred Books of the East, and translated two books by Mueller on religion into German. When he take up in 1899 his academical career at the German University, Prag, he had won already the reputation of a scholar. He was the initiator of

a critical edition of the Mahābhārata. His learning on various fields of Indology recommended him for the difficult task to write a History of Indian Literature which was published in German in three big volumes between 1905-22; the English version, being a revised and enlarged second edition, was under the auspices of the University of Calcutta edited in Calcutta, vol. I in 1927, vol. II in 1933. The late author did not live long enough to see this great work finished. But Winternitz had interests not only in literary history, though he has written many papers on her. He was also a student of religions, an ethnologist, and many papers he devoted to these disciplines of religion, and ethnology. A scholar's life of 50 years has come to a sudden end in the night of 8th to 9th of January 1937.

O. STEIN.

THE JAINA SIDDHĀNTA BHĀSKARA.

(Our Hindi Portion · Vol IV No. 1.)

For the benefit of our those readers who could not read and understand the Hindi language, in which our Hindi portion entitled The "Jaina Siddhānta Bhāskara" is being published. We have decided to give the gist of its important contributions in these pages. To start with we give herein below the gist of its last issue of June 1937 :—

p. 1.—Pt. Hîrālāl Śāstrī has endeavoured to establish the authenticity of the geographical conceptions of the Jainas. He has given the Jaina ideas on the point and has repudiated the objections raised against it.

p. 9.—Hindi translation of Prof. P. K. Gode's article on the "Viśavalocanakoṣa" of Śridhara.

p. 10—Mr. Triveṇī Prasāda, B.A., has thrown sufficient light according to Jaina books on the Jaina images and has pointed out the differences between the images of the Digambara and Śvetāmbara Jaina sects in the following way —

1. Digambara images, except those in seated position, bear the mark of male organ, while those of Śvetāmbary has no such mark ; but they have the marks of a girdle and loincloth.

2. Śvetāmbara images have the marks of loincloth., settled eyes, crown on the head etc.

3. In the Digambara images the eyes are half-sheet but the Śvetāmbara ones have the eyes wide open.

According to "Mānasāra" the Jaina images are void of all clothes and decorations.

p. 24.—Pt. K. B. Śāstrî has given the account of the celeberations held at Arrah on the occasion of establishing and consecrating the little colossal of Gommaṭṭeśvara in

northern India which bears much resemblance to its elder predecessor at Śravaṇabelagola and has come into existence with the munificience of the pious lady Śrī Nimasundaradevi. The height of this Northern Gommatta colossal is only 13½ feet and it bears an inscription which has also been published on pp. 27—28.

p. 29—Some Jain inscriptions are noticed according to Prof. Guirneots Jaina Bibhographic.

p. 34—B. Agarchand Nāhta giving a short history of Lonkāshāh, the founder of 'Lonkā' or "Dhuṇḍhaka" sect of the Jainas, points out that though this schism was based on the Śvetāmbara Āgamas and had its influence apparently on the Śvetāmbaras, yet the Digambara sect also did not remain uneffected and as a result we have a expressive criticism of the sect, besides its humiliating reference in the "Bhadrabāhu-carit," in the "Lonkāmata-Nirākarṃa-Choupai" of Sumatikîrti, which was composed at Dādānagar on chaitra Śukla Panchami Saṃvata 1627.

p. 44.—Mr. K. P. Jain points in a short note that the "Braht-Katha" of Guṇāḍya was composed on the material supplied by Kāṇabhūti, who is most probably the Jaina Kathākāra Kāṇabhikṣu mentioned by Jinasenācārya in his "Ādipurāṇa.

pp. 53-69.—Pt. Jugalkiśora Mukhatāra reviews critically the new edition of "Pravacanasāra" so ably edited by Prof. A. N. Upadhye, M.A., in the Rāyacandra Jaina Series" of Bombay. The reviewer highly appreciates the labours and the critical acumen of Prof. A. N. Upadhye, and further supplements some of the discussions by bringing to light some new facts, namely, Parikarmasūtra is mentioned in Dhavāta and some gāthās are common to Pravacanasāra and Tiloyapaṇṇatti.

Select Contributions to Oriental Journals.

1. *Indian Culture, Vol. III, January 1937* :—

Hearth & Home—by Mr. G. P. Majumdar.

Jainism in Bengal—by Mr. P. L. Paul, M.A.

2. *The Poona Orientalist,* Vol. I, January 1937 :—

Unpublished Inscriptions of the Chalukyas—by Mr. D. B. Diskalkar : The Girnār inscription of V. S. 1256 records that the son of the general of the Chalukyan king Kumārapāla was named Abhyada, who was very much devoted towards the Jain religion. His son was Vasantapāla who for the merits of his parents caused to be made an image of Nandiśvara on the Ujjayanta hill.

3. *Annals of the Bhāndarkar Oriental Research Institute,*—Vol. xvii parts iii-iv :—

A few Parallels in Jain and Buddhists Works—by A. M. Ghatage.

4. *Karnataka Historical Review*—Vol. III Nos. 1-2.

Lakṣmaṇotasava—by Dr. H. D. Sharma : an important work on medicine.

Date of Viśvalocānakośa—by P. K. Gode.

5. *The Indian Historical Quarterly,* Vol. XIII March 1937 :—

Sanskrit Scholars of Akbar's time—by Prof. D. C. Bhattacarya M.A.

The Eastern Chalukyas—by Dr. D. C. Ganguly.

6. *Journal of the K. R. Oriental Institute,* Vol. XXXI, No. 31 (1937):—

Some Jaina Parallels to Zoroastrian Beliefs—by J. C. Tavadia.

RULES.

1. The "Jaina Antiquary" (जैन-सिद्धान्त भास्कर) is an Anglo-Hindi quarterly, which is issued annually in four parts, *i.e*, in June. September, December, and March.

2. The inland subscription is Rs. 4 (including postage and foreign subscription is 6 shillings (including postage) per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs 1-4-0

3. Only the literary and other decent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to

THE MANAGER,
The "Jaina Antiquary"
Jain Sidhanta Bhavan, Arrah (India).

to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office should be informed at-once

6 The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archaeology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc, from the earliest times to the modern period

7 Contributors are requested to send articles, notes, reviews, etc., type-written, and addressed to,

K P. JAIN, Esq. M R. A. S,
EDITOR, "JAINA ANTIQUARY"
Aliganj, Dist. Etah (India).

(*N.B.*—Journals in exchange should also be sent to this address.)

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting, or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders, if postage is not paid

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India)

11 The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology :—

PROF HIRALAL JAIN, M.A, L.L.B.
PROF. A. N. UPADHYE, M A.
B. KAMTA PRASAD JAIN, M R.A.S.
PT. K. BHUJABALI SHASTRI.

आरा जैन-सिद्धान्त-भवन की प्रकाशित पुस्तकें

(१) मुनिसुव्रतकाव्य (चरित्र) संस्कृत और भाषा-टीका-सहित ... २।)
(मू० कम कर दिया गया है)

(२) ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिक-शास्त्र भाषा-टीका-सहित ... १)

(३) प्रतिमा-लेख-संग्रह ... ... ॥)

(४) जैन-सिद्धान्त भास्कर, १म भाग की १म किरण ... १)

(५) " २य तथा ३य सम्मिलित किरणें ... १।)

(६) " २य भाग की चारों किरणें ... ४)

(७) " ३य " " ... ४)

(८) भवन के संगृहीत संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी ग्रन्थों की पुरानी सूची ... ॥)
(यह अर्ध मूल्य है)

(९) भवन की संगृहित अंग्रेजी पुस्तकों की नयी सूची ... ॥।)

प्राप्ति-स्थान—

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा (बिहार)

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD., ARRAH.

श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर

AND

THE JAINA ANTIQUARY

Editors :

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL. B.

Prof. A. N. Upadhye, M. A.

B. Kamta Piasad Jain, M. R. A. S.

Pt K. Bhujabali Shastri.

PUBLISHED AT

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY.

(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)

ARRAH. BIHAR. INDIA.

श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम।

१ जैन-सिद्धान्त-भास्कर अङ्गरेजी-हिन्दी-मिश्रित त्रैमासिक पत्र है, जो वर्ष में जून, सितम्बर, दिसम्बर और मार्च में चार भागों में प्रकाशित होता है

२ इसका वार्षिक चन्दा देशके लिये ४) रुपये और विदेश के लिये डाक व्यय लेकर ४॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १।) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुबिधा होगी।

३ केवल साहित्यसंबन्धी तथा अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। मैनेजर, जैन-सिद्धान्त-भास्कर, आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं; मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में हेर-फेर की सूचना भी तुरन्त उन्हीं को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि "भास्कर" नहीं प्राप्त हो, तो इसकी सूचना जल्द आफिस को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्तिविज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन, प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना—यह सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक, श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर, आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकमण्डल को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ "भास्कर" आफिस, आरा के पते से भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से जैन-तत्व के केवल उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

(जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र)

भाग ४] मार्गशीर्ष [किरण ३

सम्पादक-मण्डल

प्रोफेसर हीरालाल, एम. ए., एल.एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए.

बाबू कामता प्रसाद, एम. आर. ए. एस.

पण्डित के० भुजबली शास्त्री

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४) विदेश में ४॥) एक प्रति का १।)

विक्रम-सम्वत् १९९४

विषय-सूची

हिन्दी-विभाग—

पृष्ठ

१ जैनमन्त्र-शास्त्र [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री] . १३५

२ सम्मेद शिखरजी की यात्रा का समाचार [श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन] १४३

३ बंगाल में जैनधर्म [श्रीयुत बाबू सुरेशचन्द्र जैन, बी०ए०] १५१

४ ऐतिहासिक प्रसंग [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री] १५७

५ भट्टाकलंक का समय [श्रीयुत पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री] .. १६५

६ एक प्राचीन गुटका [श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन] .. १७६

७ जैन-ज्योतिष और वैद्यक-ग्रंथ [श्रीयुत बाबू अगरचन्द नाहटा] ... १८६

८ विविध विषय—(१) नपर्धाय चरित मे जैनधर्म का उल्लेख [श्रीयुत बाबू का० प्र० जैन] १८८

(२) "जैन एन्टीक्वेरी" के लेख [श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन] १८९

ग्रन्थमाला-विभाग—

१ तिलोयपण्णत्ती—[श्रीयुत प्रो० ए० एन० उपाध्ये] .. पृष्ठ ३३ से ४० तक

२ प्रशस्ति-संग्रह—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री] ... „ ८१ से ८८ „

३ वैद्यसार—[श्रीयुत पं० सत्यन्धर आयुर्वेदाचार्य] ... „ ८१ से ८८ „

अंग्रेजी-विभाग—

1. Podanpura and Taksasila By Kamta Prasad Jain, M.R.A.S.] 57

2. Knowledge and Conduct in Jaina Scriptures [By Principal Kalipada Mitra, M.A., B.L., Sahitya-kaustubha] ... 67

3. The Jaina Chronology [By Kamta Prasad Jain, M.R.A.S.] ... 75

4. The Jaina Siddhânta Bhâskara (our Hindi Portion Vol. IV–II) 80

5. Select Contributions to Oriental Journals 82

॥ श्रीजिनाय नमः ॥
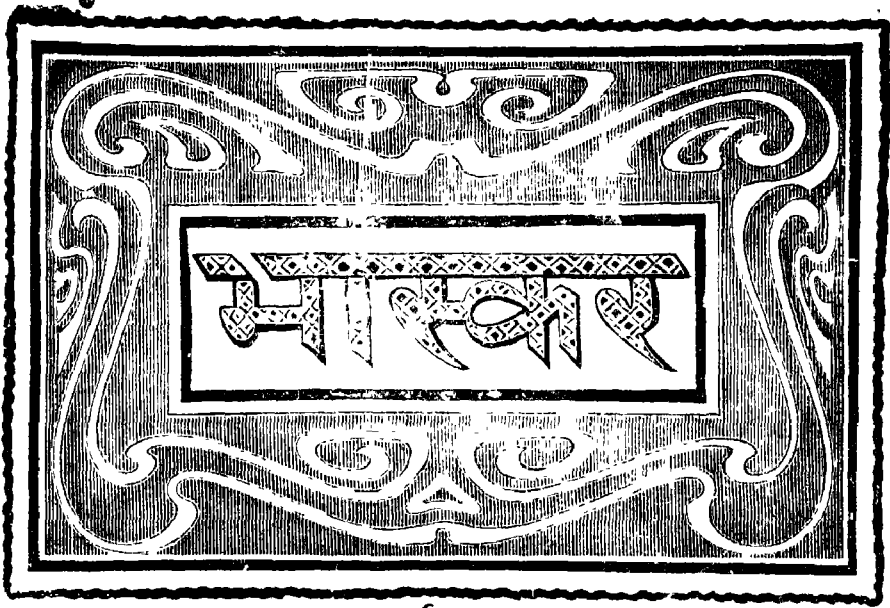
THE JAINA ANTIQUARY.
जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक त्रैमासिक पत्र

भाग ४ | दिसम्बर, १९३७ । मार्गशीर्ष, वीर नि० २४६४ | किरण ३

जैनमन्त्र-शास्त्र

(लेखक—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री)

आजकल बहुतेरे व्यक्तियों का विश्वास मन्त्रशास्त्र पर से सर्वथा उठता जा रहा है। इसका प्रधान कारण यह है कि अब हमारे भारतवर्ष में इस शास्त्र के मर्मज्ञ बहुत ही कम पाये जाते हैं। इसी का यह नतीजा है कि वर्तमान समय में सर्वत्र सुलभतया मन्त्रशास्त्र के न पथ-प्रदर्शक मिलते हैं और न इसके साधक ही। जब कोई इस शास्त्र के अल्पज्ञ साधक स्वार्थ-प्रेरित हो किसी मन्त्र या देवदेवियों को सिद्ध करने के लिये प्रयत्न करता है तब भले प्रकार उसके विधि-विधान को नहीं जानने से असफल हो बैठता या उलटा हानि उठाता है। इन्हीं सब बातों को देखकर साधारण जनता की श्रद्धा इस शास्त्र से ही उठ जाती है। मन्त्रशास्त्र में अविश्वास होने का यही मूल कारण है। मेरे उल्लिखित कथनानुसार आजकल बहुसंख्यक साधक स्वार्थवासना से प्रेरित हो धन, संतान एवं विजय आदि की प्राप्ति के लिये ही किसी

मन्त्र या देव-देवियों को सिद्ध करने के लिये प्रवृत्त होते हैं। इसीसे ऐसे कलुषित साधकों को वे सिद्ध होते भी कम। यह तो लोकोपकारक विद्या है। अत एव स्त्री-वश्यादि प्रकरणों में परस्त्रीवश्यादि को मन्त्रशास्त्र में सर्वथा निन्द्य ठहराया है। यह है भी ठीक—अन्यथा इन दुर्व्यवहारों के साधक का स्वदार-संतोषादि व्रत किसी प्रकार कायम नहीं रह सकता। साथ ही साथ अधिकतर कमजोर दिलवाले साधक साधनकार्य में प्रवृत्त होते हुए किसी कारणवश घबड़ा कर या भयभीत होकर कष्टसाध्य समझ उसे बीच ही में छोड़ देते हैं। ऐसे ज्वलंत दृष्टांत एक नहीं अनेकों उपस्थित किये जा सकते हैं। इस प्रकार के कार्य से साधक अपनी अभीष्ट-सिद्धि प्राप्त करना तो दूर रहा—प्रत्युत क्लेश उठाता है। यह स्वाभाविक बात है कि कोई भी देव-देवी साधक को इच्छानुवर्त्तिनी होने के पूर्व उनकी खरी परीक्षा लेती हैं। साथ ही साथ इनके मन में यह विचार भी उठना स्वाभाविक है कि यह साधक किस उद्देश से हमें सिद्ध करना चाहता है। कहीं इन्हें यह पता लग गया कि साधक का हृदय स्वार्थ-वासना से दूषित है तो फिर कहना ही क्या? एक बात और है; जिस प्रकार लोक में एक सामान्य व्यक्ति को वश करना साधारण बात है और एक विशिष्ट व्यक्ति को वश करना एक विशिष्ट बात है, उसी प्रकार साधारण देव-देवियों को सिद्ध करना बहुत आसान है—पर विशिष्ट देव-देवियों को वशवर्त्ती बनाना सहज बात नहीं है। उसके लिये विशिष्ट शक्ति, धैर्य एवं अध्यवसाय की आवश्यकता होती है। वे बहुत परिश्रम से सिद्ध होती हैं। हाँ, सिद्ध होने पर न सामान्य कारणों से उनका सम्बन्ध-विच्छेद ही हो सकता है और न वे साधक को ऐसा कोई मार्मिक आघात ही पहुंचा सकती है। परन्तु किन्हीं साधारण देव-देवियों पर कोई विश्वास नहीं किया जा सकता। आज वे साधक से सन्तुष्ट हैं—कल ही ज़रा सी त्रुटि पर उनसे असन्तुष्ट हो सकती हैं। बल्कि इस असंतुष्टि से वे अपने उपासक की अत्यधिक क्षति भी पहुंचा सकती हैं। इसके भी पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं।

कुछ शताब्दियों के पूर्व भारतवर्ष में हिन्दू, जैन एवं बौद्ध प्रत्येक धर्म में इस मन्त्रशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् अधिकतर उपलब्ध होते थे और वे एक से एक विशिष्ट चमत्कार को दिखला कर लोगों को चकित कर देते थे। बल्कि उस जमाने में इस मन्त्रशास्त्र के द्वारा प्रदर्शित इन चमत्कारों से बहुत से भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बी भी प्रभावित हो अपने धर्म में दीक्षित होते थे। उस समय जिस धर्म में इस मन्त्रशास्त्र का बोल-बाला नहीं वह धर्म निर्जीव सा समझा जाता था। उन दिनों मन्त्रशास्त्र का एकाधिपत्य इसी से ज्ञात होता है कि शौचादि (मल-मूत्र-परित्याग) से लेकर बड़े से बड़े यागादि कृत्य की नकेल इस शास्त्र के सदा हस्तगत रहती थी। यही कारण है कि निवृत्ति-मार्ग-प्रधान जैन धर्म भी इससे नहीं बच सका। साधारण

गृहस्थों की बात कौन कहे बड़े बड़े तपोनिष्ठ मुनि भी अपने मार्ग के प्रतिकूल होने पर भी इससे मुक्त नहीं हो सके। क्योंकि उन्होंने समझा था कि इस युग में इसकी अवहेलना करने से फिर पीछे धर्म को रक्षा करना कष्टसाध्य हो जायगा।

वास्तव में मन्त्रशास्त्र योग का एक अंग है। इसे 'मन्त्रयोग' भी कहते हैं। जैन परिभाषा में यह पदस्थ-ध्यान के अन्तर्गत है। सुप्राचीन काल में यह केवल आध्यात्मिक सीमा के अन्तर्भुक्त था। किन्तु भारतवर्ष में एक ऐसा भी समय आया, जब कि इस शास्त्र की खास तौर से वृद्धि हुई। उस समय इसकी अनेक शाखा-प्रशाखायें निकलीं और ये आध्यात्मिक-विकाश को सीमा का उल्लङ्घन कर प्रायः लौकिक कार्य्यों की सिद्धि का प्रधान साधन बन गयीं। यही 'तांत्रिकयुग' के नाम से प्रख्यात है। जैसा मैं ऊपर लिख चुका हूं इस युग में मंत्र, तंत्र एवं यंत्रों का पर्याप्त आविष्कार तथा प्रचार हुआ और इस विषय के अनेकों ग्रंथों की रचना हुई। उस समय "कितने ही अध्यात्मनिष्ठ जैन साधु इस लोक-प्रवाह में अपने का नहीं रोक सके। इसलिये उन्होंने भी समयानुकूल अपने मंत्रशास्त्र को संस्कारित किया, अनेक अतिशय—चमत्कार दिखलाये, अपने मंत्रबल से जनता को मुग्ध कर उसे अपनी ओर आकर्षित किया और लोगों पर यह भलीभाँति प्रमाणित कर दिया कि उनका मंत्रवाद किसी से कम नहीं है—प्रत्युत बढ़ा चढ़ा है। साथ ही, उन्होंने कितने ही मंत्रशास्त्रों की भी सृष्टि कर डाली, जिन सब का मूल 'विद्यानुवाद' नाम का १० वाँ 'पूर्व' बतलाया जाता है"।*

अस्तु, मन्त्रशास्त्र का विषय बहुत ही गहन एवं गंभीर है। इसीलिये उसे झट-पट समझ लेना यह आसान काम नहीं है। शास्त्रों में जो इसका विवेचन मिलता है, वह अत्यधिक सुन्दर; बुद्धिगम्य एवं मननीय है। जैन-साहित्य में ज्वालिनीमत, विद्यानुशासन, ज्वालिनीकल्प, भैरवपद्मावती-कल्प, भारतीकल्प, नमस्कारमन्त्रकल्प, कामचाण्डालिनी-कल्प, प्रतिष्ठाकल्प, चक्रेश्वरी-कल्प, सूरिमन्त्रकल्प, श्रीविद्याकल्प, ब्रह्मविद्याकल्प, रोगापहारिणी-कल्प, वर्द्धमानकल्प, सरस्वतीकल्प, गणधरवलयकल्प, श्रीदेवताकल्प, वाग्वादिनीकल्प और घण्टाकर्ण-कल्प आदि मंत्रशास्त्र के अनेक मौलिक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त पद्मावती-स्तोत्र, ज्वालिनीस्तोत्र, पार्श्वनाथ-स्तोत्र, कुष्माण्डिनी-स्तोत्र, सरस्वती-स्तोत्र और ब्रह्मदेव-स्तोत्र आदि कई मंत्रस्तोत्र भी पाये जाते हैं। प्रतिष्ठा एवं भिन्न-भिन्न आराधना-सम्बन्धी ग्रंथों में भी इस विषय की काफी चर्चा की गयी है। जैनाचार्यों ने मन्त्र-व्याकरण एवं मन्त्रकोष या बीजकोष की भी रचना की है। बल्कि सुनने में आता है कि प्रातःस्मरणीय आचार्य समन्त-भद्र ने भी एक मन्त्र-व्याकरण का प्रणयन किया था। उपलब्ध दिगंबर साहित्य में मन्त्र-

* देखें 'अनेकान्त' पृष्ठ ४२७

शास्त्र के सब से अधिक ग्रंथ मल्लिषेण आचार्य के पाये जाते हैं। आप बड़े मन्त्रवादी थे। स्वरचित 'महापुराण' में आपने अपने को खास तौर से 'गारुडमन्त्रवादवेदी' लिखा है। आपके भैरवपद्मावतीकल्प से यह भी स्पष्ट सिद्ध होता है कि आप सरस्वती से कोई वर भी प्राप्त किये हुए थे। इस बात को आप उक्त ग्रन्थ में 'सरस्वतीलब्धवरप्रसादः' इस पद्यांश से व्यक्त किया है। इस बात की सूचना अन्यान्य ग्रंथों से भी मिल जाती है। आचार्य मल्लिषेण 'उभय-भाषा-कविशेखर' * की पदवी से अलंकृत थे। आप जिनसेनाचार्य के शिष्य एवं अजितसेनाचार्य के प्रशिष्य थे। आपका समय विक्रम की ११वीं तथा १२वीं शताब्दी है। क्योंकि आप का 'महापुराण' शालिवाहन शक ९६९ (वि० सं० ११०४) में बन कर समाप्त हुआ था। (१) विद्यानुशासन (२) ज्वालिनीकल्प (३) भैरवपद्मावती-कल्प (४) भारती-कल्प (५) कामचाण्डालिनी-कल्प (६) बालग्रह-चिकित्सा ये छः ग्रन्थ इन्हीं की कृतियाँ हैं। इनमें विद्यानुशासन ही आप के मंत्रशास्त्र का सब से बड़ा ग्रन्थ है। इसमें २४ अधिकार तथा ५ हजार मंत्र हैं। मगर इन्द्रनंदियोगीन्द्र-द्वारा रचित ज्वालिनीमत या ज्वालिनी-कल्प लगभग इससे भी एक शताब्दी प्राचीन है। यह इन्द्रनन्दि बप्पनन्दि के शिष्य तथा वासवनंदि के प्रशिष्य थे।

यह तो जैनमंत्र साहित्य की बात हुई; इसी प्रकार बौद्धसाहित्य में ताराकल्प, वसुधारा-कल्प और घण्टाकर्णकल्प आदि अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। वैदिक साहित्य में तो इस मन्त्रशास्त्र का एक अलग भाण्डार ही है।

अब मंत्र-साहित्य के प्रत्येक अंगोपांग के पारिभाषिक शब्दों पर सामूहिक रूप से प्रकाश डाला जाता है :—

कल्पग्रन्थ—जिन ग्रंथों में मंत्र-विधान, यंत्रविधान, मंत्रयंत्रोद्धार, बलिदान, दीपदान, आह्वान, पूजन, विसर्जन एवं साधनादि बातों का वर्णन किया गया है वे कल्प-ग्रन्थ कहलाते हैं।

तंत्र-ग्रन्थ—जिनमें गुरु-शिष्य की संवादरूप से मंत्र-यंत्र, तन्त्र, औषधी आदि बातों का उल्लेख हो वे तंत्र-ग्रंथ से अभिहित होते हैं।

पद्धति ग्रन्थ—जिन ग्रन्थों में अनेक देव-देवियों की साधना का विधान बतलाया गया है उनकी पद्धति-ग्रन्थ से प्रसिद्धि है।

बीजकोष—मंत्रों के पारिभाषिक शब्दों को समझने की पद्धति दिखला कर एक एक बीज की अनेक व्याख्यायें की गयी हों उन्हें बीजकोश या मंत्रकोश कहते हैं।

मार्ग—मन्त्र-शास्त्र में मन्त्र सिद्ध करने का मार्ग भी भिन्न भिन्न वर्णित हैं। क्योंकि

* कई प्राचीन प्रतियों में इनकी उपाधि 'उभयभाषाकविचक्रवर्ती, भी उपलब्ध होती है।

मंत्र शास्त्र का कहना है कि इसी उपाय-द्वारा मन्त्र सिद्ध हो सकता है। दक्षिण, वाम और मिश्र के भेद से इस शास्त्र में तीन ही मार्गों का उल्लेख मिलता है। सात्विक मंत्र सात्विक सामग्री-द्वारा सात्विक देवताओं की सात्विक उपासना का नाम दक्षिण अथवा सात्विक मार्ग है। जिस मार्ग-द्वारा मदिरा, मांस और महिला आदि कुद्रव्यों से भैरव, भैरवी आदि तामस प्रकृति की देव-देवियों की आराधना करने का विधान हो वह वाम मार्ग है। इसी प्रकार उक्त मांस-मदिरादि वस्तुओं को प्रत्यक्ष रूप में न ग्रहण कर उनके प्रतिनिधियों द्वारा इष्ट की सिद्धि की जाने का नाम मिश्र मार्ग है। प्रधानतया दक्षिण और वाम ये ही दो मार्ग हैं। साथ ही साथ यह भी जान लेना परमावश्यक है कि वाम मार्ग प्रायः तंत्र शास्त्र का विषय है और कल्प-ग्रन्थों में इस मार्ग का विवेचन सर्वथा नहीं मिलता है। वाममार्गी प्रायः भैरव और काली आदि देव-देवियों के आराधक होते हैं। नवनाथ ही इनके गुरु हैं और वे गुरुपादुका, श्रीचक्र एवं भैरवचक्र की पूजा किया करते हैं। परन्तु इतना बतला देना आवश्यक प्रतीत होता है कि वाममार्ग का प्रभाव मिश्र मार्ग पर पड़ा ही है; किन्तु दक्षिण मार्ग भी इसके प्रभाव से बच नहीं सका। इसी का परिणाम है कि दक्षिण मार्गी भी पीछे, तमःप्रधान देवताओं की उपासना करने लग गये। दक्षिण मार्ग सात्विक होने से एक प्रकट मार्ग है। पर वाम मार्ग असात्विक होने से गुप्त मार्ग है। इसी से वे प्रायः अपने मार्ग को बतलाने में संकोच करते हैं और प्रारंभ से ही वे "गोपनीयं गोपनीयं गोपनीयं प्रयत्नतः" इस बात को रट लगाते हैं। तान्त्रिक ग्रन्थ प्रायः वाममार्ग को ही पुष्ट करते हैं। पीछे वाम मार्ग का बल अधिक बढ़ जाने से सात्विक मंत्र एवं सात्विक देव-देवियों का सिद्ध होना दुःसाध्य सा हो गया। मंत्र-शास्त्र से विश्वास उठ जाने का यह भी एक कारण हुआ।

सम्प्रदाय—मंत्रशास्त्र में केरल, काश्मीर एवं गौड़ नामक तीन सम्प्रदाय प्रचलित हैं। वैदिक धर्मावलम्बी मांत्रिकों में प्रायः केरल सम्प्रदाय, बौद्धों में गौड़ और जैनियों में काश्मीर सम्प्रदाय निर्दिष्ट हैं। काश्मीर सम्प्रदाय वाले सरस्वती, पद्मावती आदि सात्विक देवताओं के उपासक होने से विशुद्ध दक्षिण मार्गी हैं। गौड़ सम्प्रदाय वाले काली तारा आदि तामस प्रकृति की देव-देवियों के उपासक होने से वाममार्गी होते हैं। केरल सम्प्रदाय मिश्रमार्गी सम्प्रदाय है। इसमें प्रकट रूप से तो दक्षिण और गुप्त रूप से वाम मार्ग का आश्रय लिया जाता है। राजस प्रकृति वाली महालक्ष्मी आदि ही इनकी उपास्य हैं। 'कुलार्णव' आदि ग्रन्थों में सम्प्रदाय का आश्रय लेना परमावश्यक ही नहीं प्रत्युत अनिवार्य बतलाया गया है।

आगम - मार्ग एवं सम्प्रदाय के समान मंत्र शास्त्र में वेदागम, बौद्धागम एवं जैनागम इस प्रकार तीन भिन्न-भिन्न आगम वर्णित हैं। जैनागम दक्षिणमार्गावलम्बी एवं काश्मीर सम्प्रदाय-प्रधान है। बौद्धागम वाम-मार्गावलम्बी एवं गौड़सम्प्रदाय-प्रधान है। वेदागम

मिश्रमार्गावलम्बी एवं केरलसम्प्रदाय-प्रधान है। वैदिक मतावलम्बी मान्त्रिक मंत्र की उत्पत्ति शिव जी से मानकर वेदागम को शैवागम भी कहते हैं। मंत्रशास्त्र के सम्प्रदायों को चक्रपूजा भी मान्य है। जैनों के काश्मीर सम्प्रदाय में सिद्धचक्र, केरल सम्प्रदाय में श्रीचक्र एवं गौड सम्प्रदाय में भैरवचक्र की पूजा की जाती है।

मंत्रदीक्षा—गुरु के निकट शास्त्रोक्त विधि से मंत्र लेने को मंत्रदीक्षा कहते हैं। जिस सम्प्रदाय की विधि से दीक्षा ली गई हो उसी के अनुकूल साधना करने से मंत्र सिद्ध होता है।

मंत्रपीठिका—मंत्रशास्त्र में निम्नाङ्कित चार पीठिकाओं का वर्णन मिलता है:—(१) श्मशानपीठ (२) शवपीठ (३) अरण्यपीठ (४) श्यामापीठ। मंत्र सिद्धि में पीठिका का होना भी परमावश्यक है।

(१) श्मशान-पीठ—श्मशान पीठ उसे कहते हैं जिसमें भयानक श्मशान में प्रतिदिन रात्रि में जाकर यथाविधि मंत्र का जप किया जाता है। विवक्षित मंत्र-सिद्धि का काल शास्त्र में जितने समय का बतलाया गया हो उतने समय तक नियम से उस श्मशान में जाकर शास्त्रोक्त विधि से मंत्र सिद्ध करना आवश्यक है। भीरु साधक से यह साधना सम्पन्न होना नितान्त अशक्य है। इसके लिये बड़े दिलेर साधक की जरूरत पड़ती है। जैनियों के कुछ ग्रंथों में कहा गया है कि सुकुमाल आदि मुनीश्वर उल्लिखित पीठ से ही परमेष्ठी महामंत्र को सिद्ध कर मुक्त हुए थे।

(२) शव-पीठ—किसी मृतक कलेवर पर आसन जमा मन्त्रानुष्ठान करना 'शव-पीठ' है। यह प्रायः वाममार्गियों का ही प्रधान पीठ है। कर्णपिशाचिनी, कर्णेश्वरी, उच्छिष्टचाण्डालिनी आदि कुदेवियों की सिद्धि इसी पीठासन से की जाती है।

(३) अरण्य-पीठ—मनुष्य-संचार-रहित सिंह, व्याघ्र आदि हिंस्र पशुबहुल निर्जन एवं भयानक अरण्य में निर्भय और एकाग्रचित्त होकर मंत्र साधना अरण्य पीठ है। निर्वाण-मंत्र की सिद्धि के लिये अरण्य ही प्रशस्त बतलाया गया है। इसीलिये निर्ग्रन्थ तपस्वियों ने आत्मसिद्धि के लिये एक निर्जन अरण्य को ही पसंद किया है। सुप्राचीन काल में मुनि-महर्षि नगर-ग्राम आदि में न रह कर सदा एकान्त वन में ही निवास कर आत्म-साधना किया करते थे। इसी का परिणाम है कि नहीं चाहने पर भी अहमहमिकया बहुत सी सिद्धियाँ उन्हें आ घेरती थीं। परिग्रह को एक सुदृढ़ एवं अविच्छेद्य बन्धन समझ कर ऐहिक सुख को लात मारने वाले, विषय-विरक्त वे तपस्वी अनायास प्राप्त उन सिद्धियों का लोकोपकारक सार्वजनीन कार्य में ही उपयोग करते थे न कि अपनी पूजा-प्रतिष्ठा के कार्य में। बल्कि स्वयं भयानक से भयानक रोगादि से आक्रान्त होने पर भी उनसे मुक्त होने के लिये उन सिद्धियों का उपयोग कभी उन्होंने किया ही नहीं। वास्तव में त्यागमय जीवन के लिये एकान्तवास ही सर्वथा उपयुक्त भी है।

(४) श्यामा-पीठ—यह पीठ यदि वस्तुतः सभी पीठों से दुर्गम एवं दुरूह कहा जाय तो इसमें कोई भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस अन्तिम पीठ-परीक्षा में कोई विरले ही महापुरुष अपनी असाधारण जितेन्द्रियता से उत्तीर्ण होते आये हैं। एकान्त स्थान में षोडशी नवयौवना सुन्दरी को वस्त्र-रहित कर सामने बैठा मंत्र सिद्ध करने को एवं अपने मन को तिलमात्र भी चलायमान न होने देकर ब्रह्मचर्य में दृढ़ रहने को श्यामा-पीठ कहते हैं। जैन ग्रन्थों में लिखा है कि द्वैपायन-पुत्र मुनीश्वर शुकदेव आदि इस मंत्र को सिद्ध कर विजयी हुए हैं।

यहाँ तक तो केवल मंत्र-शास्त्र के बाह्य अंगों की समीक्षा हुई, अब देखना है कि मंत्र क्या चीज है और बड़े से बड़े लौकिक एवं पारलौकिक लाभ इससे किस प्रकार होते हैं। मंत्र का सम्बन्ध मानस-शास्त्र से है। मन की एकाग्रता पर ही इसकी नीव निर्भर करती है। मन को एकाग्र कर इन्द्रियों के विषय की ओर से लक्ष्य हटाकर मंत्र-साधन से वह सिद्ध हो जाता है। मन की चञ्चलता जितनी जल्दी हटेगी उतनी ही जल्दी मन्त्र सिद्ध होगा। महर्षियों ने मन्त्र शब्द की निरुक्ति—जिन विचारों से हमारा कार्य सिद्ध हो, वह मंत्र है यों बतलायी है। मैं पहले ही लिख चुका हूं कि मन्त्र-विद्या योग का एक अंग है। इस विषय के मर्मज्ञों का कहना है कि मन के साथ वर्णोच्चारण का घर्षण होने से एक दिव्यज्योति प्रकटित होती है और उन्हीं वर्णों के समुदाय का नाम मन्त्र है। इसीलिये मन्त्रशास्त्र का अर्थ 'विचार' कहा है। राजनीति-शास्त्र में भी लिखा है कि जिन विचारों को गुप्त रख कर राज्यतन्त्र चलाया जाता है—वह मन्त्र है। यही कारण है कि राज्यतन्त्र के प्रधान सञ्चालक महामन्त्री एवं उनके सहायकों को 'मंत्रिमण्डल' कहते हैं। मन्त्र का सिद्ध होना साधक की योग्यता पर निर्भर है। क्योंकि मन्त्रशास्त्र में लिखा है कि साधक को चतुर, जितेन्द्रिय, मेधावी, देवगुरु-भक्त, सत्यवादी, वाक्पटु, निर्भय, दयालु, प्रशांत, निर्लोभ, निष्कपट, निरहंकार, निरभिमान, परस्त्रीत्यागी और बीजाक्षरों को धारण करने में समर्थ होना चाहिये।

यन्त्र—अष्टगन्ध, लौह लेखनी आदि से भोजपत्र, रजत एवं ताम्रपत्रादि पर षट्दल, अष्टदल, शतदल, सहस्रदल तथा त्रिकोण, चतुष्कोण या वर्तुल रेखाओं के भीतर बीजाक्षरों को लिखना उनका यथाविधि अभिषेक, पूजन, प्राण-प्रतिष्ठा, मंत्रपुष्पादि-द्वारा साधन करना यंत्रसाधन है। सिद्धचक्र, ऋषिमण्डल, गणधरवलय, मृत्युञ्जय, कलिकुण्ड, वज्रपञ्जर एवं घण्टाकर्ण आदि यंत्रों के अतिरिक्त प्रत्येक काम्य कार्य के लिये भिन्न भिन्न हजारों यंत्र और भी बतलाये गये हैं। कहीं कहीं केवल मंत्र और कहीं कहीं यंत्र-मंत्र दोनों काम में लाये जाते हैं। यंत्र-विद्या भी मंत्रशास्त्र का ही एक अंग है और वर्ण या बीजाक्षरों को एकाग्रतापूर्वक लिखना ही इस साधन की मुख्य क्रिया है

तन्त्र—औषधियों के द्वारा कार्य सिद्ध करना तंत्रसाधन है। कितने ही तंत्रों में यंत्र, मंत्र का भी उपयोग होता है। मंत्र, यंत्र तथा तंत्र का एक दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह तंत्र भी मंत्र-शास्त्र का अंग ही है। अब मैं बतलाना चाहता हूं कि यंत्रमंत्रादि से कौन कौन से काम लिये जाते हैं और वे कुल कितने विभागों में विभक्त हैं।

(१) स्तम्भन (२) मोहन (३) उच्चाटन (४) वश्याकर्षण (५) जृम्भण (६) विद्वेषण (७) मारण (८) शांतिक (९) पौष्टिक। इस प्रकार मंत्र का प्रयोग प्रायः नौ प्रकार का होता है। स्तम्भन—जिस मंत्र-यंत्रादिक के प्रयोग से सर्प व्याघ्रादि श्वापद, भूत-प्रेतादि व्यन्तर, परचक्र (शत्रुसेना) आदि के आक्रमण का भय दूर होकर वे जहाँ के तहाँ निष्क्रिय से स्तम्भित रह जायँ उसे स्तम्भन कहते हैं। मोहन—जिस प्रयोग के द्वारा साधक किसी को भी मोहित कर ले उसे मोहन कहते है। मोहन प्रयोग के प्रधानतया तीन भेद हैं—(१) राजमोहन (२) सभा-मोहन (३ स्त्रीमोहन। उच्चाटन—जिस प्रयोग से किसी का मन अस्थिर, उल्लास-रहित एवं निरुत्साह होकर पद-भ्रष्ट एवं स्थान-भ्रष्ट हो जाय उसे उच्चाटन कहते हैं। किन्तु इस प्रयोग-द्वारा कोई प्रेमान्ध व्यक्ति अपने प्रेमपात्र का चित्तोच्चाटन करे तो इसका दुरुपयोग ही समझा जायगा। भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष, राक्षसादि पीडाप्रद व्यन्तरों को किसी पीड़ित प्राणी से दूर भगाने के लिये ही इस उच्चाटन प्रयोग की सदुपयोगिता कही जायगी। वश्याकर्षण—जिस प्रयोग से इच्छित व्यक्ति या वस्तु साधक के पास स्वयं चला आवे—उसका विपरीत मन भी अनुकूल होकर साधक के आश्रय में आ जाय, उसे वश्याकर्षण कहते हैं। इसके द्वारा सर्प, व्याघ्रादि तिर्यञ्च, स्त्री-पुरुषादि मनुष्य एवं भूतप्रेतादि व्यंतर आकृष्ट हो जाते हैं। जृम्भण—जिस प्रयोग के द्वारा शत्रु एवं भूत-प्रेतादि व्यंतर साधक की साधना से भयत्रस्त हो जायँ, दब जायँ, काँपने लग जायँ उसे जृम्भण कहते है। विद्वेषण—जिस प्रयोग से कुटुम्ब, जाति, देश आदि में परस्पर कलह और वैमनस्य की क्रांति मच जाय उसको विद्वेषण कहते हैं। मारण—आततायियों को मंत्रप्रयोग-द्वारा साधक प्राणदण्ड दे सके, उस प्रयोग को मारण कहते हैं। पर है यह बड़ा ही क्रूर प्रयोग। शांतिक—जिस प्रयोग के द्वारा भयङ्कर से भयङ्कर व्याधि, ब्रह्मराक्षसादि भयानक व्यंतरों की पीड़ा, क्रूरग्रह, जंगम एवं स्थावर विष-बाधा, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्षादि ईतियाँ, और चौरभयादि प्रशांत हो जायँ उसे शांतिक कहते हैं। पौष्टिक—जिस प्रयोग के द्वारा सुख-सामग्रियों की प्राप्ति होती है उसे पौष्टिक प्रयोग कहते हैं। किसी किसी के मत से सांतानिक प्रयोग अर्थात् वंध्यात्व से मुक्त होना भी एक अलग प्रयोग माना गया है। परंतु बहुसंख्यक मांत्रिकों ने इसे उल्लिखित प्रयोग में ही गर्भित किया है। हाँ, यहां एक बात बतला देना परमावश्यक है कि इन नौ प्रयोगों में से सात्विक साधक मारण, मोहन आदि क्रूर कर्मों को पसंद नहीं करते। वे केवल लोकोपकार की दृष्टि से शांतिक, पौष्टिकादि सौम्य प्रयोगों का ही उपयोग करते हैं।

सम्मेद शिखरजी की यात्रा का समाचार

(लेखक—श्रीयुत कामता प्रसाद जैन)

——:⁂:——

जैनियों में तीर्थयात्रा के लिये चतुर्विध-संघ निकालने का रिवाज पुरातन है। पहले पहल यह रिवाज कब अमल में लाया गया, इसका पता लगाना अन्वेषक-विद्वानों का काम है। हाँ, यह हम जानते है कि मध्यकालीन भारत में इसका अधिक प्रचार था, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उससे प्राचीन भारत के जैनियों में यह प्रथा प्रचलित थी या नहीं? वास्तव में यह एक स्वतंत्र विषय है, जिसके लिये साहित्य का गहन अध्ययन और परिशीलन वांछनीय है। प्रस्तुत लेख में हम पाठक महाशयों के समक्ष एक तीर्थयात्रा-संघ का परिचय उपस्थित करेंगे, जो विक्रमीय १९वीं शताब्दी में मैनपुरी से सम्मेदशिखर की यात्रा के लिये गया था।

मैनपुरी संयुक्त प्रांत की आगरा कमिश्नरी का एक प्रमुख नगर है। वहाँ के ध्वंसावशेषों से मैनपुरी एक प्राचीन नगर प्रतीत होता है। कहते हैं कि उसका प्राचीन नाम मदनपुरी था; वही नाम अपभ्रंश भाषा में 'मइनपुरि' नाम से प्रसिद्ध हो गया। इससे अधिक उसका

मैनपुरी

आरंभिक परिचय कुछ भी नहीं मिलता। हाँ, मुसलमानी जमाने में उसके अस्तित्व का पता चलता है और वह कन्नौज सरकार के अधीन था। किन्तु जब से मैनपुरी में चौहान क्षत्रियों का आगमन हुआ तब से उसकी श्री-वृद्धि खूब हुई। सन् १३६३ ई० में मैनपुरी का चौहान राजा प्रतापरुद्र नामक एक वीर क्षत्रिय था। बहलोल लोदी के राज्यकाल में वही मैनपुरी के प्रमुख जमींदार थे और उन्हीं के अधिकार में भौगाँव, पटियाली और कम्पिल भी थे। उनके पुत्र नरसिंहदेव थे, जिनको दरया खाँ लोदी ने सन् १४५४ में क़त्ल किया था। परंतु इसपर भी उनकी संतान मैनपुरी की राज्याधिकारी बनी रही। ग़दर के जमाने में राजा तेजसिंह उन्हीं की संतति में २१वें उत्तराधिकारी थे। राजा प्रतापरुद्र ने उस नगर को काफी उन्नत बनाया था—चौहानों का अपना पक्का क़िला बन गया था और उस क़िले के आसपास धीरे-धीरे एक समृद्धिशाली नगर आबाद हो गया था। मथुरा से चौबे—ब्राह्मण, भौगांव से कायस्थ और करीमगंज तथा कुरावली से सरावगी (जैनी) आ-आकर बस गये थे। राजा जसवंतसिंह ने सन् १७४९ ई० में अपने भाई मुहकमसिंह की याद में 'मुहकमगंज' बसाया था। अंग्रेजों ने ग़दर के बाद मैनपुरी के राज-पद पर राजा तेजसिंह के चाचा भवानी सिंह जी को बिठाया था। अंग्रेजी हाकिमों में

लेन सा० और रैकस सा० लोगों में बहुत ही प्रसिद्ध थे। रैकस (Raikes) सा० ने सन् १८४८—१८५० ई० में 'रैकसगंज' बसाया था और उसके बाद लेन सा० ने 'लेन—टैंक' (तालाब) बनाया था। सन् १८७२ ई० में मैनपुरी में वैश्यों की संख्या ७४३३ थी, जिनमें अधिकांश जैनी थे।* ये जैनी अग्रवाल, खंडेलवाल, बुढ़ेलवाल आदि उपजातियों में बँटे हुए थे।

रुइया-वंश

विक्रमीय १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध-भाग में वहाँ बुढ़ेले जैनियों की प्रधानता थी। उनमें भी 'रुइया' वंश के महानुभाव प्रमुख और राज्यमान्य थे। उस समय वहाँ चौहान-वंशी राजा दलेलसिंह जी का राज्य था; किंतु मालूम ऐसा होता है कि दिल्ली के मुसलमान बादशाहों के वह करद थे, क्योंकि तात्कालीन कवि कमलनयनजी ने मैनपुरी को आगरा सूबा, सरकार कन्नोज, चकला इटावा, परगना भीमगाम (भोगाँव) में अवस्थित लिखा है।† यह शासन-व्यवस्था मुग़ल-सरकार की थी, यह बात 'आइने अकबरी' के देखने से स्पष्ट होती है। उल्लिखित कवि कमलनयन जी हमे बताते हैं कि मैनपुरी के जनियों में तब साहु नंदराम जी प्रमुख थे। केवल जैनियों के ही नहीं, बल्कि वह पुरवासियों के सिरमौर थे। उन्हें वह काश्यपगोत्री नगराचार कहते हैं।‡ वर्तमान 'रुइया-वंश' के ज्ञात आदिपुरुष श्रीशिवसुखराय जी थे, जिनके पुत्र कुंदनदास और पौत्र नंदराम थे। नंदरामजी ने रुई का व्यापार आरंभ किया था, जिस की वृद्धि उनके पुत्र साहु धनसिंह जी ने की थी। इस व्यापारिक सफलता के कारण ही साहु नंदराम का वंश 'रुइया' नाम से प्रसिद्ध हुआ था। साहु नंदराम की संतति में साहु उलफतराय जी थे, जो लेखक (का० प्रसाद) के

---

* See Statistical, Descriptive and Historical Accounts of the N. W. P. of India by E. T. Atkinson, Vol. IV. pp. 474-720.

† "आगरे के सूबे में चकला इटावा बसै, जाके सिरकार कन्नौज एक जानिये।
तिसही इटाए के परगनै में भीमग्राम, तिसमें मैनपुरी जहां राजै रजधानी पै—
नृपति दलेल सिंघ जाके कोई नांहि विग्रहेहि, सदा दान दीन दुखी पहिचानिये।"

—जसवन्त नगर के जैन मंदिर में विराजमान हस्तलिखित "जिनदत्त-चरित्र" में देखो।

‡ "जाति बुढेले वंश जदु। मैंनपुरी सुख वासु॥
नगराचार कहावते, कासिप गोत सु तासु॥
नन्द राम इक साहु वहां, पुरवासिन सिरमौर।"

—देखो वरांग चरित्र उपरोक्त मन्दिर में।

श्वसुर थे और जिनसे साहु नंदराम का वंश-वृक्ष और वृत्तांत उन्हें निम्न प्रकार ज्ञात हुआ था :—
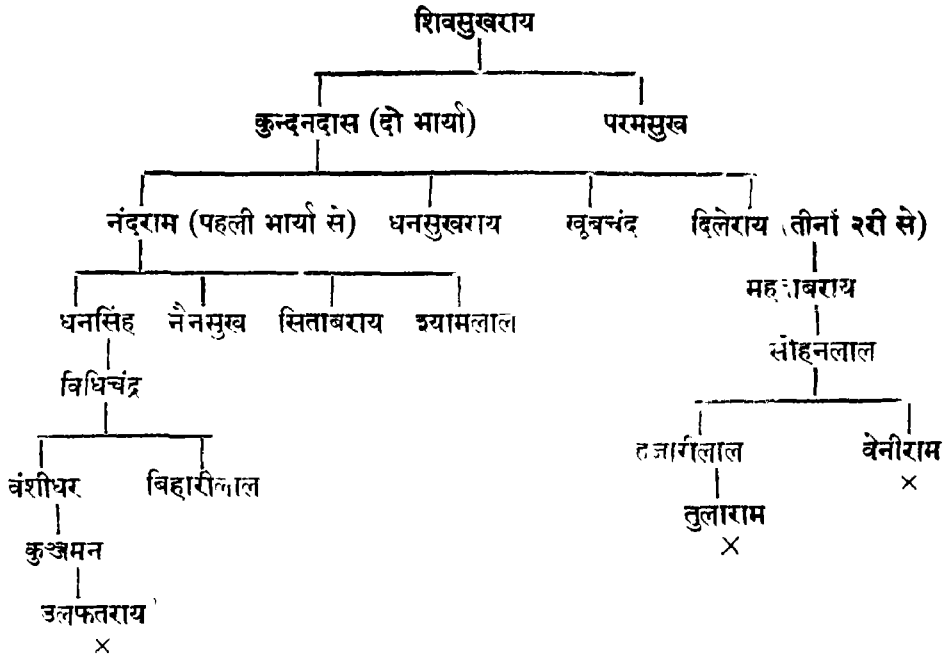
साहु धनसिंह जी एक व्यापारकुशल, पुरुषार्थी और धर्मात्मा सज्जन थे। उन्होंने अपने पिता नंदराम-द्वारा चालित रुई के व्यापार को खूब तरक्की दी। उनकी दूकानें फर्रुखाबाद, फरिहा, कोटला आदि रुई के केन्द्र-स्थानों पर थीं। इस व्यापार में उनको खूब लाभ हुआ। यहाँ तक कि उस समय उनके समान कोई दूसरा धनवान् न था। आजतक साहु धनसिंह के धनाढ्य होने की बात लोक-प्रचलित है। पुराने लोग जब कभी अपने निकम्मे लड़के को इन शब्दों में ताड़ना देते मिलते हैं कि "जासे तो तू साहु धनसिंह को बैल होतो तो नीको थो, हुंअन तोय लडुआ—जलेबी तो खान को मिलते।" इस जनश्रुति से रुइया लोगों की समृद्धिशालीनता का पता चलता है। लेखक ने उनकी गगनचुम्बी विशाल 'हवेली' का एक अंश देखा था; किंतु आज वह भी धराशायी है और अपने गर्भ में अज्ञात सम्पत्ति को लिये हुई अनुमानी जाती है। उसका वर्तमान ध्वंस-रूप मानो यही चेतावनी देता है कि 'दुनियां के लोगो, घमण्ड न करो—यहाँ कुछ भी स्थायी नहीं है।'

धनाढ्य होने के साथ ही साहु धनसिंह धर्मात्मा सज्जन थे। वह निरंतर धर्म-कार्यों को करने में आनन्द मानते थे। उनके शेष तीन भाई भी उन्हीं के अनुरूप धर्मी-कर्मी और

विवेकी नर-रत्न थे। उन में सब से छोटे साहु श्यामलाल जी थे। ज्ञात होता है कि

संघपति

वह संस्कृत के विद्वान् थे, क्योंकि कवि कमलनयनजी को संस्कृत भाषा में रचे हुए 'जिनदत्त-चरित्र' का अर्थ जहाँ-तहाँ इन्होंने ही बताया था।* इस उल्लेख से यह भी स्पष्ट है कि कवि कमलनयन जी ने जिन नमरावार काश्यप गोत्री नन्दरामजी का उल्लेख किया है, वह रुइया वंशके ही थे, क्योंकि उन्होंने श्यामलालजी को साहु नन्दराम का पुत्र लिखा है, जैसे कि वे रुइया वंश-वृत्त में भी बताये गये हैं। अच्छा तो, इन्हीं धर्मात्मा सज्जनोत्तम साहु धनसिंहजी का श्रीसम्मेद-शिखरजी तीर्थराज की वंदना सहधर्मी भाइयों के साथ करने का शुभ-भाव हुआ। लोगोंने यह समाचार चाव से सुना, क्योंकि उस ज़माने में तीर्थ-यात्रा करना अत्यन्त दुष्कर था। न तब तेज रफ्तार से चलनेवाली सवारियां थीं और न सड़कें ही पुख्ता और सुरक्षित थीं। भक्तजन तीर्थ यात्रा करने के लिये तरसते थे। बस, तब धर्मश्रद्धालु भव्यजनों को साहु धनसिंहजी का प्रस्ताव बड़ा रुचिकर हुआ। सर्वसम्मति से साहु धनसिंहजी के नेतृत्व मे एक यात्रा-संघ मैनपुरी से मिती कार्तिक कृष्णा पञ्चमी बुध वार संवत् १८६७ को सम्मेद-शिखर तीर्थ की यात्रा के लिये चला। कहते हैं कि इस यात्रा-संघ में करीब २५० बैलगाड़ियाँ और करीब १००० यात्रिगण थे। साहु धनसिंह जी ने उनकी हर तरह से सार-संभाल कर उपकार किया था।

पाठकगण शायद आश्चर्य करें कि यह पुरानी बात मालूम कैसे हुई? क्या यह केवल सुनी हुई बात है? वास्तव में यह केवल सुनी हुई बात नहीं है; बल्कि एक प्रामाणिक वार्ता

प्रमाण

है और इसका प्रमाण "श्री समेदसिखिर की यात्राका समाचार" नामक हस्त-लिखित पुस्तिकायें हैं, जो हमें अलीगञ्ज और मैनपुरी के जैन-मंदिरों में देखने को मिली हैं। इन पुस्तिकाओं में उपर्युक्त यात्रा-संघ का पूर्ण विवरण पद्य में लिखा हुआ है। जिस पुस्तिका के आधार से हम लिख रहे हैं, उसका आकार ९।। × ४।। इञ्च है और उसका काग़ज देशी और मोटा है। उसमें लिखे हुये कुल ११ पृष्ठ हैं। आरम्भ में एक पृष्ठ विना लिखा हुआ है। उसके बाद दूसरे पृष्ठ की दूसरी तरफ से रचना लिखी गई है। प्रत्येक पृष्ठ में करीब १७-१८ पंक्तियाँ हैं। यह प्रति संवत् १८६९ वैसाख कृष्ण ४ गुरुवार की लिखी हुई है और इसे किन्हीं 'भोलानाथ कायस्थ' ने लाला सोहन लाल के पठनार्थ लिखा था। उल्लिखित वंशवृक्ष देखने से ज्ञात होता है कि ला० सोहनलाल साहु धनसिंह के भतीजे थे। यह प्रति हमें स्व० पं० श्रीराजकुमार जी द्वारा प्राप्त हुई थी और अब हमारे पास है।

किन्तु खेद है कि इस यात्रा-समाचार रचना के रचयिता के नाम-धाम का पता कुछ भी नहीं

* "श्यामलाल के सहाइ पुत्र, नन्दराम गाई, अर्थ जिन दीइ बताय, नाहि जहां जानिया।"
—जिनदत्तचरित्र (जसवन्त नगर की प्रति)

चलता। रचना में कहीं पर भी लेखक ने अपना नाम सूचित नहीं किया है। फिर भी हमारा अनुमान है कि यह रचना बहुत कर के कविवर श्रीकमलनयन जी की है; क्योंकि पहले तो वह साहु नन्दराम धनसिंह के समकालीन और उन से घनिष्ठता रखनेवाले थे और दूसरे उस समय मैनपुरी में हिन्दी में पद्य रचनेवाले वही मिलते हैं। इस रचना का सादृश्य भी उनकी रचनाओं में है। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि साहु धन सिंह कवि कमलनयन के सदृश धर्मात्मा सज्जन को संघ के साथ ज़रूर ले गये होंगे। इसलिये उन्होंने ही यात्रा का पूर्ण विवरण पद्यबद्ध किया होगा और साहु धन सिंह आदि ने उसे लिखवा कर मंदिरों और श्रावकों को भेंट किया होगा। मालूम ऐसा होता है कि कमलनयनजी की रचनाओं को लिखवा कर यह महानुभाव सर्वसाधारण में प्रचलित कर देते थे, क्योंकि उनके समय की लिखी हुई प्रतियां मिलती हैं। अच्छा तो. इन कवि कमल-नयन जी का परिचय पा लेना भी उपयुक्त है—यह परिचय केवल उन्हीं के ग्रन्थों से प्राप्त होता है और बहुत ही संक्षिप्त है। मैनपुरी के बुढ़ेले जैनियों से उनके बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं हुआ। उन के लिये यह एक नया समाचार था कि कोई कवि कमलनयन जी उनके मध्य हो गये हैं। जहां अपने निकटवर्ती मान्य पूर्वज का परिचय लोगों को प्राप्त न हो, वहां उन्हें अपनी जाति और कुल के महत्व और गौरव का भान भला क्या होगा? खैर, स्वयं कवि महोदय के अनुग्रह से हम जानते हैं कि वह (कवि कमलनयनजी) मैनपुरी के अधिवासी बुढ़ेले जातीय श्रावकोत्तम थे। उनके पितामह राय हरिचन्द थे और उनके पिता का नाम श्री ला० मनसुखरायजी था जो एक अच्छे वैद्य थे। इन मनसुखरायजी के दो पुत्र थे। जेठे पुत्र का नाम छत्रपति और छोटे का नाम कमलनयन था। कमलनयन जी ने कहीं-कहीं पर कविता में अपना नाम 'दृगकंज' भी लिखा है। उन्होंने जैनधर्म-विषयक कई ग्रन्थों की भाषा रचना पद्य में की है; जिससे पता चलता है कि वह एक धर्मज्ञान लिये हुए विवेकी सज्जन थे।* उनके समय का बहुभाग धर्म-विषयक चर्चा-वार्ता में बीतता था। एक समय

कवि कमलनयन

---

* "श्रीसंवत्सर वेद[4] रस[6] रंध्र[8] चन्द्र[1] पहिचानि। राज विक्रमादित्य नृप गत वर्षै भवि जानि॥
कातिक सुदि सुभ पंचमी कियौ ग्रंथ आरंभ। चैत्र कृष्ण तेरसि तिथी पूरन भयौ निदंभ॥

× × × ×

जाति बुढैले जानिये बसैं महा धनवंत। नन्दराम आदिक बहुत साधर्मी गुनवंत॥
तिनही में इक जानियै नाम राय हरिचन्द। वैद्यककला-परवीन अति मनसुख राय सुनन्द॥
तिनके सुत जेठे भए नाम छत्रपतिसार। तिन लघु भ्राता जानिये कमलनयन निरधार॥
एक समय निज छांड़ि पुर गये प्रयाग मंझार। मन में इच्छा यह भई कीजै देश विहार॥
तजीरथरा प्रयागवर तहँ श्रावग बहु लोय। अगरवाले जातिवर बसैं महाजन सोय॥

आप को देशाटन करने की इच्छा हुई और आप प्रयाग पहुंचे। वहां अच्छा सत्संग पाकर आप रम गये। उस समय प्रयाग में श्री विधिचन्द्र हीरामल जी नामक अग्रवाल जैनी बहु-प्रसिद्ध थे। हीरामल जी के पुत्र श्रीलाल जी थे। हमारे कवि की इनसे मित्रता हो गई। मित्रता इसलिये हुई कि श्रीलालजी उनकी नजर में 'परम धर्म की खानि' थे। उन्हीं के आग्रह से कवि महोदय ने 'अढ़ाई द्वीप के पाठ' की भाषा-रचना पद्य में रची थी। उनकी उपलब्ध रचनाओं में यही सर्वप्राचीन है। बहुत संभव है कि यही उनकी पहली रचना हो, क्योंकि जब लालजी ने इस रचना का प्रस्ताव उनके सामने रखा था तो उन्होंने इसे दुष्कर जानकर अस्वीकार किया। परन्तु लालजी ने उन्हे जिनेन्द्र आज्ञा लेनेके लिये कहा। संभवतः उन्होंने इस आज्ञा के लिये जिनेन्द्र-पासाकेवली का उपयोग किया। जिनआज्ञा मिल गई—कमलनयन जी का उत्साह बढ़ गया—उन्होंने 'अढ़ाई द्वीप का पाठ' रच दिया। इसे उन्होंने संवत् १८६३ में संपूर्ण किया था। इस समय वह युवावस्था की प्रारंभिक चंचलता को पार करके प्रौढ़ता को प्राप्त हुए प्रतीत होते हैं। इसके बाद उनकी उपलब्ध रचनाओं में संवत् १८७३ की रची हुई (१) श्रीजिनदत्त-चरित्र और (२) श्रीमहस्रनाम पाठ नामक रचनायें मिलती हैं। उपरांत संवत १८७६ में उन्होंने 'पंचकल्याणक-पाठ' रचा और संवत् १८७७ में 'वारांग चरित्र' लिख कर समाप्त किया था। अनुमान होता है कि प्रयाग आदि नगरों का देशाटन करके वह ३ वर्ष में लौटे होंगे और लौटने पर संवत १८६७ में साहु धनसिंह जी के साथ सम्मेद-शिखर की यात्रा को चले गये। वहां से संवत् १८६८ में वह मैनपुरी आये। मैनपुरी आने पर उन्होंने 'यात्रा-विवरण' लिखा। मालूम होता है कि फिर साहु श्यामलाल की संगति में रह कर उन्होंने 'जिनदत्त चरित्र' का ठीक-ठीक अर्थ समझा और संवत् १८७३ में उसे रच कर समाप्त कर दिया। यह उनका संक्षिप्त परिचय है।

उपर्युक्त यात्रा-विवरण पुस्तिका को देखने से पता चलता है कि साहु धनसिंह जी के नेतृत्व में मिली कार्तिक कृष्ण पंचमी बुधवार संवत् १८६७ को मैनपुरी में अनेक जैनियों का संघ

यात्रा-विवरण

श्रीसम्मेदशिखरादि तीर्थों कोयात्रा—वंदना के लिये रवाना हुआ था। उस रोज मैनपुरी मे जलेब (रथयात्रा) हुई थी। भगवान् आदिनाथ जी की

विधिचन्द्र नामा भले साधर्मी इक जानि। तिन सुत हीरामल्ल जी कीरतिवंत महान ॥
तिनके सुत हैं लालजी परमधर्म की खानि। अधिक प्रीति हमसौं करें पूरब योग प्रधान ॥
एक समय बैठे हुते लालजीत हम दोय। उन विचार मनमें कियो जा सुनि अचरज होय ॥
सार्द्ध द्वीप-पाठ की भाषा सुगम सुहाय। जो कीजे तौ है भली यहो सीख उरधारि ॥
तब हमनैं उनसौं कही सुनौ मित्र हम बात। यह कारज दुद्धर महा होय सकै क्यों भ्रात ॥
फिर उन हमसौं यों कही जिन श्रुत आज्ञा लेहु। जो शुभ आवे वचनवर तो यह काज करेहु ॥'

—प्रशस्ति अढ़ाई द्वीप का पाठ

मनोहर प्रतिमा को रथ में विराजमान कर संघ के साथ रक्खा गया था, जिसमें यात्रा में जिन-दर्शन का अन्तराय न हो। पहले ही संघ खरपरी गांव में ठहरा था, जो मैनपुरीके पास है। कार्तिक बदी १२ को महदी घाट पहुंच कर उन्होंने गङ्गा पार की। कई घाटों से बहुत-सी नाव इकठी की गईं परन्तु तब भी संघ दो रोज में पार उतर पाया। इससे उसकी विशालता का पता चलता है। कार्तिक सुदी १३ को संघ रतनपुर पहुंचा, जिसे नौराही कहते थे। वहाँ से चल कर कार्तिक सुदी १४ को अयोध्या पहुंचा; जहाँ खूब धूमधाम के साथ रथयात्रा निकाली गई। रथयात्रा में बल्लमधारी चपरासी—सिपाही आदि भी थे। वस्तुत: जैन-रथयात्राओं के आगे शस्त्रास्त्र से सुसज्जित हाथी, घोड़े, प्यादे आदि होना ही चाहिये, जैसा कि कवि ने लिखा है। पांच तीर्थङ्कर भगवान के जन्मस्थान पृथक् पृथक् थे—संघ ने उनकी वंदना की थी। पश्चात् मगसर वदी १५ को बनारस पहुंचा और भेलूपुरा के मन्दिर के निकट ठहरा। यहां भी रथ-यात्रा निकाली गयी थी और धर्मचक्र का पाठ किया गया था। वंदना करके संघ आगे चल कर पौष बदी ४ को पटना पहुंचा। वहां खूब जोर की वर्षा हुई जिसके कारण संघ एक सप्ताह तक वहां ठहरा रहा; फिर चल कर पौष शुक्ल ४ को संघ ने पावापुर की वंदना की। संघ जल-मंदिर के निकट ठहरा था और उसके पहले चौक में आदि जिनेन्द्र की प्रतिमा विराजमान करके संघ ने पूजा-भजन किया था। जल-मंदिर का कवि ने खूब ही सूक्ष्म वर्णन किया है। आगे उसी महीने की नवमी को संघ राजगृह पहुंचा और वंदना की थी। यहाँ संघ ने समोशरण पाठ विधान किया था। उपरांत माघ बदी २ को संघ नवादा पहुंचा था। वहां गौतम स्वामी की वंदना करके संघ माघ बदी १३ को पालगंज पहुंचा था। वहां राजा सुवरन सिंह जी थे। संघ उन से मिलकर आगे गया था। माघ सुदी ३ को मधुवन में डेरा दिया गया था। वहां संघ ने चार चैत्यालयों की वंदना की थी। वसंत पञ्चमी को संघ ने श्री सम्मेद-शिखरपर्वत की वंदना की थी। उसका भी पूरा विवरण कवि ने लिखा है जिससे प्रकट है कि तब बीच में नीचे तलहटी के मंदिर की वंदना भी दिगम्बर जैनी करते थे। पर्वत वंदना से लौट कर मधुवन में धर्मोत्सव मनाया गया और रथयात्रा निकाली गई, जिसमें पालगंज के राजा भी सम्मिलित हुए थे। इस प्रकार सानन्द पूजा वन्दना करके माघ सुदी पूनम को संघ ने मधुवन से प्रस्थान किया। फागुन बदी ८ को बैजनाथपुर आये। यहां शिव की वंदना करने अन्यमती लोग अधिक संख्या में आते लिखा है; परन्तु वहां भी संघ को पार्श्व भगवान् के दर्शन हुये थे। कवि कहते हैं कि:—

"पंडन मठ मंदिर मांही—प्रतिबिंब जिनेश्वर आहीं।
तिनको भी शिवजु कहै हैं—नित सेवा मांहि रहे हैं ॥"

शायद अब भी यह जिनमूर्ति वहां के पंडा लोगों के पास होगी। इस प्राचीन मूर्ति का

पता लगाना उचित है। फाल्गुन सुदी पड़वा को संघ चंपापुर पहुंचा था। वहां की वंदना करके फाल्गुन सुदी ४ को संघ वापस हुआ और बाढ़-नामक नगर में पहुंचा। यहां पर पहले जाते हुए पटना के जैनी लोग श्रीजी-सहित आकर यात्रासंघ में मिले थे और साथ साथ वंदना कर आये थे। वह अब यहां से अपने घरों को चले गये। सचमुच उस दुष्कर काल में तीर्थ-यात्रा करना सुगम न था। पटना के श्रावकों ने इस सुयोग से लाभ उठाया। कैसा वह पुण्यमय अवसर था! उन सहधर्मी भाइयों को श्रीजी के साथ विदा करते समय रथयात्रादि उत्सव किया गया था। श्रावकों ने परम्पर वात्सल्य धर्म का परिचय दिया था—जरा विचार कीजिये उस अनूठे अवसर को—मुक्तकंठ से कौन नहीं कहता होगा तब 'धन्य-धन्य साधर्मी जन मिलन की घरी।' वहां से विदा हो संघ काशी में आकर ठहरा। नौ रोज वहां विश्राम करके चला सो महदी घाट पर उसने गङ्गा-पार किया। वैसाख वदी ७ को गङ्गाधरपुर में संघ ठहरा और वैसाख वदी १२-१३ को वापस मैनपुरी पहुंचा। कवि कहते हैं कि देश-देश के लोग सब अपने-अपने घर को वापस गये और वह यह भी बताते हैं कि उन सबका साहु धन सिंह ने ओर-छोर उपकार किया था। धन्य थे वह महानुभाव, जिन्होंने साधर्मीजनों की सेवा में अपना तन-मन धन लगाया था और उनके लिये धर्मसाधन का परम योग उस जमाने में दुर्लभ सम्मेद शिखर जैसे तीर्थराज की यात्रा का सुयोग सुलभ किया था। सहस्रकण्ठाग्र जिनेन्द्र के पवित्र नाम से दिशाओं को पवित्र बना रहा था। यह सुअवसर अधिकाधिक संसार में सुलभ हो, यही भावना इस "सम्मेद शिखिर यात्रा का समाचार" पढ़ने से हृदयमें जागृत होती है।
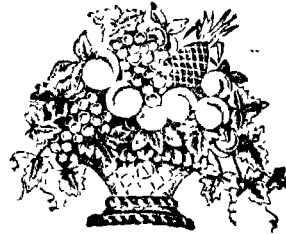
बंगाल में जैन धर्म

(लेखक—श्रीयुत सुरेशचन्द्र जैन, बी० ए०)

बंगाल में जैनधर्म की गति विशेष रही है। वहाँ मानभूम, सिंहभूम, वीरभूम और बर्दवान इन चारों जिलों के नामकरण भगवान महावीर या वर्द्धमान के नाम के आधार पर ही हुए हैं। चौबीस तीर्थंकरों में से बीस ने हजारीबाग जिला के अंतर्गत पार्श्वनाथ पहाड़ के सम्मेदशिखर पर से निर्वाण प्राप्त किया है। 'आचारांग-सूत्र' से विदित है कि राढ़ देश के वज्रभूमि और सुम्भभूमि नामक प्रदेशों में विहार करते हुए भगवान महावीर को अनेकानेक कठिनाइयां उठानी पड़ी थीं; उन्हें कठोर यंत्रणायें सहन करनी पड़ी थीं और कठिन से कठिन कार्य्य करने पड़े थे। यह प्रदेश यात्रियों के लिए दुर्गम था और मुनियों के प्रति यहाँ के निवासियोंका व्यवहार अत्यन्त ही क्रूर एवं करुणोत्पादक था। ये लोग निस्सहाय मुनियों के पीछे कुत्तों को छोड़ देते थे और इनसे अपनी रक्षा करने के हेतु असहाय मुनियों को बांस की फराठियों का सहारा लेना पड़ता था। अत एव यह ज्ञात होता है कि वर्द्धमान महावीर के समय में बंगाल में जैनधर्म की जाग्रति, प्रगति तथा उन्नति हो रही थी।

सन् ९३१ ई० पूर्व में श्रीहरिषेण ने 'बृहत्-कथा-कोष' नामक एक महान् ग्रंथ रचा था। उससे प्रकट है कि सुविख्यात जैनाचार्य एवं मौर्य्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के राजगुरु श्रीभद्रबाहु जी पुंड्रवर्धन देशांतर्गत देव कोटी नगरी के रहने वाले एक ब्राह्मण के पुत्र थे। एक दिन जब भद्रबाहु अपनी बाल्यावस्था में देवकोटि के अन्य बालकों के साथ क्रीड़ा कर रहे थे तब चतुर्थ श्रुतकेवली श्रीगोवर्धन ने उन्हें देखा था और उनको देखते ही उनके मन में इस बात की पूर्ण धारणा हो गई थी कि यह बालक पंचम श्रुतकेवली होगा। ऐसी धारणा मन में उत्पन्न होते ही उन्होंने श्रीभद्रबाहुजी के पिता की अनुमति से उनको तत्काल ही अपनी हिफाजत में रख लिया और कुछ समय बाद यही बालक पञ्चम श्रुतकेवली के रूप में श्रीगोवर्धनजी का उत्तराधिकारी हुआ। पुण्ड्रवर्धन ग्राम में एक निर्ग्रन्थ के दोष के कारण अट्ठारह हजार मनुष्यों की हत्या का जो वर्णन 'दिव्यावदान' नामक बौद्धग्रन्थ में किया गया है उसकी सत्यता पर विश्वास हो अथवा नहीं परन्तु उससे इतना पता तो अवश्य मिलता है कि तृतीय शताब्दी के पूर्व में उत्तरीय बंगाल जैनियों से भरा था।

'अंगुत्तरनिकाय' के सोलह महाजन पदों में जिन भिन्न-भिन्न देशों को गिनाया गया है उससे अंग और मगध की गणना पूर्वीय प्रांतों में की गई है। जैन 'भगवती-सूत्र' के भी

पंद्रहवे परिच्छेद में जिन सोलह देशों का वर्णन है उनमें भी अंग, बंग और लाधा (राढ़) का उल्लेख देख कर प्रत्यक्ष रूप से इस बात की अविचल धारणा होती है कि आदि काल में बंगाल के साथ जैनियों का संपर्क बौद्धों से कहीं अधिक था। 'कल्पसूत्र' में तामलित्या, कोटिवर्षीया, पौंड्रवर्धनीया और खावदीया को जैन भिक्षुकों के गोदासगण को चार शाखायें मानी गयी हैं। ताम्रलिप्ति, कोटिवर्ष और पुंड्रवर्धन क्रमानुसार मिदनापुर, दिनाजपुर और बोगरा जिलों में हैं और पश्चिमीय बंगाल में स्थित वर्त्तमान खवीर को प्राचीन खावाडोया माना गया है। जैन उपाङ्गों में तामलित्त और बंग आर्य्य लोगों की भूमि माने गये हैं। इस प्रकार साहित्यावलोकन से यह प्रत्यक्ष प्रतीत होता है कि महावीर के समय से जैनधर्म का प्रचार तीव्र वेग से होने लगा; जैनधर्म-वीरों की संख्या बढ़ने लगी और बंगाल के प्रत्येक भाग में जैनियों की सत्ता समूल स्थापित होने लगी। यदि 'आचाराङ्ग-सुत्त' में वर्णित जैन मुनियों पर किए गए अत्याचारों पर विश्वास किया जाय तब यह मानना ही पड़ेगा कि पूर्व काल में जैनियों को कटंकाकीर्ण पथ का पथिक बनना पड़ा। इसमें कोई संदेह नहीं कि जैन मुनियों को अनेकानेक कठिनाइयाँ सहन कर धर्म का प्रचार करना पड़ा था। परन्तु साथ ही साथ देश के कोने कोने में जैनधर्म का विस्तार देखते हुए यह भी मानना पड़ता है कि अन्त में सत्य की ही विजय हुई और जैनधर्म की निर्मल एवं पवित्र-पताका विधर्मियों के खण्डहरों-पर फहराने लगी।

यद्यपि क्रिश्चियन युग के बाद (after Christian Era) चन्द्रगुप्त अथवा खारवेल जैसे जैन-संरक्षक नृपति दीख नहीं पड़ते, तथापि लोकमत की यह धारणा है कि जैनधर्म पूर्वीय भारत से लुप्तप्राय हो गया था यह सर्वथा असंगत है। मथुरा के पुरातन शिलालेख से पता चलता है कि सम्भवतः सन १०४ में 'रारा' के एक जैन मुनि के आग्रह पर एक जैन प्रतिमा की स्थापना हुई थी। पहाड़पुर के एक ताम्रपत्र से पता चलता है कि एक ब्राह्मण-दंपति ने 'वाट-गोहाली' के विहार में चंदनादि से जैन तीर्थंकरों की पूजा के लिए कुछ भूमि प्रदान की थी। काशी की पञ्च-स्तूप-शाखा* के निर्ग्रन्थ गुरु गुहनंदी के शिष्य के शिष्यों ने इस विहार के सभापति का आसन ग्रहण किया था। पहाड़पुर की ताम्रलिपि का अध्ययन यदि 'हयुएनचाँग' की यात्रा-संबंधी विवरण के साथ-साथ किया जाय तो पता चलेगा कि पुंड्रवर्धन, सातवीं शताब्दी तक, जैनियों का एक बृहत्, शक्तिशाली और प्रतिष्ठित केन्द्र था।

'हयुएनचाँग' ने तत्कालीन धर्मों तथा उनसे संबद्ध संस्थाओं के विषय में अपने जो मार्मिक, भावपूर्ण एवं विवेचनात्मक विचार प्रकट किए हैं वे सदा आदरणीय हैं और यदि

*श्रीजिनसेनाचार्य ने भी अपने को 'पंचस्तूपान्वयी' लिखा था और वह नंदिसंघ के आचार्य थे। संभव है कि गुहनंदि भी उसी संघ और शाखा के हों। संपादक

उन गूढ़ एवं प्रभावशाली विचारों के आधार पर तत्कालीन प्रचलित धर्म्मों का तुलनात्मक विश्लेषण किया जाय तो हम एक ऐसे निश्चित, अटल और अनिवार्य्य निष्कर्ष पर पहुँचेंगे जो हमारी धार्मिक प्रौढ़ता को और भी अधिक प्रौढ़, हमारे अटल विश्वास को और भी अधिक दृढ़ तथा हमारे धार्मिक दृष्टिकोण को और भी विस्तृत तथा दूरदर्शक बना देगा। किन्तु हमें इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि अपने वृत्तांत में 'ह्युएनचाँग' ने बौद्ध धर्म के अतिरिक्त और किसी भी धर्म-विशेष पर पूर्ण प्रकाश नहीं डाला है और निर्ग्रंथों का वर्णन तो कहीं कहीं केवल प्रसंग-वश ही आ गया है। इतने पर भी उस बौद्ध परिव्राजक ने लिखा है कि वैशाली, पुंड्रवर्धन, समतट और कलिङ्ग देशों में निर्ग्रंथों की संख्या असंख्य थी। अत एव यह प्रत्यक्ष है कि सातवीं शताब्दी में इन्हीं भू-भागों में जैनों की संख्या सब से अधिक थी। इस चीन-परिव्राजक ने भारत के और किसी भी प्रांत के निर्ग्रंथों का उल्लेख विशेष रूप से नहीं किया है। परन्तु उनके यह लिखने से कि और और प्रांतों में भिन्न—भिन्न-धर्मावलम्बी मिल-जुल कर रहते थे—यह सिद्ध होता है कि उन भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बियों में जैनधर्मावलम्बी भी अवश्य सम्मिलित रहते होंगे। इस विषय पर उनके मौन रहने से यह कभी भी नहीं माना जा सकता कि पूर्वीय भारत के अन्य भागों में जैनियों की कमी थी। 'ह्युएनचाँग' ने अपने 'राजगृह' के विवरण में जैनियों की कुछ भी चर्चा नहीं की है किन्तु 'विपुला' पहाड़ के पास उन्होंने बहुत से निर्ग्रंथों को देखा था। आज भी बहुत से दिगम्बर जैनी यहाँ आते हैं, ठहरते हैं और पूजनादि करते हैं। केवल जैन साहित्य में ही नहीं, 'राजगृह' बौद्ध साहित्य में भी विख्यात है और आज भी यह जैनियों का एक अत्यन्त ही रमणीक एवं पवित्र तीर्थ स्थान है। इस स्थान के समीप अनेक जैन प्रतिमाएं पायी जाती हैं। 'वैभार' पर्वत पर गुप्तवंश के समय की चार जैन प्रतिमाएँ हैं। ८वीं, ९वीं, और १२वीं शताब्दियों की भी जैन प्रतिमायें वहाँ पर पायी जाती हैं। इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि मुसलमानों के राज्यकाल में भी जैनियों ने 'राजगृह' में जैन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की थी।

७ वीं शताब्दी के बाद बंगाल में जैनधर्म की क्या दशा थी इस विषय पर हमलोग पूर्ण अंधकार में हैं। इसका विकास, इसका पतन अथवा दूसरे धर्मों के साथ इसका मिश्रित हो जाना ये सभी बातें अतीत के अन्धकार में मिश्रित हो गई हैं। इस संबंध में दो प्रतिद्वन्दी धर्मों की कहानी अत्यन्त ही रोचक है। आरंभ में भगवान् 'महावीर' और 'मासवालीपुत्त गोसाल' में चाहे जिस प्रकार का व्यवहार रहा हो परंतु आगे चलकर भिन्न-भिन्न दो धर्म्मों के प्रवर्त्तक होने के कारण दोनों का पारस्परिक व्यवहार यदि घोर कठोरता और शत्रुता का न था तो इसमें भी संदेह नहीं कि इनके परस्पर के व्यवहार में मित्रता तथा सज्जनता भी न थी। यदि 'भगवती' में वर्णित 'गोसाल' और 'महावीर' के कार्य्यों पर विश्वास किया जाय तो

यह मानना पड़ेगा कि ये दोनों 'राधा' के एक भाग 'वज्र-भूमि' में स्थित 'पनित-भूमि' में सात वर्ष तक साथ-साथ रहे। 'राधा' में भ्रमण करते हुए 'महावीर' ने अनेक संन्यासियों को हाथ में बाँस की फराठी लिये हुए देखा था। 'पाणिनि'-द्वारा वर्णित 'मस्करिण' नामक ये सन्यासी जैन आजीविक थे।* अतएव यह पता लगता है कि 'महावीर' के समय में छठवीं शताब्दी के पूर्व में भी आजीविक लोग पश्चिम बंगाल में अपना धर्म प्रचार कर रहे थे। अशोक और दशरथ आदि मौर्य्य सम्राटों ने भी समय समय पर इन आजीविकों को इनके प्रचार-कार्य्य में सहायता दी थी और 'नागार्जुनि' एवं 'बाराबर' की गुफाओं से पता चलता है कि ईसा के ३०० वर्ष पूर्व के उत्तरीय भारत में इन आजीविकों के धर्म्मानुगामियों की कमी न थी।

'भगवती' मे 'पुण्ड' देशांतर्गत 'महापौम' (महापद्म) के एक राजा का उल्लेख है। इनको आजीविकों का संरक्षक बतलाया गया है। 'पुण्ड' विन्ध्य पर्वत की तराई में बतलाया गया है। साथ ही साथ 'महापौम' की राजधानी में एक सौ सिंहद्वारों का होना कहा गया है। 'पुण्ड' के नाम से ही पता चलता है कि संभवतः यह 'पुंड्र' ही था और इसकी भौगोलिक स्थिति, जो कि 'विन्ध्य' पर्वत के पास बतलायी गयी है, नगण्य मानी जा सकती है। पुंड्रवर्द्धन अथवा आधुनिक फिरोज़ाबाद में एक निर्ग्रंथ के दोष के कारण अशोक-द्वारा १८००० आजीविकों की हत्या किये जाने के वृत्तांत की सत्यता मानी जाय चाहे नहीं परन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि यहाँ भी आजीविकों का एक बहुत बड़ा केन्द्र था। इन सबों से अधिक महत्त्व रखनेवाली बात यह हुई कि तत्कालीन लोगों ने आजीविकों को पहचाना ही नहीं और उन्हें ही निर्ग्रंथ समझ बैठे। उन दोनों के आचार, व्यवहार, रहन-सहन तथा धर्मकार्य्यों में इतनी समानता थी कि लोगों को एक दूसरे के पहचानने में कठिनाई होने लगी। इसी कारण हमलोग भी डाक्टर वेणीमाधव बरुआ की ही सम्मति से सहमत हैं कि 'दिव्यावदान' के संपादन के समय निर्ग्रंथों तथा आजीविकों के आचार-विचार तथा सिद्धांतों में इतनी कम असमानता थी कि उन दोनों को पृथक् पृथक् पहचान लेना एक प्रवासी बौद्ध भिक्षुक के लिये कठिन था। दक्षिण भारत के आजीविकों की गणना तो जैन-ग्रंथकारों ने बौद्ध भिक्षुकों की ही एक संप्रदाय में की है। ऐसी अवस्था मे यह समझ लेना कि 'ह्यु एनचाँग' ने अनेक आजीविकों को ही जैनी समझ लिया कुछ अत्युक्ति न होगी; वरन् स्वाभाविक ही होगा।† अधिक अध्ययन करने से पता चलता है कि

---

* आजीविक संप्रदाय जैनमत से भिन्न था, यद्यपि उसका निकास जैनमत से ही हुआ था—उसका संस्थापक एक श्रमण जैन मुनि था।—संपादक

† बंगाल में जैनधर्म के ह्रास का एक कारण भले ही यह हो। परन्तु यह नहीं कहा जासकता कि

जैनियों और आजीविकों में बहुत कम भेद था। उस समय अन्य अन्य धर्मावलम्बियों का भी जोर बढ़ रहा था और इस बात की अत्यन्त आवश्यकता थी कि आजीविकों तथा जैनियों में किसी प्रकार का भेदभाव न रहे। अन्य धर्मावलम्बियों के आक्रमण को रोकने और उनका सामना करने के लिए इन दोनों संप्रदायों का परस्पर सम्मिलित हो जाना बहुत संभव था। बौद्धयतिकों के कट्टर शत्रु देवदत्त ने जो एक पृथक् संप्रदाय की स्थापना की थी वह भी सातवीं शताब्दी में बौद्धधर्म में प्रायः सम्मिलित ही हो गया थी और एक अबौद्ध के दृष्टिकोण से देखने पर उन दोनों संप्रदायों में कुछ अन्तर न था। उसकी आँखों में तो केवल बौद्धधर्म ही बसा था। यद्यपि आज भी प्रमाणों की कमी है, फिर भी यह अनुमान किया जा सकता है कि कुछ ही समय के बाद जैनधर्म्म, बौद्ध तथा वैदिक धर्म्मों में ही अन्तर्हित हो गया था।※ प्राचीनकाल में 'पहाड़पुर' का मठ जैनियों की ही संपदा थी; इनके द्वारा ही इसका निर्माण हुआ था परन्तु अन्त में यह बौद्धों के ही अन्तर्गत हो गया और उत्तर बंगाल में 'सोमपुर' के बौद्ध विहार के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

'ह्यु एनचाँग' के अपनी यात्रा का वर्णन लिखने के बाद से जैन तीर्थङ्करों की कुछ प्रतिमाओं के अतिरिक्त जैनियों के अस्तित्व का यहाँ कुछ भी पता नहीं चलता। श्रीराखालदास बनर्जी के मतानुसार बंगाल में केवल चार ही जैन प्रतिमायें हैं। किंतु उनका यह मत वर्तमान लोकमत के विरुद्ध है। क्योंकि श्रीयुत के० डी० मित्रा ने 'सुन्दरवन' के एक भाग के खोज (Exploration) द्वारा जो ऐतिहासिक अन्वेषण किये हैं उनमें 'सुन्दरवन' के केवल उसी भाग में ही दस जैन प्रतिमाओं का और भी पता चला है। 'सुन्दरवन' के केवल एक भू-भाग में एक साथ दस प्रतिमाओं के मिलने को यदि 'वैरकपुर' में प्राप्त ताम्रपत्रों के प्रमाणों के साथ मिलाकर गूढ़ विचार किया जाय तो पता चलेगा कि 'ह्यु एनचाँग' ने जिस समतट नगरी में निर्ग्रंथों को अधिकाधिक संख्या में देखा था उसमें उत्तर-पश्चिमीय सुन्दरवन भी सम्मिलित था। बाँकुरा और बीरभूम जिलों में अभी भी प्रायः जैन-प्रतिमाओं के मिलने का समाचार पाया जाता है। श्रीराखालदास बनर्जी ने भी इस क्षेत्र को तत्कालीन जैनियों का एक प्रधान केन्द्र बताया है। बंगाल में प्राप्त इन बीस प्रतिमाओं में से केवल एक श्वेतांबरी प्रतिमा है। इससे यह पता चलता है कि वहाँ दिगंबरों की संख्या श्वेतांबरों से बहुत अधिक थी। वहां श्रीऋषभनाथ जी या श्रीआदिनाथ जी, श्रीनेमिनाथ जी श्रीशांतिनाथ जी

सब जैनी वैष्णव या बौद्ध हो गये थे। बंगाल के सराक लोग आज तक प्राचीन जैनों के स्मारकरूप से हैं। —संपादक

※ ह्यु एन चांग ने स्पष्ट शब्दों में उन साधुओं को निर्ग्रन्थ लिखा है, इसलिये उन्हें आजीविक अनुमान करना ग़लत है। —संपादक

तथा श्रीपार्श्वनाथजी की प्रतिमायें पायी गयी हैं और इनमें श्रीपार्श्वनाथ जी की प्रतिमा सब से अधिक लोकप्रिय है। मूर्तियों के आकार-प्रकार, उनमें अङ्कित चिह्नों, उनके पार्श्ववर्ती शिला-लेखों तथा उनके नग्नत्व से वे जैनियों की ही प्रमाणित मूर्तियाँ मानी जाती हैं।

मूर्ति-निर्माणकला के अध्ययन से पता चलता है कि बंगाल की सभी जैनमूर्तियाँ 'पाल' राज्यवंश के समय की हैं। तुलनात्मक रूप से विचार करने से पता चलता है कि उस काल की जितनी धार्मिक मूर्तियाँ पाई गयी हैं उनमें जैन प्रतिमाओं की संख्या बहुत ही कम है और यही जैनियों के अल्प संख्या में होने का प्रमाण है।* इस में अब कुछ भी संदेह नहीं रह गया है कि 'पाल' राज्यवंश के शासनकाल के आरंभ से ही जैनियों की संख्या दिन प्रतिदिन क्षीण होती गई और उसी समय से बंगाल में जैनधर्म की अवनति के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे। तब से आजतक बंगाल में जैनधर्म की अवनति ही होती आई है और उसके प्रमाण-स्वरूप आज का बंगाल और उसका जैनधर्म सब के समक्ष उपस्थित है।†

* अभी पूरी खोज हो कहां हुई है? फिर भी बंगाल के भिन्न-भिन्न जिलों के गजेटियरों से स्पष्ट है कि प्रत्येक स्थान पर अनेक प्राचीन जैन चिह्न विद्यमान हैं। —संपादक

† 'इण्डियन कलचर' जनवरी १९३७ में प्रकाशित 'Jainism in Bengal' का रूपान्तर। —लेखक
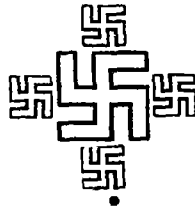
ऐतिहासिक प्रसंग

(सं०—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री)

7TH CENTURY A. D.

(१) महेन्द्र वर्मा, (पल्लव वंशीय) जो संभवतः जैनी था, ई० सन ६१० में हुआ। उसने शैव होने पर साउथ आर्काट के अन्तर्गत पाटलीपुत्र (Pathputtiram) के एक बड़े जैनमठ (the large Jain monastry) को नष्ट किया।

Ref. Smith, Early history of India P 472.

(२) चीन का बुद्धयात्री ह्वेनसंग (Hiuen Tsang) ई० सन ६३० में भारतवर्ष में आया और ६४४ तक रहा। उसने जैनियों के सम्बन्ध में बहुत सी बातें लिखा है और सिंहापुर Singhapur (murti in the salt region) में एक श्वेताम्बर मंदिर का उल्लेख एवं कलिङ्गदेश में जैनधर्म के प्रचार को सूचित किया है और साथ ही साथ दक्षिण भारत में हर जगह दिगंबर-सम्प्रदाय के अनुयायियों से मिला है।

Ref. Beal, Siyuki, I, 144 etc. vol. II P. 205, etc. V. F. J. IV, P. 80

(३) ऐहोले (Aihole) का शिलालेख शक संवत् ५५६ में लिखा गया, जिसको जैनकवि रविकीर्ति ने रचा। उसमें रविकीर्ति ने कालिदास और भारवि की बराबरी का दावा किया है। यह शिलालेख जैन मंदिर के बनने के संबंध का है। पश्चिमी चालुक्य पुलकेशी द्वितीय सत्याश्रय के राजत्वकाल में लिखा गया।

Ref. Ep. Ind. VI, P. 4.

(४) 655 A. D. Terrible persecution of the Jains in the Deccan by Kuna, Sund, or nedumaram Pāndya a Jain convert to Sāmism: assigned to about this period (655A.D.) by the scholars.

Ref. smith, Early History of India, (1914) P. 454—5. cp. Ind. Ant. II, P.

(५) वसन्तगढ़ से निकली हुई दो पीतल की जैनमूर्तियाँ इस समय पींडवाडा (सिरोही) के जैनमंदिर में हैं, जिन पर वि० सं० ७४४ के लेख हैं।

Ref. ओझा० सिरोही का इतिहास पृ० ३१-३२

8TH CENTURY A. D.

(६) Śaka Era 656 (734 A.D.) Inscription of Vikramaditya II, Western Chalukya, mentioning the restoration of the temples of Pulikere and conveying gifts, (apocryphal). Ref. Guerinot no. 114.

(७) शांतरक्षित नाम के बौद्ध नैयायिक ने अपने तत्वसंग्रह-कारिका नामक ग्रंथ में (749 A D) दिगंबर (जैन) के जीव-संबंधी सिद्धांत की आलोचना की है।

Ref. विद्याभूषण, इण्डियन लाजिक P. 125.

(८) शक सं० ६९८ (776 A. D.) में पश्चिमी गंगवंशीय राजा श्रीपुरुष ने श्रीपुर के जैनमंदिर को जो दान दिया उस के प्लेट (पत्र) लिखे गये।

Ref. Guerinot no. 121.

(९) ई० सन ७८४ में वत्सराज (Vatsarāja) प्रतिहार कन्नौज में हुआ। वि० सं० १०१३ के एक शिलालेख में लिखा है कि उसने ओसिआ (Osia) में एक जिन-मंदिर बनवाया। R. Arch. Surv. Ind. Annual Rep. 1906 - 7, pp. 209, 42.

(१०) शक संवत ७१९ (797 A. D.) में श्रीविजय ने, जो कि पश्चिमी गंग वंशीय मारसिंह का जागीरदार (feudatory) था, एक जैनमंदिर बनवाया।

Ref. Guerinot no. 122.

9TH CENTURY A. D.

(११) शक संवत ७३५ (812 A. D.) में गंगवंशीय राजा 'चाकिराज' की प्रार्थना (विज्ञप्ति) पर राष्ट्रकूट वंशोद्भव द्वितीय प्रभूतवष, तृतीय गोविन्द ने एक गाँव विजयकीर्ति मुनि के शिष्य अर्ककीर्ति को जिनेन्द्र मंदिर के लिये दिया। यह मुनि यापनीय नन्दिसंघ के पुन्नाग-वृक्षमूल गण के थे।

दानपत्र का नाम (Kadaba, maisur plates) Ref. Ind. Ant. XII, P. 13.
Epi. Ind. IV, P. 340.
(प्राचीनलेखमाला प्रथम भाग, पृष्ठ ५१—५२)

(१२) शक संवत् ७८३ में सूरत का दानपत्र लिखा गया, जिस में गुजरात के राष्ट्रकूटवंशी ककराज प्रथम ने कुछ भूमि का नागप्रिका nagaprika (नवसारी Navsari) के जैनमंदिर को दान दिया है।

Ref. Bom. Gaz. I, I, (Hist. of Guz. J. P. 125)

(१३) शक सं० ७८२ (860 A. D.) में कोन्नूर (Konnur) का शिलालेख लिखा गया। जिस में राष्ट्रकूटवंशी महाराजाधिराज अमोघवर्ष प्रथम की तरफ़ से देवेन्द्र नाम के दिगंबर जैन को एक गाँव दान किया गया (apocryphal) Ref. Ep. Ind. VI, P. 29.
Imperial Gazetteer of India, II. P. 9 f.

(१४) घाटियाला जैन प्राकृत शिलालेख—समय वि० सं० ९१८ (861 A. D.) पडिहार राजा कक्कुक ने एक जैनमंदिर बनवाया और उसे धनेश्वर गच्छ को दे दिया।

Ref. Ramkarana, J. S. S. Rep. P. 1.

(१५) A. Vir. 1400 Jeṣṭhbhutı : disappearance of Kalpavyavahara-sutra (कल्पव्यवहारसूत्र)। Ref. P. R. III app. P. 22; IV, Ind. P. XLVII.

(१६) Vik. Sam. 919 Deogaḍh pillar inscription of Bhojdeva of Kanouj. It records that in the reign of Bhojdeva while Luachchha-gira was governed by the great feudatory Vishnuram, the pillar which contains the inscription was set-up near the temple of Shānti-nath at Luachchhagiri (Deogaḍh) by Deva, a pupil of the Acharya Kamaldeva.

Ref. Ep. Ind. Vol. IV. P. 309—10.

(१७) सौंदत्ति (Saundatti) का शिलालेख—समय शक सं० ७९७। इसमें राष्ट्रकूट कृष्ण द्वितीय के मातहत शासक (Governor) पृथ्वीराम ने, जो सौंदत्ति और बेलगाम का शासक था, कुछ भूमि एक जैनमंदिर को दान की।

Ref. Ep. Ind. app. No. 79. Guerinot—130.

(१८) शक सं० ८०९ (887 A. D.) में पश्चिमी गंगवंशीय सत्यवाक्य कोंगुनी वर्मन (Konguni varman) की ओर से एक दान (gift) सर्वनन्दी को दिया गया।

Ref. Guerinot. D' Epig. Jain, no. 131.

(१९) बिलियूर का शिलालेख (Biluir stone inscription) समय शक संवत् ८०९, (888 A. D.) है। सत्यवाक्य कोंगुनी वर्मन (पश्चिमी गंगराचमल्ल प्रथम ?) ने बिलियूर के १२ छोटे गाँव (hamlets) शिवनन्दि सिद्धांत भट्टारक के शिष्य सर्वनंदी को पेन्नेकडंग (Pennėka ḍanga) के 'सत्यवाक्य जिनमंदिर' के लिये दिये। Ref. Ep. Car. I. Coorg Inscriptions. (ed. 1914) no. 2. Introd. P. 8.

(२०) विक्रम सं० ९५१ (893 A. D.) में रामसेन के शिष्य भट्टारक देवसेन का जन्म हुआ।

Ref. under 934. A. D. (P. R. IV, Index.)

(२१) शक संवत् ८१५ (ई० ८९२) निधियण्ण और चेदियण्ण नाम के दो वणिक् पुत्रों (sons of a merchant from Śrimangal) ने तगडूर (धर्मपुरी) में एक जनमंदिर बनवाया। इन में से पहले को राजा से मूलपल्लि नाम का गाँव मिला, जिसे फिर उसने विनयसेन सिद्धांत-भट्टारक के शिष्य कनकसेन सिद्धांत-भट्टारक को मंदिर की सुव्यवस्था (up-keep) के लिये दिया। ये भट्टारक पोगरीयगण, सेनान्वय और मूलसंघ के थे।

Ref. Ep. Ind. X, 57, 65.

10TH CENTURY A. D.

(२२) शक सं० ८२४ (902 A. D.) में आदिपम्प या हम्प का जन्म हुआ, जो दि० कर्णाटक कवि था।

Ref. J. R. A. (N. S.) XIV, 19.

(२३) श्रीविजय दण्डनायक, जिन्हें अरिविनगोज और अनुपम कवि भी कहते हैं, प्रायः ई० सन् ९१५ के लगभग हुए हैं। दानवुल पाडुस्तंभ शिलालेख में वे राजा इन्द्र (पानरेंदु) के, जो कि राष्ट्रकूट नित्यवर्ष इन्द्रतृतीय जाना गया है (identified with the Raṣṭrakūṭa···) अधीन के (subordinate) बतलाये गये हैं। गंगमंत्री चामुण्डराय की तरह, जो पश्चिमीया गंगसम्राट् मारसिंह द्वितीय और राचमल्ल द्वितीय का सेवक और जैन-साहित्य तथा धर्म का बहुत बड़ा संरक्षक था। श्रीविजयशास्त्रविद्या के समान अस्त्र (युद्ध) विद्या में भी अद्वितीय था। साथ ही जैनधर्म का संरक्षक था और उसने अन्त में मोक्षप्राप्ति के लिये, एक पवित्र जैन के सदृश, संसार का त्याग किया।

Ref. Ep. Ind. X, 149—50.

(२४) वि० सं० ९७३ (917 A.D.) में राष्ट्रकूटवंशी राजा विदग्ध हुआ। अपने धर्मगुरु वासुदेवसूरि (बलभद्र) के उपदेश से उसने हस्तिकुण्डिका (हाथूंडी) में एक जैनमंदिर बनवाया। राजा ने अपने को सोने से तौला था जिसका दो तिहाई भाग 'जिन' को और शेष (⅓) जैनगुरु (वासुदेव सूरि) को दिया। उस ने मंदिर और गुरु को और भी दान वि० सं० ९७३ में दिये थे। Ref. Ep. Ind. X, 17—23.

(२५) वि० सं० ९९६ (940 A. D.) में 'मम्मट' राष्ट्रकूट ने अपने पिता विदग्धराज के दिये हुए दानपत्र को फिर से हस्तिकुण्डिका जेनमंदिर के हक़ में नया किया (Renewed).

Ref. Ep. Ind. X., 20.

(२६)वि० सं० १००८ (944 A. D.) में शालास्थिति का प्रारंभ हुआ। अर्थात् श्वेतांबर साधुओं की मंदिरों में रहने की प्रवृत्ति के स्थान में उपाश्रयों में रहने की धीरे धीरे प्रवृत्ति प्रारंभ हुई। Approximate date of the great Swetambar awakening.

Ref. B. R. 1883—4, P. 323.

(२७) शक संवत् ८६७ शुक्रवार के दिन (5th December, 945 A. D.) पूर्वीय चालुक्य अम्मा द्वितीय या विजयादित्य षष्ट का, जो कि चालुक्य भीम द्वितीय वेंगी के राजा का पुत्र और उत्तराधिकारी था, और जिसने ईस्वी सन् ९७० तक राज्य किया, दबार (coronation) हुआ। यह राजा जैनियों का संरक्षक था। महिला 'चामकाम्ब' के कहने पर (at the instance of), जो पट्टवर्धक घराने की थी, इस (राजा) ने एक गाँव

अर्हनन्दी को (अर्हनन्दी सकलचंद्र सिद्धान्त के शिष्य अय्यपोति का शिष्य था), जो कि अड्डकलि गच्छ और बलहारि गण का था, सर्वलोकाश्रय जिन-भवन के हितार्थ दान किया था (Kaluchumbarru grant), उसके फौजी जनरल दुर्गराज (कटकाधिपति विजयादित्य के पुत्र) ने " Whose sword always served only for the protection of the fortune of the chalukyas and whose renowned family served for the support of the excellent great country called Vengi" धर्मपुरी के निकट कटकाभरण नाम का जिनालय बनाया और उसका अधिकार श्रीमन्दिरदेव (Srimandira-deva) को, जो कि 'दिवाकर' का (जो कि नन्दिगच्छ कोटिडुंव (?) गण और यापनीय संघ के जिननन्दि का शिष्य था) शिष्य था, दिया। मलियापूंडि का दानपत्र (grant) एक गाँव के दान का उल्लेख करता है जो अम्मा द्वितीय ने इस जिनमंदिर के वास्ते दिया था।

Ref. D. C. 90. Ep. Ind. VII, 179, Ibid, IX, 49—50.

(२८) 949 A.D. War between the Rástrakuts and cholas Hostility between the rival religious, Jainism and Hinduism in the Deccan leads to the introduction of much bitterness into the wars of this period.

Ref. Smith Early History of India (1914) P. 429.

(२९) विक्रम सं० १०११ (२ अप्रैल दिन सोमवार में खजराहाँ (रियासत छतरपुर) का शिलालेख लिखा गया। (it records a number of gifts by Pahilla······) इस लेख में पाहिल······के द्वारा, "who is held in honor" by King Dhanga Chandella जिननाथ के मंदिर के लिये (in favour of the temple of Jinanáth) दिये हुए अनेक दानों का उल्लेख है।

Ref. Ep. Ind. I. 135—6.

(३०) वि० सं० १०१३ (956 A. D.) में माधव के पुत्र महेन्द्रचन्द्र ने, जो संभवत: ग्वालियर का राजा था, एक जैनमूर्ति सुहम्य Suhamya (जो ग्वालियर के निकट है) में अर्पण की।

Ref. Jr. Asiatic Soc. Beng. XXXI, P. 399.

(३१) विक्रम संवत् १०३४ (977 A. D.)। सुहम्य (Suhamya) की जैनमूर्ति पर एक शिलालेख है जो वज्रदमन कच्छपघाट के समय का है।

Ref. J.r. Asia. Soc. Beng. XXXI, P. 393, 401.

(३२) शक संवत् ९०० में चामुण्डराज (मंत्री पश्चिमी गंगराज राचमल्ल) ने अपना पुराण, समाप्त किया। Ref. Ind. ant. XII. 21. Inscrip. at Sr. Bel. no. 75, 76, 77 85 and pp. 22, 25, 33, 34.

(३३) शक सं० ८९९ (978 A. D.) मे पेग्गूर का शिलालेख लिखा गया। इसमें रक्कस ने, जो कि गंगवंशी राचमल्ल द्वितीय का छोटा भाई और बेड्डोरेगेरे (Beddoregare) का शासक (governor सूबादार) था, श्रवणबेल्गोल के अनन्तवीर्य को, जो कि पण्डित गुणसेन भट्टारक का शिष्य था, एक दान दिया।

Ref. Ep. Car. I, Coorg Inscriptions (ed. 1914) no. 4. Rice, Mysore and Coorg from inscriptions, P. 47.

(३४) राष्ट्रकूटवंशी कृष्णराज तृतीय का पौत्र इन्द्रराज चतुर्थ, श्रवणबेल्गोल में शक संवत् ९०४ (सोमवार के दिन २० मार्च) को मरा। Ref. Inscrip. at Sr. Bel. no. 57. p. 53. Ind. ant XXIII. p. 124, no. 64.

(३५) वि० सं० १०५३ (997 A. D.) में रविवार (२४ जनवरी) के दिन हस्तिकुंडिका का जैनमंदिर (जिसे राष्ट्रकूटवंशी विदग्धराज ने बनाया था) बहाल किया गया या मरम्मत की गयी (restored)। वासुदेव सूरि के शिष्य शान्तिभद्र सूरि ने वहाँ एक ऋषभदेव की मूर्ति स्थापित की। इस घटना की स्मृति में सूराचार्य ने एक प्रशस्ति रची।

Ref. Ep. Ind. X, P. 17 f.

(३६) 1000—1200. A. D. Prevalence of Jainism as the chief form of morship among the highest classes in central India.

Ref, Imp. Gazet. Ind. IX, p. 353.

(३७) लघुसमंतभद्र, जिसने अष्टसहस्री पर एक टीका लिखी है, ईस्वी सन १००० के लगभग की है। (श्वे०) अभयदेव सूरि का भी यही समय है।

Ref Vidyabhooshan Indian Logic pp. 36—37. K. J. O. Tank's Dic. I, P. I. P. R., V pp. 216—19.

11TH CENTURY A. D.

(३८) ईसवी सन् १००४ में, राजेन्द्रचोल के आधिपत्य में चोलों की विजयों द्वारा पश्चिमी गंगवंश के राज्य का पतन हुआ। इस राजकीय परिवर्तन से, जैनधर्म को मैसूर प्रांत में जो राजधर्म (s. r.) का स्थान प्राप्त था वह विरुद्धता में परिणत हो गया (adversely affected)।

Ref. Rice, Mysore and Coorg from Inscriptions, pp. 48, 203.

(३९) वीरभद्र ने वि० सं० १०७८ में 'आराधना-पताका' बना कर समाप्त की।

Ref. I. G. 64.

(४०) मथुरा से प्राप्त हुई एक जैनमूर्ति पर वि० सं० १०८० का लेख है।

Ref., Ep. Ind. II; p. 211

(४१ बुद्धिसागर ने जो कि वर्धमान और जिनेश्वर-द्वारा अनुगृहीत था (the favoured one of) 'शब्दलक्ष्य-लक्षण' नाम का एक व्याकरण वि० सं० १०८० में बनाया, जब कि वह जवालीपुर (जालोर मारवाड़) में था।

Ref. B. R. 1904—5 and 1905—6 p. 25, 77, Tank's Dic. p. 5.

(४२) तिरुमलइ गिरि शिलालेख(समय 1024 A. D.) है। यह चोल राजा के सम्बन्ध में केसरी वर्मन अपर नाम (alias) राजेन्द्र चोल देव प्रथम के राज्य के १३वें वर्ष का लिखा हुआ लेख है। राजेन्द्र चोलदेव ई० सन् १०१२ में राज्यासन पर बैठे (और उसने तिरुमलइ गिरि के, जो कि उत्तर आर्कट जिले में पोलूर के निकट है, जैनमंदिर के दीपक और पूजा के लिये कुछ रुपये का दानपत्र लिखा) and records a gift of money for a lamp and for offerings to the Jain Temple on the hill of Tirumalai (near Polur in the north Arcot district) by Chamundappai the wife of the merchant Nannappaya of Malliyur in Karaivali, a subdivision of Perumban appadi. The temple was called Sri-Kundavi-Jinalaya. This name suggests that the shriue owed its foundation to kundvai the daughter of Parantak II, elder sister of Rajaraja I (and consequently the paternal aunt of Rajendra chola I) and wife of Vallava raiyar Vandya devar.

Ref. Ep. Ind. IX p. 230--3

(४३) वि० सं० १०९२ में वर्धमान सूरि के शिष्य जिनेश्वर सूरि (श्वे०) ने (वृह० ख० पट्टावली) शीलावती कथा आशापल्ली में बनाई।

Ref. B. R. 1882—3., p. 46.

(४४) Saka 970. Balagamve inscription registering a Jain benefaction by Chavundaraya, Kadamba faudatory of Banvasi under the Western Chalukya, Somesvar I., of Kalyan.

(४५) ई० सन् १०५० के लगभग गुणसेन ने धर्म के तौर पर नागकूप नाम का कुआँ मुल्लूर ग्राम के वास्ते खुदवाया।

Ref. Ep. Car. loc. cit., no. 42.

(४६) वि० सं० ११०९ में जीरापल्ली तीर्थ की नींव पड़ी (Jirapalli Tirth founded)

Ref, B. R. 1883—4 322.

(४७) शक सं० ९७६ (1054 A. D.) में होनवाड संस्कृत और कन्नड़ शिलालेख लिखा गया। इस शिलालेख में, जो पश्चिमी चालुक्य (सोमेश्वर प्रथम) त्रैलोक्यमल्ल के राज्यकाल से संबंध रखता है, उस दान का वर्णन है, जो रानी केतल देवी की प्रार्थना पर किया गया था। इस शिलालेख में मूलसंघ, सेनगण और पोगारि गच्छ का उल्लेख किया

गया है। अभ्रसेन, उस का शिष्य, आर्यसेन, उसका शिष्य महासेन और उसका शिष्य चाकि-राज, जो कि केतल देवी का एक कर्मचारी (officer) था।

Ref. Ind ant. XIX, p. XIX, p. 272.

(४८) खजराहों की एक जैनमूर्ति पर वि० सं० १२१२ का लेख है। उसमें शिल्पकार का नाम कुमारसिंह दिया गया है।

Ref. Cunningham archer. Survey India XXI, page 68.

(४९) सं० ९८० (1058 A. D) में मुल्लुर का शिलालेख लिखा गया। इसके द्वारा राजेन्द्र कोंगाल्व ने उस बस्ति के लिये एक दान किया जो कि उसके पिता ने बनवाई थी। 'राजाधिराज' की माता, पोचब्बरसि ने गुणसेन को दान दिया। Vide 1064, A. D.

Ref Ep. Car. I, Coorg Inscrip. (ed. 1914), no. 35.

(५०) शक सं० ९८६ (1064 A. D.) में मुल्लूर का शिलालेख लिखा गया, जिसमें गुणसेन की मृत्यु का उल्लेख है जो कि एक प्रधान नैयायिक और वैयाकरण थे। गुणसेन नंदिसंघ, द्रविलगण और अरुङ्गल आम्नाय के पुष्पसेन का शिष्य था।

Rep. Ep. Car. I, Coorg Inscriptions (ed. 1914) no. 34.

(५१) अन्नीगिरि के जैनमंदिर जो कि मैसूर के अन्यान्य जैनमंदिरों के साथ राजेन्द्रदेव चोल के द्वारा जला दिये गये थे, जिनका एक स्थानीय शासक के द्वारा ई० सन १०७० के करीब जीर्णोद्धार किया गया (are restored).

Ref. Fergusson History of Indian and Eastern architecture (1910 A. D.) Vol. II, p. 23.

(५२) राजपूताना म्यूजियम अजमेर में एक खड़ी दिगंबर जैनमूर्ति पर वि० सं० ११३० (1074 A. D.) का लेख है, दूसरी पर ११३७।

Ref. Prog. Rep. of arch. Surv. of India west. cir. for 1915—(P. 35)

(५३) गुडिगेरे का टूटा कन्नड जैनशिलालेख का समय शक ९९८ (1076 A. D.) है। इस में आचार्य्य श्रीनंदी पण्डित के दानों का वर्णन है। चालुक्य-चक्रवर्त्ती विजयादित्य वल्लभ (*i. e.* probably Vijayaditya west Chalukya) की छोटी बहन कुंकुम महादेवी ने पहले एक जैनमंदिर बनवाया था, ऐसा इस शिलालेख में उल्लेख है। साथ ही भुवनैकमल्ल—शांतिनाथ देव का भी उल्लेख है, अर्थात् शांतिनाथ एक जैनमंदिर या बिम्ब का जो पश्चिमी चालुक्य सोमेश्वर द्वितीय भुवनैकमल्ल के द्वारा बनाया गया अथवा स्थापित किया गया था।

Ref. Ind. ant. XVIII, p. 38.

(५४) विक्रमसिंह कच्छपघाट का शिलालेख का समय वि० सं० ११४५ है। इस में उन दानों का वर्णन है जो कि दूबकुंड (Dubkunda) के नये बने हुए जैनमंदिर के लिये दिये गये।

Ref. Ep. Ind. II, 232, f.

भट्टाकलंक का समय

[ले० श्रीयुत पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, सं० जैनदर्शन]

जैन सिद्धान्त-भास्कर, भाग ३, किरण ४ में, उसके अन्यतम संपादक बाबू कामता प्रसाद जी का 'श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेव' शीर्षक से एक लेख प्रकाशित हुआ है। यद्यपि इस लेख में लेखक महोदय ने अकलङ्कदेव के बारे में उपलब्ध सामग्री का अच्छा सङ्कलन किया है, किन्तु फिर भी उसमें कुछ ऐसे स्थल हैं जो ऐतिहासिक तथा साहित्यिक दृष्टि से स्खलित कहे जा सकते हैं ; अतः उन पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

जैन-साहित्य में अकलङ्कदेव का वही स्थान है, जो बौद्ध-साहित्य में धर्मकीर्ति का है। उन्होंने जैनन्याय का कितना और कैसा विकास किया तथा उसे कौन कौन सी अमूल्य निधियां भेट कीं ? यह बतलाने के लिये एक स्वतन्त्र लेख की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में यहां तो मैं केवल इतना ही कह देना चाहता हूं कि यदि जैनन्याय-रूपी आकाश में अकलङ्क-रूपी सूर्य्य का उदय न हुआ होता तो न मालूम जैनन्याय और उसके अनुयायिओं की क्या दुर्गति हुई होती ? किन्तु ऐसे महान वाग्मी और प्रखर तार्किक की जीवन-घटनाएं तथा सुनिश्चित समय जानने की सामग्री हमारे पास नहीं है। पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी के निर्मित कथा-कोशों में उनकी कथा मिलती है। उन कथाओं में अकलङ्क को मान्यखेट के राजा शुभतुङ्ग के मन्त्री का पुत्र बतलाया है। और हिमशीतल राजा की सभा में उनका बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ करनेका भी उल्लेख किया है। अन्तिम बात का समर्थन श्रवणबेल्गोल की मल्लिषेण-प्रशस्ति से भी होता है और उसी प्रशस्ति में, राजा साहसतुङ्ग की सभा में अकलङ्क के जाने का भी उल्लेख मिलता है। डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण * ने राष्ट्रकूट वंश के राजा कृष्णराज प्रथम को साहसतुङ्ग या शुभतुङ्ग ठहराकर अकलङ्क को उनका समकालीन माना है और इसी मत को स्वीकार करते हुए श्रीयुत प्रेमीजी ने अकलङ्क का समय वि० सं० ८१० से ८३२ (ई० ७५३ से ७७५) तक बतलाया है ‡। किन्तु डाक्टर पाठक ने राष्ट्रकूट राजा साहसतुङ्ग दन्तिदुर्ग के समय में अकलङ्क का होना स्वीकार किया है। बा० कामताप्रसादजी ने प्रेमीजी के उक्त मत का उल्लेख करके उसमें आपत्ति की है और दन्तिदुर्ग को साहसतुङ्ग ठहरा

* हिस्टरी ऑफ दि मिडिवायल स्कूल ऑफ इण्डियन लॉजिक।

‡ जैनहितैषी, भाग ११, पृ० ४२८।

कर उसके राज्यकाल (वि० सं० ८०१ से ८१६ तक=ई० स० ७४४ से ७५९) में अकलङ्क को जीवित मानना ठीक बतलाया है तथा निष्कर्ष निकालते हुए अकलङ्कदेव का कार्य-काल संभवत: वि० सं० ८०१ से ८३९ तक (ई०७४४ से ७८२) बतलाया है।

अपने मत के समर्थन में लेखक ने उक्त हेतु के अतिरिक्त अन्य ६ हेतु और भी सङ्कलित किये हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

२ स्वर्गीय भण्डारकर महोदय ने लिखा है कि जिनसेन ने अपने हरिवंश-पुराण (श० ७०५=ई० ७८३) में सिद्धसेन, अकलङ्क आदि का उल्लेख किया है। अत: उससे पहले अकलङ्कदेव विद्यमान थे।

३ हरिवंशपुराण में आचार्य कुमारसेन का उल्लेख है और इन्हीं कुमारसेन का उल्लेख विद्यानन्द स्वामीने अपनी अष्टसहस्री—जो कि अकलङ्क की अष्टशती का ही भाष्य है—के अन्तमें किया है। अत: इससे भी हमारे निष्कर्ष का समर्थन होता है।

४ विद्वानों का कथन है कि अकलङ्कदेव ने बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति के मत का खण्डन अपने ग्रन्थों में किया है। धर्मकीर्ति का समय ईस्वी सातवीं शताब्दी का प्रारम्भिक भाग माना जाता है। अत: इसके बाद आठवीं शताब्दी में अकलङ्कदेव का अस्तित्व मानना उचित है।

५ स्व० प्रो० पाठक ने प्रकट किया था कि कुमारिलभट्ट ने अपने 'श्लोकवार्तिक' ग्रन्थ में अकलङ्क देव के 'अष्टशती' नामक ग्रन्थ पर कुछ कटाक्ष किये हैं, तथा कुमारिल अकलङ्क के कुछ समय बाद तक जीवित रहा था। कुमारिल का समय वि० सं० ७५७ से ८१७ तक (ई० स० ७०० से ७६०) निश्चित है। अत एव अकलङ्क का समय भी यही हो सकता है।

६ अकलंकचरित नामक ग्रन्थ में स्पष्ट कथन है कि शक सं० ७०० में अकलंकयति का बौद्धों के साथ महान् वाद हुआ था। इससे सिद्ध है कि शक सं० ७०० (ई० ७७८) में अकलंक विद्यमान थे।

७ प्रो० पाठक, डा० विद्याभूषण, प्रो० राईस आदि विद्वानों ने अकलंक को ईस्वी आठवीं शताब्दी का विद्वान् निश्चित किया है।

आलोचना

सबसे पहले लेखक के प्रथम हेतु पर विचार न करके हम उसके सहायक हेतुओं पर विचार करेंगे, क्योंकि सहायक हेतुओं के बाधित होने पर प्रथम हेतु स्वयं ही निस्सार प्रतीत होने लगेगा।

२ अकलंक, जिनसेन के हरिवंशपुराण के पूर्ववर्ती हैं, इसमें तो किसी को विवाद नहीं

जान पड़ता। किन्तु, जैसा कि लेखक महोदय ने लिखा है, यद्यपि डा० भण्डारकर ने अपनी रिपोर्ट में हरिवंशपुराण में अकलङ्कदेव के स्मरण किये जाने का उल्लेख किया है, तथापि हमें उस ग्रन्थ में ऐसा कोई स्थल न मिल सका। बा० कामताप्रसाद जी ने ऐसे दो स्थल खोज निकाले हैं, वे स्थल हैं हरिवंश-पुराण के पहले सर्ग का ३१वां और ३९वाँ श्लोक। लेखक का कहना है कि इन से प्रकारान्तर-रूप में अकलंक का उल्लेख हुआ कहा जा सकता है। किन्तु यह लेखक का भ्रम है। असल में ३१वें श्लोक* में ग्रन्थकार ने 'देव' शब्द से अकलंकदेव का स्मरण नहीं किया है, किन्तु जैनेन्द्र व्याकरण के रचयिता प्रसिद्ध शाब्दिक देवनन्दि का—जिनका दूसरा नाम पूज्यपाद भी था —स्मरण किया है।

आदिपुराणकार† तथा वादिराज‡ ने भी—जिन्होंने अकलङ्कदेव का भी स्मरण किया है—इन्हें इसी संक्षिप्त नाम से स्मरण किया है। अतः यह 'देव' शब्द अकलङ्क का संक्षिप्त नाम नहीं है किन्तु देवनन्दि[1] का संक्षिप्त नाम है। ३९ वें श्लोक में श्रीवीरसेनाचार्य की कीर्ति को 'अकलङ्क' कहा गया है। किन्तु केवल 'अकलङ्क' विशेषण से अकलङ्कदेव जैसे प्रखर तार्किक और समर्थ विद्वान् का स्मरण किये जाने की कल्पना हृदय को स्पर्श नहीं करती। पर जब हरिवंश-पुराणकार ने ऐसे विद्वानों का स्मरण किया है जिन्होंने अपनी रचनाओं में अकलङ्क का न केवल स्मरण किया है किन्तु उनके राजवार्तिक से उद्धरण तक दिये है, तब उनके द्वारा अकलङ्क का स्मरण न किया जाना अचरज की बात अवश्य है। अस्तु, यदि हो सका तो इस सम्बन्ध में फिर कभी प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

३ तीसरे हेतु से भी केवल इतना ही सिद्ध होता है कि अकलङ्क हरिवंशपुराण की रचना से पहले हुए है! और इस में किसी को भी विवाद नहीं है, यह हम पहले ही लिख चुके हैं।

४ चौथे हेतु में किसी को विवाद नहीं है क्योंकि अकलङ्क के ग्रन्थों से यह स्पष्ट है कि उन्होंने न केवल धर्मकीर्ति का खण्डन ही किया है किन्तु उसके ग्रन्थों से उद्धरण तक दिये हैं। उदाहरण के लिये—लघीयस्त्रय की 'स्वसंवेद्य विकल्पानाम्' आदि कारिका की स्वोपज्ञ-विवृति में "सर्वतः संहृत्य चिन्तस्तिमितान्तरात्मना" आदि आता है। यह धर्मकीर्ति के प्रमाण-

---

* इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्यापि(डि)व्याकरणेक्षिणः। देवस्य देवसंघस्य न वंद्यन्ते गिरः कथम् ॥३१॥

† कवीनां तीर्थकृद्देवः कितरांस्तत्र वर्ण्यते। विदुषां वाङमलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम् ॥
॥५२॥ प्रथम पर्व

‡ अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवंद्यो हितैषिणा। शब्दाश्च येन सिद्ध्यन्ति साधुत्वं प्रतिलम्भिताः ॥
पार्श्वनाथचरित १—१८।

[1] देखें, जैन साहित्य-संशोधक भाग १, अंक २ में प्रकाशित श्रीयुत प्रेमी जी का 'जैनेन्द्र व्याकरण और आचार्य देवनंदि' शीर्षक लेख।

वार्तिक के तीसरे परिच्छेद की १२४ वीं कारिका के ही शब्द हैं। न्यायविनिश्चय की एक कारिका का पूर्वार्द्ध है—"भेदानां बहुभेदानां तत्रैकत्रापि संभवात्।" यह प्रमाणवार्तिक के "भेदानां बहुभेदानां तत्रैकस्मिन्नयोगतः ॥ १—५१ ॥" का ही उत्तर है। इसी तरह आप्त-मीमांसा-कारिका ५३ की अष्टशती मे "न तस्य किञ्चिद् भवति न भवत्येव केवलम्" आता है। यह प्रमाण-वार्तिक के प्रथम परिच्छेद की २७९ वीं कारिका का उत्तरार्द्ध है, तथा अष्ट-सहस्री पृष्ठ ८१ से अष्टशतीकार अकलङ्कदेव ने 'मतान्तरप्रतिक्षेपार्थं वा' आदि लिख कर जो बौद्धों के निग्रह-स्थानों की आलोचना की है वह धर्मकीर्ति के 'वादन्याय' का ही खण्डन किया है। अतः इसमें तो विवाद ही नहीं कि अकलङ्क ने धर्मकीर्ति का खण्डन किया है। किन्तु इससे धर्मकीर्ति और अकलङ्क के बीच में एक शताब्दी का अन्तराल नहीं माना जा सकता, जैसा कि लेखक ने लिखा है। दो समकालीन ग्रन्थकार भी—यदि उनमें से एक वृद्ध हो और दूसरा युवा हो तो—एक दूसरे का खण्डन-मण्डन कर सकता है और इतिहास में इस तरह के अनेक दृष्टान्त मिलते भी हैं। अतः धर्मकीर्ति का खण्डन करनेके कारण अकलङ्क को उनके १०० वर्ष बाद का विद्वान् नहीं माना जा सकता।

५ डाक्टर के० बी० पाठक ने अपने कई लेखों में इस बात को सिद्ध किया है कि कुमारिल-भट्ट ने समन्तभद्र और अकलङ्क के कुछ मन्तव्यों पर आक्रमण किया है, अतः कुमारिल अकलंक के समकालीन होते हुए भी अकलंक के बाद तक जीवित रहे थे। भण्डारकर-प्राच्य-विद्या-मन्दिर की पत्रिका जिल्द ११, पृ०१४९ मे समन्तभद्र के समय पर उन्होंने एक लेख लिखा था जिसमें उन्होंने अकलंकदेव और उनके छिद्रान्वेषी कुमारिल के साहित्यिक व्यापारों को ईसा की आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रखने की सलाह दी थी। बा० कामताप्रसादजी ने भी अपने पक्ष के समर्थन मे डा० पाठक की सलाह को अपनाया है और कुमारिल का सुनिश्चित समय—न मालूम किसके आधार पर—ई० स० ७०० से ७६० तक बतलाया है। प्रथम तो कुमारिल का यह सुनिश्चित समय ठीक नहीं है जैसा कि मैं बतलाऊंगा। और यदि इसे ठीक भी मान लिया जाये तो डाक्टर पाठक का यह मत कि कुमारिल अकलङ्क के बाद तक जीवित रहे हैं, लेखक के दिये गये अकलङ्क और कुमारिल के समय मे ही बाधित हो जाता है। लेखक ने अकलंक का कार्यकाल ई० ७४४ से ७८२ तक लिखा है और कुमारिल का ई० ७०० से ७६० तक। इस से तो अकलंक का कुमारिल के २२ वर्ष बाद तक जीवित रहना सिद्ध होता है, जो लेखक के द्वारा स्वीकृत डाक्टर पाठक के मत से बिल्कुल विपरीत है।

भण्डारकर-प्राच्य-विद्या-मन्दिर पूना की पत्रिका, जिल्द १३ पृष्ठ १५७ पर मुद्रित

१ देखें, जैनजगत्, वर्ष ६, अंक १५, १६ मे प्रकाशित 'समन्तभद्र का समय और डा० के० बी० पाठक, शीर्षक पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार का लेख।

'अकलंक का समय' शीर्षक अपने लेख में एक स्थल पर डाक्टर पाठक ने लिखा है कि अकलंक का समय इतना सुनिश्चित है कि उसकी वजह से अकलंक के छिद्रान्वेषक कुमारिल को सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध या उत्तरार्द्ध का विद्वान नहीं माना जा सकता। इन शब्दों को पढ़ कर डाक्टर पाठक की इस असिद्ध से असिद्ध को सिद्ध करने की प्रणाली पर हमें कुछ अचरज अवश्य हुआ। अकलंक को साहसतुंग दन्तिदुर्ग का समकालीन ठहराना कितने सुदृढ़ स्तम्भों पर अवलम्बित है यह हम दिखला ही चुके हैं तथा आगे भी बतलायेंगे। उसके आधार पर कुमारिल को भी आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में घसीट कर ले आना किसी तरह भी उचित नहीं कहा जा सकता। वास्तव में अकलंक की तरह कुमारिल का समय निर्धारण करने में भी एक शताब्दी की भूल की गई है और इस भूल की वजह से डाक्टर पाठक से अन्य भी कई भूलें हो गई हैं, जैसे नालंदा बौद्ध विद्यापीठ के आचार्य तत्वसंग्रहकार शान्तरक्षित को नवीं शताब्दी का विद्वान बतलाना। शान्तरक्षित ने अपने तत्वसंग्रह में कुमारिल की बहुत सी कारिकाएँ उद्धृत की हैं, अतः जब कुमारिल को आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध का विद्वान् कहा जाता है तो शांतरक्षित को नवीं शताब्दी का विद्वान कहना ही पड़ेगा। किन्तु यह शृङ्खला इतिहास से बाधित है।

मुनि जिनविजयजी[१] ने अनेक प्रमाणों के आधार पर हरिभद्रसूरि का समय ई० सन ७०० से ७७० तक स्थिर किया है, क्योंकि ई० सन ७७८ में रचित 'कुवलयमाला' में उनको स्मरण किया गया है। हरिभद्रसूरि ने अपने शास्त्रवार्ता-समुच्चय की स्वोपज्ञ-टीका में 'सूक्ष्म-बुद्धिना शान्तरक्षितेन' लिखकर स्पष्टरूप से शान्तरक्षित का नाम निर्देश किया है और शांतरक्षित ने अपने तत्वसंग्रह ग्रन्थ में कुमारिल की अनेक कारिकाएँ उद्धृत की हैं, अतः कुमारिल को सातवीं शताब्दी का विद्वान मानना ही पड़ेगा। और जब डाक्टर पाठक के मतानुसार अकलंक की अष्टशती पर कुमारिल ने आक्षेप किये हैं और कुमारिल उनसे कुछ समय बाद तक जीवित रहे हैं तो अकलंक को भी सातवीं शताब्दी के मध्य का विद्वान मानना ही होगा। यदि उक्त चारों विद्वानों की औसत आयु ६० वर्ष मानी जाय तो उनके पारस्परिक सम्बन्ध का ध्यान रखते हुए उनका समय-क्रम इस प्रकार मानना होगा—अकलंक ई० ६२० से ६८० तक, कुमारिल ई० ६४० से ७०० तक, शान्तरक्षित[२] (क्योंकि उसने कुमारिल और उसके साक्षात् शिष्य उव्वेयक उपनाम भवभूति का उल्लेख किया है) ई० ७०० से ७६० तक और हरिभद्र ई० ७१० से ७७० तक।

६ अकलंकचरित के श्लोक का अर्थ करने में तो लेखक महोदय ने कमाल कर दिया

१ जैन साहित्य-संशोधक, भाग १, अंक १, में 'हरिभद्र सूरि का समय-निर्णय' शीर्षक लेख।

२ देखें, तत्व-संग्रह की अंग्रेजी प्रस्तावना।

है। आप के द्वारा उद्धृत श्लोक* में 'शक' शब्द का कहीं नाम भी नहीं है, प्रत्युत 'विक्रमार्क' स्पष्ट लिखा है, फिर भी आपने उसका अर्थ शक सं० कर दिया है और इस तरह अकलंक के बौद्धों से शास्त्रार्थ करने के समय वि० सं० ७०० (ई० ६४३) के स्थान में शक सं० ७०० (ई० ७७८) लिख गये हैं, जो उनकी अकलंक को दन्तिदुर्ग का समकालीन सिद्ध करने की धुन में जानबूझ कर की गई भूल का परिणाम जान पड़ता है। अतः लेखक-द्वारा प्रदत्त इस प्रमाण से भी हमारे ही मत की पुष्टि होती है न कि लेखक के मत की।

'अकलंक का समय' शीर्षक डाक्टर पाठक के लेख का निर्देश हम ऊपर कर आये हैं और यह भी लिख आये हैं कि डाक्टर पाठक को अपने निर्धारित समय की सुनिश्चितता पर इतना दृढ़ विश्वास था कि उन्होंने उसके आधार पर कुमारिल को आठवीं और शान्तरक्षित को नवीं शताब्दी का विद्वान् मान लिया। उनके इस विश्वास का आधार था, प्रभाचन्द्र का प्रसिद्ध श्लोक "बोधःकोऽप्यसमः समस्तविषयः प्राप्याकलंकं पदम्" आदि, जिसका अर्थ यह किया गया कि प्रभाचन्द्र ने अकलंक के चरणों के समीप बैठ कर ज्ञान प्राप्त किया था, और

* विक्रमार्कशताब्दीयशतसप्तप्रमाजुषि । कालेऽकलङ्कयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत् ॥

पं० जुगलकिशोर जी ने भी अपने 'समंतभद्र' (पृष्ठ १२४) में यह श्लोक उद्धृत किया है। किन्तु उसमें 'विक्रमार्कशकाब्दीय' पाठ है जो शुद्ध प्रतीत होता है। बाबू कामताप्रसाद जी ने भी अपने लेख के फुटनोट में इस बात का निर्देश किया है और पं० जुगल किशोर जी के अर्थ वि० सं० ७०० पर आपत्ति करते हुए लिखा है कि दक्षिण भारत के कई लेखों में शकाब्द का उल्लेख 'विक्रमार्क' शब्द से हुआ है। हुआ होगा, किन्तु यहाँ पर तो ऐतिहासिक घटना-क्रम से विक्रम सम्वत् की ही पुष्टि होती है। तथा इसका समर्थन लेखक की उस आशंका से भी होता है जो उन्होंने शक सं० ७०० के बारे में प्रकट की है। वे लिखते हैं "किन्तु इस अवस्था में कुमारिल का अकलंक के बाद तक जीवित रहना बाधित होता है। हमारे ख्याल से या तो कुमारिल के काल-निर्णय में कुछ गड़बड़ी है, अथवा अकलंक देव को कुमारिल के आक्षेप को देख कर उसके निरसन करने का अवसर नहीं मिला था।" हेतु नं० ५ में डाक्टर पाठक के मत का उल्लेख और कुमारिल का सुनिश्चित समय वि० सं० ८१७ तक लिखने के बाद भी निष्कर्ष निकालते हुए अकलंक के समय की अन्तिम अवधि ८३६ वि० सं० निर्णीत की गई और उस समय लेखक महोदय को अपनी उस भूल का ध्यान न आया जिसे हम हेतु नं० ५ को हेत्वाभास सिद्ध करते समय दरसा आये हैं। हर्ष है कि अकलंक-चरित के 'विक्रमार्कशक' का अर्थ शकसम्वत् करते हुए उन्हें अपनी भूल ज्ञात हो गई और उससे उन्हें कुमारिल के काल-निर्णय में कुछ गड़बड़ी मालूम दी। किन्तु हम ऊपर बता चुके हैं कि कुमारिल का काल-निर्णय कुछ नहीं बल्कि सर्वथा गड़बड़ है और इस गड़बड़ी का मूल कारण अकलंक के काल-निर्णय की गड़बड़ी है।

इससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि प्रभाचन्द्र अकलंक के शिष्य थे। अपने उक्त लेख में श्रीकण्ठ शास्त्री* के मत की आलोचना करते हुए स्व० डा० पाठक ने बड़े जोर के साथ लिखा है कि यदि अकलंक का समय ६४५ ई० माना जाय तो 'प्राप्याकलङ्कं पदम्' के अनुसार प्रभाचन्द्र—जिनका स्मरण आदिपुराण (ई० ८३८) में किया गया है और जो अमोघवर्ष प्रथम के समय में हुए हैं—अकलंक के चरणों में नहीं पहुंच सकते। बाबू कामताप्रसाद जी ने भी डाक्टर पाठक के इस मत का अनुसरण किया है और प्रभाचन्द्र को अकलंक का समकालीन बतला कर प्रमाणरूप से फुटनोट में उक्त श्लोक उद्धृत कर दिया है। किन्तु पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार† डाक्टर पाठक के इस भ्रम का निराकरण बड़ी अच्छी तरह कर चुके हैं। यहाँ उसके दुहराने की आवश्यकता नहीं है। प्रभाचन्द्र तो क्या, अकलंक के प्रकरणों के ख्यातनामा व्याख्याकार अनन्तवीर्य और विद्यानन्द भी, जिनका स्मरण प्रभाचन्द्र ने किया है, अकलंक के समकालीन नहीं जान पड़ते, क्योंकि अनन्तवीर्य अकलंक के प्रकरणों का अर्थ करने में अपने को असमर्थ बताते हैं तथा दोनों ने धर्मोत्तर, प्रज्ञाकर गुप्त आदि बौद्ध विद्वानों का उल्लेख किया है जो आठवीं शताब्दी के विद्वान हैं और जिनका अकलंक के प्रकरणों पर कोई प्रभाव नहीं जान पड़ता। अतः प्रभाचन्द्र के उक्त श्लोक के आधार पर प्रभाचन्द्र को अकलंक का साक्षात शिष्य बतलाना और इसीलिये अकलंक को सातवीं शताब्दी के मध्य से खींच कर आठवीं शताब्दी के मध्य में ला रखना सरासर भूल है।

बाबू कामताप्रसाद जी के द्वारा अपने मत के समर्थन में दिये गये हेतुओं को हेत्वाभास सिद्ध करने के बाद हम कुछ ऐसे और भी हेतु उपस्थित करेंगे जो उनके मत का निरसन और हमारे मत का समर्थन करते हैं। अनन्तवीर्य‡ के समय के सम्बन्ध में डा० पाठक के मत की आलोचना करते हुए एक फुटनोट में प्रो० ए० एन० उपाध्याय ने अकलंक के समय के संबंध में भी उनके मत की आलोचना की है और दन्तिदुर्ग को साहसतुंग कहना केवल अनुमान मात्र बतलाया है। तथा यह भी लिखा है कि धवला टीका में—जो जगत्तुंग के राज्य में (७८४ से ८०८) समाप्त हुई थी। अनेक स्थलों पर वीरसेन ने अकलंक के राजवार्तिक से लम्बे लम्बे चुनिन्दा वाक्य उद्धृत किये हैं। पं० जुगलकिशोर जी ने|| धवला टीका का समाप्ति-

* भाण्डारकर-प्राच्य विद्या-मंदिर पूना की पत्रिका, जिल्द १२, पृष्ठ २५३-२५५ में 'विद्यानंद और शंकर-मत' शीर्षक से श्रीकण्ठ शास्त्री का एक लेख प्रकाशित हुआ है, उस में लेखक ने अकलंक का समय ६४५ ई० लिखा है, उसी का खण्डन करने के लिये स्व० डा० पाठक ने 'अकलंक का समय' शीर्षक निबन्ध लिखा था।

† अनेकांत, जिल्द १, पृष्ठ १३०।

‡ जैनदर्शन, वर्ष ४, अंक ६, पृष्ठ ३८६ से।

|| समन्तभद्र, पृष्ठ १७

काल शक सं० ७३८ (ई० ८१६) लिखा है। यद्यपि अकलंक को दंतिदुर्ग का समकालीन मान लेने पर भी वीरसेन के द्वारा धवला टीका में उनके राजवार्तिक से उद्धरण दिये जाने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती, क्योंकि अकलंक के अंत और धवला की समाप्ति में ३४ वर्ष का अन्तर है, फिर भी धवल सरीखे सिद्धांतग्रन्थ में वीरसेन जैसे सिद्धांत-पारगामी के द्वारा आगम-प्रमाण के रूप में राजवार्तिक से वाक्य उद्धृत करना प्रमाणित करता है कि वीरसेन के समय में राजवार्तिक ने काफी ख्याति और प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी और उसमें काफी समय लगा होगा, अतः अकलंक को दन्तिदुर्ग का समकालीन नहीं माना जा सकता।

सिद्धसेन गणी ने अपनी तत्वार्थ-भाष्य की टीका[1] में अकलंक के सिद्धि-विनिश्चय का उल्लेख किया है। इनका समय अभीतक निर्णीत नहीं हो सका है। 'जैन साहित्यनो इतिहास[2]' में परम्परा के आधार पर इन्हें देवर्द्धिगणि (५वीं शताब्दी के लगभग) का समकालीन बतलाया गया है, किन्तु इतने प्राचीन तो यह कभी हो ही नहीं सकते। इन्होंने अपनी तत्वार्थ-भाष्यवृत्ति[3] में धर्मकीर्त्ति का नाम निर्देश किया है और दूसरी तरफ नवमी शताब्दी के विद्वान् शीलाङ्क[4] ने गन्धहस्ती नाम से इनका उल्लेख किया है, अतः वे सातवीं और नवमी शताब्दी के मध्य में हुए हैं इतना सुनिश्चित है। पं० सुखलालजी[5] का कहना है कि हरिभद्र और सिद्धसेन गणि ने परस्पर में एक दूसरे का उल्लेख नहीं किया अतः ऐसी संभावना जान पड़ती है कि ये दोनों या तो समकालीन हैं या इनके बीच में बहुत ही थोड़ा अन्तर होना चाहिये। हरिभद्र का सुनिश्चित समय हम ऊपर लिख आये हैं अतः सिद्धसेन गणि को आठवीं शताब्दी का विद्वान् मानने में कोई बाधा नहीं है। अब यदि अकलङ्क का समय भी आठवीं शताब्दी माना जाता है तो उनकी सुप्रसिद्ध कृति का सिद्धसेन गणि-द्वारा उल्लेख किया जाना संभव प्रतीत नहीं होता अतः अकलङ्क को आठवीं शताब्दी का विद्वान् न मान कर सातवीं शताब्दी का विद्वान् मानना चाहिये।

जिनदास[6] गणि महत्तर ने निशीथसूत्र पर एक चूर्णि रची है। इनकी एक चूर्णि नन्दिसूत्र पर भी है। इस चूर्णि की प्राचीन विश्वसनीय प्रति में इसका रचना-काल शक सं० ५९८ (ई० ६७६) लिखा है। निशीथ-चूर्णि में जिनदास ने सिद्धसेन के 'सन्मति'

---

१ एवं कार्यकारणसम्बन्धः समवायपरिणामनिमित्तनिर्वर्तकादिरूपः सिद्धिविनिश्चयसृष्टिपरीक्षातो योजनीयो विशेषार्थिना दूषणद्वारेण। पृ० ३७।

२ ले० मोहनलाल देसाई, पृ० १४३।

३ पृ० ३९७। ४ आचाराङ्ग-टीका, पृष्ठ १ तथा ८२।

५ 'तत्त्वार्थसूत्र के व्याख्याकार और व्याख्याएं' शीर्षक लेख, अनेकांत वर्ष १, पृ० २८०।

६ 'सम्मति-प्रकरण' (गुजराती) की प्रस्तावना, पृष्ठ ३५-३६।

के साथ-साथ अकलंक के सिद्धि-विनिश्चय ग्रन्थ का भी उल्लेख[1] किया है और उसे दर्शन और ज्ञान के प्रभावक शास्त्रों में गिनाया है। इस उल्लेख से अकलंक को सातवीं शताब्दी के मध्यकाल का विद्वान मानने में कोई शंका अवशेष नहीं रह जाती।

तथा अकलंक के ग्रन्थों पर से भी हमारे उक्त मत का समर्थन होता है। विद्वान् पाठकों से यह बात छिपी हुई नहीं है कि धर्मकीर्ति ने अपने पूर्वज *दिङ्नाग* के *प्रत्यक्ष* के *लक्षण* मे 'अभ्रान्त' पद को स्थान दिया था। दिङ्नाग ने प्रत्यक्ष का लक्षण केवल 'कल्पनापोढ' रक्खा था किंतु धर्मकीर्ति ने कल्पनापोढ और अभ्रांत रक्खा। अकलंक ने अपने राजवार्तिक में दिङ्नाग के लक्षण का खण्डन किया है और उस प्रकरण में जो दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं, उनमें से एक[2] दिङ्नाग के 'प्रमाण-समुच्चय' की है और दूसरी[3] वसुबन्धु के अभिधर्मकोश की। इसके अतिरिक्त उसी प्रकरण में कल्पना का लक्षण करते हुए उसके पाँच भेद किये हैं। रशियन प्रो० चिरविस्टकी[4] (stcherbatsky) लिखते हैं कि दिङ्नाग ने कल्पना के पाँच भेद किये थे—जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया और परिभाषा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अकलंकदेव ने राजवार्तिक की रचना अपने प्रारम्भिक जीवन में की थी, उस समय तक या तो धर्मकीर्ति ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ प्रमाण-वार्तिक, प्रमाण-विनिश्चय आदि की रचना नहीं की थी या वे प्रकाश में नहीं आये थे। किन्तु उस समय भी अकलंक धर्मकीर्ति से परिचित थे, क्योंकि उन्होंने राजवार्तिक पृष्ठ १९ पर 'बुद्धिपूर्वां क्रियां दृष्ट्वा' आदि एक कारिका उद्धृत की है। कहा जाता है[5] कि धर्मकीर्ति के 'सन्तानान्तरसिद्धि' नामक प्रकरण की यह पहली कारिका है। इतिहासज्ञों ने धर्मकीर्ति का कार्यकाल ६३५ ई० से ६५० तक निर्णीत

---

१ दंसणगाही—दंसणणाणप्पभावगाणि सत्थाणि सिद्धिविणिच्छयसंमदिमादि गेण्हंतो असंथरमाणे जं अकप्पियं पडिसेवति जयणाते तत्थ सो सुद्धो अप्रायश्चित्ती भवतीत्यर्थः।

२ प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्यादियोजना। असाधारणहेतुत्वादक्षैस्तद् व्यपदिश्यते ॥१॥

३ सवितर्कविचारा हि पञ्च विज्ञानधातवः। निरूपणानुस्मरणविकल्पनविकल्पकाः ॥२॥

अभिधर्मकोश में 'विकल्पादविकल्पकाः' पाठ है।

४ बुद्धिस्ट लॉजिक, २य भाग, पृष्ठ २७२ पर फुटनोट नं० ६।

न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकाकार के उल्लेख से भी यह पता चलता है कि दिङ्नाग ने कल्पना के पाँच भेद किये थे। यथा—"संप्रति दिङ्नागस्य लक्षणमुपन्यस्यति। दूषयितुं कल्पनास्वरूपं पृच्छति अथ केयमिति। लक्षणवादिन उत्तरं नामेति। यदृच्छाशब्देषु हि नाम्ना विशिष्टोऽर्थ उच्यते डित्थेति। जातिशब्देषु जात्या गौरयमिति। गुणशब्देषु गुणेन शुक्ल इति। क्रियाशब्देषु क्रियया पाचक इति द्रव्यशब्देषु द्रव्येण दण्डी विषाणीति। सेयं कल्पना।"

किया है। और प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यू नत्सांग* के द्वारा अपने गुरु-भाई धर्मकीर्ति का उल्लेख न किये जाने से यह भी स्पष्ट है कि उस समय वह विद्यार्थी थे। ह्यू नत्सांग ई० ६३५ तक नालन्दा में रहा और उसी वर्ष आचार्य धर्मपाल ने नालंदा विद्यापीठ के अध्यक्ष-पद से अवकाश ग्रहण किया। अतः धर्मकीर्ति की प्रमाणवार्तिक जैसी उत्कृष्ट रचनाएँ ई० ६३५ के बाद ही रची गई जान पड़ती हैं। यही वजह है कि अकलंक के न्यायविनिश्चय में जो धर्मकीर्ति के प्रमाण-विनिश्चय का स्मरण कराता है—हम धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष के लक्षण का खण्डन पाते हैं। यदि अकलंक को आठवीं शताब्दी का विद्वान् माना जाय तो उक्त समस्या पर हृदयस्पर्शी प्रकाश नहीं डाला जा सकता। अतः अकलंक को दंतिदुर्ग या कृष्णराज प्रथम का समकालीन मानने की पुरानी मान्यता को छोड़ कर उन्हें सातवीं शताब्दी के मध्यकाल का विद्वान् मानना चाहिये।

निष्कर्ष

स्व० डा० विद्याभूषण, प्रेमी जी, तथा स्व० डा० पाठक-कथोपवर्णित शुभतुंग या साहस-तुंग नाम के आधार पर राष्ट्रकूटवंशीय राजा कृष्णराज प्रथम को शुभतुंग और दंतिदुर्ग को साहसतुंग ठहरा कर अकलंक को आठवीं शताब्दी के मध्यकाल का विद्वान मानते हैं। बाबू कामता प्रसाद जी डा० पाठक के दंतिदुर्ग को साहसतुंग ठहराने की बात के पक्ष में हैं। किंतु हमारी दृष्टि से दोनों मतों में कोई विशेष अन्तर नहीं है क्योंकि दोनों ही मत अकलंक को आठवीं शताब्दी का विद्वान् ठहराते हैं। डाक्टर विद्याभूषण ने तो कृष्णराज को शुभतुंग मानने के सिवा अपने पक्ष के समर्थन में कोई हेतु नहीं दिया। डाक्टर पाठक का जोर दो ही हेतुओं पर है—एक कुमारिल का अकलंक के बाद तक जीवित रहना और दूसरा प्रभाचन्द्र का अकलंक का साक्षात् शिष्य होना। प्रथम हेतु के अनुसार डा० पाठक की यह मान्यता कि अकलंक पर कुमारिल ने आक्रमण किया है—अकलंक को सातवीं शताब्दी का विद्वान् मानने का ही समर्थन करती है यह हम ऊपर भले प्रकार सिद्ध कर आये हैं। दूसरा हेतु भी विद्वानों के द्वारा खण्डित किया जा चुका है।

बाबू कामता प्रसाद जी ने अपने पक्ष के समर्थन में जिन हेतुओं का सङ्कलन किया था उनकी निस्सारता ऊपर सिद्ध कर दी गई है और कई नये प्रमाण देकर यह साबित कर दिया है कि अकलंक सातवीं शताब्दी के मध्यकाल के विद्वान् थे। अतः डाक्टर विद्याभूषण और पाठक की दुहाई देना बेकार है। अकलंक को सातवीं शताब्दी के मध्यकाल का विद्वान्

---

* हमारे सहयोगी पं० महेन्द्रकुमार जी से उनके मित्र मि० तारकस ने—जो तिब्बतीय भाषा जानते हैं तथा उस पर से कई बौद्ध ग्रंथों का अवलोकन कर चुके हैं—यह बात कही थी।

मानने के समर्थक हेतुओं का संक्षिप्त रूप निम्न प्रकार है —

१—आठवीं शताब्दी के मध्यकाल के विद्वान् सिद्धसेनगणि अकलंक के सिद्धिविनिश्चय ग्रंथ का उल्लेख करते हैं।

२—सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के विद्वान जिनदास महत्तर अपनी निशीथचूर्णि में सिद्धि-विनिश्चय का उल्लेख प्रभावक ग्रन्थों में करते हैं।

३—अकलंक-चरित में लिखा है कि वि० सं० ७०० (६४३ ई०) में अकलंकयति का बौद्धों के साथ महान् वाद हुआ।

४—डाक्टर पाठक का कथन है कि कुमारिल अकलंक के बाद तक जीवित रहे, और कुमारिल का समय सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध सिद्ध होता है।

५—अकलंक ने अपने ग्रन्थों में धर्मकीर्ति का खण्डन किया है, किंतु राजवार्तिक में उन्होंने धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष की परिभाषा का उल्लेख न करके दिङ्नाग-कृत परिभाषा का खण्डन किया है। अतः ऐसा जान पड़ता है कि राजवार्तिक की रचना उन्होंने अपने प्रारंभिक काल में की है और उस समय धर्मकीर्तिके वे ग्रन्थ—जिनका अकलंक ने अपने अन्य प्रकरणों में खंडन किया है—प्रकाश में नहीं आये थे। धर्मकीर्ति का कार्यकाल ६३५ से ६५० तक निर्णीत किया गया है अतः उस समय अकलङ्क को युवा होना चाहिये।

एक प्राचीन गुटका

(सं०—श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन)

श्री दि० जैन बड़े मन्दिर मैनपुरी के शास्त्र-भाण्डार को देखने का सौभाग्य हमें कुछ वर्षों पहले प्राप्त हुआ था। उसके कतिपय ग्रन्थरत्नों का परिचय हमने पहले 'वीर' द्वारा पाठकों को कराया था। उनमें महाकवि पुष्पदन्त-कृत यशोधर-चरित्र (अपभ्रंश अपूर्ण) कल्पसूत्र सचित्र (श्वे०) आदि ग्रन्थ दर्शनीय हैं। इन्हीं में एक गुटका भी उल्लेखनीय है। यह करीब ३०० वर्ष का लिखा हुआ है; जैसे कि उसकी निम्नलिखित प्रशस्ति से प्रकट है:—

"अथ सम्वत्सरे श्रीनृप-विक्रमादित्य-राजे। संवतु १६८० जेष्ट मासे शुक्ल पक्षे परवणी नवमी भौम दिने श्रीनूरदीं जहांगीरवादिसाहिराज्यप्रवर्तमाने श्रीकाष्ठासंगे माथुरान्वे पुष्करगणे भट्टारक श्रीगुणचन्द्रदेवान। तत्पट्टे भट्टारक श्रीसकलचन्द्रः। तत्पट्टे मंडलाचार्य माहेन्द्रसेण तत्सिप पंडित भगवतीदासु। तेन इदं संत्रिका-मध्ये लिपकृताः॥ लिषापितं श्रीनीदासु शुभमस्तु।"

इसमें पहले ही श्रीकुन्दकुन्दाचार्य-प्रणीत 'षट्पाहुड' टीका-सहित लिखी गई हैं। उपरान्त 'परमातमप्रकाश' लिखकर 'योगसार' के दोहे लिखे गये हैं, जिनमें आदि-अन्त के ये हैं:—

"णिम्मल ज्झाण परिट्ठिआ, कम्म-कलंक डहेवि। अप्पालद्धउ जेण परु, ते परमप्प नवेवि॥ १

संसारहं भयभीयएण, जोगचन्द मुणिएण। अप्पासंबोहण कयहं, दोहा कव्वमिसेण॥ इति॥"

इसके बाद देवसेन-कृत 'तत्वसार' लिखा गया है, जिसकी प्रारम्भिक और अन्तिम गाथाएँ इस प्रकार हैं:—

"झाणग्गि-दड्ढकम्मे णिम्मल सुविसुद्ध लद्ध-सब्भावे।
णमि ऊण परमसिद्धे, सुतव्वसारं पवोच्छामि॥
सो ऊण तव्वसारं, रइयं मुणिणाह देवसेणेण।
जो सद्दिट्ठी भावइ, सो पावइ सासयं सोक्खं॥ ७४॥"

फिर द्रव्य-संग्रह लिख कर 'सामायिक समस्त भक्ति तीन-सहित' लिखा है। शायद यह बम्बई के मुनि अनन्तकीर्ति-ग्रन्थमाला-द्वारा प्रकाशित सामायिक ग्रन्थ ही है। उपरान्त 'द्वादसी गाथायें' ३८ दी हैं। आदि-अन्त यथावत् समझिये:—

"टूटंति पलालहरं, माणुसजम्मस्स पाणियं दिन्नं।
जीवा जे हिणणाया, णाऊण ण रक्खिया जेहिं॥ १॥

विपलिंदय पंचेंदिय, समणा अमणाय पज्जपज्जन्ता।
थावर-बायर-सुहुमा, मणवयकायएण रक्खिव्वा ॥ २ ॥
छतीसग्गाहाए, जो पढइ सुणइ भत्तिभारेण।
सो गरु जाणइ बंधो, मोक्खो पुणणागमउ होदे ॥ ३७ ॥
जो जाणइ अरहन्तो, दव्वस्स गुणत्थपज्जयत्वेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं, मोहोखुभुजाइ तस्स लयं ॥ ३८ ॥"

आगे भट्टारक सकलकीर्ति-विरचित "मज्झापितावली" लिखकर 'टंडाणा रास' लिखा गया है, जिसके नमूने इस प्रकार हैं:—

"तूं स्याणा तूं स्याणा जियड़े तूं स्याणा वे।
दंसणुणाणुचरणअप्पणु, गुण क्यों तजि हुवा अयाणा वे ॥ १ ॥
मोहमिथ्यातें पडिउ नित, पखसि चहुंगति-माँहि यंमाणा वे।
नरकगतिहि दुषछेदणु, भेदणु ताडण ताप सहाणा वे ॥ २ ॥
धर्मसुकल धरि ध्यानु अनूपम, लहि निजु केवल नाणा वे।
जपति दास भगवती पावहु, सास्सउ सुहुनिव्वाणा वे ॥ ४ ॥

इन्हीं कवि भगवतीदास जी की और कई रचनायें इसी गुटके में आगे दी हुई हैं। यह कवि और भैया भगवती दासजी एक हैं यह नहीं कहा जा सकता और जो प्रशस्ति इस गुटके के लिपि-संबन्ध में दी हुई है, उससे इनका समय वि० सं० १६८० और निवास-स्थान सहजादिपुर नगर मालूम होता है। सतरहवीं शताब्दी की हिन्दी-पद्यरचना में इनकी कवितायें भी उल्लिखित की जा सकती हैं। इनके नमूने यथाक्रम आगे देखते चलिये। "बनजारा" शीर्षक रचना भी इन्हीं की रची हुई है; जिसके नमूने ये हैं:—

"चतुर बनजारे हो नमणु करहु जिणराइ, सारद-पद सिर ध्याइ, ए मेरे नाइक हो ॥१॥
चतुर बनजारे हो कायानगर-मझारि, चेतनु बनजारा रहइ मेरे नाइक हो।
सुमति-कुमति दो नारि, तिहि समनेहु अधिकु गहइ मेरे नाइक हो ॥ २ ॥
चतुर बनजारे हो तेरइ म्रिगनैनी तिय दोई, इक गोरी इक सांवली मेरे नाइक हो।
तेरी गोरड काज सुलोइ, सांवल हइ लडबावली मेरे नाइक हो ॥ ३ ॥
चतुर बनजारिन हो गुरु मुनि मांहिदसैन दरसानि तिहं सुषु पाइए मेरी सुन्दरि हो।
दूरि किया तिनि मैनु तासु चरनि लिवलाइए मेरे नाइक हो।
चतुर बनजारे हो सिहरुजादिनगार-मझारि। दास भगवती यौं कहइ मेरे नाइक हो।
जे गावहि नर-नारि सिवपुरि सासउसुष लहई मेरे नाइक हो ॥ ३१ ॥"

इसके बाद इसमें 'तत्वाथ-सूत्र' जी लिपिबद्ध किये हुए हैं। और फिर भगवतीदास जी की रचनायें मिलती हैं। सबसे पहले 'आदित्तव्रत रासा' लिखा हुआ है। नमूने यों देखिये:—

"आदि जिनेसुर नमसकरी, सारद पणमि स्यों।
रविव्रत-कथा विथारि घणइ, लहु रासु करेसउ॥ १॥
बानारसि पइपालु निवो मतिसागर साहो।
घरि गुण सुन्दरि सातपूत कह किया विवाहो॥ २॥
गुरु मुणिचन्द पसाइ किया यहु रासु विचारी।
दास भगौती भणइ सुणहु भवियण मिण धारि॥ १९॥
पढ़हिं गुणहिं सुणि सद्दहइ, रविव्रत चितु लावइं।
राजरिद्धि नर अमर-सुखु सिवरमणीं पावहिं॥ २०॥"

दूसरी रचना 'पखवाडे का रास' है और उसके नमूने ये हैं:—

"वीर जिनेसुर नमनु करिवि। सारद सिर न्याऊं।
पन्द्रह तिथि जगि वरत-सारु तिस रासा गाऊं॥ १॥
जंबूदीवहं भरहखेति, चंपापुरि जाणी।
धाड़ी वहु त्रिपु अङ्गदेसि पदमावति राणी॥ २॥
गुरु मुणिमाहिंदसेण-चरण नमि रासा कीया।
दास भगवती अगरवालि जिणपद मनु दीया॥ २१॥
पढ़हि गुणहि सुणि मण धरहिं, तिन्ह पाउ पणासइ।
रिउ सोउ सुहु कष्टु हरइ धरि संपइ वासइ॥ २२॥"

तीसरी रचना "दसलाक्षणी रासा" है और वह यह है:—

"तणरुह नाभिनरिंद नमौं, सारद पणमेसउं।
दहलक्खण जिणिधम्मसारु तिह रासु भणेसउं॥ १॥
जंबूदीवह भरहखेति, मागध कै देसो।
रायग्रही पुरियहु सुजाणु सेणिउजु नरेसो॥ २॥
अष्टकरम हणि मोषि गये, तजि चहुंगति दुक्खो।
नंतचतुष्टय सोलहि अविनसुर सुक्खो।
अवर कोइ नरुनारि इहो, व्रतु मणवच-काइरसी।
राजरिद्धि सुहुसिध लहि भवसायरु तरसी॥ ३३॥
गुरु मुणिमाहिंदसैण नामु मुणिचन्दु भणीजइ।

तिहं पसाइ इहु रासु किया, दुहु-दुगति-निवारणु।
पढ़हिं गुणहिं सुणि सद्दहहि, तिन्ह सिवसुहु करणु ॥ ३४ ॥"

चौथी रचना "ग्यारह अनुप्रेक्षा" है, इसके नमूने भी यों देखिये:—

"अवधू जाणिए होधू किछु देषिय नाहिं,
किउं रुचि मानि पहो, विहुडइं जो खिणमांहि।
खिणमांहि जांहि विलास-मन्दिर, बंधुसुत-वित अति घणा।
जल-रेह-देह-सनेहु तिय-दामिनि दमक जिउं जोवनां॥
जिस हति जात न वार लागइ, बुलबला जलि पेषिए।
अवधू परिख कहौ जिअ सिउ-धून किछु जगि देषिए ॥ १ ॥

भवि भवि भाविए हो रत्नत्रय-गुण-ज्ञानु।
अप्पा झाइए हो धम्म सुकल धरि ध्यानु॥
मनि ध्यानु जिनवर होउ भवि। भवि गुरु दिगंबरु पाइए।
सन्यास-मरना अप्प-सरणा सील सिउं लिव लाइए॥
छंडहु सदा मनि-राग-दोसहुं, देउ जिणवरु झाइए।
कवि कहि भगवती दास सिव-सुपु पेहु भवि २ भाविए ॥ १२ ॥"

पांचवीं रचना "खीचडी रासा" है और वह इस प्रकार प्रारम्भ होता है:—

"पंच परम गुरु वंदिवि सारद नमणु केरि।
खिचड़ी रासु पयासमिनि सुणहु भाउ धरि ॥ १ ॥
जिण विणु जपु नवि सोहहत पुन विंव भविनां।
तव विणु मुणि नवि सोहइ, पंकजु अम्भ विनां ॥ २ ॥
समकित विणु वरतु न सोहइ, संजमु धम्म विनां।
दया विणु धम्म न सोहइ, उविमु कर्म विनां॥ ३ ॥
सकलचन्द्र भट्टारक उत्तम खिमांधरो।
तासु पट्टि वयमंडिय मुणि मुणिचन्द्रवरो ॥
तासु पसाए रासा खिचड़ी उत्तियऊ।
होइ भूरि सुहु-संग्रह भणइ भगौतियऊ ॥ ४० ॥"

छठी रचना "अनन्तचतुर्दसी चौपाई" है और वह इस प्रकार है:—

"प्रथम नमों जिणवर आदीसु। बड्ढमाण जिण न्याऊं सीसु ॥
पुणु पुणुयणविवि सारद माइ। गोइम गणहर लागौं पाइ ॥ १ ॥

जंबूदीउप सिद्धउ लोइ, भरहखित्तु दाहिणि दिसि होइ।
मगध देसु देसनि-परधानु, गांनभमंडिल सोभइ भानु ॥ २ ॥
पुव्व पुराणि भणि मुणि आसि, ते सुणि भणिअ भगवती दास।
पढ़हि गुणहि जे भवियण लोइ, मुकति-सिरी-फलु पावहिं सोइ ॥ ५० ॥"

सातवीं रचना "सुगंधदसमी-कथा" है और उसके नमूने इस प्रकार हैं:—

"नेमि जिनिंद नमौ धरि भाउ, सुमति-सुगति-दाता सिवराउ।
पुणु पणमौ सारद सिर न्याइ, रिसि-गुरु-मनहर लागौ पांइ ॥
तासु पसाए यह चौपही, दास भगौती लहु-मति कही।
पढ़हि गुणहिं जे भवियण लोय, मुकतिसिरी-फल पावहिं सोय ॥
जे नरु सुणहिं मणिधरि सुधभाउ, भव-भव भूरि पणासइ पाउ ॥ ५१ ॥"

८ वीं और ९ वीं रचनायें श्रीआदिनाथ और शांतिनाथ जी की बिनती हैं। उनके नमूने भी देखिये:—

"आदि जिनेसुर देव, नाभिराय-कुल-कमलरवे।
तुव त्रिभुवन-कृत सेव, चूरिय कर्म्म-कलंक सवे ॥
त्रेसठि पयडि खिपाइ, केवल णाणु उपायतने।
धर्म्माधर्म दिखाइ, बोहिय जीव अबोहघने ॥ १ ॥

× × ×

गुरु मुणि माहिंदसेणु, रयणत्तय-गुणि-मंडियो।
तजि मणितमि अघरैणु, कामु-कसाय विहंडियो ॥
पदपंकज नमि तासु, वीनतड़ी जिणनाह करी।
भणत भगवतीदासु, णिसुणहु भवियण भाउ धरी ॥ ९ ॥"

× × ×

"परम निरंजणु सोइ, सांति जिणेसरु णाणधरो।
अवर न त्रिभुवनि कोइ, तिह सम देउ अणंगहरो ॥
लोहु-कोहु-मदु छंडि मोहु-मया तिण परहरिया।
पंचमहव्वय-मंडि, उत्तमखिमतणि मणि धरिया ॥ १ ॥"

× × ×

"गुरु मुणि माहिंदसैणु, तासु चरणजुग वन्दि करी।
पाइउ जिण-मगु-रैणु, दास भगौती भाउ धरी ॥
वीनतड़ी यहु लावे, पढ़हिं गुणहिं जे भवियजणा।
धामि तिनह घणु होइ, पुणु सिव-सासउ-सुक्खघणा ॥ १० ॥

ब्रह्म-अगनि परजालि कइ इंधन-काम जराउ।
कइ वनिता-संगि धरि रहौ, कई तप-भसम चढाउ॥"

१० वीं रचना "समाधी रास" है, जिसके आदि-अन्त के छन्द यों हैं:—

"जिण चौबीसौ नमणु करेसउं बीजइ सारद-पय पणमेस्यो।
साधु समाधी-रासु भणेसउं दुक्ख-कलेस जलंजलि देसउं॥

× × ×

गुरु मुणिचन्द्-चरण चितु लावइ, दास भगवती रासा गावइ।
अवर भविकु जो पढ़इ पढ़ावइ, सो मणवंछिय संपइ पावइ॥"

११ वीं रचना "आदितवार कथा" है, उसकी भी बानगी देख लीजिये:—

"सयल जिण हंयंग्र पणविवि सरसय नमणु करे।
रविवउ-चरिय पयासमि निसु गहु भाउ धरे॥ १॥
जंबूदीउप मिझउ, भरहखित्तु सुजहां।
वाणारसि नयरि पुणु निउ पइपालु तहाँ॥२॥

× × ×

सकलचंदु भट्टारगु सम्यग णाण-धरो।
तासु पट्टिवयमंडिय मुणि मुणिचन्द्वरो।
तासु चरण नमि भविय हुडुमय उत्तियउं।
होउ कुसलु नोसंघ भणइ भगौतिय‍उ॥ ४५॥"

१२ वीं रचना "चुनड़ी मुकति-रमणी" की है, जिसके नमूने भी देखिये:—

"आदि जिनेसरु वंदिये, मनवयकामति सुद्धि हो।
सारद-पय पणमउं सदा, उपजइ निरमल बुद्धि हो॥
मेरी मुकति-रमणि की चूनड़ी, तुम जिनवर देहु रंगाइ हो।
विम वह सिय-पिय-सुन्दरी, अरुन अनूपम लाल हो॥
मेरी भवितारण चूनड़ी॥ १॥
समकित-वस्तु विसाहिले, ज्ञानसलिल संगि भेइ हो।
मल पचीस उतारिये, दिढ़ मनुं साजि देइ हो॥
मेरी मुकति-रमणी की चूनड़ी तुम जिनवर देहु रंगाइ हो।
मेरी भवजल-तारण चूनड़ी॥ २॥

× × ×

मुकति-रमणि रंगि सो रमइ, बसु-गुण-मंडित सोइ हो ।
नंतचतुष्टय सुषु घणा, जम्मणु मरणु न होइ हो ॥ मेरी मुकति० ॥
गुरु मुनि माहिंदसैनु हुइ, पदपंकज नमि तासु हों ।
सहरि सुहावइ बूडिए, भनत भगोतीदासु हो ॥ मेरी मुकति० ॥
राजबलि जहांगीर कह फिरिय जगति तिस आण हो ।
ससिरसवसुविंदा धरहु संवतु गुणहु सुजान हो ॥"

१३ वीं रचना "योगी रासा" है और वह इस प्रकार है:—

"परम निरंजनु, भवदुह-भंजनु जिनु-जोगी जग-नाथो ।
आदि जगइ गुरु मुकति-रमणि वरु ताहि नवाऊं माथो ॥ १ ॥
बोध दियायर गणहर हूपते नमि पणमौं पाया ।
साहु-सिरोमणि लोहाचारजु जिनि जिणमग्गो बताया ॥ २ ॥
पेषहु हो तुम पेषहु भाई, जोगी जगमहिं सोई ।
घट-घट-अन्तरि बसइ चिदानन्दु अलषु न लषइ कोई ॥ ३ ॥
भव-वन भूलि रह्यौ भ्रमिरावलु, सिवपुर-सुधि बिसराई ।
परम प्रतिंद्रिय सिवसुषु तजि करि विषयनि रहिउ लुभाई ॥ ४ ॥"

× × ×

"नंतचतुष्टय-गुण-गण राजहिं तिन्ह की हउं बलिहारी ।
मनि धरि ध्यानु जपहु शिवनाइक, जिउं उतरहु भवपारी ॥ ३७ ॥
जोगीरासो सुणहु भविकजण, जिउं तूटहिं कर्मपासो ।
गुरुमुणि माहिंदसेन-चरण नमि भनत भगवतीदासो ॥ ३८ ॥"

१४ वीं रचना "अनथमी" शीर्षक इस प्रकार है ।

"नवे पिणु सामिय वीर जिणिंद, तिलोय पयासण-बोह-दिणिंद ।
पयत्थंह भावणणेय पयार, गणिंद नमामि भवोवहितार ॥ १ ॥
सुरिंद नरिंद समुच्चिय जाणि, सयपणमामि जिणेसर-वाणि,
पयासमि गुणु अणथमिय सुलोइ । सुणेहु तु सावयणिम्मल होइ ॥ २ ॥

× × ×

मुणिंदु जनिंदु महिंदजिसैनु जिणि उरणि दुद्धर दुर्जय मैनु ।
नमौं पद-पंकज मणवय तासु, सुरेडिउ भणइ भगवतीदासु ॥ २६ ॥"

१५ वीं रचना 'मनकरहा रासु' है और उसके नमूने इस प्रकार हैं:—

"मन करहा जगवनिमहिं भ्रम्यों, चरत विषइ-बन राइ रे।
चहुंगति चहुंदिसि सो फिरइ भवतरवर-फल षाई रे॥ मन०॥ १॥
अरे लख-चौरासी महि रुल्या, करहलु पंचपयारी रे।
सुरनर-पसु-जोणिहिं फिरिऊ, नरय गयो बहुवार रे॥ मन०॥ ३॥
जरे नित्य इतरंजु निगोदहीं, सात-सात लष मांही रे।
वसु-दस जम्मण-मरण तहां, समइ समइं भुलहाई रे॥ मन०॥ ३॥

× × ×

अरे जब जियडइ सिवपुरु लह्यो, जम्मणु-मरणु न होइ रे।
नंतचतुष्टय सुषु घणां, वसुगुण-मंडित सोई रे॥ मन०॥ २४॥
अ गुरु मुनि माहिंदसेनु हइ, पद-पङ्कज नमि तासो रे।
सहरि भलइ सहिजादपुरि, भनत भगोता दासो रे॥ मन०॥ २५॥"

१६ वीं रचना 'वीरजिणिन्द-गीत' शीर्षक है, जिसके आदि-अन्त के छन्द इस प्रकार हैं:—

"वीर जिणिंद-समोसरणि जी विपुलाचल गिरि थानि।
मेघकुमारि वैरागिओजी, सुनि गुरु गनहरवानि॥
मनोहर धरमि महाव्रत भारु, यह संसारो असारु री माई,
धरमि महाव्रतभारु॥ १॥

नवजोवनि तूं बालिकोजी, अति दुद्धर जाऊ जोग।
बसु-रमणी गयगामिणी जी, बहुबिह भुगवहु भोगु॥
—कुमरजी संजुमु दुद्धरभारु॥ २॥

गुरु मुनि मांहिदसेनि नमि जी, भनत भगवती दासु।
जे नर-नारी गावहिं जी, तेतो उहि कर्मपासु॥
परम गुरु धनि संयम-धारु॥२२॥"

१७ वीं रचना "रोहिणीव्रत रासु" है और उसका आदि-अन्त इस प्रकार है:—

"पणविवि वीर-चरण गुरुगण गणहरु, अरु सारद सिर न्याऊं।
रोहणिव्र-विधिरासु अनूपम, मणवचि रुचिकर गांऊं। भविक जण॥
तासु पसाइ कियो मइ लहुमति, रोहणिव्रतविधि-रासो।
अगरवालु अरगल पुर पट्टणि भनत भगौतीदासो॥ ४२॥"

१८ वीं रचना 'ढमाल राजमती-नेमीसुर' का है और उसके नमूने ये हैं :—

"पंच परम गुरु वंदिवि करि सारद जयकारु।
गुरुपद-पंकज पणमौं, सुमति-सुगति-दातारु॥
सोरठि देसु भला सब देसनिमइं परधानु।
महिमंडलि इउं राजति जिउं नभ-मंडलु भानु॥ १॥
तहिं नयरी द्वारावति वन-उपवन-आराम।
इन्द्रपुरी सुविसेषति हेमरत नमई धाम॥
कंवल-अक्षादिति बावरि, सीतर बारि रसाल।
कूप घने जलपूरित पदमसहित सरताल॥ २॥

× × ×

कोटि जतन कोई करिहो जीवनु सो नित नाहिं।
तनु-धनु-जीवनु बिनसइ कीरति रहइ जगमांहि॥ ६०॥
मुनि माहेन्द्रसेन गुरु तिह जुगचरन पसार।
भाषत दास भगवती, थानि कपिस्थलि आइ॥ ६१॥
नर-नारी जे गावहि सुणहि, चतुर;दे कानु।
भोगवि सुरनर सुहफल पांवहि सिवपुर थानु॥ ६२॥"

१९ वो रचना 'सज्ञानी ढमाल' है और वह इस प्रकार लिखा गया है:—

"यहु सज्ञानी जीउ जागि अयाणु हुवा हो।
धव तीनों त्रिसार; राख्यो तन अरु वाहो॥
एकु तजि त्रिसुप रतं, निसि-दिन एकु किया हो।
एक बिना जगमांहि, बहु दुख पेखि त्रियो हो॥ १॥

× × ×

जगमहि जीवनु सुपनां, मन-मनमथु परहरिए।
लोहु-कोहु-मद-माया, तजि भवसायरु तरिए॥
मुणि माहेन्द्रसेणि इत निमि प्रणामा तासो।
थानि कपिस्थलि नीकइ भनति भगोती दासो॥ २॥"

इस तरह ये रचनायें कवि भगवतीदास जी अग्रवाल की हैं। इनमें आपने जो अपने बारेमें उल्लेख किया है उसमें प्रकट है कि देश-विदेश में विहार करते धर्मसाधनमें लीन थे। आप सहजादिपुर के निवासी थे और संकिसा तथा कपिस्थल में भी आकर रहे थे। अन्तिम दोनों ग्राम जिला फरुखाबाद के संकिसा और कैथिया नामक गाँव हैं। सहजादिपुर भी वहीं

कहीं होगा। इन रचनाओंसे हिन्दी-साहित्य की प्रगति और हिन्दी के उत्पत्ति-क्रम पर प्रकाश पड़ता है। ये रचनायें अपभ्रंश-भाषा और १८ वीं-१९ वीं शताब्दी के बीच की लड़ी हैं। इनसे स्पष्ट है कि किस प्रकार अपभ्रंश से पलटते-पलटते हिन्दी की आविर्भूति हुई। सचमुच जैन-साहित्यभाषा और इतिहास-सम्बन्धी नवीन प्रकाश उपस्थित करने से अमूल्य प्रतीत होता है। आगे इस गुटके में 'सोलहकारणव्रत रास' इस प्रकार दिया हुआ है:--

"वीर जिणेसर वसास करी गोयम पणमेसउ।
सोलहकारण-वरत-सार तहि रासु करेसउ॥
जंबूद्वीवह भारतखेत मगध छइ देस।
राजगृह छइ नगर हेमप्रभ राजधनेस॥१॥
×　　×　　×
एक चित्त जो व्रत करे नर अहवा नारी।
तीर्थंकर-पाद सो लहइ जो समकित धारी॥
सकलकीरति मुनि रासु कियउ ए सोलहकारण।
पढहिं गुणहिं जे संख लहि तिह सिवसुह-कारण॥"

इसके बाद 'जीवसुलक्षण' लिखा हुआ है, जो इस प्रकार है:—

"जीव सुलक्षण हो. जिणवर भासिउ एम।
परिग्रहा पाहुणा हो विहाडइ सुरधरमु-जेम॥
विहंडतु सुर धणु जेम परिगहु, कहा तिम सिउ रचइ।
नित ब्रह्मलोक विचारि हीयडइ दुष्ट कम्महं वंचइ॥
पिय पुत्त-बंधुवसयलु अवधू रूप रंगणा देषणा।
संवेग-सुरति संभालि थिरुमति. सुणउ जीव सुलक्षण॥
×　　×　　×
हंसा दुर्लभी हो, मुकति-सरोवर तीरि।
इन्द्रिय-वाहिया हो पीवत विषयहंनीर॥
अति विषयनीर पियास लागी, विरह व्यापति आकुल्यौ।
बारह अनुप्रक्षा-सुरति छंडिय, एम भूलौ बावलौ॥
अब होउ ऐतउ कहउ तेतउ, सुम्भद्रवंसहं-जन्मण।
सन्यास-मरणउ अप्प-सरणउ परम रयणनउ गुणु॥"

उपरांत केवली और यंत्र देकर गुटका समाप्त किया गया है। इस तरह इस गुटके का परिचय है। इति उ० सं० ४-६-२३

जैनज्योतिष और वैद्यक-ग्रन्थ

अनुपूर्त्ति

(ले०—श्रीयुत बाबू अगरचन्द नाहटा)

भास्कर के गत अङ्क में "जैनज्योतिष और वैद्यकग्रन्थ" शीर्षक मेरा लेख छपा है, उसमें श्वेताम्बर-वैद्यक-ग्रन्थ कोई प्रकाशित नहीं हुआ लिखा गया था, पर अभी हर्षकीर्ति-कृत योग-चिंतामणि ग्रंथ गुजराती अनुवाद-सहित प्रकाशित देखने में आया है एवं पं० भगवान दास जी (जयपुर) से कई एतद्विषयक अन्य जैनग्रंथों का पता लगा है, अतः नीचे उनकी सूची दी जाती है :—

ज्योतिष-स्वप्न सामुद्रिक-ग्रन्थ

१	भुवनदीपक टीका (रत्नदीपक)	... खरतर रत्नधीर-कृत सं० १८०६ ।
२	तिथिसारणी	.. पार्श्वचंद्रगच्छीय वाघ जी मुनि १७८३ ।
३	प्रश्नव्याकरण (जयप्राभृत)	
४	गार्ग्य संहिता	... गर्गमुनि (मूल प्रति अपूर्ण, मद्रास ओरियण्टल लायब्रेरी)
५	हस्तकाण्ड	... पार्श्वचंद्र
६	शाकुनावली	... सिद्धसेन (बड़ौदा)
७	स्वप्नचिन्तामणि	... दुर्लभराज (हमारे संग्रह में भी है)
८	स्वप्नप्रदीप	... वर्द्धमान सूरि (हीरालाल हंसराज-द्वारा मुद्रित)
९	शकुनरत्नावली	... ,, (बड़ौदा)
१०	सामुद्रिक-लक्षण	... लक्ष्मीविजय ,,
११	सामुद्रिक	... अजयराज ,,
१२	,,	... रामविजय ,,
१३	रमलशास्त्र	... भोजसागर ,,
१४	रमलसार	... विजयदान सूरि ,,
१५	सामुद्रिकभाषा	... खर० रामचंद्र सं० १७२२ मेहरा में हिन्दी में रचित (बीकानेर भा०)
१६	ज्योतिः-प्रकाश	

गणित

१ ज्योतिष-सारोद्धार चौ० . आनंदमुनि १७३१

२ लीलावती चौ० .. खर० लाभवर्द्धन १७३६

जैनेतर ग्रन्थों पर जैन टीकाएँ

१ महादेवी-दीपिका ... धनराज

२ जातक दीपिका . खर० हर्षरत्न सं० १७६५

३ जातकपद्धति ... जिनेश्वरसूरि (जैन ज्ञान-मंदिर, बड़ौदा)

४ विवाह-पटल अर्थ ... खर० विद्याहेम सं० १८३७

दि० ज्योतिष-ग्रन्थ

१ आयसद्भाव प्रकरण ... मल्लिषेण

२ अर्घकांड ... दुर्गदेव मुनि

३ रिट्ठसमुच्चय ... दुर्गद्देव सं० १०८९

४ जिनसंहिता ... एकसंधि भट्टारक

५ गणितसार सटिप्पण ... महावीराचार्य

अनुपलब्ध ज्योतिष-ग्रन्थ

१ कालक-संहिता ... कालकाचार्य्य

२ भद्रबाहु संहिता प्रा० ... भद्रबाहु

३ चातुर्मासिक कलंक　४ तिथिकुलक　५ मेघमाला—विजयहीर सूरि

श्वेतांबर वैद्यक-ग्रन्थ

१ वैद्यकसार-संग्रह ... हर्षकीर्त्ति

२ वैद्यमनोत्सव ... अंचल नयनसुख

३ कोकशास्त्र चौ० ... नरबुदाचार्य

४ रसामृतश्री ... माणिक्यदेव

दि० वैद्यक

१ हितोपदेश (गु० अनुवाद-सहित मुद्रित)

जैनेतर वैद्यक ग्रन्थ पर जैन टीका

१ योगशतक टीका, मूल वररुचि टीका समंतभद्र (जैनेतर ?)

नोट—गत अंक में प्रकाशित लेख में पृष्ठ ११४ लाईन तीसरी से ६ ग्रन्थों का नाम 'जैनेतर ग्रंथों पर जैन टीकाएं' शीर्षक के नीचे आना चाहिये। सन्निपात कलिका टबा कर्त्ता हेमनिधान सं० १७३३ और कविप्रमोद सं० १७६६ होना चाहिये।

शास्त्री जी के सूचित ग्रन्थों में १ ज्योतिषसार २ योगचिंतामणि श्वे० ग्रंथ हैं। अष्टांग-हृदय का कर्त्ता जैनेतर है।

विविध विषय

"नैषधीय चरित" में जैन धर्म का उल्लेख

[१]

संस्कृत साहित्य में 'नैषधीयचरित' का भी अपना खास स्थान है। उसकी गणना कालिदास, भट्टि, भारवि और माघ के महाकाव्यों से भी उच्च कोटि में की जाती है। कहते हैं कि यह श्रीहर्ष की रचना है और उसका समय ईस्वी बारहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण है।* इस महाकाव्य में नल-दमयन्ती की कथा सरस रीति से वर्णित है। कवि ने जैनधर्म-विषयक उल्लेख देकर यह स्पष्ट कर दिया है कि उनके समय में जैनधर्म का प्रावल्य अधिक था। "नैषधीयचरित" के प्रथम सर्ग में इन्होंने लिखा है :—

"चमूचरास्तस्य नृपस्य सादिनो जिनोक्तिषु श्राद्धतयेव सैन्धवाः।
विहारदेशं तमवाप्य मण्डलीमकारयन्भूरितुरंगमानपि ॥ ७१ ॥"

अर्थात्—"जिनेन्द्र भगवान के वचनों में श्रद्धा न रखनेवाले सिन्धुदेश के रहनेवाले जैन लोग विहारस्थल में बहुत से जैनों को बलयाकार बिठाते हैं अर्थात् मध्य में मुनीश्वर बैठते हैं और उनके चारो ओर जैनी बैठते हैं। सो जिस तरह वे बलयाकार बिठाते हैं उसी तरह नल के सैन्यलोक भी अपने घोड़ों को बलायाकार घुमाते हैं।"

इस उल्लेख से दो बातें स्पष्ट हैं (१) जैनों के उपदेश की प्राचीन रीति तब भी प्रचलित थी (२) और तब सिन्धुदेश में जैनधर्म का अच्छा प्रचार था। सिन्धुदेश के इतिहास 'चचनामा' में सातवीं शताब्दी ई० में श्रमणों को सिन्धुदेश का राज्याधिकारी लिखा है।† उसमें यह भी लिखा है कि जब मुहम्मद कासिम ने सिन्धुदेश पर आक्रमण किया तो श्रमणों ने उससे सन्धि करनी चाही। उन्होंने कहा कि हमारा धर्म शांतिमय है—उसमें हिंसा करना, लड़ना और खून बहाना मना है। उन्होंने यह भी कहा कि हमारे शास्त्रों में यह पहले ही ज्योतिष के आधार पर कह दिया गया है कि अब हिंदुस्तान में (म्लेच्छों) मुसलमानों का राज्य होगा।‡ सिंध देश के इन श्रमणों के इस कथन से उनका जैनी होना संभव है, क्योंकि उपरांत जैनियों ने अहिंसा के स्वरूप को ऐसे ही विकृत रूप समझे बैठे मिल जाते हैं। जैन ग्रंथों में यह भी घोषित किया गया है कि पंचमकाल में भारत में म्लेच्छों का राज्य होगा। उधर ११वीं-१२वीं शताब्दियों में वहाँ जैनधर्म का प्रावल्य मिलता ही है। परंतु इतिहास-

---

* *Keith*; "Classical Sanskrit Literature" (Heritage of India Series) p p. 58-59.

†. *Elliot*; History of India (London 1867), p, 147.

‡. Ibid, pp. 158-161,

लेखक इन श्रमण लोगों को बौद्ध प्रकट करते हैं। अत एव यह आवश्यक है कि तत्कालीन साहित्य 'चचनामा' आदि का सूक्ष्म अध्ययन किया जाय और देखा जाय कि उनमें श्रमण शब्द किन लोगों के लिये व्यवहृत हुआ है। 'विज्ञप्ति-त्रिवेणी' आदि जैन ग्रंथों से भी सिंधुदेश में जैनधर्म का प्राबल्य स्पष्ट है।

उपर्युक्त उल्लेख के अतिरिक्त "नैषधीयचरित" के सर्ग ९ श्लोक ७१ और सर्ग १३ श्लोकों ३६ में भी जैनधर्म का सामान्य उल्लेख है।

'प्रशंसितुं संमदुपान्तरं जिनम्, श्रिया जयन्तं जगतीश्वरं जिनम।
गिरः प्रतस्तार पुरावदेवता, दिनान्तसन्ध्यासमयस्य देवता॥"
(नैषध सर्ग १२, श्लो० ८७)

नैषध के इस श्लोक में जैनधर्म का स्पष्ट उल्लेख है।

— का० प्र०

"जैन एन्टीक्वेरी" के लेख

(सितम्बर १९३७)

[२]

१ प्रो० ए० एन० उपाध्ये ने जैनधर्म में योग का स्थान क्या है? यह बताया है। इस लेख का सार हिंदी भाषा में 'रायचन्द्र-ग्रंथमाला', बम्बई में प्रकाशित 'परमात्म-प्रकाश' की भूमिका में दिया गया है।

२ डॉ० सुकुमार रञ्जन दास, एम०ए०, पी०एच०डी० ने जैनज्योतिष पर लिखते हुए बताया है कि वह ज्योतिष वेदांग के समान है। जैन ज्योतिष में युग पांच वर्षों का माना गया है और उसका प्रारंभ अभिजित नक्षत्र से होना है। इस युग में ६० सौर्यमास, ६१ ऋतुमास, ६२ चान्द्रमास, ६७ नक्षत्रमास होते हैं। एक युग मे चन्द्र की अभिजित नक्षत्र से ७ बार भेंट होती है और सूर्य का समागम सिर्फ पाँच दफा होता है। जैनज्योतिष में महीनों के नाम निम्न प्रकार हैं:—

प्रचलित नाम	जैनग्रंथ	प्रचलित नाम	जैन नाम
१—श्रावण	अभिनंदु	७—माघ	शिशिर
२—भाद्रपद	सुप्रतिष्ठ	८—फाल्गुण	हैमवान्

प्रचलित नाम	जैनग्रंथ	प्रचलित नाम	जैन ग्रंथ
३—अश्वयुज	विजय	९—चैत्र	वसन्त
४—कार्तिक	प्रीतिवर्द्धन	१०—वैसाख	कुसुमसंभव
५—मार्गशीर्ष	श्रेयान्	११—ज्येष्ठ	निदाघ
६—पौष्य	शिव	१२—आषाढ़	वनविरोधी

संवत्सर चार प्रकार के हैं (१) नक्षत्र-संवत्सर, ३२७ + ५१/६७ दिन; (२) युग-संवत्सर पाँच वर्ष; (३) प्रमाण-संवत्सर, (४) शनि-संवत्सर। तिथियाँ दिन और रात की अलग हैं।

ऋतुयें पाँच हैं—(१) वर्षा (२) शिशिर (३) हेम (४) वसन्त और (५) गरमी। ऋतुओं का प्रारंभ आषाढ़ मास से होता है। युगसंवत्सर का प्रारंभ श्रावण कृष्णा प्रतिपदा से होता है। कौटिल्य के समय में वर्ष का प्रारंभ आषाढ़ के अंत से होता था।

३ "जैन क्रोनोलोजी" शीर्षक लेख में जैन संघ की पौराणिक-समयानुवर्ती घटनायें अङ्कित हैं।

४ प्रो॰ शेषगिरि राव ने जैनों के धार्मिक आदर्श पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है। वह आदर्श अर्हन् पद को प्राप्त करना है: जिसे आप वैदिक आदर्श 'ब्रह्मसिद्धि' और बौद्धों के आदर्श "निर्वाण-सिद्धि" के अनुकूल समझते हैं। आप की मान्यता है कि जब इन सम्प्रदायों को वेद-बाह्य कहा जाता है तब उनके इस मौलिक सादृश्य को नजर अन्दाज कर दिया जाता है। इस समय इन प्राचीन धर्मों का अध्ययन समन्वय-दृष्टि से करना आवश्यक है। वेदों में होम शब्द पशुओं के होमने के लिये प्रयुक्त हुआ है—उसके माने आत्मक्षेत्र में कुछ और ही हो जाते हैं। जैनस्तोत्र 'अहमादिभक्ति.' में उसे अहंकार को नाश करनेवाला कहा है। इस स्तोत्र का अंतिम वाक्य 'ब्रह्म विदन्ति परम् ये' हमें औपनिषदिक उक्ति 'ब्रह्मविदाप्नोति परम' की याद दिलाता है। जैनस्तोत्र 'आचार्यभक्ति' में मुक्ति-सौख्य का उल्लेख है। म॰ बुद्ध का धर्मान्वेषण इसी मुक्ति-सौख्य के लिये था और उन्होंने उसे 'निर्वाण' कहा। कई जैनस्तोत्रों के उद्धरणों से यह बात सिद्ध है। अन्त में प्रो॰ साहब लिखते हैं कि प्राचीन जैनधर्म वीरतापूर्ण योगमार्ग को मोक्षसुख पाने के लिये आवश्यक ठहराता है। क्या भरतखंड के वैदिक सनातनी देखेंगे कि जिस 'संयमयोग' का विधान जैनस्तोत्र 'वीरस्तुति' में है, ठीक वही शिक्षा 'भगवद्गीता' के प्रारंभिक छै अध्यायों में है?

५ जर्मनी के प्रो॰ हेल्मुथ फान ग्लासेनप्प ने तांत्रिक बौद्धमतानुयायियों के "आर्यमञ्जु-श्री—मूलकल्प" नामक ग्रंथ के दूसरे परिव्रत में म॰ ऋषभदेव का उल्लेख हुआ बताया है। उस मण्डल में लिखा है कि:—

"कपिल-मुनिर्नाम ऋषिवरो, निर्ग्रन्थ-तीर्थङ्कर ऋषभः निर्ग्रन्थरूपी।" एक मण्डल की भाग्यरचना में जिन महापुरुषों ने भाग लिया था उनका वर्णन करते हुए बौद्ध ऋषभदेव जैसे महापुरुष को भुला ही कैसे सकते थे? उक्त ग्रंथ का चीनी भाषा में अनुवाद सन ५८०-१००० ई० में हुआ था। ग्यारहवीं शताब्दी में वह तिब्बत की भाषा में अनुवादित किया गया था।

५ जेकोस्लोवेकिया के प्रोफेसर ओटो स्टीन ने स्वर्गीय डा० विन्टरनीज का परिचय दया है। विन्टरनीज का जन्म २३ दिसम्बर १८६३ को आस्ट्रिया के होर्न नामक स्थान पर हुआ था। इन्होंने प्रोफेसर बुल्हर के निकट जैनधर्म की शिक्षा पाई थी। "जैनसाहित्य" का अच्छा परिचय आपने अपने "भारतीय साहित्य के इतिहास" में दिया है। खेद है कि तारीख ९ जनवरी, १९३७ को आप का स्वर्गवास हो गया।

—कामता प्रसाद

तिलोयपण्णत्ती

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये.

छट्ठमपुढवीए पंचसत्तभागूण छरज्जुविक्खंभा सत्तरज्जुआयदा सोलसजोयणसहस्स-बाहल्ला बाणउदिसहस्साहिय पंचण्हं लक्खाणमेगूणवंचासभागबाहल्लं जगपदरं होदि ॥३१०॥

=५९२०००
४९

सत्तमपुढवीए छसत्तमभागूणसत्तरज्जुविक्खंभा सत्तरज्जुआयदा अट्ठजोयणसहस्स-बाहल्ला चउदालसहस्साहिय तिण्णं लक्खाणमेगूणपंचासभागबाहल्लं जगपदरं होदि ॥३११॥

३४४०००
४९

अट्ठमपुढवीए सत्तरज्जुआयदा एक्करज्जुरुंदा अट्ठजोयणबाहल्ला सत्तमभागाहियेयज्जोयण-बाहल्लं जगपदरं होदि ॥३१२॥[1]

८
७

एदाणि सव्वमेलिदे एत्तियं होदि ।

=४३६४०५६
४९

एदेहिं दोहिं खेत्ताणं विंदफलं संमेलिय सयललोयंमि अवणिदे[2] अवसेसं सुद्धायासपमाणं होदि तस्स ठवणा

केवलणाणतिणेत्तं चोत्तीसादिसयभूदिसंपण्णं ।
णाभेयजिणं तिहुवणणमंसणिज्जं णमंसामि ॥ [३१३] ॥

एवमाइरियपरम्परागयतिलोयपण्णत्तीए सामण्णजगसरूवणिरूपणपण्णत्ती
णाम पढमो महाधियारो सम्मत्तो ॥१॥

---

1 Confusion of Nos. in all the Mss   2 अवणीदे (?)

अजियजिणं जियमयणं दुरितहरं आजवं जवातीदं ।
पणमिय णिरुवमाणं णारयलोयं णिरुवेमो ॥१॥

णिद्दइणिवासखिदिपरमाणं[1] आउदयओहिपरिमाणं ।
गुणठाणादीणं[2] चयसंखाउप्पज्जमाणजीवाणं ॥२॥

जम्मणमरणाणंतरकालपमाणादि एक्कसमयम्मि ।
उप्पज्जणमरणाण य परिमाणं तह य आगमणं ॥३॥

णिरयगदिआउबंधणपरिणामा तह य जम्मभूमीओ ।
णाणादुक्खसरूवं दंसणगहणं महेदुजोणीओ ॥४॥

एवं पण्णरसविहा अहियारा वण्णिदा समासेण ।
तित्थयरवयणणिग्गयणारयपण्णत्तिणामाए ॥५॥

लोयबहुमज्झदेसे तरुम्मि सारं व रज्जुपदरजुदा ।
तेरसरज्जुच्छेहा किंचूणा होदि तसनाली ॥६॥

ऊणपमाणं दंडा कोडितियं एक्कवीसलक्खाणं ।
बासट्ठिं च सहस्सा दुसया इगिदाल दुतिभाया ॥७॥

३ २ १ ६ २ २ ४ १ २
३

अथवा

उववादमारणंतियपरिणदतसलोयपूरणेण गदो ।
केवलिणो अवलंबिय सव्वजगो[3] होदि तसनाली ॥८॥

खरपंकप्पबहुला भागा रयणप्पहा य पुढवीणं ।
बहलत्तणं सहस्सा सोल चउसीदि सीदी य ॥९॥

१६००० | ८४००० | ८००००

खरभागो णादव्वो सोलसभेदेहि संजुदो णियमा ।
चित्तादीओ खिदिओ तेसिं चित्ता बहुवियप्पा[4] ॥१०॥

णाणाविहवण्णाओ महीउ तह सिलातलाओववादा ।
वालुवसक्करसीसयरुप्पसुवण्णाण[5] वइरं च ॥११॥

अयतंबतउयसासयमणिसिलाहिंगुलाणि हरिदालं ।
अंजणपवालगोमज्जगाणि रुजगंकअंभपदराणि ॥१२॥

तह अंबवालुकाओ फलिहं जलकंतसूरकंताणि ।
चंदप्पहवेरुलियंगेरुवचंदस्सलोहिदंकाणि ॥१३॥

1 परिमाणं (?); 2 A गुणठाणठाणादीणं; 3 AB सव; 4 B बहु; 5 सुवण्णाणि (?) ।

गरड

बंबय[1] बगमोअसारगल्लपहुदीणि विविहवण्णाणि ।
जा[2] होंति त्ति पत्तेयं चित्तेत्ति य वण्णिदा पसो ॥१४॥
पदावं बहलत्तं पक्कसहस्सं हवंति जोयणया ।
तीए हेट्ठा कमसो चोद्दस रयणा[’]य खिदमही ॥१५॥
तण्णामा वेरुलियं लोहिययंकं [3]असारगल्लं च ।
गोमज्जयं पवालं जोदिरसं[4] अंजणं णाम ॥१६॥
अंजणमूलं अंकं फलिह चंदणं च वच्चगयं[5] ।
बहुला सेलं इय पदाइं पत्तेक्कं इगिसहस्सबहलाइं ॥१७॥
ताण खिदीणं हेट्ठा पासाणं णाम रयणसोलसम[6] ।
जोयणसहस्सबहलं वेत्तासणसण्णिहो संठाउ ॥१८॥
पंकाजिरो दिसदि पवं पंकबहुलभागो त्ति ।
अप्पबहुलो विभागं सलिलसरूवस्सवो होदि (?) ॥१९॥
पवं बहुविहरयणंपयारभरिदो विराजदे जम्हा ।
रयणप्पहो त्ति[7] तम्हा भणिदा णिउणेहिं गुणणामा ॥२०॥
सक्करवालुवपंका धूमतमा तमतमं च समचरियं ।
जेतं (?) अवसेसाओ छप्पुढवीउ गुणणामा ॥२१॥
बत्तीसट्ठावीसं चउवीसं वीस सोलसट्ठं च ।
हेट्ठिमछप्पुढवीणं बहलत्तं जोयणं सहस्सा ॥२२॥

३२००० । २८००० । २४००० । २०००० । १६००० । ८०००

विगुणियछब्बउसट्ठीसट्ठिदुविस्सट्ठिअट्ठचउवण्णा ।
बहलत्तणं सहस्सा हेट्ठिमपोढवीयछण्णं पि ॥२३॥

१३२००० । १२८००० । १२०००० । ११८००० ।
११६००० । १०८००० ।

पाठान्तरम्

सत्त च्चिय भूमीउ णवदिसभाएण घणोवही विलग्गा[8] ।
अट्ठमभूमी दसदिसभागेसु घणोवहिं[9] छिवदि ॥२४॥
पुव्वावरदिब्भाए वेत्तासणसंणिहाउ संठाओ ।
उत्तरदक्खिणदीहा अणादिणिहणा य पुढवीओ ॥२५॥

---

1 S बबबबब ; 2 A B जा होंति तिए तेया ; 3 मसारगल्लं (?) ; 4 S जोदिरसं ; 5 वच्चगयं (?) ;
6 सेलसमं (?) ; 7 रयणप्पह त्ति (?) ; 8 S विलग्गा ; 9 S घणोवहिं ।

णि चुलसीदीलक्खाणं णिरयविला होंति सव्वपुढवीसुं।
पुढविं पडिपत्तेक्कं ताणं पमाणं परूवेमो ॥२६॥
८४००००० ।

तीसं पणवीसं-च य पण्णरसं दस तिण्णि होंति लक्खाणि।
पणरहिदेक्कं लक्खं पंच य रयणाइ[1] पुढवीणं ॥२७॥
३०००००० । २५००००० । १५००००० । १०००००० ।
३००००० । ९९९९५ । ५ ।

सत्तमखिदिबहुमज्झे बिलाण[2] सेसेसु अप्पबहुलत्तं।
उवरिं हेट्ठे जोयणसहस्समुज्झीय हवंति [3]पडालकमे (?) ॥२८॥
पढमादिबितिचउक्के पंचमपुढवीए[4] तिचउक्कभागंतं।
अदिउण्हा णिरयबिला तट्ठियजीवाण तिव्वदाघकरा ॥२९॥
पंचमि खिदिए तुरिमे भागे छट्ठीय[5] सत्तमे महीए।
अदिसीदा णिरयबिला तट्ठिदजीवाण घोरसीदयरा ॥३०॥
बासीदिं लक्खाणं उण्हबिला पंचवीसदिसहस्सा।
पणहत्तरिं सहस्सा अदिसीदि[6] बिलाणि इगिलक्खं ॥३१॥
८२२५००० । १७५००० ।

मेरुसमलोहपिंडं सीदं उण्हे बिलंमि पक्खित्तं।
ण लहदि तलप्पदेसं विलीयदे मयणखंडं व ॥३२॥
मेरुसमलोहपिंडं उण्हं सीदे बिलम्हि पक्खित्तं।
ण लहदि तलं पदेसं विलीयदे लवणखंडं व ॥३३॥
अजगजमहिसतुरंगमखरोट्टमज्जारअहिणरादीणं ।
कुधिदाणं गंधेहिं णियरबिला[7] ते अणंतगुणा ॥३४॥
कक्खककवच्छुरीदो(?) खइरिंगाला तिक्खसूईए।
कुंजरचिकारादो[8] णिरयबिला दारुणा तमसहावा ॥३५॥
इंदयसेढीबद्धा पइण्णया य हवंति वियप्पा।
ते सव्वे णिरयबिला दारुणदुक्खाण संजणणा ॥३६॥
तेरसएक्कारसणवसगपंचतिएक्क इंदया होंति।
रयणप्पहपहुदीसुं पुढवीसुं आणुपुव्वीए ॥३७॥
१३ । ११ । ९ । ७ । ५ । ३ । १

1 AS रयणोइ; 2 बिलाणि; 3 पडल (?); 4 S पुढवोए; 5 छट्ठीए (?); 6 अदिसीद (?); 7 णिरयबिला (?); 8 चिक्कारादो (?)।

पढमम्हि इंदयम्हि य दिसासु उणवण्णसेढिबद्धा य ।
अडदालं विदिसासुं विदियादिसु एक्कपरिहीणा ॥३८॥
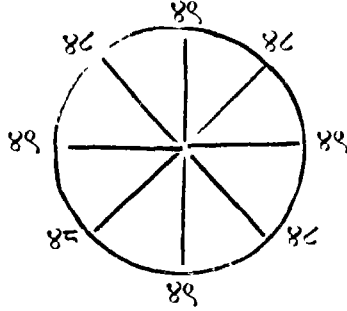
एक्कंततेरसादी सत्तसु ठाणेसु मिलिदपरिसंखा ।
उणवण्णा पढमादो इंदयपडिणामयं होंति ॥३९॥[1]
सीमंतगो य पढमं णिरयो रोरुग य भंतउब्भंता ।
संभंतयसंभंतं[2] विब्भंता तध तसिदा य ॥४०॥
वक्कंतयवक्कंता विक्कंतो होंति पढमपुढवीए ।
थणगो तणगो मणगो वणगो दाधो य संघादो ॥४१॥
जिब्भाजिब्भगलोला लोलयथणलोलुगाभिधाणा य ।
एदे विदियखिदीए एक्कारस इंदया होंति ॥४२॥
११
तेत्तो[3] सीदो तवणो तावणणामा णिदाघपज्जलिदो ।
उज्जलिदो संजलिदो संपज्जलिदो य तदियपुढवीए ॥४३॥
९
आरो मारो तारो तच्चो[4] तमगो तहेव वादेय ।
खडखडणामा तुरिमंखोणीए इंदया तस्स ॥४४॥
७
तमभममझसयं [5]वाविलतिमिसो दुच्चुपहा छट्ठीए ।
हिमवद्दललल्लका सत्तमअवणीए अवधिठाणो त्ति (?)॥४५॥
५ । ३ । १ ।
घम्मादीपुढवीणं पढमिंदयपढमसेढिबद्धाणं ।
णामाणि णिरूवेमो पुव्वादिपदाहिणो (?) कमेण ॥४६॥

1 ABS 40; 2 A सब्भंत, S सज्झंत ; 3 तत्तो(?) ; 4 S तच्चो ; 5 AB वाविंस ।

कंखापिवासणामा महकंखा यदिपिवासणामा य।
आदिमसेढीबद्धा चत्तारो होंति सीमंते ॥४७॥
पढमो अणिघणामो बिदिओ विज्जो तहा महाणिज्जो।
महविज्जो य चउत्थो पुव्वादिसु होंति घणणम्हि ॥४८॥
दुक्खा य वेदणामा महदुक्खा तुरिमया अ महावेदा।
तत्तिंदियस्स पदे पुव्वादिसु होंति चत्तारो ॥४९॥
आरिंदए णिसट्ठो पढमो बिदिओ वि अंजणणिरोधो।
तत्तिउय अदिणिसत्तो महणिरोधो चउत्थो त्ति ॥५०॥
तमकिंदए णिरुद्धो विमद्दणो यदिणिधुणामो[1] य।
तुरिमो महाविमद्दणणामो पुव्वादिसु दिसासु ॥५१॥
हिमइंदयम्हि होंति हु णीला पंका य तह य महणीणा।
महपंका पुव्वादिसु सेढीबद्धा इमे चउरा ॥५२॥
कालो रोरवणामो महकालो पुव्वपहुदिदिब्भाए।
महरोरउ[2] चउत्थो अवधिठाणस्स चिंतेदि ॥५३॥
अवसेसइंदयाणं पुव्वादिदिसासु सेढिबद्धाणं।
णत्थाइं णामाइं पढमाणं बिदियपहुदिसेढीणं ॥५४॥
दिसविदिसाणं मिलिदा अट्ठासीदजुदा य तिण्णि सया।
सीमंतएण जुत्ता उणणवदी समधिया होंति ॥५५॥

३८८ । ३८९ ।

उणणवदी तिण्णि सया पढमाए पढम पंथले[3] होंति।
बिदियादिसु हीअंते मायवियाए पुढं पंत्र ॥५६॥

३८९ ।

अट्ठाणं पि दिसाणं एक्केक्कं हीयदे जहाकमसो।
एक्केक्कहीयमाणे एरं जियं[4] होंति परिहाणे (?) ॥५७॥
इट्ठिंदियप्पमाणं रूऊणं[5] अट्ठताडिया णियमा।
उणणवदितिसएसुं अवणिय सेसो हवंति य प्पडला ॥५८॥

अथवा।

इत्थे[6] पदरविहीणा उणवण्णा अट्ठताडिया णियमा।
सा पंचरूवजुत्ता इच्छिदसेढिदया होंति ॥५९॥

1 यदिणिधुद (?), 2 महरोरवो (?) 3 पत्थले (?) 4 AB मंरजिवं, 5 रूऊणं (?), 6 BS इच्छे।

उद्दिट्ठं पंचूणं भजिदं अट्ठेहिं सोधए लद्धं ।
ऊणावरणाहिंतो सेसा तत्थिदया हांति ॥६०॥
आदीओ[1] णिद्दिट्ठा णियणियचरिमिंदयस्स परिमाणं ।
सव्वत्थुत्तरमट्ठं णियणियपदराणि गच्छाणि (?) ॥६१॥
तेणवदिजुत्तदुसया पणजुदुदुसया सयं च तेत्तीसं ।
सत्तत्तरि सगतीसं तेरस रयणप्पहादि आदीओ ॥६२॥

२९३ । २०५ । १३३ । ७७ । ३७ । १३ ।

तेरसएक्कारसणवसगपचतियाणि होंति गच्छाणि ।
सव्वट्ठुत्तरमंतं[2] रयणपहाए-पहुदिपुढवीसु ॥६३॥

१३ । ११ । ९ । ७ । ५ । ५ । सव्वदुट्ठर ॥S॥

चयहदमिक्कूणपदं रूवणित्थाए गुणिदचयजुत्तं ।
गुणिदं-चदणेण जुदं पददलगुणिदं हवेदि संकलिदं ॥६४॥
एक्कोणमवणइंदयमद्धियवग्गिज्जमूलसंजुत्तं ।
अट्ठगुणं पंचजुदं पुढविंदयताडिदंमि पुढविधणं ॥६५॥
पुढमा इंदयसेढी चउदालसयाणि होंति तेत्तीसं ।
छस्सयदुसहस्साणि पणणउदी बिदियपुढवीए ॥६६॥

४४३३ । २६९५ ।

तियपुढवीए इंदयसेढी चउदससयाणि पणसीदी ।
सत्तुत्तराणि सत्त य सयाणि ते होंति तुरिमाए ॥६७॥

१४८५ । ७०७ ।

पणसट्ठी दोण्णिसया इंदयसेढीए पंचमखिदीए ।
तेसट्ठी चरिमाए पंचाए होंति णायव्वा ॥६८॥

२६५ । ६३ । ५ ।

पंचादीअट्ठचयं[3] उणवरणा होदि गच्छपरिमाणं ।
सव्वाणं पुढवीणं सेढीबद्धिंदयाण इदमं ॥६९॥
चयहदमिट्ठाधियपदमेकाधिय[4]इट्ठगुणिदचयहीणं ।
दुगुणिदवदणेण जुदं पददलगुणिदंमि होदि संकलिदं ॥७०॥

1 S आदीउ, 2 S सव्वट्ठुत्तरमंत, 3 AB अट्ठचयं, 4 S-पहट्ठ-।

अथवा

अट्ठं तालं दलिदं गुणिदं अट्ठेहि पंचरूवजुदं ।
उणवण्णाए पहदं सव्वधणं होइ पुढवीणं ॥७१॥
इंदयसेढीबद्धा णवयसहस्साणि छस्सयाणं पि ।
तेवण्णं अधियाइं सव्वासु वि होंति खोणीसु ॥७२॥

९६५३

णियणियचरिमिंदयधणमेक्काणं होदि आदिपरिमाणं ।
णियणियपदरा गच्छा पचया सव्वत्थ अलद्धेव ॥७३॥
बाणउदिजुत्तदुसया दुसयं चउ सयजुदाण बत्तीसं ।
छावत्तरि छत्तीसं बारस रयणप्पहादि आदीउ ॥७४॥

२९२ । २०४ । १३२ । ७६ । ३६ । १२ ।

तेरसएक्कारसणवसगपंचतियाणि होंति गच्छाणि ।
सव्वत्थुत्तरमट्ठं सेढिधणे सव्वपुढवीणं ॥७५॥
पदवग्गं[1] चयपहिदं दुगुणिदगच्छेण गुणिदमुवजुत्तं ।
वड्ढि[2]हदपदविहीणं दलिदं जाणिज्ज संकलिदं ॥७६॥
चयपदमित्थूणपदं

१३३ । ८ ।

रूऊणेच्छाए गुणिदचयं

$\frac{१}{३}$ ८

जुदं

९

दुगुणिदेवादिसुगमं

चत्तारि सहस्साणि य चउस्सया वीस होंति पढमाए ।
सेढिगदा बिदियाए दुसहस्सा छस्सयाणि चुलसोदी ॥७७॥

४४२० । २६८४ ।

चोद्दसया छाहत्तरि तदियाए तह य सत्त सया ।
तुरिमाए सट्ठिजुदं दुसताणि पंचमिए होदि णायव्वं ॥७८॥

१४७६ । ७०० । २६० ।

1 S पदवग्गं । 2 S वड्ढि, छुड्ढि ?

प्रशस्ति-संग्रह

पं० के० भुजबली शास्त्री

मधुगिरि तालुक में अङ्गडि नामक स्थान से प्रादुर्भूत हुआ था। इसीका प्राचीन नाम शशकपुर रहा। यहाँ पर सळ नाम के सामन्त ने व्याघ्र से एक जैन मुनि की रक्षा करने के कारण पोयिसळ (होयिसळ) नाम प्राप्त किया। विद्वानों का कहना है कि प्रारंभ में यह वंश पहाड़ी था, पीछे विनयादित्य के उत्तराधिकारी बल्लाळ ने अपनी राजधानी शशकपुर से वेलूर में हटाली। द्वारसमुद्र (हळेबीडु) में भी उनकी राजधानी थी। इस वंश के विष्णुवर्द्धन के समय में होयिसळ नरेशों का प्रभाव बहुत ही बढ़ गया था। इसी समय गंगवाडि का पुराना राज्य भी सब उनके अधीन हो गया था और उन्होंने कई प्रदेशों को विजय-द्वारा हस्तगत कर लिया था। प्रारंभ में विष्णुवर्द्धन जैन रहा, किन्तु पीछे वैष्णव हो गया था। पर फिर भी इनका तथा इनके परिवार-वर्ग की जैनधर्म से सदा सच्ची सहानुभूति रही। होयिसळ राज्य पहले चालुक्य साम्राज्य के अन्तर्गत था, बाद नरसिंह के पुत्र वीरबल्लाळ के समय में यह राज्य स्वतन्त्र हो गया। यह वंश सदा से जैनियों का प्रधान पृष्ठ-पोषक रहा।

उल्लिखित राज्य की राजधानी ग्रन्थकर्त्ता ब्रह्मसूरि जी ने 'छत्र-त्रयपुरी' लिखा है। परन्तु ऐतिहासिक प्रमाणों से इस वंश की राजधानी सिर्फ तीन स्थानों में ही सिद्ध होती है; जिनके नाम क्रमशः (१) शशकपुर (२) वेलूरु (३) और द्वारसमुद्र या हळेबीडु हैं। पता नहीं कि सूरि जी द्वारा निर्दिष्ट छत्रत्रयपुरी कहाँ थी और कब इस राज्य के अन्तर्भुक्त हुई। संभव है कि द्वारसमुद्र को ही इन्होंने छत्रत्रयपुरी लिखा हो। क्योंकि एक जमाने में यह द्वार-समुद्र जैनियों का केन्द्र सा बन गया था। बल्कि कहा जाता है कि उन दिनों वहाँ साढ़े सात सौ भव्य जिनमन्दिर थे और वैष्णव धर्म स्वीकार करने के बाद विष्णुवर्द्धन ने ही इन भव्य मन्दिरों को तहस-नहस कर दिया। वहाँ के जिनमन्दिरों के ध्वंसावशेष से भी यह पता चलता है कि उल्लिखित घटना वास्तविक है। अब हळेबीडु में केवल आदिनाथ, शान्तिनाथ एवं पार्श्वनाथ तीर्थङ्कर के तीन ही मनोज्ञ मन्दिर रह गये हैं; जो भारतीय शिल्पकला के आदर्शभूत बने हुए हैं। कविवर हस्तिमल्ल जी के सुपुत्र निर्दिष्ट पार्श्वपण्डित के चन्द्रप, चन्द्रनाथ और वैजय्य नामक तीन पुत्र थे। इनमें चन्द्रनाथ और इनके परिवार पीछे हेमाचल (होन्नूरु) में जा बसे। अवशिष्ट दो भाई भी अन्यान्य स्थानों में जाकर बस गये। चन्द्रप के पुत्र विजयेन्द्र हुए और इन्हीं के सुपुत्र इस त्रैवर्णिकाचार ग्रन्थ के प्रणेता पण्डित ब्रह्मसूरि जी हैं।

सूरि जी ने पूर्वोक्त प्रतिष्ठाग्रन्थगत अपनी वंश-प्रशस्ति में अपने पूर्वजों का निवास-स्थान पाण्ड्य देशान्तर्गत 'गुडिपत्तन द्वीप' बतलाया है। वर्तमान तंजोर जिलान्तर्गत 'दीपनगुडि' का ही यह प्राचीन 'गुडिपत्तन द्वीप' होना बहुत कुछ सम्भव है। मालूम होता है कि

लेखक की कृपा से ही 'दीपन' का 'द्वीप' लिखा गया है। क्योंकि वहाँ पर द्वीप का होना किसी तरह से सिद्ध नहीं होता। इस स्थान में जैनियों का प्रभाव अच्छा रहा है।

जैन समाज के कुछ विद्वान् इस ग्रन्थ को प्रामाणिक मानने के लिये सहमत नहीं हैं। क्योंकि उनका कहना है कि जैन सिद्धान्त के प्रतिकूल श्राद्ध, तर्पण, गो-दान आदि कई बातें इस में विधिरूप में पायी जाती हैं। उन विद्वानों का कहना है कि ब्रह्मसूरि जी के मूल पूर्वज हिन्दू धर्मावलम्बी थे—इससे इनके रचे ग्रन्थ पर हिन्दुत्व की छाप पड़ गयी है। कुछ विद्वान् इस आक्षेप का उत्तर यह देते हैं—प्रत्येक धर्म पर देश, काल आदि का बिना प्रभाव पड़े नहीं रह सकता, इसलिये इस अनिवार्य नियमानुसार बहुत कुछ सम्भव है कि बहुसंख्यक हिन्दू समाज में अपनी सत्ता कायम रखने और हिन्दुओं से सहानुभूति प्राप्त करने के लिये तात्कालिक कुछ जैनग्रन्थ-कर्त्ताओं को कुछ आचार ग्रन्थों में आपद्धर्म के रूप में उनका उद्देश जैनधर्मके अनुकूल बना कर स्थान देना पड़ा होगा।

---

(२५) ग्रन्थ नं० $\frac{२२०}{ख}$

रत्नमञ्जूषा

कर्त्ता ×

विषय छन्द

भाषा--संस्कृत

लम्बाई ८। इञ्च *चौडाई ६॥। इञ्च* *पत्रसंख्या ६५*

प्रारम्भिक भाग –

यो भूतभव्यभवदर्थयथार्थवेदी देवासुरेन्द्रमुकुटार्चितपादपद्मः।
विद्यानदीप्रभवपर्वत एक एव तं लोकबन्धुमगणं प्रणमामि वीरम् ॥

मायाका—मायाका इत्यस्य सर्वगुरुविकस्य आकारः संज्ञा भवति ककारो वा स्वरोन्त्यस्तदन्तस्य व्यञ्जनं चेतिवचनात्। सूचिमुखिया इत्याकारस्य भद्रविराड्यिकिरे इति ककारस्य। अत्रैव माया इति गुरुद्वयस्य यकारः संज्ञा भवति व्यञ्जनञ्च तदन्तस्येति वचनादेवायिष्टनिनि। पुनश्च अत्रैव मा इति गुर्वन्तस्य मकारः संज्ञा भवति। व्यञ्जनं च

तदन्तस्येति वचनादेव। म इति अक्षरे एकस्मिन्नप्याद्यन्तवद्भावात्। संयोगे नपिमिति। अत्राह—नत्वाकारादयस्तेषामेवाक्षराणां संज्ञा यथा वृद्धिरादैजिति वृद्धिसंज्ञा तेषामेवाक्षराणां इति न तद्रूपसंज्ञाकरणे प्रयोजनाभावात्तन्मात्राणाम्। यान्यत्र तेषु त्रिकेष्वक्षराण्युपदिष्टानि तेषां संज्ञाकरणानि प्रयोजनमितितन्मात्राणां सर्वासां संज्ञास्ताः प्रत्यवगन्तव्याः। अथवा शालिनि मालयेदित्यत्र छेदवचनं ज्ञापकमन्येषां इति तन्मात्राणां संज्ञा इति। यदि तेषामेव संज्ञा मायाका इति छेदवचनमनर्थकं भवति तस्मात्तन्मात्राकरणमेव।

× × × ×

मध्य भाग (पृष्ठ ४६ पंक्ति ३०)

उपेन्द्रवज्रा शंर—यदि शंर इति न्यासो भवति, भवति उपेन्द्रवज्रा नाम।

उपे द्रवज्रायुतपाण्डवेषु स्थिरेष्वपि ख्यातपराक्रमेषु।
पुराभिमन्युं यदि चेज्जयेर्ना तथद्रथो स्ताति कश्चमन्यः॥

इन्द्रमाला द्वयम्—यदीन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रे सहैकस्मिन् श्लोके भवतः। भवति इन्द्रमाला नाम।

अम्लानमाला सुरसुन्दरीभिः वृतेन्द्रमाला च्यवते दिवश्चेत्।
कालेन नार्या इव भुक्तमाला मत्या वयं किं जलबुद्बुदाभाः॥

दोधकं लुंर—यदि लुंर इति न्यासो भवति, भवति दोधकं नाम।

कालविधाविव नाटकवृत्तं दर्शयितुं भुवि सर्वजनेभ्यः।
अम्बररंगमसौ गिरिकूटात् सूर्यनटः प्रविशन्निव भाति॥

रथोद्धता तिलौ—यदि तिलाविति न्यासो भवति, भवति रथोद्धता नाम।

सर्वभावविधितत्त्वदर्शिनः सर्वसत्त्वहितधर्मदेशिनः।
अर्हतोऽहमघराशिनाशिनः संस्तुवे त्रिभुवनप्रकाशिनः॥

स्वागता तिले—यदि तिले इति न्यासो भवति, भवति स्वागता नाम।

धर्मतीर्थकरमुख्य नमस्ते नाथ नष्टभवबीज नमस्ते।
वृद्धसर्वजनवृत्त नमस्ते हेमनाभजिनमान नमस्ते॥

× × × ×

अन्तिम भाग :—

एकद्व्यादिलगक्रियांकसमसंख्यानेषु कोष्ठान्तरे-
ष्वेकादीन्द्विगुणानधो विरचयेत्तांश्चोर्ध्वमेकोनकान्।
इत्यन्तावधिमेरुरेष महितः स्याद्वर्धमानाह्वयः
छन्दःस्वेकलगादिवृत्तजननस्थानं त्विह ज्ञायते॥९॥

एकद्व्यादिलगक्रियामगणनामानप्रमाणालये-
र्मेरुक्ष्माधरवद्विरच्य खटिकोत्कीर्णैस्तथाद्यालये।
वृत्तं न्यस्य तदादिमं द्विगुणयंस्तस्याप्यधः स्थापये-
देकोनेन तदोपरि परिलिखेदेवं हि मेरुक्रिया ॥१०॥

खण्डमेरुप्रस्तारो यथा—

संकामेकगणोज्ज्वलामभिमतच्छन्दोऽङ्गागारिका-
मेकां श्रीणिमुपत्तिपन्नधरतोऽप्येकैकहीनाश्च ताः।
ऊर्ध्वं द्विद्विगृहांकमेलनमधोधः स्थानकेष्वालिखे-
देकच्छन्दसि खण्डमेरुरमलः पुंनागचन्द्रोदितः ॥११॥

एतत्प्रयोक्तक्रमेण प्रस्तारे कृते विवक्षितच्छन्दसः लगक्रियया सह ततः पूर्वस्थितसकल-छन्दसां लगक्रियाः सर्वाः समायान्तीत्यर्थः ॥

(इसके नीचे प्रस्तार के तीन कोष्ठक भी हैं)

दिगम्बर जैन-साहित्य-भाण्डार में छन्दोग्रन्थ-सम्बन्धी अजितसेन के छन्दःशास्त्र, वृत्तवाद एवं छन्दःप्रकाश, आशाधर के वृत्तप्रकाश, चन्द्रकीर्ति के छन्दःकोष (प्राकृत) एवं वाग्भट के प्राकृतपिङ्गल सब ये ही नाम मिलते हैं। परन्तु इन में अभीतक कोई ग्रन्थ मुद्रित नहीं हुआ है। अब यहाँ प्रस्तुत पुस्तक 'रत्न-मंजूषा' की बात। पं० नाथूराम जी प्रेमी के द्वारा संगृहीत "दिगम्बर जैनग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ" इस ग्रन्थतालिका में इसके कर्त्ता हेमचन्द्र कवि बतलाये गये हैं। परन्तु इस छन्दोग्रन्थ के अन्तिम भाग के अन्तिम श्लोकान्तर्गत 'पुन्नागचन्द्रोदितः' इस वाक्य से तो ज्ञात होता है कि पुंनागचन्द्र या नागचन्द्र ही इसके प्रणेता हैं। प्रेमी जी के कथनानुसार अगर इस 'रत्नमंजूषा' के रचयिता हेमचन्द्र कवि होते तो 'पुन्नागचन्द्रोदितः' के स्थान पर बड़ी आसानी से 'श्रीहेमचन्द्रोदितः' लिख देते। क्योंकि ऐसा करने से छन्दोभंग का उन्हें जरा भी भय नहीं रह जाता था। साधनाभाव से इस समय इसके कर्त्ता के बारे में कुछ भी प्रकाश नहीं डाला जा सका। यदि थोड़ी देर के लिये अर्थात् प्रेमी जी ने किस आधार पर इस का कर्त्ता हेमचन्द्र कवि लिखा है—यह बात जब तक स्पष्ट नहीं होती तब तक के लिये नागचन्द्र को ही इसका प्रणेता माना जाय तो महाकवि धनंजय-कृत विषापहार-स्तोत्र के संस्कृत टीकाकार कवि नागचन्द्र* की ओर मेरी दृष्टि कुछ कुछ आकृष्ट हो जाती है। पर यह एक अनुमान

* देखें—'प्रशस्ति-संग्रह' पृष्ठ ३७।

मात्र है। जब तक इस सम्बन्ध में कोई सबल प्रमाण नहीं मिलता है तबतक इसे कोई मानने को तैयार क्योंकर हो सकता है ?

अब रहा इस छन्दोग्रन्थ का विषय। यह ग्रन्थ छोटे छोटे आठ अध्यायों में विभक्त है। इस प्रति को मैसूर राजकीय 'प्राच्यपुस्तकागार' से मैंने ही कन्नड लिपि से नागराक्षर में प्रतिलिपि कराई थी। इसके अष्टम अध्याय का कुछ अंश लुप्त सा ज्ञात होता है। इस लुप्तांश के बाद ही तीन पृष्ठों में मेरुसम्बन्धी प्रस्तार के पद्यबद्ध लक्षण सकोष्ठक दिये गये हैं। कवि ने इस ग्रन्थ में प्रायः प्रत्येक छन्द पर अच्छा प्रकाश डाला है। इसके छन्दो-लक्षण पिंगलसूत्र के समान सूत्रमय है जो नितांत स्वतन्त्र है। छन्दों के दिये गये दृष्टांतों में यत्र-तत्र जैनत्व की छाप सुस्पष्ट प्रतिभासित होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस के कर्त्ता काव्यशास्त्र के एक उद्भट मर्मज्ञ थे। इसकी अन्यान्य प्रतियाँ जहाँ तहाँ से अन्वेषण एवं मिलान कर इस रत्नभूत 'रत्नमंजूषा' के प्रकाशन से दिगम्बर जैनसाहित्य के एक अङ्ग की पूर्त्ति हो जायगी। अन्यान्य पुस्तक-प्रकाशन-संस्थाओं और जैन परीक्षालयों को इस ओर अवश्य ध्यान देना चाहिये। क्योंकि आजतक सभी जैन परीक्षालयों के पाठ्य ग्रन्थों में जैनेतर छन्दोग्रन्थ ही समाविष्ट होते आ रहे हैं।

---

(२६) ग्रन्थ नं० $\frac{२३७}{ख}$

सरस्वतीकल्प

कर्त्ता—मलयकीर्त्ति

विषय—मंत्रशास्त्र

भाषा—संस्कृत

लम्बाई ६।।। इञ्च चौडाई ६ इञ्च पत्रसंख्या ७

प्रारम्भिक भाग—

बारहअंगं गिज्झा दंसणतिलया चरित्तवत्थहरा।
चउदसपुव्वाहरणा ठावे दव्वाय सुददेवी ॥
आचारशिरसं सूत्रकृतवक्त्रां (सरस्वतीं) सकण्ठिकाम्।
स्थानेन समयोदग्र (स्थानांगसमवायांघ्रि तां) व्याख्याप्रज्ञप्तिदोर्लताम ॥

वाग्देवतां ज्ञातृकथोपासकाध्ययनस्तनीम् ।
अन्तकृद्दशसन्नाभिमनुत्तरदशांगताम् ॥
मुनितम्बां सुजघनां प्रश्नव्याकरणाश्रिताम् ।
विपाकसूत्रदृग्वादचरणां चरणाम्बराम् ॥
सम्यक्त्वतिलकां पूर्वचतुर्दशविभूषणाम् ।
तावत्प्रकीर्णकोद्दीर्णचारुपत्राङ्कुरश्रियम् ॥

× × ×

मध्य भाग (पूर्व पृष्ठ ३, पंक्ति ७)

स्याद्वादकल्पतरुमूलविराजमानां रत्नत्रयाम्बुजसरोवरराजहंसीम् ।
अङ्गप्रकीर्णकचतुर्दशपूर्वकाद्यामाम्नायवाङ्मयवधूमहमाह्वयामि ॥

शारदाभिमुखीकरणम्—

अविरलशब्दमहौघा प्रक्षालितसकलभूतलकलङ्का ।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितम् ॥
ॐ ह्रीं श्रीं मन्त्ररूपे विबुधजननुते देवि देवेन्द्रवन्द्ये
चञ्चच्चन्द्रावदाते क्षपितकलिमले हारनीहारगौरे ।
भीमे भीमाट्टहासे भवभयहरणे भैरवि भीरु धीरे
ह्रां ह्रीं हूं कारनादे मम मनसि सदा शारदे तिष्ठ देवि ॥

× × × ×

अन्तिम भाग —

परमहंसहिमाचलनिर्गता सकलपातकपंकविवर्जिता ।
अमितबोधपयःपरिपूरिता दिशतु मेऽभिमतानि सरस्वती ॥
परममुक्तिनिवाससमुज्ज्वलं कमलयाकृतवासमनुत्तमम् ।
वहति या वदनाम्बुरुहं सदा दिशतु मेऽभिमतानि सरस्वती ॥
सकलवाङ्मयमूर्त्तिधरा परा सकलसत्त्वहितैकपरायणा ।
······ ··नारदतुम्बुरुसेविता दिशतु मेऽभिमतानि सरस्वती ॥
मलयचन्दनचन्द्ररजःकणा प्रकरशुभ्रदुकूलपटावृता ।
विशदहंसकहारविभूषिता दिशतु मेऽभिमतानि सरस्वती ॥
मलयकीर्त्तिकृतामितिसंस्तुतिं (पठति यो) सततं मतिमान्नरः ।
विजयकीर्त्तिगुरुकृतमादरात् स मतिकल्पलताफलमश्नुते ॥

इस 'सरस्वतीकल्प' के अन्तिम पद्य से इसके रचयिता मलयकीर्त्ति ज्ञात होते हैं। साथ ही साथ इसी पद्य से यह भी विदित होता है कि यह मलयकीर्त्ति प्रायः विजयकीर्त्ति-गुरु के शिष्य हैं। पर "विजयकीर्त्तिगुरुकृतमादरात्" इस चतुर्थ चरण का सम्बन्ध किसके साथ है—यह अभी ठीक नहीं समझ पड़ता। बहुत कुछ संभव है कि इस श्लोक की प्रतिलिपि करने में लेखक ने भूल की हो। इसलिये जबतक इसकी शुद्ध प्रति नहीं मिलती तबतक सन्देह-निवृत्ति होती नहीं दीख पड़ती।

अस्तु, 'एपिग्राफिका कर्नाटिका' जिल्द ८ के शिलालेख नं० १०४ में एक विजयकीर्त्ति-गुरु का उल्लेख मिलता है। मलयकीर्त्ति के द्वारा प्रतिपादित विजयकीर्त्तिगुरु यदि यही हों तो उक्त शिलालेख के ही आधार से इनका समय सन् १३५४ अर्थात् १४ वीं शताब्दी सिद्ध होता है।* अतः इस सरस्वतीकल्प के रचयिता मलयकीर्त्ति का समय भी लगभग यही होना चाहिये। अस्तु, अर्हद्दास-रचित भी एक 'सरस्वतीकल्प' सुना जाता है। वह इससे भिन्न होना चाहिये। इस कृति के आदि और अन्त में 'सरस्वतीकल्प' लिखा मिलता है। मन्त्रशास्त्र में कल्प का लक्षण यों बतलाया है—जिन ग्रन्थों में मन्त्र-विधान, यन्त्र-विधान, मन्त्र-यन्त्रोद्धार, बलिदान, दीपदान, आह्वान, पूजन, विसर्जन और साधनादि बातों का वर्णन किया गया हो वे ग्रन्थ 'कल्प' कहलाते हैं।† प्रधानतया इस प्रस्तुत कृति को एक मंत्र-स्तोत्र ही कहना चाहिये। फिर भी यन्त्रोद्धार, जाप्य एवं होममन्त्र आदि का इसमें उल्लेख पाया जाता है—इसी से ज्ञात होता है कि इसके रचयिता ने कल्पनाम की सार्थकता समझी होगी। मंत्रशास्त्र के जिज्ञासुओं के लिये इसके निम्नलिखित कतिपय श्लोक उपयोगी हैं :—

> "जाप्यकाले नमःशब्दं मन्त्रस्यान्ते नियोजयेत् ।
> तदन्ते होमकाले तु स्वाहा शब्दं नियोजयेत् ॥
> सवृन्तकं समादाय प्रसूनं ज्ञानमुद्रया ।
> मन्त्रमुच्चार्य सन्मन्त्री मुञ्चेदुच्छ्वासरेचनात् ॥
> महिषाक्षगुग्गुलेन प्रविनिर्मितचणकमात्रवटिकानां ।
> मधुरत्रययुक्तानां होमैर्वागीश्वरी वरदा ॥
> दिक्कालमुद्रासनपल्लवानां भेदं परिज्ञाय जपेत् स मन्त्री ।
> न चान्यथा सिध्यति तस्य मन्त्रः कुर्वन् सदा तिष्ठतु जाप्यहोमम् ॥

* देखें—'मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैन स्मारक' पृष्ठ ३११

† मन्त्रशास्त्र के विषय में विशेष बात जानने के इच्छुक विद्वान् भास्कर भाग ४, किरण १ में प्रकाशित 'जैनमन्त्र-शास्त्र' शीर्षक लेख देखें।

द्वादशसहस्रजाप्यैर्दशाङ्गहोमेन सिद्धिमुपयाति ।
मन्त्रो गुरुप्रसादात् ज्ञातव्यस्त्रिभुवने सारः ॥
अकारोऽनन्तवीर्यात्मा रेफो विश्वावलोकदृक् ।
हकारः परमो बोधो बिन्दुः स्यादुत्तमं सुखम् ॥
नादो विश्वात्मकः प्रोक्तो बिन्दुः स्यादुत्तमं पदम् ।
कलापीयूषनिःस्यन्दीत्याहुरेवं जिनोत्तमाः ॥"

इसकी रचना साधारणतया अच्छी है ।

----

(२७) ग्रन्थ नं० २४१/ख

वज्रपंजराधना-विधान

कर्त्ता— ×

विषय—आराधना

भाषा—संस्कृत

लम्बाई ६॥। इञ्च चौड़ाई ६ इञ्च पत्रसंख्या ६

प्रारम्भिक भाग—

चन्द्रपुराम्बुधिचन्द्रं चन्द्राकं चन्द्रकान्तसंकाशम् ।
चन्द्रप्रभजिनमंचे कुन्देन्दुस्फारकीर्त्तिकान्ताशान्तम् ॥
ॐ ह्रीं चन्द्रप्रभ जिनदेवागच्छ—
तीर्थापनीतैर्नमसारशीतैः पातप्रपातैः घुसृणाग्रपेतैः ।
चन्द्रप्रभाभास्करदिव्यदेहं महामि चन्द्रप्रभतीर्थनाथम् ॥
ओं ह्रीं चन्द्रप्रभजिनदेवाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।
सुगन्धसारैर्घनगन्धसारैः सिताभ्रभारैः सितधामगौरैः ।
चन्द्रप्रभाभास्करदिव्यदेहं महामि चन्द्रप्रभतीर्थनाथम् ॥ गन्धम्
शाल्यक्षतैरक्षतमौक्तलक्ष्मीकटाक्षविक्षेपवलक्षकक्षैः ॥
चन्द्रप्रभाभास्करदिव्यदेहं महामि चन्द्रप्रभतीर्थनाथम् ॥ अक्षतान्

× × × ×

वैद्य-सार

पं० सत्यन्धर जैन, आयुर्वेदाचार्य

इसका काली मिर्च तथा महुए के फूल के साथ सेवन करने से तेरह प्रकार का सन्निपात दूर हो जाता है। इस गोली को एक मास तक लगातार सेवन करने से सब प्रकार की व्याधि शांत हो जाती है। यह श्रीपूज्यपाद स्वामी की कही हुई प्रभावती बटी है।

११६—ज्वरादौ लघुज्वरां-कुशः

रसगंधकताम्राणां प्रत्येकं चैकभागकम् ।
खल्वे सूर्याग्निभागांशं हयारिं धूर्तबीजयोः ॥ १ ॥
मातुलुंगरसेनैव मर्दयेद्वासर-त्रयम् ।
कासमर्दकतोयेन सिद्धोऽयं जायते रसः ॥ २ ॥
निंबमज्जार्द्रकरसैः वल्लो देयः त्रिदोषजित् ।
ज्वरे दध्योदनं पथ्यं शाकः स्यात्तण्डुलीयकः ॥ ३ ॥
सर्वज्वरविघ्नोऽयं त्वानुपानविशेषतः ।
लघुज्वरांकुशो नाम पूज्यपादेन भाषितः ॥ ४ ॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, तामे की भस्म, ये तीनों एक एक भाग, शुद्ध कनेर की जड़ १२ भाग एवं शुद्ध धतूरे के बीज ३ भाग इन सब को एकत्रित कर बिजौरा नीबू और कसौंदन के रस में ३ दिन तक मर्दन कर एक एक रत्ती की गोली बांध लेवे, फिर नीम की निबोड़ी की गिरी तथा अदरख के साथ तीन गोली देवे तो त्रिदोषज ज्वर भी शान्त होवे। इस रस के ऊपर दही भात का भोजन करना तथा चौलाई का शाक खाना चाहिये। यह लघु ज्वरांकुश अनुपान-भेद से सब ज्वरों को नाश करनेवाला श्रीपूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

११७—अनेकरोगे त्रिलोक-चूड़ामणि-रसः

पारदं टंकणं तुत्थं विषं लांगलिकं तथा ।
पुत्रजीवस्य मज्जा च गंधकं गुंजपत्रकम् ॥१॥
देवदाल्या रसैमर्द्यः त्रिपादीरसमर्दितः ।
विष्णुक्रांतानागदंतीधत्तूरनागकेशरैः ॥२॥
मर्दनं दिनमेकं तु वटबीजप्रमाणकम् ।
जंबीररसतो लेह्यं पानलेपननस्यके ॥३॥

अंजनं सर्वकार्ये वा ज्वरज्वालाशताकुले।
ब्रह्मराक्षसभूतादिशाकिनीडाकिनीगणा-॥४॥
कालवज्रमहादेवीमदमातंगकेशरि—
वृषभादि सुसंस्थाप्य श्रीदेवीश्वरसूरिणाम्॥५॥
पूजनं चाशु कृत्वा च यथायोग्यं प्रकल्पयेत्।
कथितोऽयं त्रिलोकस्य चूड़ामणिमहारसः॥६॥
पार्श्वनाथस्य मंत्रेण स्तंभोभवति तत्क्षणम्।
पूज्यपादेन कथितः सर्वमृत्युविनाशनः॥७॥

टीका—शुद्ध पारा, सुहागे की भस्म, तृतिया की भस्म, शुद्ध विष, लांगली (कलिहारी) की जड़, जियापोता की रींगी, शुद्ध आँवलासार गंधक तथा गुंजावृक्ष के पत्ते इन सब को बराबर-बराबर लेकर पहले पारे, गंधक की कज्जली बनावे; पीछे और सब दवाइयाँ अलग अलग कूट-कपड़-छन करके मिलावे तथा देवदाली, हंसराज, हुल्हुल नागदौन, धतूरा, नागकेशर इन सबके स्वरस में अथवा क्वाथ में एक-एक दिन अलग घोंटे और बट के बीज-समान गोली बनाकर जंभीरी के रस के साथ सेवन करावे। मूर्छावस्था में नास भी देवे, आवश्यकता आने पर या सन्निपात की दशा में अञ्जन भी लगावे। इसका सेवन करने से कठिन से कठिन ज्वर भी शांत होता है। इसका जब सेवन करे तब ब्रह्मराक्षस, डाकिनी, शाकिनी इत्यादि व्यन्तर-रूपी मातंग के लिये सिंह सदृश श्रीजिनेन्द्र देव की स्थापना करके पूजन करे तो शीघ्र ही लाभ होता है और श्रीपार्श्वनाथ स्वामी के मंत्र से तो उसी क्षण रोग का स्तम्भन होता है। यह तीन लोक का शिरोमणि त्रिलोक चूड़ामणि रस पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ अपमृत्यु का नाश करनेवाला है।

११८—सर्वज्वरे ज्वरांकुशरसः

पारदं गंधकं ताप्यं टंकणं कटुकत्रयम्।
चित्रकं निंबबीजानि यवक्षारं च तालकम्॥१॥
एरंडबीजसिंधूत्थं हारीतक्यं समांशकम्।
शुद्धस्य वत्सनाभस्य पंचभागं च निक्षिपेत्॥२॥
जैपालं द्विगुणं चैव निर्गुण्ड्याः मर्दयेद्द्रवैः।
दशव्रीहिसमो देयः सर्वज्वरगजांकुशः॥३॥
पृथिव्या चाजमोदेन पिष्टैश्च सहितं जलैः।
ज्वरादिष्वपि रोगेषु सर्वेषु हितकृद्भवेत्॥४॥

अनुपानविशेषेण सर्वरोगेषु योजयेत् ।
पथ्या शुंठीं गुडं चानु चार्शरोगे प्रयोजयेत् ॥५॥
क्षीरान्नमाज्यं भुंजीत शिम्रुतोयेन पाययेत् ।
आर्द्रकस्य रसेनापि यथादोषविशेषिते ॥६॥
शीतज्वरे सन्निपाते तुलसीरससंयुतः ।
मरिचेन सहितश्चासौ सर्वज्वरविषापहः ॥७॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, सोने की भस्म, सुहागा, सोंठ-मिर्च, पीपल, चित्रक, नीम के बीज, जवाखार, तबकिया हरताल की भस्म, अगडी के बीज, सेंधा नमक, बड़ी हर्र का छिलका ये सब बराबर-बराबर लेवे और शुद्ध वच्छनाग, पाँच भाग, शुद्ध जमालगोटा २ भाग, इन सब को एकत्रित कर के नेगड़ के स्वरस में घोंटे एवं दस-दस चावल के बराबर बड़ी इलायची तथा अजमोदा के पानी के साथ देवे तो सब प्रकार के ज्वर शांत होवे। यदि बवासीर रोग में देना हो तो हर्र, सोंठ, गुड़ का अनुपान देवे और दूध-भात का भोजन करावे। शीतज्वर में मुनक्का के काढ़े से तथा अदरख के के साथ, सन्निपात में तुलसी के रस के साथ एवं विषमज्वर में काली मिर्च के साथ देवे। यह रस सर्व ज्वरों को नाश करता है।

१२९—प्रमेहे बंगेश्वररसः

मृतं च वंगभस्मं च नाकुलीबीजमभ्रकम् ।
शिलाजतु लोहभस्म कनकं कतकबीजकम् ॥१॥
गुडूचीत्रिफलाक्वाथैः मर्दयेद्गुटिकां दिनं ।
बंगेश्वररसो नाम चानुपानं प्रकल्पयेत् ॥२॥
कपित्थफलद्राक्षा च खर्जूरीयष्टिकेन च ।
नष्टेन्द्रियं च दाहं पित्तज्वरपथश्रमम् ॥३॥
मेहानां मज्जदोषाणां नाशको नात्र संशयः ।
सर्वप्रमेहविध्वंसी पूज्यपादेन भाषितः ॥४॥

टीका—शुद्ध पारे की भस्म, वंगभस्म, रासना के बीज, अभ्रक-भस्म, शुद्ध शिलाजीत, लौह भस्म, सोने की भस्म, कतक के बीज, निर्मली इन सब को एकत्रित कर के गुर्च तथा त्रिफला के काढ़े से दिन भर मर्दन करे तो यह बंगेश्वर रस तैयार हो जाता है। इसको सेवन कराने के लिये वैद्यगण अनुपान की कल्पना करें अथवा कवीट, मुनक्का, खजूर,

मुलहठी इन सब के अनुपान से उसको सेवन करावे। इसके सेवन कराने से इन्द्रिय की कमजोरी, दाह, पित्तज्वर, मार्ग में चलने की थकावट, सर्व प्रकार के प्रमेह, मज्जा, धातु के दोष इन सब को नाश करनेवाला है, इसमें कुछ संदेह नहीं है। यह सब प्रकार के प्रमेहों को दूर करनेवाला श्रीपूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

१२०—सर्वज्वरे मृत्युञ्जयरसः

रसगंधकौहि जयपालः तालकश्च मनःशिला।
ताम्रश्च माक्षिकः शुंठीमुसलीरसमर्दितः ॥१॥
कुक्कुटे च पुटे सम्यक् पक्तव्यः मृदुवह्निना।
स्वांगशीतलमुद्धृत्य गुंजामात्रप्रमाणकम् ॥२॥
शुद्धशर्करया खादेत् शीततोयानुपानतः।
पथ्ये क्षीरं प्रयोक्तव्यं दधि वापि यथारुचि ॥३॥
संततादिज्वरघ्नोऽयमनुपानविशेषतः।
मृत्युञ्जयरसश्चासौ पूज्यपादेन भाषितः ॥४॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, शुद्ध जमालगोटा, हरताल भस्म, शुद्ध मैनशिल, तामे की भस्म, शुद्ध सोनामक्खी, सोंठ इन सब को मुसली के रस से मर्दन करे तथा कुक्कुट पुट में पाक करे और ठंढ़ा होने पर निकाल कर एक-एक रत्ती के प्रमाण से मिसरी की चासनीके साथ शीतल जलके अनुपान से सेवन करावे। पथ्य में दूध देवे तथा रोगी को अरुचि होवे तो दधि भी खिलावे (?)। यह संततादि ज्वरों को नाश करनेवाला मृत्युञ्जय रस पूज्यपाद स्वामीने कहा है।

मतान्तर

ताप्यतालकनेपाल-वत्सनामं मनःशिला। ताम्रगन्धकसूताश्च मुसलीरसमर्दिताः ॥
मृत्युञ्जय इति ख्यातः कुक्कुटीपुटपाचितः। वल्लद्वयम् प्रभुंजीत यथेष्टं दधि भोजनम् ॥
नवज्वरं सन्निपातं हन्यादेष महारसः ॥

१९ तरहका मृत्युञ्जय रस है यह १४ के पाठ से मिलता है। एक चीज का फर्क है, इस में सोंठ है उसमें सिंगिया लिखा है। इस ग्रन्थ के रस रसरत्न-समुच्चय, रससुधाकर, रसपारिजात से अधिक मिलते हैं। रसरत्नसमुच्चय बौद्धों का बनाया हुआ ग्रन्थ प्रसिद्ध है; मुमकिन है यह उसी समयका हो।

१२१—शीतज्वरे शीतभंजरसः

पारदं रसकं तालं शिला तुत्थं च टंकणम् ।
गन्धकं च समं पिष्ट्वा कारवेल्ल्या रसैर्दिनम् ॥ १ ॥
शिग्रुमूलरसैः पिष्ट्वा निर्गुण्डी स्वरसेन च ।
ताम्रपत्रे प्रलिप्वा च भाण्डे पत्रमधोमुखम् ॥ २ ॥
कृत्वा रुद्ध्वा मुखं तस्य वालुकाभिः प्रपूरयेत् ।
पश्चादग्निना तुल्या ताम्रपत्रस्य रक्तता ॥ ३ ॥
एवं पुटत्रयं दद्यात् स्वांगशीतलमुद्धरेत् ।
ताम्रपत्रं समुद्धृत्य चूर्णयेन्मरिचं समम् ॥ ४ ॥
शीतभंजरसो नाम पर्णखंडरसेन च ।
शीतज्वरविषघ्नोऽयं पूज्यपादेन भाषितः ॥ ५ ॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध खपरिया की भस्म, हरताल की भस्म, शुद्ध शिला, शुद्ध तूतिया की भस्म, टंकण भस्म, शुद्ध गन्धक इन सबको बराबर-बराबर लेकर खरल में एकत्रित करके करेले के पत्तों के रस से एक दिन भर घोंटे तथा एक दिन मुनगा के स्वरस से घोंटे, एक दिन नेगड़ के रस से घोंटे और शुद्ध पतले तामे के पत्रों पर लेप करके एक हंडी में रख कर नीचे को मुख करके उसका मुख बन्द करके बाकी की जगह बालू से पूर्ण कर नीचे से अग्नि जलावे, जब वह तामे का पत्र लाल वर्ण हो जाय तब निकाल लेवे। इस प्रकार तीन पुट देवे, जब ठीक पाक हो जाय तामे के पत्रों को निकाल कर सब चूर्ण बना कर रख लेवे और काली मिर्च बराबर मिला कर पान के रस के साथ यथा योग्य मात्रा से यह शीतज्वर रूपी विष को नाश करनेवाला शीतभंज रस पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

१२२—श्वासादौ अमृतसंजीवनो रसः

सूतश्च गन्धको लौहो विषश्चित्रकपत्रकौ ।
विडंगं रेणुका मुस्ता चैला ग्रन्थिककेशरौ ।
त्रिकटुस्त्रिफला चैव शुल्वभस्म तथैव च ॥
एतानि समभागानि द्विगुणं गुडमेव च ।
तोलप्रमाणवटिकाः प्रातःकाले च भक्षयेत् ॥
श्वासे कासे क्षये मेहे शूलपांडुगुदांकुरे ।

चतुरशीतिवातेषु योजयेन्नात्र संशयः ॥
अमृतसंजीवनो नाम पूज्यपादेन भाषितः ॥ ४ ॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक, लोह भस्म, शुद्ध विष, चित्रक, तेजपत्र, वायविडंग, रेणुका बीज, नागर मोथा, छोटी इलायची, पीपरामूल, नागकेशर, सोंठ, मिर्च, पीपल, त्रिफला, तामे की भस्म, इन सबका बराबर-बराबर लेकर सबके दुगुना पुराना गुड़ लेकर गोली बनावे तथा प्रातःकाल में अनुपान-विशेष से सेवन करे तो श्वास, खांसी, राजयक्ष्मा, प्रमेह, शूलोदर, पांडु रोग, बवासीर तथा ८४ प्रकार के वायु रोग शांत होते हैं। यह अमृतसंजीवन रस भी पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

१२३—विबंधे नाराचरसः

अष्टौ निस्तुषजैपालशुद्धं भागत्रयं नागरं ।
द्वे गंधे मरिचं च टंकणरसौ भागैकमेकं पृथक् ॥
गुञ्जामात्रमिदं विरेचनकरं देयं च शीतांबुना ।
गुल्मप्लीहमहोदरादिशमनो नाराचनामा रसः ॥ १ ॥

टीका—आठ भाग शुद्ध जमालगोटाके बीज तीन भाग सोंठ, दो भाग शुद्ध गन्धक, काली मिर्च, सुहागा, शुद्ध पारा एक-एक भाग खरल में डाल कर खूब घोंटे तथा एक-एक रत्ती की मात्रा से शीतल जलके अनुपान से सेवन करावे तो इस से गुल्म, प्लीहा और उदर-रोग शांत होता है।

१२४—शीतज्वरे शीतमातंगसिंहरसः

रसविषशिखि तुत्थं खर्परं चैकभागम् ।
अनलद्विकसमानभागमेतत्क्रमेण ॥
कनकदलरसेन पीतगुंजैकमात्रः ।
परिमितगुटिकः स्यात् शीतमातंगसिंहः ॥ १ ॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध विषनाग तूतिया की भस्म, खपरिया भस्म एक-एक भाग, चित्रक दो भाग इन सब को एकत्रित करके धतूरेके रस से घोंटे तथा एक-एक रत्ती प्रमाण सेवन करे तो इससे शीतज्वर दूर होवे।

१२५—ज्वरादौ प्राणेश्वररसः

भस्म सूतं यदा कृत्वा माक्षिकं चाभ्रमस्त्रकम् ।
शुल्वभस्मापि संयोज्य भागसंख्याक्रमेण च ॥
तालमूलीरसं दत्वा शुद्धगंधकमिश्रितम् ।
मर्दयेत् खल्वमध्ये च नितरां यामयोर्द्वयम् ॥
निक्षिप्य काचकूप्यां च मुद्रया कूपिकां तथा ।
खटिकामृदं समादाय लेपयेत् सप्तवारकम् ॥
विपरीतं परिस्थाप्य पूरयेत् बालुकामयम् ।
यंत्रं प्रज्वालयेद्यामं चतुरो वह्निना पुनः ॥
सिध्यते रसराजेन्द्रो बलिपूजाभिरर्चयेत् ।
अनुपानं तदा देयं मरिचं नागरं तथा ॥
क्षितारं पंचलवणं रामठं चित्रमूलकम् ।
अजमोदं जीरकं चैव शतपुष्पाचतुष्टयम् ॥
चूर्णयित्वा तथा सर्वं भक्षयेन्चानुपानकं ।
रसराजेन्द्रनामायं विख्यातो प्राणिशांतिकृत ॥
अयं प्राणेश्वरो नाम प्राणिनां शांतिकारकः ।
प्राणनिर्गमकालेऽपि रक्षक प्राणिनां तथा ।
भक्षयेत् पर्णखण्डेन कदूष्णेनापि वारिणा ॥
ज्वरे त्रिदोषजे घोरे सन्निपाते च दारुणे ।
प्लीहायां गुल्मवाते च शूले च परिणामजे ॥
मन्दाग्नौ ग्रहणीरोगे ज्वरे चैवातिसारके ।
अयं प्राणेश्वरो नाम भवेन्मृत्युविवर्जितः ।
सर्वरोगविषघ्नोऽयं पूज्यपादेन भाषितः ॥

टीका—पारे की भस्म १ भाग, सोना मक्खी की भस्म २ भाग, अभ्रक की भस्म ३ भाग, तामे की भस्म ४ भाग, ये सब लेकर मुसली के स्वरस में घोंटे तथा उसमें १ भाग शुद्ध गन्धक मिलावे, खलमें ६ घण्टे तक बराबर घोंटे, सुखा कर कांचकी शीशी में रख कर मुद्रा देकर बन्द करे । उसके ऊपर खड़िया मिट्टी से सात कपड़मिट्टी करै और सुखावे, फिर सुखा कर उसके चारों तरफ बालुका से पूरण करे, १२ घण्टे बराबर आंच जलावे, तब रसों में राजा यह प्राणेश्वर रस सिद्ध हो जाता है । जब सिद्ध हो जाय तब देवता-पूजन वगैरह धार्मिक क्रिया करे । इस औषधि के सेवन करनेके बाद नीचे लिखा चूर्ण अनुपानरूप सेवन करे ।

अनुपान

काली मिर्च, सोंठ, सज्जीखार, जवाखार, सुहागा, पांचो नमक, हींग, चित्रक, अजमोदा, जीरा सफेद एक-एक भाग तथा सौंफ ४ भाग सब को चूर्ण करके प्रतिदिन सेवन करे। इस रस का दूसरा नाम रस राजेन्द्र है। यह प्राणियों को शांति करनेवाला प्रसिद्ध है। वास्तव में इस का दूसरा नाम प्राणेश्वर रस है। प्राणों के निकलने के समय भी यह प्राणों का रक्षक है। इसको पानके रसके साथ गर्म जल के साथ सेवन करे तो यह त्रिदोषज ज्वर, कठिन से कठिन सन्निपात, प्लीहा, गुल्म रोग, वात रोग, परिणाम-जन्य शूल, मन्दाग्नि, ग्रहणी और ज्वरातिसार में लाभदायक है। रोगरूपी विष का नाश करनेवाला और मृत्यु को जीतनेवाला यह प्राणेश्वररस पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ है

१२६—जलोदरे शूलगजांकुशरसः

निष्कत्रयं शुद्धसूतं द्विनिष्कं शुद्धटंकणम् ।
गंधकं पंचभागं च चैकनिष्कश्च तिन्दुकः ॥ १ ॥
चतुर्निष्कश्च जैपालः तस्य द्विगुणताम्रकम् ।
सर्वतुल्य-तिलक्षारः वृक्षाम्लं क्षारमेव च ॥ २ ॥
तद्वत्पलाशभस्मं च पणिणष्कं सैंधवोषणम् ।
यवक्षारविड्लवणानि वर्चलसामुद्रके तथा ॥ ३ ॥
पिप्पलीत्रयनिष्कं वै चार्कदुग्धेन मर्दयेत् ।
निष्कमात्रप्रयोगेण जलोदरहरश्च स' ॥ ४ ॥
शूलगजांकुशरसः पूज्यपादेन भाषितः ।

टीका—८ माशा शुद्ध पारा, ६ माशा शुद्ध सुहागा, १। तोला शुद्धगन्धक, ३ माशा शुद्ध कुचला, १ तोला शुद्ध जमालगोटा, २ तोला तामे की भस्म, ५॥। तोला तिली का क्षार, ५॥। तोला तिन्तड़ीक का क्षार, ५॥। तोला पलास का क्षार, १॥ तोला संधा नमक, १॥ तोला काली मिर्च, १॥ तोला जवाखार, १॥ तोला विड नमक. १॥ तोला काला नमक, १॥ तोला समुद्र नमक, ६ मासा पीपल इन सब को कूट कपड़छन करके अकौवा के दूध में घोंट कर तीन-तीन रत्ती के प्रमाण से गोली बनाकर अनुपानविशेष से देवे तो जलोदर दूर होवे। यह शूलगजांकुश रस पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ है।

ॐ

THE
JAINA ANTIQUARY

An Anglo-Hindi quarterly Journal,

Vol. III.] DECEMBER, 1937. [No. III.

Editors:

Prof HIRALAL JAIN, M.A., LL.B., P.E.S.,
Professor of Sanskrit,
King Edward College, **Amraoti, C. P.**

Prof. A. N. UPADHYE, M.A.,
Professor of Prakrata,
Rajaram College **Kolhapur, S.M.C.**

B. KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.,
Aliganj, Distt. Etah, U.P.

Pt. K. BHUJABALI SHASTRI,
Librarian,
The Central Jaina Oriental Library, **Arrah.**

Published at

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH BIHAR, INDIA.

Annual Subscription:

Inland Rs. 4. **Foreign Rs. 4-8.** **Single Copy 1-4.**

Om.

THE JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

Vol. III. No. III	ARRAH (INDIA)	Decr. 1937.

PODANAPURA AND TAKṢAŚILA.

BY

KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S

Takṣaśilā was a flourishing city of ancient India and it has been identified with the ruins near Shāhdheri in the Rawalpindi district of the Punjab province.[1] Likewise Podanapura was an important town of India with a very remote antiquity, but so far it has not been pointed out with a certainty that where it had its location. The learned editor of the "Bhavisayatta Kahā" in his introduction, however, endeavoured to locate Podanapura in the Punjab province, rather he identified it with Takṣaśilā.[2] But taking into consideration the available information about Podanapura his view is hardly tenable. In the following lines I shall collect and give the available information about Podanapura, endeavouring to point its most probable locality.

---

1. Ancient Geography of India, Notes p. 681.
2. Gaekwad Oriental Series No. XX.

In the history of the Jainas, Podanapura holds a prominent place and the earliest mention of it in the Jaina literature, is found in the "Padmacarit" of Ravişena, where it has been described as Pautana, the capital of Vāhubalî, who was the son of Rşabhadeva, the first Jaina Tirthankara and who having fought successfully with his elder brother Bharata Cakravarti, renounced the world and became a naked saint, only to be first to attain liberation in this cycle of time.[1] This very story has been narrated also, by the authors of Harivaṃśapurāṇa[2] and Mahāpurāna.[3] They style it as Podana. In the Mahāpurāṇa it is said that the messenger who was sent by Bharat to Bāhubali's capital Podanapur saw it filled with rice and sugarcane fields and the remarkable thing is that he reached Podanapura from Ayodhyā in a limited time. And it is stated in Harivamśapurāṇa that the messenger started from Ayodhya to west in order to reach Podanapura.[4]

Besides Podanapura's prominent mention in connection with Vāhubali, we hear of it in the life story of Pārśvanātha, the 23rd Tirthankara. The scene of the very first prebirth of the pious soul of Lord Pārśva is laid up in Podanapura of the time of one Rājā Aravinda. Aravinda's priest was Viśwabhūti, who had two sons Kamaṭha and Marubhūti. The latter's soul becomes the great Jain saint in an after birth.[5] The story is so fascinating that it has been narrated by many a Jain poet. The renowned author of the "Pārśvābhyudaya," I mean Sri Jinasena, intervenes the most of the famous 'Meghadūta' of Kālidās in his Kāvya. He had pointed there that Kamaṭha, the brother of Marubhūti, having been banished from Podanapura, joined an Aśrama of Tāpasas at the Rāmgiri hill, which was situated on a bank of a river.

Śri Vādirājsuri in his "Pārśvacarit" has also described Podanapura, as the capital of Suramyadeśa, famous for its Sāli

1. Padmacarit, Parva IV, sls. 67—77.
2. Harivaṃśa purāṇa sarga XI.
3. Mahāpurāna (Indore ed) Parva XXXV.
4. Harivaṃśa, Surga XI Sl 79.
5. Bloomfield's Life and Stories of Pārcvanātha & भगवान पार्श्वनाथ

rice and had in its vicinity a mountain named Bhûtâcala.[1] Śri Guṇabhadrācārya in his "Uttarapurāṇa"[2] and Bhāvadevasūri in his "Pārśvacarit" also, describe this story and mention Podanapura as Paudana and Potana respectively.[3x]

Kavi Dhanapāla in his "Bhavisayattakahā" also, mentions Podanapura. As the king of Kuru country refused to give his daughter in marriage to the King of Podanapura, the latter attacked him and a battle was fought. The allies of Kurus were Pancāla, Maccha and Kacchavas (Pancala-maccha-Kacchehivohi). The allies of the opposite king of Podanapura were Sindhupati, Lambakaṇṇa and a few others.[3]

In the "Uttarapurāṇa" of Guṇabhadrācārya Podanapura has been described again and again as the capital of Suramya country which was situated in the southern part of Bharat or Bhāratavarṣa[4] Besides Pārśvanātha, as we have already seen, Podanapura has been connected there with the stories of Nārāyaṇa Tripraṣṭa and various other kings. One of the kings of Podanapura by name Pûraṇachandra had for his queen the princess of the king of Sâketa.[5] Another king of Podanapura was Vasusena, whose queen Nandā being a beautiful lady was taken away treachorously by his friend Caṇḍa, the king of Malaya.[6] In the Rāmāyaṇa period the king of Podanapura was Traṇapingala,[7] while in the times of Mahābhārata one Indravarmā ruled there, who was a descendant of Vāhubalî.[8] King Siṃharatha of Podanapura had enmity with Jarâsindha of Rājagraha.[9] Lastly when Mahāvîra, the last Jaina

1. प्रथम सर्ग श्लोक ३७—३८, ४८ and सर्ग द्वितीय श्लोक ६५

2. जंबूविभूषणे द्वीपभरते दक्षिणे महान्।
सुरम्यो विषयस्तत्र विस्तीर्णं पोदनं पुरं॥

3x. नगरं विपुलाऽऽकारद्योतनं पोतनाभिधम्।

3. G. O. S. XX.

4. Uttarapurāṇa Parva 57.

5. Uttarapurāṇa (Indore ed.) 59, 208 ff.

6. *Ibid*, 60, 50—57.

7. *Ibid*, 72, 201.

8. *Ibid*, 67, 223—5.

9. *Ibid*, 70, 353—361.

Tîrthankara graced this country by his noble and pious presence, king Vidyudrāj ruled over Podanapura His son Vidyutprabha was well-versed in the notoricus art of theft and had his headquarters at Rājagraha.[1]

Even the later Jain authors such as Sakalakîrti in his "Adipurâna"[2] and Doddhiya in his "Bhujabalicarit" mention Podanapura as the capital of Vāhubalî. The latter states that Bhujabali (Vāhubalî) the brother of Bharata was the ruler of Podanapura. Owing to some misunderstanding there was a battle between the two brothers, in which Bharata was defeated. Bhujabali however renounced the kingdom and became an ascetic. Bharata had a golden statue of Bhujabali made and set up there, which once became infested with Kukkuta Sarpas. A Jain teacher, named Jinasena, who visited southern Madhura, gave an account of the image at Podanapura to Kālaladevî, mother of Chamuṇḍarāya, who vowed that she would not taste milk until she saw Gommaṭa. Being informed of this by his wife Ajitādevi, Chamuṇḍarāya set out with his mother on his journev to Podanapura. While staying at Śravaṇabelgola he came to know about the Kukkuṭa Sarpas. Hence he dropped his journey and set a colossal of Vāhubali there.[3]

The Jaina Kanarese literature also possess many a work such as Aditpurāṇa, Bharateśa-vaibhava, Bhujabaliśataka, Gommaṭeśvaracharit, Rājāvalikathe and Sthalapurāṇa, which give the story of Vāhubali with its all details and name Podanapura as his capital, where emperor Bharata erected a colossal of his brother when he became a great ascetic.[4] Inscription No. 234 of about 1180 at Śravanabelgola which is in the form of a short Kannada poem in praise of Gommaṭa states that Bhujabali was the ruler of Podanapura, who retiring from the world performed penances and became a Kevali. Vāhubali or Bhujabali attained such eminence by his

1. *Ibid*, 76, 51—55

2. प्राहिणोदुत्तमं दूतं नीतिशास्त्रविशारदम् ।
स ततो दिवसैः कैश्चिद्गत्वा तत्पोदनं पुरम् ॥९६॥

3. Narasimhachara Śravaṇa Belgola pp. 10—11

4. *Ibid*, p. 10.

victory over Karma, that Bharata erected at Podanapura an image in his form, 525 bow lengths in height, which bacame infested of cockatrices. Chāmundaraya tried to visit it.[1]

Thus it is clear from the above accounts that :—

1. Podanapura styled variously as Potana, Podana, Paudana and Podanpura, was a very ancient city, which occupied a prominent place in the traditional history of the Jaīnās.
2. That it was situated in the country named Suramyadeśa in the southern part of Bhāratavarsha.
3. That rulers of Podanapura were connected with the house of Sāketa (Ayodhyā), being the descendants of Vāhubali, who was the son of Ṛṣabhadeva of Ayodhyā.
4. That these rulers of Podanapura had friendly or adverse relations with the kings of Ayodhyā, Sindhu, Simhapura, Rājagraha Kuru, Malaya, etc.
5. That in its vicinity were the mountains of Bhutācala, Rāmagiri and the country around was very fertile, well irrigated by the waters of various rivers, which produced Śāli rice and sugarcane. The forest round Podanapura had the trees of Sandal and camphor peculiar to it, which are even to-day the special trees of southern India.
6. And that at Podanapura there was a colossal of Vāhubali, which once became infested with the cockatrices and was mostly visited by the people of the extreme South India up to a very late period, so much so that Chāmundrāya with his mother in the 10th century set out for its pilgrimage; but could not reach owing to its being inaccessible at the time. Thus it is clear that Podanapura was regarded a Tīrtha by the Jainas of South India since it became sanctified with the extreme Tapaśyā and attainment of omniscience at the spot by Śri Vāhubali.

1. Ec. II pp. 97—99.

Turning to the non-Jain literature, we find Podanapura mentioned in the Buddhist Jātakas as the capital of Assakadeśa and the Suttanipāta says that the Assaka country was beside the Godāvāri river and lay between the Sakya mountains, Western Ghauts and the Daṇḍakārṇya. The great Sanskrit lexicon Vrahdabhidhāna points that Paundya was the capital of King Ashamaka and the Ashamaka country is said to be in the south or south-west of India in Rāmāyaṇa (Kiṣkandhā-kanda).[1]

But the question here arises that whether Podanapur of the Jains books is identical with the Potana and Paundya of the non-Jain literature? I would give its reply in affermative, since I find mentioned the country of Ashamaka in the Mahāpurana as Ashamaka-Ramyaka[2]. It means that either Ashamaka country was also known as Ramyaka or Suramya or it became split into two territories during the later period. The Jain Harivaṃśapurāṇa, while giving the names of those countries of southern part of India, which the sons of Ṛṣabhadeva renounced owing to the aggression of their elder brother Bharat, names the country of Ashamaka among them.[3] The Varahamihira has also counted the Ashamaka people with those living in south India and just after the Andhras.[4] Rājasekhar in his "Kāvyamimānsā" placed also the Ashamaka country in south in very clear words[5] Śākatayana, who was very well acquainted with south India, had also named the Ashamakas after the Salvas (*i.e*, Andhras)[6] Kautilya peculiarised the country of Ashamaka for its diamonds and named it with the Raśtrikas.[7] In the region beyond the Vindhyas, which was in fact the Dakṣiṇāpatha of the ancient India, we find Golkunda, the famous place for diamonds in the district of Aurangabad. Hence Asharnaka country seems to lie somewhere in the modern Berar and Nizam territories.

1. Jain Gazette XXII, 211.
2. Parva 16 Sh 152
3. Sarga xi sls. 70--71
4. Ch xvi sl. xi.
5 G. O. S Vol I Ch. xvii p 92.
6. II, 4, 101.
7. अधि २ प्रकरण २९

The Suramya or Ramyaka country of the Jainas also seems in the light of above narrations to come into the same territory of Dakṣiṇāpatha. Moreover the Greek Geographer Ptolemy (140 A.C.) in his map of ancient India locates a country named Ramnai, which also falls in the modern Central Provinces and Berar with some division of the Nizam's dominions. It is most probable that Ramnai of Ptolemy represents the Suramya or Ramyaka of the Jain books. Therefore Podanapura being the capital of Ashamaka or Ramyaka should be find also, somewhere in the country named above.

To make the point clear still further, let us see the whereabouts of the surrounding places of Podonapura as named in above Jaina narrations.

Mountains of Bhūtācala and Rāmgiri are mentioned as we have already seen in connection with a prebirth of Lord Pārśva; Vādirāja says that Kamaṭha went to join an āśrama on mountain Bhūtācala, while Jinasena tells us that Kamaṭha went to an āśrama of Tāpasas on Rāmagiri hill. It is possible that either the both mountains were identical or they formed two peaks of the same range. Rāmgiri has been identified with the modern Rāmateka in the Nāgpur division.[1] As to Bhūtācala, it ought to be somewhere in the vicinity of Rāmṭeka. My friend Mr. Govind Pai suggests that Bhūtācala should be Betul of the same division, though it is a town at present but has many hills round about. Moreover it is not of much distance from the Ashamaka country as pointed in the map annexed to Prof. R. K. Mookerji's "Fundamental Unity of India." The Matsyapurāṇa locates a country of the name of Tāpasas itself on the northern part of Dakṣināpatha,[2] which gets support from the mention of the same country as *Tabassoi* by Ptolemy. Therefore it is possible that Kamaṭha went to Bhutācala or Râmagiri in the Tāpasa country to observe the penances there. Be as it may, it is clear from every

1. The Geog. Dictionary of ancient & Mod. India, जैसिमा: ३—५४.
उमादित्याचार्य mentioned रामगिरि in त्रिकलिंग which is modern C. P.

2 Panini Office ed. SBH. xvii ch. cxiv.

view points that Podanapura and its surrounding mountains were situated in the northern part of Dakṣiṇāpatha

The Uttarapurāṇa has a mention of Malaya mountains, with the Kubjaka Sallaki forest as well, where Marubhuti of Podanapura having died, was born as an elephant.[1] Cunningham locates this mountain in the Drāviḍ country.[2] Yuang Chwang put it 3000 li south from Kānchi He " takes us from somewhere near Madura south-west of Tinnevelly district, where he refers to the Sandal producing Malaya mountain, then he speaks of Potalika (Podimalai hill.)[3] The Jaina author further connect a river Vegavati with the story of Marubhūti, which too could be find in the Dravid country.[4] The Malayadeśa, whose king eloped with the consort of the king of Podanapura as mentioned above, was also in the south India.[5] The princess of Podanapūra was given in marriage to the king of Siṃhapūra and it may be found just in the neighbourhood of Podanapura being situated in the southern part of Orissa.[6] Khāravela's queen was a princess of Siṃhapur [7] Hence it is obvious from the above facts that the Jaina and other authors locate Podanapura and its environments in the southern part of India and its location on the bank of Godavari, according to Buddhist evidence is justified.

However we cannot take Podanapura to the extreme south of India, since in that case it would not be tenable to find the kings of Podanapura making friendship or waging war with the kings of Kurus, Sindhus and Kośalas ; as they did in fact. Moreover we find Chamundaraya hastening to the northern border of south India to have a glimpse of Vāhubali's colossal at Podanapura. Had Podanapura been in extreme south Chāmunḍa Rāya had no need to travel over to northern border of South India ?

1 मलयकुब्जकाख्याने विपुले सल्लकीवने । etc.

2. Geog. of ancient India, New ed, p. 627.

3. *Ibid* Notes p, 741 4. *Ibid* p. 739. 5. *Ibid.*

6. Some Contributions of South India to Indian Culture p. 33.

7. *Ibid*, & J B. O. R. S. iv 378-

My friend Mr. Govind Pai identifies Podanapura with Bodhan in the Nizam Territories to whom I am indebted for many useful suggestions in writing this article

Now since the locality of Podanapura is being held by the Jaina as well as non-Jaina evidence to be in the northern border of South India, it is apparently useless to talk of it in the extreme North-West of India. That part of India never abound with Śāli rice, Sandal trees and cockatrices. On the more it was never heard that there was a Jaina colossal in that part of India. South India has a great claim over Vāhubali, as he was their first king, who was lucky to be first to gain Liberation in this cycle of India; therefore they set his more than one colossal and adored him more than the Jainas of northern India. But in the introduction of the Bhavisayatta-Kana, we find the following remarks to the contrary "Dr. Jacobi, on the strength of references in the Paumacariya of Vimalasuri, identifies it with Takassaila, but becomes doubtful when he finds our author referring to the army of Poyanavai as Sakeyanarindasinnu xiv 13,9 and Sakkeyajoha xiv 19,2. This Sakey or Sakkeya he identifies with Saketa or Ayodhya. Now it is quite true that Sakeya is the correct Prakrit for Saketa and that Sakkeya is an alternative form for the same. But there is another possible phonological equivalent of Sakey. Both these can also be Prakrit for Sakeya. Historically there is nothing against this identification. Saka kings have ruled over Taksasila. If this be correct, then there is nothing to come in the way of Podanapura being identified with Takṣasila. The very close relations that appear to exist between the Sindhus and the Poyanas can be understood on the strength of a close geographical proximity, and not if they were apart as Sindh and Ayodhya."[1]

With all deffidence to the learned scholar, I make bold to say that these remarks are not based on sound evidence. The "Paumacariya" is not before me. yet it is clear from the above facts that Podanapura of "Padmapurāṇa" with all other Digambara Jaina works was situated in the northern part of South India. Kavi Dhanapāla too seems to locate it likewise, since he styles the army of Podanapura as Sakeyanarindusinnu, which term has puzzled even Dr. Jacobi, but in fact it can be reconciled easily, since we know that the kings of Podanapura were the descendants of Vāhubali, who was a scion and hailed from the house of Sāketa (Ayodhyā). It

1. G. O. S. xx Intrs. pp. 9—10.

cannot be reconciled with the Sakas of Takṣaśilā, since it is not evident that any of them professed or patronised Jainism. The remaining locations of Dhanapāla are also to be traced easily, just in the vicinity of Podanapura on Godavari. The close geographical proximity with concern to mutual relations existing between Sindhus and Poyanas, as described by Dhanapāla, comes near more clearly in placing Podanapura on the Bank of Godaveri and not at Takṣaśilā. For we know that the Sindhu of the Jaina writers was not the valley of great Indus, but it meant country near Vindhyā mountains. The people af Avanti are styled as Sindhus by Dhanapāl can be relied upon, for we know that the Jaina authors place Viśālā in Sindhudesa[1] and Kālidāsa called Ujjayani itself as Viśālā.[2] Hence the close relations between the people of closed connected countries-called Sindhus and Poyanas is but quite natural. And this fact reconciles other difficulty as well In the above named Introduction a great difficulty is felt in identifying the Kacchas, which has been dealt with as a very important place at the time of war between Poyanas and Kurus in the above Kahā. Certainly its position was similar to that of Belgium in the last great war. It is attempted in the said Introduction to identify it with Kāśmira, but that not with certainty and accuracy. On the otherhand our location of Podanapura in the northern border of south India easily waves away this difficulty; for the Kacchas meant in the Kahā, seems to be no other people than the Kacchawaha Kṣatriyas of Naravara district (Gwalior State), who had a strong and old settlement of theirs at that place. Its position really comes to that of Belgium in the case of war between Kurus and Poyanas. Hence we can say with certainty that Kavi Dhanapāla too placed Podanapura in the southern part of India.

Besides places named as Podanur, Potali etc., are still found in South India; but Taksasila has never been styled or had in its neighbourhood, places of that name.

Under the circumstances and available evidence it is justified to say that the Podanapura of the Jaina books was not Taksaśila, rather it was a prominent city of ancient Daksinapatha.

1. उत्तरपुराण, श्रेणिक-चरित्र, आराधनाकथाकोष etc.
2. मेघदूतकाव्य " श्रीविशालां विशालाम् ।"

Knowledge and Conduct in Jaina Scriptures

(By Principal Kalipada Mitra, M. A., B. L., Sāhitya-kaustubha.)

In the Upanishad it is said :

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।

... ...

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

The self cannot be gained by scripture knowledge (Vedic knowledge), nor by intellect, nor by extensive learning.

He who has not cut off his attachment to wicked conduct, who is not tranquil, nor subdued, nor has his mind in peace, can by mere knowledge, reach *self*.

Here knowledge itself, howsoever great, availeth not, but what is of greater importance is conduct, which by causing cessation of wickedness, subjugation of passions, and creation of peace and tranquillity can help self-realisation.

In the Jaina scriptures too by far the greatest importance is attached to Saṃyama (संयम). I am quoting a few *sūtras* by way of illustrating the point.

सामाइयमाईयं सुयनाणं जाव बिंदुसाराओ ।
तस्सवि सारो चरणं सारो चरणस्स निव्वाणं ॥

The knowledge of scriptures (श्रुतज्ञानम्) begins from *sāmāyikaṃ* and extends to *Bindusāra*. But *caraṇaṃ* surpasses *śrutajñānaṃ* in value. Indeed *caraṇam* is action known as *saṃvara* (ननु चरणं नाम संवररूपः क्रिया), check or restraint.

But it may be said that both *jñāna* and *kriyā* are necessary for the attainment of *mokṣa*, for the saying is that without **knowledge**

action is killed (becomes ineffectual) "हया अनाणतो किया" ; therefore both should be treated as equal ; why should preference be given to *caraṇaṃ*? The answer is : It is for the following reason. *Jñāna* only reveals or brings-to-light (नाणं पयासयं); *caraṇaṃ*, on the other hand, prevents the acquisition (or the inflow) of new *karman* and brings about the *nirjarā* (or the using up) of the previously collected *karman*. *Jñana* is only limited to the task of lighting up, *caraṇaṃ* on the other hand purifies (the self) of its *karman*-impurities and has therefore the principal qualification, hence it has greater value than *jñāna*. It is also said :

नाणं पयासयं चिय गुत्ति विसुद्धीफलं च जं चरणं ।
मोक्खो य दुगाहणो चरणं नाणस्स तो सारो ||

The commentary says, both *jñāna* and *kriyā* are the causes of of nirvāṇa, only that the first place (मुख्य) is to be given to *kriyā*, and the second place (गौण) to *jñāna*, in as much as *mukti* is not attained even while *kevala jñāna* is reached *i.e.*, immediately along with it, but *mukti* is attained after the *caraṇaṃ* of the last moment of the *sailesī*[1] stage, hence *caraṇaṃ* is the primary cause of nirvāṇa. It is said :

जं सव्वनाणलंभानंतरमहवा न मुच्चए सव्वो ।
मुच्चइ य सव्वसंवरलाभे तो सो पहाणयरो ॥

The niryuktikāra says :

सुयनाणम्मिवि जीवो वट्टंतो सो न पाउणइ मोक्खं ।
जो तवसंजममइए जोगे न चएइ वोढुं ऽे ॥

The *jīva* possessing (lit. existing in) even the *śrutajñāna* cannot reach *mokṣa* if he cannot practise self-control such as *tapas* and *saṃyama*, *i.e.*, if he cannot practise austerities and possess self-restraint. Without good *kriyā* mere knowledge cannot reach you the desired object, even as much as a boat which has a steers man

1. *Sailesī* is the 72nd stage of Ezertion in Righteousness in lect. 29 of Ācārāṅga Sūtra (S. B. E. Vol. XXII), the 73rd and the last stage being अकर्मता or freedom from कर्मन्.

knowing the way (cannot reach the desired destination) if there be no wind to lead it in the desired direction. It is said :

जह छेयलद्धनिज्जामओऽवि वाणिय गइच्छिय भूमिं ।
वाएण विणा पोओ न चएइ महण्णवं तरिउं ॥
तह नाणलद्धनिज्जामओऽवि सिद्धिवसहिं न पाउणइ ।
निउणोऽवि जीवपोओ तवसंजममारुयविहीणो ॥

As a boat which possesses a clever helmsman cannot reach the land desired by merchants by crossing the great sea without (favourable) wind, so (the boat of) the *jīva* who possesses (the clever helmsman of) *śruta-jñāna* cannot reach the desired land (सिद्धि-वसति) by crossing the ocean (of भव) without the help (wind) of संयमतपोनियम, self-restraint, austerities and observances. Therefore one should practise self-restraint and austerities without heedlessness (प्रमाद).

संसार-सागराओ उब्बुड्ढो मा पुण निबुड्डेज्जा ।
चरणगुणविप्पहीणो, बुड्डइ सुबहुंपि जाणंतो ॥

Having once emerged out of the ocean of *saṃsāra*, do not again merge into it. One who is completely devoid of the qualities of *caraṇaṃ* sinks again, although he knows much.

Here an example is given of a turtle (कूर्म) who with much difficulty emerges out of a great lake rendered dark by the intricate tangle of moss, grass and leaves, who looks upon the full moon, but attracted by the ties of affection for relations, plunges back into the lake. He is the symbol of ignorance. Why should a knower plunge back ? Because even vast knowledge is of no avail to the knower who is totally devoid of *caraṇaṃ*, for his knowledge, empty as it is of fruit, is but no-knowledge.

सुबहुंपि सुयमहीयं किं काहे चरणविप्पहीणस्स ?
अंधस्स जह पलित्ता दीवसयसहस्सकोडीवि ॥

What can immense knowledge of the scriptures do to one who is devoid of *caraṇaṃ* ? Of what avail are crores of hundreds

of thousands of lighted lamps to the blind ?

अप्पपि सुयमहीयं पगासयं होइ चरणजुत्तस्स ।
एक्कोऽवि जह पईवो सचक्खुयस्सा पयासेइ ॥

Even the knowledge of one who has read but a little of the scriptures acts as the revealer if he practises *caraṇaṃ*. Even if there be one lamp, it is the revealer to him who has the eye.

जहा खरो चंदणभारवाही भारस्स भागी नहु चंदणस्स ।
एवं खु नाणी चरणेण हीणो, नाणस्स भागी नहुसुग्गतिए ॥

As an ass bearing the burden of sandal wood is the sharer only of the burden and not of the sandal wood, even so, the knower, void of *caraṇaṃ*, bears the burden of knowledge, but is not the sharer of good attainment.

The commentary explains : The ass only suffers the pain of bearing the heavy load of the sandal wood, and does not enjoy the pleasure of smearing the body with sandal-paste etc. The knower also who is not self-restrained suffers the pain of acquiring knowledge—reading, remembering and thinking—but does not attain the destination of good deva-hood or man-hood.

हयंनाणं कियाहीणं हया अन्नाणओ किया ।
पासंतो पंगुलो दड्ढो, धावमाणो य अंधयो ॥

Knowledge without action is killed (becomes ineffective), action without knowledge is killed. The lame man, looking on, was burnt, so also, was the blind man, while fleeing. Here a story is told : Once there was a conflagration in a great city ; in it lived two helpless men the one was lame, the other blind. The people of the city, frightened by the fire, with eyes rolling in distraction, began to flee from it, but the lame man, knowing full well the way of escape, but deprived of the faculty of movement, could not flee but was consumed by the gradually approaching fire. The blind man also possessed of the faculty of moving, but deprived of the faculty of seeing, and hence not knowing the way of escape, ran towards

the fire and fell into a ditch brimful of burning coals and was consumed. The knower without self-restraint is unable to flee from the fire of *karman*; similarly the other fails without knowledge. It is said (by the Tīrthakaras) that only the conjunction of *jñāna* and *kriyā* bears the fruit of *mokṣa*. Not by a single wheel does the chariot move. The blind man and the lame man having come together in the wood, and thus united, entered the city.

Here a story is told by way of illustration. There was a forest fire. The blind man, not knowing (seeing), was fleeing towards it, but being warned by a lame man, "Don't flee in that direction, for the fire is there", asked, "Where should I go?" The lame one said, "I am lame, and cannot move, so in front I can't show the way lying at a distance; put me on your shoulder so that I may avoid the obstacles of thorns, fire etc., and with ease, lead you to the city." The other agreed and both of them reached the city happily.

नाणं पयासयं सोहओ तवो संजमो य गुत्तिकरो ।
तिण्हंपि समाओगे मोक्खो जिणसासणे भणिओ ॥

Knowledge is the revealer, *tapas* (practice of austerities) is the purifier, *saṃyama* (self-restraint) is the protector. In the scriptures of the Jinas it is said that only in the conjunction of the three lies liberation (*mokṣa*).

Here the following imagery is given. There is an empty room, with a door slightly ajar, and many windows, filled with profuse dust and filth driven in by the wind. Now some one wants to reside in the room; he wants to clean it; he shuts the door and all the windows for preventing the entry of dust and filth from outside. He lights a lamp in the middle of the room, and employs a man servant in drawing together the filth etc., in this affair, the lamp does service in revealing the impurity such as dust etc., the shutting of the door and the window in preventing the entry of outside dust, and the man servant in purifying by drawing together the dust (and ejecting it).

Here *jñānā* is that lamp which by its very nature, does service by revealing the impurity which is to be removed. *Kriyā*

again in the shape of *tapas* and *saṃyama* does good ; *karman* of eight kinds collected in many *bhavas* is purified by *tapas*, even as much as filth collected in the house is ejected by the man servant. *Saṃyama* is the closing of the doors of *āsrava* (*karman* inflow), it guards by restraining the coming in of the filth of new *karman*, even as much as the shutting of windows prevents the coming in of filth driven in by the wind.

It may be objected, that this militates against the **आगम-**

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।

as it leaves out *samyagdarśana* ; but there is no fault here since *darśana* is included in *jñāna*.

In the *Pravacanasāra* of Kunda-kunda Acāryya Ed. by B. Faddegon (Jain Literature Society Series, Vol I Cambridge, 1935), *Srutaskandha* we read :

37. One does not attain by means of scripture-knowledge, if one does not believe in the categories (*arthas*), nor does one believing in the categories, but lacking self-restraint, arrive at nirvāṇa

Amṛtacandra Suri explains it in his *Tattva-dīpikā* thus—" One does not attain perfection through knowledge produced by scripture, but destitute of faith ; or through faith, combined with that knowledge, but devoid of self-restraint."

41. Considering the groups of enemies and friends as the same, pleasure and pain as the same, praise and blame as the same, clay and gold as the same, the sramana[1] is moreover the same in regard to life and death.

Commentary—Self-restraint (*saṃyama*) is conduct accompained by absolute (*samyag*) faith and knowledge. Conduct is duty (dharma) ; duty is equanimity : equanimity is a self-evolution devoid of infatuation and perturbation. Therefore equanimity is a characteristic of the self-restrainer.

1. The *prākrit* form *samaṇa* presents a favourite similarity in sound to *sama*.

So in regard to the two groups, enemies and friends, pleasure and pain, praise and blame, clay and gold, life and death he is the same.

Whoso being free from the infatuation, 'this one is strange to me, this one belongs to me ; this is joy, this is a torment, this is an elevation to me, this is humiliation' has not in regard to any thing the duality of attachment, and aversion, who continually experiences the self as having for nature pure faith and knowledge, who having appropriated enemies and friends, pleasure and pain, praise and blame, clay and gold, life and death indistinguishably, merely as knowables, immovably abides in the self, which has knowledge for self, truly possesses equanimity in every regard.

The Jaina Chronology.

(By Kamta Prasad Jain, M. R. A. S.)

Continued from Vol. III, page 41.

"THE PRE-HISTORICAL PERIOD EVENTS."

No.	Period & Date.	Event.
76	Māgha Kṛaṣṇa Dvādaśi.	After nine caroṛ sāgropamas since Puṣpadanta got liberated, Śitalanātha, the tenth Tirthankara, born at Bhadrapura. His father was king Draḍaratha and the name of his mother was Sunandā.
77	Do.	After enjoying a peaceful worldly life, Śītalanātha renounced the world and set himself to observe severe penances and austerities as a naked Śramaṇa. As a saint, he took his first meal at the house of king Punarvasu of Ariṣṭapura.
78	Pauṣa Krasṇa Caturdaśi.	At the end of three years, Śtalanātha destroyed the four ghātiya-karmas and became an omniscient teacher.
79	Aśvina Śukla Aṣṭami.	Śītalanātha having preached the Dharma at large came to mount Sammed Sikhara and attained Nirvāna from there.
80	Kārtika Śukla Purṇimā.	King Megharatha of Bhaddalpur in the Malayadesa accepted the doctrines of Brāhmana Mauṇḍaśālayana and started to give gifts of gold, elephant, horse etc. Hence forward the Brāhmaṇas became hostile to Jainism. [*Ref. Uttarapurāṇa Parva 56, Slks. 30—86.*]

No.	Period & Date.	Event.
81	Phālguna Kraṣna Ekādasi.	Śreyāṁsanātha, the eleventh Tīrthankara born at Siṃhapura, when one Sagropama years were elapsed since the Niravāṇa of Śri Śitalanātha. His father King Viṣṇu ruled over Siṃhapura and his mother was queen Nandā.
82	Do.	Having ruled for a long period, Śreyānsanātha installed his son by name Sreyaṃkara on the throne of Siṃhapura and adopted the life of a Digambara Muni.
83	Do. Tryodaṣi.	Śramaṇa Śreyānsa took his first meal from the hands of Prince Nanda of Siddhartapura.
84	Māgha Kṛaṣna Amāvasyā.	Śreyānsanātha having become an omniscient Teacher, began to preach Truth. The teachings of Jainism once again prevailed, since they became eclipsed after Śītalanātha.
85	......	First Nārāyaṇa Tṛaprasṭa and Baladeva Vijaya flourished at Podanapura, who defeated the greatest monarch of that time named Aśvagrīva. Śrivijaya succeeded Tṛaprasṭa, who rescued his sister Tārā, absconded by a Vidyādhara prince.
6	Phālguna Kṛaṣna Chaturdasi.	After 54 sagropama years since Śreyānsanātha liberated Himself, Tīrthankara Vāsupūjya flourished. Since three *palya* years before the birth of Vāsupujya Jainism became extinguished. Vāsupujya's parents were king Vasupujya and queen Jayāvati.

No.	Period & Date.	Event.
87	Phālguna Kṛaṣna Caturdasi.	Prince Vāsupūjya having lived a celibate's life, became disgusted with the world and renounced it.
88	Māgha Śukla Dvādasi.	Vāsupūjya became an omniscient world Teacher and began to preach at laige.
89	Bhādrapada Śukla Caturdasi.	Vāsupūjya Tirathankara reached Mandāragiri (near modern Bhāgalapura in Behar) and attained Niravāṇa from that place.
90	......	Rājā Brahma ruled at Dvārāvati and from his queen Uṣā the second Nārāyana Dviprasta was born, who killed his antagonist and a great oppressor of the time named Tāraka. His brother was Achala Baladeva.
91	Māgha Śukla Caturdaśi.	After 30 sagropamas since the liberation of Vāsupūjya, Tirthankara Vimala was born. His father named Sukratavarma was a Kṣatriya ruler of Kāmpilya and his mother was known as queen Śyāmā. Before Vimala's birth Jainism lost its sway for one Palya years. (*Ibid*, Parva 59 Sl. 23.)
92	Māgha Śukla Chaturthi.	Prince Vimala having enjoyed the worldly life became a naked śramana and observed hard penances.
93	Pauṣa Kṛaṣṇā Daśamī.	Vimalanātha became a *Kevalī Jina* and preached Jainism in the Āryakhanda.
94	Āṣāḍa Kṛaṣṇā Aṣṭami.	Vimalanātha attained Nirvāṇa from mt. Sammeda-Sikhara. (*Ibid*, 59-23)

No.	Period & Date.	Event.
95	.....	Meru and Mandara were the renowned apostles of Tirathankara Vimala, who were sons of Rājā Anantavijaya of Mathura. (*Ibid*, 59-108.)
96	......	Baladeva Dharma and Nārāyaṇa Svayambhū flourished at Dvārāvati. (*Ibid*, 59-63).
97	Jyeṣṭha Kṛaṣṇā Dvādasi.	After nine Sāgaropamas and $\frac{3}{4}$ palya Vimala attained Nirvāṇa, Anantanātha born at Ajodhyā in the palace of Rājā Siṃhasena and queen Jayaśyāmā.
98	Do.	Anantanātha renounced the world and observed penances for two months.
99	Chaitra Kṛaṣṇā Amāvasyā.	Anantanātha became an omniscient teacher and began to preach the Dharma.
100	Do.	Anantanātha attained to Nirvāṇa from Sammeda—Sikhara. (*Ibid*, 60-23).
101	......	Baladeva Suprabh and Nārāyaṇa Puruṣottama flourished. (*Ibid*, 60-49).
102	...	After four sāgaropamas since Anantanātha attained Nirvāṇa, Jainism became obscure for a period of half *palya*
103	Māgha Śukla Tryodaśi.	Dharmanātha, tha fifteenth Tîrathankara born at Ratnapura where his father King Bhānu ruled with queen Suvratā.
104	Do.	Dharmanātha adopted the vow of a naked śramaṇa and observed penance for a full month.

No.	Period & Date.	Event.
105	Pauṣa Śukla Pūrṇimā.	Dharmanātha gained omniscience and preached the Jaina Dharma once again.
106	Jyeṣtha Śukla Caturthī.	Dharmanātha attained Nirvāṇa from the mt. Sammeda-Sikhara. (*Ibid*., 61, 21-23).
107	.. ...	Baladeva Sudarśana and Nārāyaṇa Puruṣa-Siṃha flourished. (*Ibid*, 61-56).
108	... ..	Maghawā, the third *Cakravarti* monarch appeared at Ayodhyā. (*Ibid*, 61-68).
109	......	Sanatakumār, the fourth *cakravarti* monarch and a *kāma-kumāra* flourished at Ayodhyā. (*Ibid*, 61-104).
110	Jyeṣtha Kṛaṣṇa Caturdaśī.	After three Sāgaropamas less ¾ palya since Dharmanātha attained liberation, Tirthankara Sāntinātha born at Hastiṇapura. His father Viśwasena was a scion of the famous Kuru-vaṁśa and his mother queen Airā was a a Gāndhāra princess He was a *cakravarti* monarch and a Kāmakamāra also.
111	Do. Tryodaśī.	Sāntinātha became a naked Śramaṇa and observed penances for sixteen years.
112	Pauṣa Suklā Ekādaśī.	Śāntinātha gained omniscience and he preached the Dharma as a world Teacher.
113	Jyeṣtha Kṛaṣṇa Caturdaśī.	Śāntinātha attained liberation from Mt. Sammeda-Sikhara.

To be Continued.

THE JAINA SIDDHANTA BHĀSKARA.

(Gist of Our Hindi Portion : Vol IV, Pt. II)

p.p. 71—83. Kamta Prasad Jain has collected available material from the Jaina and non-Jaina literature referring to Rājagraha, the ancient capital of Magadha and has given an interesting historical sketch of it.

p.p. 84—89. Jainācārya Vijaya Indra Sūri has critically reviewed the Gujarāti publication entitled "*Prācina Bhāratavarṣa*" by Dr. T. L. Shah (Baroda) and has pointed out a few of his deliberate misrepresentation of facts. It is wrong to say that the Gommaṭa colossal at Śravaṇabelagola is the creation of the Mauryan emperors and Mahāvira, the last Tīrthankara attained Nirvāṇa from Vidiśā (modern Bhilsa).

p.p. 90—101. Pt. K. B. Shastri has written on the origin and history of the Jain Prākrata literature : the Apabhraṃśa variety of which is the source from which Hindi originated.

p.p. 103—109. Why the Bāhubali colossal is called Gommaṭa ? by H. Govind Pai.

p.p. 110—118. B. Agarchand Nāhaṭā has thrown light on the Jain texts dealing with astronomy and medicine. Lists of available mss. are given.

p.p. 119—122. K. P. Jain has pointed out on substantial evidence that the word 'Śri-Saṃgha' donot mean the Śvetāmbaras only. The Digambaras has also used this word for their own community. Likewise Tapā and Kharatara Gacchhas, originally belonging to the Śvetambara sect, are found also in the Kāṣṭhāsamigha of the

Digambara sect. Inscriptions on the Digambara images of the 11th century A. D. mention Tapāgaccha, while a Digambara ms. at the Dig: Jaina Temple Mainpuri mentions Kharatara Gaccha. This ms. was written at Dacca in Bengal and bears the date as Śrāvaṇa Kraṣṇa 8th, 2287 A. Vir.

p.p. 125. Mr. Ajita Prasada, M.A., L.L.B, describes the main shrine of the famous Jaina Temple at Dharampurā Delhi, which was built by Lala Harasukharai of Delhi in 1803 A.D.

K. P. J.

Select Contributions to Oriental Journals.

1. *Indian Culture*—Vol. IV, No. I (July, 1937) :—

Origin of the Kadambas—by D. C. Sarcar : Traditionally Mayūra was the progenitor of the Kadambas and their family name had connection with the Kadamba tree. The writer is of opinion that the Kadambas were originally Brāhmanas, hailing from north, they served under the sālavāhanas and found a kingdom in the Kuntala country afterwards.

2 *Journal of the Andhra Historical Research Society*—Vol. X, pts. 1—4 (1936—1937) .—

Geneology & Chronology of Western Gangas :
From Mārasiṁha to Rakkasa Ganga II—by M. Govinda Pai.

3. *Karnātāka Historical Review*. Vol. IV, Nos. 1—2 (Jany.—July, 1937) :—

Karnātaka and Mohenjo Daro—by H. Heras : According to the writer's reading of the inscriptions on Mohenjo Daro seals. it is evident that some of them contain refarences to the people of *Karnatāka*.

Delhi Sultans as Patrous of Jaina Gurus of Karnātaka—by B. A. Saletore The writer discusses at length and points out that the Jain teachers Siṁhakirti and Viśālakirti were honoured respectively by Muhammad Tughlaq and Sikandar Sūr of Delhi.

4. *Indian Historical Quarterly*—Vol. XIII, No. 3 (Sept. 1937).

Central Asiatic Provinces of the Maurya Empire—by H. C. Seth.

Maurya Chandragupta & Mayrabhanj Rulers—by B. Misra.

Akbar's Religious Policy—by S. R. Sharma.

RULES.

1. The "Jaina Antiquary" (जैन-सिद्धान्त भास्कर) is an Anglo-Hindi quarterly, which is issued annually in four parts, *i.e.*, in June. September, December, and March.

2 The inland subscription is Rs. 4 (including postage and foreign subscription is 6 shillings (including postage) per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs 1-4-0

3 Only the literary and other decent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to

THE MANAGER,
The "Jaina Antiquary"
Jain Sidhanta Bhavan, Arrah (India).

to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office should be informed at-once

6 The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archæology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period.

7 Contributors are requested to send articles, notes, reviews, etc., type-written, and addressed to,

K P JAIN, Esq. M. R A S,
EDITOR, "JAINA ANTIQUARY"
Aliganj, Dist. Etah (India).

(*N B.*—Journals in exchange should also be sent to this address.)

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting, or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders, if postage is not paid

10 Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11 The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology :—

PROF. HIRALAL JAIN, M.A., L L.B
PROF. A. N. UPADHYE, M A.
B. KAMTA PRASAD JAIN, M R.A.S.
PT. K. BHUJABALI SHASTRI.

आरा जैन-सिद्धान्त-भवन की प्रकाशित पुस्तकें

(१) मुनिसुव्रतकाव्य (चरित्र) संस्कृत और भाषा-टीका-सहित ... २।)
(मू० कम कर दिया गया है)

(२) ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिक-शास्त्र भाषा-टीका-सहित ... १)

(३) प्रतिमा-लेख-संग्रह ... ... ।।)

(४) जैन-सिद्धान्त भास्कर, १म भाग की १म किरण ... १)

(५) " २य तथा ३य सम्मिलित किरणें ... १।)

(६) " २य भाग की चारों किरणें ... ४)

(७) " ३य " " ... ४)

(८) भवन के संगृहीत संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी ग्रन्थों की पुरानी सूची ... ।।)
(यह अर्ध मूल्य है)

(९) भवन की संगृहित अंग्रेजी पुस्तकों की नयी सूची ... ।।।)

प्राप्ति-स्थान—
जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा (बिहार)

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD., ARRAH.

श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर

AND

THE JAINA ANTIQUARY

Editors :

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL. B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A.
B. Kamta Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt K. Bhujabali Shastri.

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY.
(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH, BIHAR, INDIA.

श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम।

१ जैन-सिद्धान्त-भास्कर अङ्गरेजी-हिन्दी-मिश्रित त्रैमासिक पत्र है, जो वर्ष में जून, सितम्बर, दिसम्बर और मार्च में चार भागों में प्रकाशित होता है

२ इसका वार्षिक चन्दा देशके लिये ४) रुपये और विदेश के लिये डाक व्यय लेकर ४॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १।) पहले भेज करही नमूने की कापी मंगाने में सुबिधा होगी।

३ केवल साहित्यसंबन्धी तथा अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। मैनेजर, जैन-सिद्धान्त-भास्कर, आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं; मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में हेर-फेर की सूचना भी तुरन्त उन्हीं को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि "भास्कर" नहीं प्राप्त हो, तो इसकी सूचना जल्द आफिस को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्तिविज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन, प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना—यह सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक, श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर, आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकमण्डल को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ "भास्कर" आफिस, आरा के पते से भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से जैन-तत्व के केवल उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.

प्रोफेसर ए.एन. उपाध्ये, एम. ए.

बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.

पण्डित के. भुजबली, शास्त्री

विनम्र विज्ञप्ति

यह चौथी किरण "जैन सिद्धान्त-भास्कर" के चौथे भाग की अन्तिम किरण है। जैन इतिहास, साहित्य एवं पुरातत्त्व को अन्यान्य विद्वानों के समक्ष उपस्थित कर जैनधर्म को ऐतिहासिक दृष्टि से सनातन साबित करना ही भास्कर का प्रधान लक्ष्य है। प्रसन्नता की बात है कि संस्कृत एवं अंग्रेजी के बड़े बड़े उद्भट पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वान् भास्कर के इस पुनीत ध्येय और इसकी सफलता की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा सदा करते रहते हैं।

अस्तु, अब हम भास्कर के अनुग्राहक ग्राहक महोदयों को विज्ञप्त किये देते हैं कि इसके पांचवें भाग की पहली किरण जून महीने में नियमानुसार V. P. P. द्वारा भेजी जायगी। जिन भावुक ग्राहकों को किसी कारण पांचवें भाग से ग्राहक रहना मंजूर नहीं हो वे कृपया तीन पैसे खर्च कर कार्ड-द्वारा भास्कर-ऑफिस, आरा में सूचना भेज दें, जिससे इस धार्मिक संस्था के प्रत्येक V. P. P. पर व्यर्थ के पाँच आने पैसे खर्च न हों। मनिआर्डर द्वारा रुपये भेजने से ग्राहकों को ।≡) आने पैसे बचेंगे!

हमने 'भास्कर' को व्यापार के ख्याल से नहीं निकाला है। जीती-जागती जातियों में जैनी भास्कर-द्वारा अपना चिरन्तन अस्तित्व समझें, यही हमारा मुख्य लक्ष्य है। इसीलिये ग्राहकों की कृशता कितनी भी बढ़ जाये, भास्कर कभी अस्त न हो यह हमने मन में सोच रक्खा है। अब तक जितने गुणग्राही ग्राहक हैं और बन रहे हैं उनकी गुण-ग्राहिता पर मुझे संतोष है तथा उन्हें अनंत धन्यवाद है! केवल साग्रह एवं विनम्र निवेदन यही है कि भास्कर के जो भी थोड़े-बहुत ग्राहक बनें वे जिनवाणी माता के प्रचारक हों, न कि V. P. P. लौटा कर उनके प्रचार में अड़ंगा डालते हुए एक सार्वजनिक जैन धर्म-संस्था को असह्य हानि पहुंचायें।

विनम्र विज्ञापक

निर्मल कुमार एवं चक्रेश्वर कुमार जैन

संचालक

"जैन-सिद्धांत-भास्कर"

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

(जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र)

भाग ४] फाल्गुन [किरण ४

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४) विदेश में ४||) एक प्रति का १|)

विक्रम-सम्वत् १९९४

विषय-सूची

हिन्दी-विभाग—

पृष्ठ

१ जैन सिद्धान्त का प्राचीन स्वरूप [श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन] ... १९३

२ जैन हिन्दी-वाङ्मय [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री] २००

३ दिल्ली के सुल्तान और कर्नाटक के जैन गुरु [श्रीयुत डा० भास्करानन्द सालेतूरु, एम० ए०, पी० एच० डी०] २०८

४ भगवान् पुष्पदन्त और पूज्यपाद स्वामी [श्रीयुत पं० हीरालाल शास्त्री] ... २१६

५ क्या दिगम्बर समाज में तपागच्छ और खतरगच्छ थे ? [श्रीयुत बाबू अगरचन्द नाहटा] २२५

६ हस्तसंजीवनम् [श्रीयुत बा० त्रिवेणी प्रसाद बी० ए०] २२९

७ बारकूरु (एक सुप्राचीन जैन राजधानी का ध्वंसावशेष) [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री] २३३

८ विविध-विषय (१) दिगम्बर जैनसंघ में भेदों की उत्पत्ति [श्रीयुत बा० का० प्र०] ... २४०

(२) कोन्डकुन्दाचार्य और आचार्य उमास्वाति ,, ... २४२

(३) रियासत जयपुर में प्राचीन जैनस्थान २४३

(४) अष्टशाखा उपजाति २४६

(५) कोपणतीर्थ की एक मूर्ति ,, ... २४६

(६) बंगाल में जैनधर्म [श्रीयुत बा० छोटेलाल जी जैन] ... २४८

(७) राजावली (मैनपुरी के गुटके परसे) [श्रीयुत बाबू का० प्र०] ... २४९

(८) जैनएन्टीक्वेरी के लेख [श्रीयुत बाबू का० प्र०] ... २५०

९ साहित्य समालोचना—स्तोत्र-मंत्र-सार-संग्रह [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री २५१

ग्रन्थमाला-विभाग—

१ तिलोयपण्णत्ती [श्रीयुत प्रा० ए० एन० उपाध्ये] ... ... ४१ से ४८ तक

२ प्रशस्ति-संग्रह [,, पं० के० भुजबली शास्त्री] . ... ८९ से ९६ तक

३ वैद्यसार [,, पं० सत्यन्धर आयुर्वेदाचार्य] ... ८९ से ९६ तक

अंग्रेजी-विभाग—

1. SOME BRAHMANICAL DEITIES IN JAINA RELIGIOUS ART (By Vasudeva Sharana Agrawala, M.A., Curator, Mathura Museum) 83
2. THE ORIGIN OF THE SWETAMBARA SECT. (By C. R Jain) 93
3. IMPORTANT PAPERS TO JAINISM ETC (The 9th All India Oriental Conference at Trivandrum ... 103
4. THE JAINA SIDDHANTA BHASKAR. (Gist of our Hindi portion: Vol III, Pt. IV) 110
5. AN APPEAL (To Members of the Jain Community) ... 111

॥ श्रीजिनाय नमः ॥

THE JAINA ANTIQUARY.
जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक त्रैमासिक पत्र

भाग ४ | मार्च १९३८। फाल्गुन, वीर नि० सं० २४६४ | किरण ४

जैनसिद्धान्त का प्राचीन स्वरूप

(लेखक - श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन)

वस्तु का प्रत्यक्ष प्रयोगों अथवा परोक्ष अनुमानों द्वारा प्रमाणित हो जाना सिद्धान्त है। जैन सिद्धांत आम्नाय-विशेष का सिद्धांत है जिसे सर्वन्तिमरूप भगवान् महावीर के समवशरण में प्राप्त हुआ था। दूसरे शब्दों में यूँ कहिये कि जिन भगवान्-द्वारा प्रमाणित और प्ररूपित हुआ प्रत्येक सिद्धांत जैन सिद्धांत है। वह केवल वस्तुस्थिति-रूप विज्ञान है, क्योंकि वह एक सर्वज्ञ तीर्थङ्कर का कथन है। निस्सन्देह वह पदार्थ विज्ञान है जिसमें न केवल पार्थिव पदार्थों का ही विश्लेषण हुआ है; बल्कि आत्मविज्ञान भी भरा हुआ है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या वह अपने वर्तमान-रूप में तद्रूप है ?

दुनियां के ढंग को देखते हुये यह जी को नहीं भाता कि हज़ारों वर्षों पहले कही गई बात आज तक वैसी की वैसी चली आई हो—उसमें कुछ भी अन्तर न पड़ा हो। हमारा

रोज़मर्रे का अनुभव तो यह बताता है कि ज़रा-सी बात में भी लोग नमक-मिर्च लगाकर उसे अपनी रुचि के अनुकूल बना लेते हैं। अभी हाल में यू० पी० कांग्रेस-मिनिस्टिरी ने एक विज्ञप्ति लगान बकाया व बेदखली वगैरह की मुलतवी के लिये निकाली, किन्तु उसका अर्थ लगाया गया कि अब लगान माफ हो गया है। अब वह अदा नहीं किया जायगा। हठात् मिनिस्टरों ने इस ग़लतफहमी को दूर करने के लिये एक दूसरी विज्ञप्ति निकाली। जब मौजूदा पुरुषों के वचनों का इस तरह विपर्यय हो सकता है, तब यह कैसे मान लिया जाय कि आज से हज़ारों या लाखों वर्षों पहले हुए महापुरुषों के प्रवचन हमको ज्यों के त्यों मिल रहे हैं?

किंतु जैनसिद्धांत के विषय में एक खास बात है। वह जिन भगवान् का कहा हुआ है। इस काल के पहले जिन भ० ऋषभदेव थे और अन्तिम भ० महावीर वर्द्धमान। वर्द्धमान स्वामी को हुए ढाई हज़ार वर्षों से ज्यादा नहीं हुए हैं। परन्तु साधारण रीत्या इस काल में कथन का विपर्यय होना सहज है—निस्सन्देह भ० वर्द्धमान महावीर के प्रवचन ज्यों के त्यों आज उपलब्ध नहीं हैं—फिर भी उनके द्वारा निरूपित हुए सिद्धांतों में शङ्का नहीं की जा सकती! क्योंकि सिद्धांत की बातों में उक्त प्रकार शङ्का के लिये स्थान ही नहीं है। वह वस्तु-स्थिति है और वस्तुस्थिति में कभी अन्तर पड़ नहीं सकता। सिद्धांत है कि अग्नि के साथ धुआँ होता है—इसे कोई किसी काल में बदल नहीं सकता है। इसमें अन्तर पड़ ही नहीं सकता—यह निखिल सत्य है। इस बात को ध्यान में रख कर यदि उपलब्ध जैन सिद्धांत का अध्ययन किया जाय तो उसमें भ० महावीर के सिद्धांत को पा लेना असंभव नहीं है। सच तो यह है कि जो भी सिद्धांत प्रमाण—कसौटी पर पूरा न उतरे उसे सिद्धांत मानना ही न चाहिये—वह सिद्धान्ताभास है और किसी भी सर्वज्ञ जिन-द्वारा उपदिष्ट नहीं हो सकता। निम्नलिखित पंक्तियों में प्राप्त प्रमाणों द्वारा मुख्य जैनसिद्धांतों की यथार्थता का निरीक्षण करना अभीष्ट है। आशा है, पाठकों को यह रुचिकर होगा।

'जिन' शब्द जैनसिद्धांत की आधार-शिला है। वही जैनसिद्धांत का उद्गम-स्रोत है और उसका अर्थ रागद्वेष पर विजय प्राप्त करनेवाला है। विजय पर-वस्तु पर प्राप्त की जाती है। इसलिये रागद्वेष आदि भाव व्यक्ति को निज वस्तु नहीं हो सकते, परन्तु रागद्वेषादि भावों का अधिकरण वह व्यक्ति प्रत्यक्ष दिखता है। तब इसका भेद क्या है? भेद व्यक्ति के द्वैतरूप में छिपा हुआ है। 'जिन' शब्द के अर्थ में उक्त विरोध जीव और अजीव के अनादि मिश्र-रूप व्यक्ति की सिद्धि करता है। और जैनसिद्धांत की मूल भित्ति जीव और अजीव-तत्व पर निर्भर है। उससे स्पष्ट है कि जीव और अजीव का यद्यपि अनादि सम्बन्ध है और उसके कारण जीव का स्वाभाविक रूप प्रकट नहीं है, तो भी वह शास्वत है और एक दिन अपने पुरुषार्थ से अपने को अजीव से अलग कर लेगा। दुःखों से छूटकर वह दर्शन-ज्ञानमय

निजरूप में अनंत सुखी हो जायगा। अतः देखिये यह 'जिन' शब्द कितना प्राचीन है, क्योंकि जितनी उसकी प्राचीनता होगी, उतनी ही जीव और अजीव-तत्त्व-व्याख्या-रूप जैन-सिद्धांत की प्राचीनता होगी। तब उसका मूलरूप जान लेना कठिन न होगा। मोहन-जो-दड़ो के एक मुद्रा-लेख पर 'जिनेश्वर' शब्द पढ़ा गया है, जैसे कि हम विशेषरूप में आगे लिखेंगे। इससे ई० पूर्व पांच हजार वर्ष पहले इस शब्द का अस्तित्व सिद्ध होता है।* शाकटायन आदि प्राचीन ग्रन्थकारों ने भी इस शब्द को व्यवहृत किया है।

प्राचीन बौद्धनिकाय ग्रन्थों में एक 'दीर्घनिकाय' है। उसके 'ब्रह्मजालसूत्र' में म० बुद्ध के पहले से एक ऐसे संप्रदाय का अस्तित्व बताया गया है, जो निम्न प्रकार अपने सिद्धांत का निरूपण करता था :—

"भिक्षुओ, पहले एक ऐसे ब्राह्मण-श्रमण हैं जो प्रयत्न और तीक्ष्ण विचार आदि-द्वारा हृदय आह्लाद की उस अवस्था में पहुंचते हैं, जिसमें वह हृदय में लीन होकर अपने मन-द्वारा एक दो, तीन, चार, पांच, दस, बीस, तीस, चालीस, पचास, सौ, हजार, बल्कि लाख पूर्वभवों का स्मरण करते हैं। उस स्मरण में जानते हैं कि तब मेरा वह नाम था ....
और मैं इतने वर्ष जीवित रहा था। वहां से मर कर मेरा जन्म यहां हुआ है। इस प्रकार पूर्व स्मरण अपने पहले के घर आदिरूप में कर लेता है और फिर वह विचारता है कि जीव नित्य है, लोक किसी नये पदार्थ को जन्म नहीं देता है। वह पर्वत की भांति स्थिर है—स्तंभ की तरह नियत है। यद्यपि यह जीव संसार में भ्रमण करते हैं और मरण को प्राप्त होते हैं। एक भव का अन्त करके दूसरे में जाते हैं, तो भी वे हमेशा वैसे ही रहते हैं।"

(Dial. Buddha, SBB. I)

इस उल्लेख में किसी संप्रदाय-विशेष का उल्लेख नहीं है, तोभी ग्रंथकार की मंशा बौद्धेतर संप्रदाय से होना स्पष्ट है। उस पर बौद्ध ग्रन्थ 'सुमंगलाविलासिनी' ने ऐसा ही मत भ० महावीर का बताया है। अतः उपर्युक्त उल्लेख में प्राचीन जैनसिद्धान्त का निरूपण हुआ मानना अनुचित नहीं है। जैनसिद्धान्त में कहा गया है कि जीव अपनी सांसारिक अवस्था में जन्म-मरण के चक्र में पड़ा हुआ है, पर उस दशा में भी वह अपने सनातन स्वभाव को नहीं खोता। इसी कारण जैनाचार्य जीव को नित्य मानते हैं और इस लोक को अजीव-तत्त्व के साथ बना अनादि-निधन प्रकट करते हैं। जैनाचार्य अपने ध्यान की उत्कृष्टता में उस ज्ञाननेत्र को पा लेते हैं जिससे वह जीव के ध्रुव रूप, अजीव-सम्बन्ध और संसार-भ्रमण के प्रत्यक्ष दर्शन कर लेते हैं। प्रत्येक 'जिन' अतीत के अनन्त पूर्वभवों को देखते और बतलाते हैं। उनके अतिरिक्त अवधि-ज्ञानी मुनि भी अनेक पूर्वभवों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। तीर्थङ्करों के शिष्यों में

* इण्डियन हिस्टारिकल क्वारटर्ली, भाग ८, परिशिष्ट पृष्ठ १८

ऐसे साधुओं का निर्देश हुआ मिलता है। पहले तीर्थङ्कर ऋषभदेव जी के संघ में केवल-ज्ञानी मुनि बीस हजार—चार ज्ञान के धारी १२७५० और अवधिज्ञानी मुनि नौ हज़ार थे। (आदिपुराण ४७।२०९—४३३) अंतिम तीर्थङ्कर भ० महावीर जी के संघ में उनकी संख्या क्रम से एक हजार पाँच सौ और तेरह सौ थी। यह सभी मुनिगण अपने पूर्वभवों का दिग्दर्शन करते थे और दूसरों के भी पूर्वभव बतलाते थे। जैनपुराण-ग्रन्थों में पूर्वभव बतलाकर जीवों को जैनधर्म का श्रद्धानी बनाने के अनेक उल्लेख मिलते हैं। बौद्ध ग्रंथकार उपर्युक्त उद्धरण-द्वारा ऐसे ही जैनमुनियों और उनके सिद्धांतों का उल्लेख कर रहे हैं। वह सिद्धांत निश्चय और व्यवहार-दृष्टियों को स्पष्ट करते हुए ठीक वैसे ही हैं जैसे आज मिल रहे हैं।

सम्राट् खारवेल के हाथीगुफा वाले प्रसिद्ध शिलालेख में उल्लेख है कि जैनसम्राट् खारवेल पटना को जीत कर वहाँ से 'अग्रजिन'—ऋषभदेव की वह प्रतिमा कलिङ्ग को वापस लाये थे, जिसे एक नन्दराजा कलिङ्ग से उठा ले गये थे और उन्होंने कुमारीपर्वत पर तपश्चरण करके जीव और अजीव तत्त्वों के भेद को जान लिया था।[१] इस उल्लेख से 'जिन' शब्द का ईस्वी पूर्व पाँचवीं शताब्दी में उक्त भाव में प्रचलित होना सिद्ध है। तथा जीव-अजीव तत्त्व की मान्यता भी जैन संघ में प्राचीन काल से प्रमाणित है। किन्तु सब से प्राचीन ऐसा साक्षी सिंधुप्रदेश के मोहनजोदड़ो नामक स्थान से प्राप्त पुरातत्त्व है। वहाँ की मुद्रा नं० ४४९ पर जो लेख अङ्कित है उसे डा० प्राणनाथ ने 'जिनेश्वर' या 'जिनेशः' पढ़ा है।[२] रायबहादुर मि० रामप्रसाद चन्दा ने भी तत्कालीन सिंधुवासी लोगों को वेद-संप्रदाय से भिन्न व्रात्यमत का उपासक लिखा है और उस समय की मूर्तियां की ध्यानमुद्रा ठीक वैसी ही दरसाई है जैसी कि जिनमूर्तियों की होती है।[३] प्रो० ए० चक्रवर्ती महोदय ने गवेषणात्मक-रूप में व्रात्यों को जैनसिद्धांत का भक्त प्रकट किया है।[४] अतः उस समय की मुद्राओं पर 'जिन' शब्द का अङ्कित होना प्राकृत एवं सुसङ्गत है। और यह पुरातत्त्व आज से लगभग छै हज़ार वर्षों जितना प्राचीन है। अतः शिलालेखीय साक्षि 'जिन' शब्द को छै सात हज़ार वर्ष से व्यवहृत सिद्ध करती है। चूंकि इस शब्द का भाव जिनमत के संस्थापक रागद्वेषादि

१. JBORS; Vol. XIII, p. 232 & 234 खारवेल सिरीन जीव देह सिरिका परिखता।

२. "The names and symbols on plates annexed would appear to disclose a connection between the old religious cults of Hindus and Jainas with those of the Indus people. .. It may also be noted that the inscription on the Indus Seal No. 449 reads, according to my decipherment, "*Jineśvara* or *Jineśah*".—Dr. Pran Nath: Indian Hist: Quarterly, VIII Supplement: p. 30.

३. Modern Review, August 1932.

४ Jaina Gazette Vol. XXI. No. 6. व भ० पार्श्वनाथ की प्रस्तावना।

पर विजय करनेवाले महापुरुष के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, इसलिये पहले निर्दिष्ट किये हुए जिनसिद्धांत का रूप भी उतना ही प्राचीन है। अतः जिनसिद्धान्त जो आज जीव-अजीव-तत्त्वरूप मिल रहा है, भगवान महावीर से भी बहुत पहले का है।

उपर्युक्त बौद्ध उल्लेख से भी भ० महावीर के पहले से जिनसिद्धांत में जीव और लोक को अनादि मानने का प्रचार प्रमाणित है। म० बुद्ध के समय में भी जैनों की वैसी ही मान्यता थी—'दीघनिकाय' की 'सुमंगलाविलासिनी' टीका से स्पष्ट है कि भगवान् महावीर जीव और लोक को नित्य मानते थे। जीव को अरूपी और संज्ञी अर्थात् उपयोगमय (conscious) बतलाते थे।[१] वह यह भी कहते थे कि यह जीव अपने मन, वचन, काय-द्वारा कृतकर्मों के कारण शरीर धारण करके जन्म-मरण के दुःख उठाता है। किन्तु ध्यान-द्वारा पूर्वकर्मों को नष्ट किया जा सकता है। कर्मों के नष्ट होने से दुःख का होना बन्द हो जाता है। दुःख के बन्द हो जाने से विषयवासना का क्षय हो जाता है, जिससे संसार में दुःख का अन्त हो जाता है।[२] अन्यत्र भी बौद्धग्रंथ में भ० महावीर की इस शिक्षा का उल्लेख निम्न शब्दों में मिलता है :—

"निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र (महावीर) सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं—वे अशेष ज्ञान और दर्शन के ज्ञाता हैं। उन्होंने कहा है कि 'निर्ग्रन्थो! तुमने पूर्व (जन्म) में पाप-कर्म्म किये हैं, उनकी इस घोर दुश्चर-तपस्या से निर्जरा कर डालो। मन, वचन, काय की संवृति से (नये) पाप नहीं बंधते और तपस्या से पुराने पापों का व्यय हो जाता है। इस प्रकार नये पापों के रुक जाने से आयाति (आश्रव) रुक जाती है; आयाति रुक जाने से कर्मों का क्षय होता है; कर्मक्षय से दुःखक्षय होता है; दुःखक्षय से वेदना-क्षय और वेदना-क्षय से सर्व दुःखों की निर्जरा हो जाती है।"[३]

इस उल्लेख में कर्म का आना (आयाति) लिखा है; इस अपेक्षा कर्म एक ऐसा सूक्ष्म पदार्थ प्रकट होता है जो जीव की मन, वचन, काय की वासनामयी प्रवृत्ति के अनुसार बाहर से आकर जीवात्मा से बंध जाता है। वही तपश्चरण-द्वारा नष्ट भी किया जा सकता है। आज भी जिनसिद्धांत में कर्म को एक प्रकार का सूक्ष्म पुद्गल बतलाया है जो मन-वच-काय-योग की सकषाय अवस्था में उसकी ओर आकृष्ट होता और उसके साथ कालविशेष के लिये बन्ध को प्राप्त होता है।[४] चीन देश के एक "उपयकौसल्य-हृदय-शास्त्र"[५]—नामक प्राचीन बौद्धग्रंथ

१. Sumangalāvilāsinī (P. T. S.) p. 119.
२. Anguttara-Nikaya (P. T. S.), Vol. I p.p. 220-221.
३ मज्झिमनिकाय (P. T. S.) भा० १३ पृ० ९२-९३।
४. तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र अध्याय ६—१८
५. प्रो० टुक्की, वीर, वर्ष ४, पृ० ३५३-३५४

में जिनसिद्धांत में माने हुए कर्म की मूल प्रकृतियों का भी उल्लेख मिलता है[1] और उसमें 'जिनसिद्धांत'—निर्ग्रन्थ-मत में निम्न पदार्थ मान्य प्रकट किये गये हैं :—

(१) जीव, (२) अजीव, (३) पाप, (४) पुण्य, (५) आस्रव, (६) संवर, (७) बंध और (८) मोक्ष।

आजकल जैनों में उक्त आठ पदार्थ निर्जरा-तत्त्व-सहित 'नव-पदार्थ' के नाम से प्रसिद्ध हैं। उक्त चीनी ग्रंथ में दृष्टि-दोष से निर्जरातत्त्व का उल्लेख होना छूट गया है। वैसे 'मज्झिम-निकाय' के पूर्वोल्लेख से 'निर्जरा' तत्त्व का होना प्रमाणित ही है। इस चीनी ग्रंथ में क्रोध-मान-माया-लोभरूप चार कषायों का भी उल्लेख है। इन कषायों के कारण ही जीव कर्मों को, जो एक प्रकार का सूक्ष्म अजीव पदार्थ है, अपने में आकृष्ट करता है। यह आकर्षण आस्रव-तत्त्व और बंधना 'बंध' तत्त्व है। 'संवर' कर्मों की आयाति का रोकना है और 'निर्जरा' तत्त्व उनका सर्वथा अभाव करना है। और कर्मों से 'मुक्त' होना 'मोक्ष' तत्त्व है। कर्म शुभ (पुण्य) और अशुभ (पाप) रूप हैं। इस प्रकार जिनसिद्धांत का वर्तमान रूप अपने मूलस्वरूप के अनुकूल सिद्ध होता है।

पहले एक बौद्ध उल्लेख से यह बता दिया गया है कि कर्मों से निवृत्ति तपश्चरण और ध्यान-द्वारा होती है। वर्तमान जैनसिद्धान्त भी यही कहता है और वह मोक्ष के लिये साधन-भूत शुक्लध्यान बताता है। शुक्लध्यान के अविचार और अवितर्क—इन पहले दो पापों का उल्लेख बौद्धग्रन्थ 'संयुत्तनिकाय' में है[2]। वहाँ भ० महावीर को चित्त नामक व्यक्ति से यह पूछते बताया गया है कि क्या उसे विश्वास है कि श्रमण गौतम (बुद्ध) का ध्यान अवितर्क और अविचार श्रेणी का है और उनने वितर्क और विचार को नष्ट कर दिया है। दूसरे शब्दों में इसका भाव यही है कि क्या म० बुद्ध ध्यान-द्वारा पूर्ण ज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं; क्योंकि अविचार और अवितर्क श्रेणी का शुक्लध्यान बारहवें क्षीणकषाय गुणस्थान में होता है और उसके बाद शीघ्र ही वह जीव सर्वज्ञ हो जाता है।[3] म० बुद्ध का ज्ञान वस्तुतः इस कोटि का नहीं था, यह बात स्वयं बौद्धग्रन्थ 'मिलिन्दपण्ह' के निम्न कथन से स्पष्ट है; जो म० बुद्ध के पूर्णज्ञान के विषय में पूछे जाने पर बौद्धाचार्य ने कही है[4]:—

---

१ उक्त बौद्धग्रंथ में कर्म की मूल प्रकृतियां आठ न बतलाकर छः इस प्रकार बताई हैं :—
(१) दर्शनावरण (२) वेदनीय (३) मोहनीय (४) आयु (५) गोत्र और (६) नाम। इनमें ज्ञाना-वरणीय और अन्तराय कर्म प्रकृति का उल्लेख होने से उसी तरह रह गया है, जिस तरह उसमें 'निर्जरा' तत्त्व का उल्लेख छूट गया है।

२ संयुत्तनिकाय (P. T. S.) भा० ४, पृ० २८७

३ तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र अ० ६

४ मिलिन्दपण्ह (S. B. E. Vol. XXXV P. 154).

"वह ज्ञान की दृष्टि श्रमण गौतम के निकट हर समय नहीं रहती थी। भगवान् की सर्वज्ञता विचार करने पर अवलम्बित थी और जब वह विचार करते थे तो वह उस बात को जान लेते थे, जिसको वह जानना चाहते थे।"

इस पर प्रश्नकर्त्ता राजा मिलिन्द बौद्धाचार्य से कहते हैं कि :—

"इस दशा में जब कि विचार करने से बुद्ध किसी बात को जानते थे, तो वह सर्वज्ञ नहीं हो सकते!"

बौद्धाचार्य राजा के इस तर्क को एक हद तक मानते हुये कहते हैं :—

"यदि ऐसा ही है, सम्राट्! तो हमारे बुद्ध का ज्ञान अन्य बुद्धों के ज्ञान की अपेक्षा सूक्ष्मता में कम होगा और इसका निश्चय करना कठिन है।"

इस बौद्ध उल्लेख से यह भी स्पष्ट है कि उस समय भी प्रत्यक्ष सर्वदर्शी पूर्ण ज्ञान, जो अपने अधिकारी के पास हर समय रहता हो, सर्वज्ञता कहा जाता था। वह ज्ञान-नेत्र था जिससे एक सर्वज्ञ पुरुष सारे लोक का ज्ञान एक साथ रखता था। म० बुद्ध का ज्ञान इस श्रेणी का न होकर अवधिज्ञान था।[१] यही कारण है कि म० बुद्ध ने पूछे जाने पर भी इस विषय में कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया[२] और आत्मा लोक आदि के विषय में कोई निश्चित मत प्रकट नहीं किया,[३] यद्यपि सिद्धान्त में इन बातों का निश्चय करना परमावश्यक है। इसके विपरीत भ० महावीर को बौद्धग्रंथ पद-पद पर सर्वदर्शी और सर्वज्ञ प्रकट करते हैं।[४] वह अपने ज्ञान में सारे लोक को जानते-देखते थे, यह बात भी उस बौद्ध उल्लेख से स्पष्ट है जिसमें कहा है कि "निर्ग्रन्थ ज्ञात पुत्र सर्व लोक को देखते हैं जो उनके ज्ञान से सीमित है।"[५] भगवान के ज्ञान में लोक स्पष्ट दिखता था इस अपेक्षा उनके निकट लोक को सीमित बतलाया गया है। भगवान का पूर्णज्ञान हर समय उनके साथ रहता था; यह बात भी बौद्ध उल्लेख से स्पष्ट है और ये उल्लेख ई० पूर्व चौथी शताब्दी के विश्वसनीय हैं।[६] 'मज्झिमनिकाय' में कहा गया है कि "हमारे चलते, ठहरते, सोते, जागते, समस्त अवस्थाओं में सदैव निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र का ज्ञान और दर्शन उपस्थित रहता था"[७] इन उल्लेखों से उस प्राचीनकाल में सर्वज्ञता का स्वरूप भी स्पष्ट है। वह विशेष पाण्डित्य न होकर वैसा ही पूर्णज्ञान था जैसा कि आज जैन सिद्धान्त में मान्य है। अत एव यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि जैनसिद्धान्त आज भी अपने प्राचीन रूप में मिल रहा है।

---

१ हमारी "भगवान् महावीर और म० बुद्ध" नामक पुस्तक (पृष्ठ ७३)

२ महापरिनिब्बाणसुत्त (S. B E Vol. XI) पृ० १४४ व संयुत्तनिकाय १।७८-७६

३ Diologues of the Buddha (S. B. B., Vol. II) P. 254.

४ "भ० महावीर और म० बुद्ध" पृष्ठ ८८-६०

५ अंगुत्तरनिकाय भा० ४, पृष्ठ १८० V. 1 bid. P. 188.

६ Ibid. P. 188. ७ मज्झिमनिकाय (P. T. S.) भा० १ पृष्ठ ६२-६३

जैन हिन्दी-वाङ्मय

(लेखक—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री)

अब यह बात निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है कि हिन्दी भाषा की उत्पत्ति अपभ्रंश प्राकृत से ही हुई है। केवल हिंदी की ही नहीं; बल्कि उत्तर भारत की सभी भाषाओं एवं मराठी, गुजराती आदि की भी यही जन्मदात्री है। इससे आसानी से जाना जा सकता है कि सुप्राचीन काल में यह अपभ्रंश भाषा अपने अनेक रूप में देशव्यापिनी बनी रही। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह सर्वत्र देशभाषा के रूप में ही उस समय व्यवहृत होती रही। इस प्रकार भारतीय भाषाओं के इतिहास में यह अपभ्रंश भाषा अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। यह प्राचीन संस्कृतादि आर्यभाषाओं एवं देश भाषाओं के बीच की एक समुज्ज्वल लड़ी है। इसकी अनुपलब्धि से यहाँ के भाषाशास्त्र में भाषा-तत्त्वज्ञ विद्वान एक बहुत बड़ी त्रुटि का अनिवार्य अनुभव करते आ रहे थे। इसी के फलस्वरूप १२वीं-१३वीं शताब्दी से पूर्व की हिंदी आदि भाषाओं का इतिहास ही लुप्तप्राय था। अपभ्रंश साहित्य की प्राप्ति से यह त्रुटि दूर हो गई और यह साफ होता जा रहा है कि वर्तमान हिंदी, मराठी, गुजराती, और बंगला आदि भाषायें एक जमाने में इसी अपभ्रंश भाषा के रूप में वर्तमान थीं। यह यहाँ विचारणीय विषय है कि इस अपभ्रंश भाषा के साहित्य को दीर्घकाल से सुरक्षित रखने एवं प्रकाश में लाने का अधिक श्रेय मध्यप्रांत को ही दिया जा सकता है। इस विषय को प्रमाणित करने के लिये मैं यहाँ 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' भाग ८, अंक २ में प्रकाशित स्वर्गीय भारतीय इतिहास के अनन्य मर्मज्ञ श्रीकाशीप्रसाद जयसवाल विद्यामहोदधि, पटना के 'पुरानी हिंदी का जन्मकाल' शीर्षक लेख की कुछ पंक्तियों को ज्यों की त्यों उद्धृत किये देता हूं:—

"सन्तोष का फल मीठा होता है। यह मीठा फल जाबालिपुर से आया। इसे मैं अकेला न खाकर समस्त हिन्दी-भाषियों को भेंट [illegible] मैं [illegible] इसके मात्र [illegible] अधिकारी हूं। इसके चुननेवाले मेरे और हिन्दी-भ[illegible] [illegible] कीर्त्ति, पण्डित प्रवर [illegible] [illegible] मन्दिर-वृत्तों से य[illegible] स[illegible] फल [illegible] [illegible] बहादुर [illegible] प्रदेश की सरकार के लिये एक [illegible] संस्कृत और प्राकृत पोथियां क[illegible] जो उस देशमें पायी गयी हैं (Catalogue of Sanskrit and Prakrit manuscripts in the Central Provinces and Berar Government Press Nagpur 1926) बनाई है। इस अनुसन्धान

तालिका में ८१८५ हस्तलिखित पुस्तकों की चर्चा है जिनमें से नं० ६९२२ से ८१८५ तक प्राकृत ग्रन्थों की इतिवृत्ति है। इनमें १४१५ सम्वत् तक की हाथ की लिखी किताबें हैं। इनमें बेरार जिला अकोला के कारंजा शुभस्थानस्थ श्रीसेनगणीय तथा बलात्कारगणीय और काष्ठा-संघीय जैन भाण्डारों में सुरक्षित पुराने आचार्यों के ग्रन्थ हैं, जो हिन्दी भाषा का पूर्व इति-हास लगातार शताब्दियों को हिन्दी-भाषा-जीवनी-स्वरूप, अपने अङ्क में छिपाये हुए थे। मातृभाषा के इस इतिहास की, फल की जगह, अब रत्न से तुलना करनी चाहिये, क्योंकि रत्न के समान यह चिरस्थायी और प्यारा, हिन्दी भाषियों का उत्तराधिकार और बपौती धन भविष्य में बहुत दिनों तक बना रहेगा। यह स्वनामधन्य ख्याततनामा राय हीरालाल बहादुर के प्रयास और उनकी सूक्ष्मदर्शिता से हम लोगों को प्राप्त हुआ है। इस इतिहास से विदित होता है कि हिन्दी भाषा प्राकृत से अलग हो विक्रमीय दसवीं शताब्दी के पूर्व ही प्रादुर्भूत हो चुकी थी। इस काव्यगत प्राचीन भाषा के लक्षण ये हैं प्राकृत के छन्द छोड़ हिन्दी के छन्दों का प्रयोग, अन्त्यानुप्रास का, जो प्राकृत काव्य में कभी नहीं बरता गया, उदय और अत्रश्योपयोग; शब्द-कलाप में देशी शब्दों का प्राकृत शब्दों के साथ बाहुल्य (देशी शब्द वे हैं जिनकी निःसृति संस्कृत-प्राकृत से नहीं है); फिर सब के ऊपर यह कि व्याकरण प्राकृत का एकदम दूर होकर, हिन्दी व्याकरण का शासन। इन बातों को देखते हुए हमें इस भाषा को पुरानी हिन्दी कहते हुए कोई सन्देह या हिचकिचाहट नहीं होती है।"

उल्लिखित इन पंक्तियों से विज्ञ भाषातत्त्वविद् अपभ्रंश भाषा का महत्त्व आसानी से परख लेंगे। यशोधर-चरित, नागकुमार-चरित, करकण्डु-चरित, सावयधम्म दोहा और पाहुड दोहा आदि अपभ्रंश भाषा के कई जैन ग्रंथ अब कारंजा से प्रकाशित हो भी चुके हैं। इसके संपादन, प्रकाशन आदि का सारा श्रेय 'भास्कर' के अन्यतम सम्पादक प्रो० हीरालाल जी एम०ए०, एल०एल०बी०, अमरावती को है। हर्ष की बात है कि 'महापण्डित' त्रिपिटकाचार्य श्रीराहुल सांकृतायन ने भी इधर बौद्ध साहित्य में अपभ्रंश के कई छोटे-मोटे ग्रंथों का पता लगाया है। वे इन्हें नेपाल और तिब्बत देशों से उपलब्ध हुए हैं। ब्राह्मण-साहित्य में इस भाषा का आदर बहुत कम प्राप्त है; पर वहाँ भी इस भाषा के ग्रन्थों का सर्वथा अभाव नहीं है।

यद्यपि इस प्रकार जैन, बौद्ध एवं हिंदू सभी धर्मों के लेखकों और कवियों ने इस भाषा को अपनाया है। फिर भी इस का विशेष आदर एवं प्रचार जैन साहित्य में ही हुआ है। अपभ्रंश से प्रादुर्भूत जैन हिन्दी साहित्य विशाल ही नहीं बल्कि अधिक महत्त्वपूर्ण है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से इसमें कुछ ऐसी ही विशेषतायें हैं, जो अन्य साहित्य में शायद ही पाई जाती हों। हिन्दी की उत्पत्ति और क्रमिक विकाश की ज्ञान-प्राप्ति करने के लिये हिन्दी

जैनसाहित्य का अध्ययन एवं मनन करना केवल उपयोगी ही नहीं किन्तु परमावश्यक भी है। पर खेद के साथ कहना पड़ता है कि हिन्दी जैनेतर विद्वानों की दृष्टि इधर बहुत ही कम गई है। यहीं तक नहीं बल्कि माधुरी, सरस्वती, विशाल भारत आदि उच्च कोटि के मासिक पत्रों में जहाँ कथा, कहानी आदि की समालोचना में कालम के कालम रंगे रहते हैं वहाँ जैन ग्रन्थों की समालोचना में—छपाई-सफाई, इतनी क़ीमत एवं जैनियों के काम की चीज लिख कर ही समालोचकवृन्द अपने कर्त्तव्य की इतिश्री कर बैठते हैं। उन्हें आमूलाग्र पढ़कर उनकी तह तक पहुंचना एवं उनके दोष-गुणों का विशद विवेचन कर साहित्य के नाते उन्हें सबों के लिये उपयोगी या अनुपयोगी बताना तो वे जानते ही नहीं। मुझे तो आशा है कि यह अपनी चिरसञ्चित संकीर्णता, उदारचेता स्वर्गीय जायसवाल जी की उल्लिखित जैन अपभ्रंश भाषा-विषयक उदार विचार पढ़कर अब से दूर करने की लोग चेष्टा करेंगे। क्योंकि कोई साहित्य किसी सम्प्रदाय-विशेष की पैत्रिक सम्पत्ति नहीं है। वह तो विश्वमात्र का सर्वस्व है। जबतक सभी साहित्य का गम्भीर अध्ययन नहीं किया जाता तबतक किसी साहित्यका पर्याप्त ज्ञान नहीं हो सकता—वह सदा अधूरा ही रहेगा। समालोचक तो साहित्य-न्यायमंच का एक न्यायाधीश है। उसे सदा पक्षपात एवं साम्प्रदायिकता से दूर रह कर निष्पक्षपात दृष्टि से ही समालोच्य विषय का फैसला करना उचित है। जब मैं दक्षिण-प्रांतीय साहित्यिकों की ओर दृष्टि देता हूं तो मेरा हृदय कृतज्ञता से उमड़ पड़ता है। क्योंकि कन्नड और तमिलु जैन साहित्य को अधिक प्रचार और प्रकाश में लाने का श्रेय इन्हीं विद्वानों को है। बल्कि जैन समाज इन अजैन कन्नड और तमिलु साहित्यिकों का चिर ऋणी रहेगा। अस्तु, अब मैं अपने प्रकृत प्रस्तुत विषय पर आता हूं।

यहाँ पर मैं पाठकों का ध्यान एक आवश्यक विषय की ओर आकृष्ट कर देना चाहता हूं। वह यह है कि जिस तरह संस्कृत एवं प्राकृत जैन साहित्य ने भारतवर्ष के इतिहास-निर्माण में पर्याप्त सहायता की है उसी तरह हिन्दी जैन साहित्य भी अपने समय के इतिहास-निर्माण में कम सहायक नहीं होगा। जैन विद्वानों का लक्ष्य सदा से ही इतिहास की ओर अधिक रहा है। प्रत्येक जैन लेखक अपनी रचनाके अन्त में कहीं कहीं पूर्व में भी अपने समय के शासक—राजाओं का एवं गुरु-परम्परा का कुछ न कुछ उल्लेख अवश्य करता आ रहा है। यहां तक कि जिन लोगोंने ग्रन्थों की नकलें कराई हैं और उनका दान किया है, उनका भी कुछ न कुछ परिचय—इतिहास उन ग्रन्थों के अन्त मे लिखा मिलता है। कहीं कहीं तो हस्त लिखित ग्रन्थों में एतद्विषयक बड़ी लम्बी-लम्बी प्रशस्तियां देखने में आती हैं। 'भास्कर' भाग २, पृष्ठ १०३ में 'इतिहास का जैन ग्रन्थों के मंगलाचरण और प्रशस्तियों से घनिष्ठ सम्बन्ध' शीर्षक एक लेख प्रकाशित हो चुका है। उस लेख में अजैन विद्वान् मित्रवर पं० हरनाथ द्विवेदी ने इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है।

एक बात और है। मुझे जहांतक मालूम है कि आज तक के हिन्दी साहित्य के अन्वेषण में पद्यग्रन्थों की ही प्रधानता दी गयी है। गद्य-ग्रन्थ बहुत ही कम हैं। किन्तु हिन्दी जैन-साहित्य को ही यह गौरव प्राप्त है कि इसमें गद्यग्रन्थ भी प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होते हैं। ये ग्रन्थ हिन्दी गद्य-भाषा के विकाश-क्रम समझने के लिये यथेष्ट साधनभूत हैं। सोलहवीं शताब्दी के पूर्व से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक के हिन्दी गद्य-ग्रन्थ जैन साहित्य में प्राप्त होते हैं। पं० हेमराज-रचित पञ्चास्तिकाय एवं प्रवचन-सारकी वचनिकायें, पाण्डे रायमल्ल जी-कृत समयसार की बालबोध टीका और पर्वतधर्मार्थी की बनाई हुई समाधितन्त्र की वचनिका आदि ही हिन्दी गद्यसाहित्य के समुज्ज्वल निदर्शन हैं। खास कर पं० बनारसीदास के अर्द्ध-कथानक केवल हिन्दी साहित्य में ही नहीं; बल्कि सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में एक सर्वप्रथम आत्मकथा यानी जीवन-चरित है।

उपलब्ध हिन्दी जैन साहित्य स्थूल रूप से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। एक दिगम्बर और दूसरा श्वेताम्बर। श्वेताम्बर जैन साहित्य में कथाग्रन्थ ही अधिक हैं। सैद्धान्तिक ग्रन्थ बहुत ही कम। पर दिगम्बर साहित्य में जितने कथा-ग्रन्थ हैं, प्रायः उतने ही सैद्धान्तिक ग्रन्थ भी हैं। सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, गोम्मटसार, प्रवचनसार, समयसार, पञ्चास्तिकाय जैसे महत्त्वपूर्ण एवं गम्भीर सैद्धान्तिक ग्रन्थों की भी वचनिकायें (हिन्दी टीकायें) दिगम्बर साहित्य में मौजूद हैं। इतना ही नहीं परीक्षामुख, आप्त-मीमांसा, न्याय-दीपिका आदि न्याय-ग्रन्थों के भी हिन्दी अनुवाद उपलब्ध हैं। बल्कि किसी किसी ग्रन्थ के दो दो, चार-चार भी अनुवाद कर डाले गये हैं। दिगम्बरियों के संस्कृत तथा प्राकृत साहित्य के प्रायः प्रत्येक विषय पर हिन्दी में कुछ न कुछ अवश्य लिखा गया है। इसी लिये यदि कोई चाहे तो वह केवल हिन्दी भाषा के द्वारा ही दिगम्बर जैन धर्म का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इसी का ज्वलन्त उदाहरण है कि गोम्मटसार आदि की गम्भीर चर्चा करनेवाले सैकड़ों ऐसे जैनी हैं जिन्हें संस्कृत का कुछ भी ज्ञान नहीं है। इसी से दिगम्बर जैन समाज में अपने धर्म की जानकारी रखनेवाले व्यक्ति स्थान-स्थान पर मिलते हैं। पर यह बात श्वेताम्बर समाज में नहीं है। दिगम्बर समाज में देश भाषाओं में सैद्धान्तिक या अन्यविषयक उच्च संस्कृत प्राकृत ग्रन्थोंका अनुवाद एवं प्रचार केवल हिन्दी में ही नहीं बल्कि कन्नड, तमिलु आदि अन्यान्य प्रान्तीय भाषाओं में भी प्रचुर परिमाण में मौजूद हैं। क्योंकि दिगम्बर जैनग्रन्थकर्त्ता इसे जैन धर्म-प्रचार का एक अन्यतम प्रधान साधन समझते थे। वास्तव में यह है भी मान हुई बात। यहां पर और एक बात का उल्लेख कर देना परमावश्यक है वह यह है कि हिन्दी जैन ग्रन्थों का प्रचार केवल हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों में ही नहीं; बल्कि गुजरात और बहुदूरवर्ती दक्षिण प्रान्त में भी है। दाक्षिणात्य जैनी भी गोम्मटसार आदि कठिन से कठिन सिद्धान्त ग्रन्थों के तत्त्वों को हिन्दी टीका-द्वारा दीर्घ काल से समझने की चेष्टा करते

आ रहे हैं तथा इसमें उन्हें सफलता भी मिली है। इसलिये यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि दक्षिण में हिन्दी प्रचार का सूत्रपात पहले पहल हिन्दी जैन साहित्य ने ही किया है। कन्नड और तमिलु साहित्य के समान हिन्दी में भी विपुल मात्रा में गृहस्थों के द्वारा ही ग्रन्थ रचे गये हैं। किन्तु श्वेताम्बर-समाज में इसके विपरीत है। ज्ञात होता है कि इस समाज के गृहस्थों (श्रावक) ने ग्रन्थ-रचना का अपने को अधिकारी ही नहीं समझा। यह बड़े हर्ष की बात है कि दिगम्बर समाज में इधर कुछ शताब्दियों से जब साधु-संघ का अभाव हुआ तब इस सम्प्रदाय के श्रावकों ने ही गुरुओं का यह गुरुतर भार अपने कन्धों पर लेकर अपने धर्म को बचाया।

हिन्दी जैन साहित्य चार भागों में विभक्त किया जा सकता है। (१) सैद्धान्तिक ग्रन्थ (२) पुराण एवं चरित्र आदि (३) पूजा-पाठ (४) भजन, पद तथा विनती आदि। यहां यह उल्लेखनीय बात है कि हिन्दी जैन साहित्य में पूजा-पाठ को पुस्तकें पर्याप्त परिमाण में प्राप्त होती हैं। इसका कारण यही ज्ञात होता है कि दिगम्बर जैन समाज में कुछ शताब्दियों तक पूजा पाठकी प्रधानता रही। यह भक्ति का एक अङ्ग है अवश्य, फिर भी 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' इस नीत्यनुसार कुछ खटकना आवश्यक है। इसका प्रधान कारण भक्ति-काल (१३७५-१७००) ही मालूम होता है। इस विषय में मैं अपनी ओर से कुछ नहीं लिख कर 'हिन्दी शब्द-सागर' (संख्या ४३ ४५, पृष्ठ ७२) का प्रस्तावना गत संपादकीय वक्तव्य की कुछ पंक्तियां ही यहां उद्धृत किये देता हूं। "देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, अभिमान और उत्साह के लिये वह अवकाश न रह गया। उनके सामने ही उनके देवमन्दिर गिराये जाते थे, देवमूर्तियां और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गाही सकते थे और न विना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। अपने पौरुष से हताश जाति के लिये भगवान् की भक्ति और करुणा को ध्यान में लाने के अतिरिक्त सान्त्वना का दूसरा मार्ग ही क्या था? काल के प्रतिनिधि कवि जनता के हृदय को सँभालने और लीन रखने के लिये भक्ति का एक नया मैदान खोलने लगे। क्रमशः भक्ति का प्रवाह ऐसा विस्तृत और प्रबल होता गया कि उसकी लपेट में केवल हिन्दू जनता ही नहीं, देश में बसने वाले सहृदय मुसलमानों में से भी न जाने कितने आ गये। प्रेम-स्वरूप ईश्वर को सामने ला कर भक्त कवियों ने हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को मनुष्यता के एक सामान्य रूप में दिखाया और भेद-भाव के दृश्यों को हटा कर पीछे कर दिया।

भक्ति का जो सोता दक्षिण की ओर से धीरे धीरे उत्तर भारत की ओर पहले से ही आ रहा था उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदय-क्षेत्र में फैलाने का पूरा स्थान मिला।"

देश की ऐसी परिस्थिति में ईश्वर को कर्ताहर्ता नहीं माननेवाले जैन कवि भी यदि इस भक्ति प्रवाह में बह चले, इस में आश्चर्य ही क्या है ?

हिंदी जैनसाहित्य की विचार-धारा शांतरस-प्रधान है। इस के प्रत्येक ग्रन्थ में शांत-सुधा का ही प्रवाह दृष्टिगोचर होता है। शृङ्गारादि-विषयक रचनायें इस साहित्य में नहीं के बराबर हैं। निवृत्ति-प्रधान जैन धर्म के साहित्य में ऐसा होना कोई अनोखी बात नहीं है; फिर भी संस्कृत एवं प्राकृत आदि साहित्य में जैनियों के द्वारा शृङ्गारादि-विषयक ग्रन्थ अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। मालूम होता है कि उस युग के जैनविद्वानों को इस बात का परहेज नहीं था। बल्कि जिनसेन-सदृश विषय-विरक्त बड़े बड़े आचार्यों ने भी शृङ्गाररस से ओत-प्रोत काव्य-ग्रन्थों की रचना की है। इसका प्रधान हेतु यही ज्ञात होता है कि संस्कृत, प्राकृत आदि भाषा कवियों का लक्ष्य धर्म एवं साहित्य दोनों था। पर हिंदी-कवियों का लक्ष्य जैनधर्म का प्रचार एवं रक्षा रहा। फिर भी हिन्दी-कवियों को उससे नफरत नहीं थी, यह बात उन्हीं की रचनाओं से स्पष्ट सिद्ध होती है। इसलिये उन की कृतियाँ काव्योचित गुणों से रिक्त नहीं कही जा सकतीं। जैन काव्य-साहित्य भी जैनेतर काव्यसाहित्यों से कम नहीं है यह बात साहित्य-संसार में दिखाने के लिये अपनी धर्म-प्रभावना के साथ-साथ उल्लिखित जैनाचार्यों को शृङ्गारादि रसमयी रचनाओं की भी सृष्टि करनी पड़ी। यह है भी ठीक—क्योंकि तात्कालिक अन्यान्य प्रौढ़ काव्यों की प्रतियोगिता के अखाड़े में ये भिड़ने से बाज कैसे आते ? फिर भी वे अपने निवृत्तिमार्ग के ध्येय से विचलित नहीं हुए हैं। इसका ज्वलन्त प्रमाण यही है कि इन्होंने अपने ग्रन्थों के नायक तीर्थङ्कर आदि महापुरुषों को ही चुनकर नश्वर सांसारिक विषयों को सुखाभास सिद्ध करते हुए अन्त में उन से अभ्युदय-निःश्रेयस आदि की प्राप्ति करायी है। वास्तव में प्रायः भुक्तभोगी ही सांसारिक निस्सारता का प्रकृत अनुभव कर दृढ़ विरक्त दृग्गोचर होता भी है।

हिंदी जैनकवियों में बनारसी दास सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। रूपचंद, भूधरदास, भगवती-दास आदि भी उच्चकोटि के कवि कहे जा सकते हैं। दीपचंद, द्यानतराय, माल, यशोविजय, वृन्दावन, बुलाकीदास, दौलतराम, बुधजन आदि द्वितीय श्रेणी के कवि हैं। उच्च श्रेणी के कवियों ने प्रायः सैद्धांतिक ग्रंथों की ही रचना की है। इसी से इनकी रचनाओं से साधारण जनता विशेष लाभ नहीं उठा सकती है। भूधरदास जी का 'पार्श्वपुराण' यह एक उच्चकोटि का चरित्र ग्रन्थ है अवश्य ; पर गुणस्थान, कर्म, नरक, स्वर्ग आदि सैद्धांतिक तथा सांकेतिक विषयों के व्यवहरण से यह भी एक सिद्धांत ग्रन्थ सा बन गया है।

गद्यलेखक एवं टीकाकारों में टोडरमल जी ही सर्व-प्रधान हैं। जयचंद, हेमराज, आत्माराम आदि अच्छे लेखकों में हैं। सदासुख, भागचंद, दौलतराम, जगजीवन आदि मध्यम श्रेणी के गद्यरचयिता हैं। श्वेतांबरों में आत्माराम जी को छोड़ कर गण्य-मान्य गद्यलेखक नहीं नजर आते हैं।

अस्तु, अब हिंदी के प्रारंभिक काल पर भी एक नजर दौड़ाना आवश्यक है। इतिहास महोदधि स्वर्गीय श्रीकाशीप्रसाद जायसवाल ने 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित अपने 'पुरानी हिंदी का जन्मकाल' शीर्षक लेख में हिन्दी का जन्मकाल लगभग १०वीं शताब्दी के पूर्व ६ठी—७वीं शताब्दी बतलाया है। परंतु हिंदी के सुयोग्य लेखक एवं सच्चे सेवक, लब्ध-प्रतिष्ठ बाबू श्यामसुन्दर दास जी ने अपनी 'हिन्दी भाषा और साहित्य' नामक मौलिक कृति में तथा पं० रामचंद्रजी शुक्ल ने अपनी 'हिंन्दी साहित्य का इतिहास' इस बहुमूल्य रचना में पुरानी हिंदी का जन्मकाल यथाकथ्चिन् १२वीं शताब्दी का मध्यभाग ठहराया है। भिन्न-भिन्न दो दृष्टिकोणों से उक्त ये दोनों समय विभाग मेरी स्थूल दृष्टि से ठीक जँचते हैं। क्योंकि हिन्दी का जन्मकाल ६ ठी या ७ वीं शताब्दी भले ही हो किन्तु हिन्दी ग्रन्थ १२ वीं १३ वीं शताब्दी से ही लगातार मिलते हैं। ऐसी अवस्था में यह मानना अनुचित नहीं जचता है कि पुरानी हिन्दी का जन्म तो १०वीं शताब्दी से पूर्व ही हुआ था; पर इसने १२वीं शताब्दी के उपरांत ही पूर्णरूपेण हिन्दी का रूप धारण किया। विवक्षित किसी एक भाषा को अपना पूर्वरूप त्याग कर नये सांचे में ढलने के लिये इतना समय का लगना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

अब मैं इस लेख को अधिक बढ़ाना नहीं चाहता हूं, किन्तु अन्त में जैन समाज को लक्ष्य कर के दो शब्द कह देना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूं। वह यह है कि कम से कम अब अपना चिराभ्यस्त साहित्यिक प्रमाद का परित्याग कर जैनियों को साहित्यिक क्षेत्र में उतर आना चाहिये। जब तक हम स्वयं कमर कस कर अपने साहित्योद्धार के लिये सन्नद्ध नहीं होते तबतक दूसरों के अवलम्ब की आशा करते रहने से कुछ भी नहीं होने को है। हमारे जैन साहित्य में सभी चीजें भरी पड़ी है—केवल उन्हें टटोल कर प्रकाश में लाने की ज़रूरत है। अब हम लोगोंको वर्त्तमान समय में जो कार्य स्पष्टतया अनुपयोगी सिद्ध हो रहे हैं, ऐसे कार्यों से थोड़ा हाथ खींच कर इस जैन साहित्योद्धार जैसे पवित्रकार्य में मुक्त हस्त से धन-व्यय करने की सख्त ज़रूरत है। इस अमूल्य साहित्य-प्रकाशन में ही जैन समाज पूर्ववत् अपना सिर ऊंचा रखने में सक्षम हो सकता है। अब वह जमाना नहीं रह गया जब कि मंदिरों और प्रतिमाओं की विरलता को महसूस कर आचार्य-गण इसकी परमावश्यकता बतलाते थे। तब की बात दूसरी थी। जैनियों की संख्या अपार थी एवं मंदिर मुष्टिमेय थे। अब वह बात नहीं रही। जैनियों की संख्या अप्रत्याशित ह्रास को पहुंच गयी है। मंदिरों और प्रतिमाओं का बाहुल्य अब उन्हें सँभाले नहीं सँभलता। प्रतिमाओं की चोरी आदि यत्र-तत्र उत्तरोत्तर बढ़ रही है। ऐसी दशा में जैन-साहित्य और इतिहास की कमी का जो लांछन जैनेतर विद्वान् जैनियों पर लगा रहे हैं इसके प्रतिकार के लिये सभी जैन विद्वानों को संगठित होकर कुछ काल तक साहित्योद्धार को अपना मुख्य ध्येय बना लेना चाहिये। क्या मेरी इन पंक्तियों पर धनी-मानी जैनी ध्यान देंगे?

दिल्ली के सुलतान और कर्नाटक के जैनगुरु

(ले०—श्रीयुत् डा० भास्कर आनन्द सालतूर, एम०ए०, पी०एच०डी०)

कुछ वर्ष हुए जब श्रीलुई राइस साहब ने एक शिलालेख ढूंढ़ा था। परन्तु तब से उस शिलालेख की ओर किसी का ध्यान नहीं गया। खूबी यह है कि उस शिलालेख से दिल्ली के सुलतानों और दक्षिण के जैनगुरुओं के मध्य-स्थित सद्भाव का पता चलता है। वह शिलालेख मैसूर रियासत के अन्तर्गत नगर तालुक, हुम्बुच होबली के हुम्बुच नामक स्थान पर अवस्थित 'पद्मावती-बस्ति' के परकोटे में मिला था। जैन धार्मिक दृष्टि के अतिरिक्त उस शिलालेख से अनेक तत्कालीन राजाओं और जैनगुरुओं का परिचय मिलता है। इसी शिलालेख में दो जैन गुरुओं के विषय में ऐसे उल्लेख हैं जिनसे उनका सम्बन्ध दिल्ली के सुलतानों से प्रकट होता है और उन सुलतानों की सहृदयता विदित होती है।

शिलालेख में अनेक जैनगुरुओं की परम्परा और उनका राजदरबारों में सम्मानित होना अङ्कित है, परंतु उससे हमें कुछ सरोकार नहीं है। हमें तो उन दो प्रसिद्ध गुरुओं से सरोकार है जिनके नाम शिलालेख में क्रमशः सिंहकीर्ति और विशालकीर्ति लिखे हैं। सिंहकीर्ति के विषय में शिलालेख में लिखा है कि "अश्वपति के समय में प्रशंसा-प्राप्त, महान् नैयायिक, जिन्होंने दिल्ली के शासक······मूद सुरित्राण के दरबार में, जिनके अधीन बंगाल्य देश था, बौद्ध एवं अन्यवादियों को सहज परास्त किया था, वह भट्टारक सिंहकीर्ति मुनिराट्, ······विद्या के एक ही गुरु थे।" "बाभाति अश्वपतेर्दिने ततनयो बंगाल्य-देशावृतश्रीमद् दिल्लीपुरे······मूदसुरित्राणस्य माराङ्कनः निर्जित्याशु सभावनम जिनगुरुर् बौद्धादि-वादि-व्रजं श्रीभट्टारक-सिंहकीर्ति मुनि रा······द्येक-विदां-गुरुः")।

उपर्युक्त लेखांश में दिल्ली के सुलतानका नाम मूदसुरित्राण लिखा है और उन्हें दिल्ली का शासक तथा उनके राज्य में बंगाल्य (बंगाल देश) को सम्मिलित बताया है। उनके दरबार में जैन और बौद्ध दोनों वादिओं के वाद हुए थे।

उसी शिलालेख में दूसरा पैरा इस प्रकार प्रारम्भ होता है —

"विशालकीर्ति, एक महान् वक्ता, परमागम के वेत्ता, भट्टारक, बलात्कारगण के मुख्य नायक, एक महान् तपस्वी; सिकन्दर सुरित्राण से जिन्होंने सम्मान पाया, महान् वादियों को परास्त करने से जिनकी कीर्त्ति वृद्धि को प्राप्त हुई, वह लोक के अलङ्कार थे।" ("सिकन्दर सुरित्राणप्राप्तसत्कारवैभवः-महावाद—जयोद्भूतयशोभूषितविष्टपः")

विशालकीर्ति की प्रशंसा एक अन्य हिन्दू नृपति के राजदरबार में प्रतिष्ठित हुई थी। उस राजा के नामोल्लेख से दिल्ली के सुलतानों और उनके समकालीन जैनगुरुओं का समय निश्चित करने में सुविधा प्राप्त है। उक्त शिलालेख में आगे उल्लेख है कि "विद्यानगर के शासक विरूपाक्षराय की राजसभा में वादियों को परास्त करके उन्होंने अपने ज्ञानबल से एक 'जयपत्र' प्राप्त किया, जो विद्वानों और राजाओं द्वारा साक्षात् सरस्वती देवी का ही शासन समझा जाता था। देवप्पदंडनाथ के नगर अरग में उन्होंने महान जैनधर्म को प्रतिपाला और ब्राह्मणों से सत्कार पाया।"[१]

अतः विशालकीर्ति ने दो महान शासकों की राजसभाओं में प्रसिद्धि प्राप्त की थी, अर्थात् विद्यानगर (विजयनगर) के विरूपाक्ष और सिकन्दर सुलतान के दरबारों में। इनके अतिरिक्त एक प्रांतीय शासक देवप्प दंडनाथ के दरबार में भी वह प्रसिद्ध हुए थे।

देवप्प दंडनाथ का कुछ परिचय शिलालेखों से चलता है। दंडनाथ रायप्प का पुत्र बोम्मण नामका था और उसका पुत्र श्रीगिरिनाथ विजयनगर का वायसराय (दंडनायक) था। इसी श्रीगिरिनाथ का पुत्र देवप्प दंडनाथ था। श्रीगिरिनाथ ने अरग (अष्टादश कम्पण) प्रांत का शासन सन् १४२१ से लगभग सन् १४५० तक किया था।[२] तीर्थहल्लि तालुक से उपलब्ध हुए पुत्तिगे मठ के ताम्रपत्र में देवप्प दंडनाथ का सीधा परिचय है। यह ताम्रपत्र सन् १४६३ का है। इस दानपत्र में विजयनगर के राजा मल्लिकार्जुन (इम्मडि देव राय) ने सरविल्लिगे नामक गाँव का दान, उसका नया नाम गजबेटे देवरायपुर रखकर, श्रीगिरिनाथ के ज्येष्ठपुत्र देवप्प दंडनाथ को दिया था, जो महान अरगराज्य के रक्षक थे और जिन्होंने राजा को चिरंजीवी होने के लिये आशीर्वाद दिया। श्रीगिरिनाथ के पुत्र दंडनाथ देवप्प ने राजा की आज्ञा से ब्राह्मणों को बाँट दिया। इस राजकीय दानपत्र से स्पष्ट है कि सन् १४६२ में देवप्प दंडनाथ अरगराज्य पर नृप मल्लिकार्जुन के अधीन शासन करते थे।[३]

विजयनगर के दूसरे सम्राट् विरूपाक्ष के राज्यकाल में भी वह अरगराज्य के शासक रहे थे, यह बात तीर्थहल्लि तालुक के नएटूरमजरे नावल ? ग्राम से प्राप्त शिलालेख (सन् १४६८) से स्पष्ट है। इस लेख में यह कहा गया है कि जब विरूपाक्ष महाराय विद्यानगर में थे—उन्हीं नृप की आज्ञा से महादण्डनायक देवप्प ओडेयर अरग राज्य का रक्षण कर रहे थे।[४] इससे स्पष्ट है कि देवप्प दण्डनाथ अरग के वायसराय सन् १४६३ से क़रीब १४६८ ई० तक थे।[५]

---

१ इपीग्रेफिया कर्नाटिका, भा० ८८ नं० ४६, पृष्ठ १७७-१७८

२ सोशियल एण्ड पोलीटिकल लाइफ इन दी विजयनगर इम्पायर, भा० १ पृ० ३०१

३ इपी० कर्नाटिका भा० ८ पृ० २०६

४ इपीग्रेफिया कर्नाटिका (II); १४४, पृ० १६२

५ सालेतूर, पूर्वोल्लिखित पुस्तक, पृ० ३०२

यह ठीक से नहीं कहा जा सकता कि किस समय श्रीविशालकीर्ति ने जैनधर्म का प्रतिपादन देवप्प दंडनाथ के नगर आरग में किया था; किन्तु इस बात से कि इन्हीं महादंडनायक का उल्लेख विजयनगर सम्राट् विरूपाक्ष के उपरांत हुआ है यह अनुमानगम्य होता है कि विशालकीर्ति की वादविजय सन १४६८ ई० में हुई थी जब कि देवप्प आरगराज्य का शासन सम्राट् विरूपाक्ष राय के अधीन कर रहे थे। जो भी हो, यह निश्चित है कि जब देवप्प दंडनाथ का राज्यकाल सन् १४६३ से १४६८ ई० का मध्यवर्ती काल है तब श्रीविशालकीर्ति जी का समय भी वही होना चाहिये।

इस व्याख्या का समर्थन शिलालेख में उल्लिखित हुए विजयनगर-नृप के व्यक्तित्व का पता लगाने से भी होता है। इसमें संशय नहीं कि पद्मावती-बस्ति के शासन में जिन विरूपाक्ष नृप का उल्लेख है वह मल्लिकार्जुन राय के भाई और देवराय द्वितीय के पुत्र विरूपाक्ष राय थे। उन्होंने सन् १४६७ ई० से सन् १४७८ ई० तक राज्य किया था।[१] इस अपेक्षा श्रीविशाल कीर्तिजी का समय भी इसी समय के मध्य होना चाहिये।

मैसूरु राज्य के अन्तर्गत नागर होबुलि के मललि नामक स्थान पर स्थित पार्श्वनाथ-बस्ति से उपलब्ध शासनलेख से भी जैनाचार्य विशालकीर्ति का अन्तिम समय निर्णीत होता है। यह लेख "श्रीजयाभ्युदय शक वरिष १३९६ नेय विजय संवत्सरद कार्तिक शुद्ध ५ बुद्धवार" का लिखा हुआ है, जो २६ अक्तूबर (मंगलवार) सन १४७३ ई० होता है।[२] इस लेख में वर्णन है कि वादीन्द्र विशालकीर्ति भट्टारक स्वामी के उपदेश से महाप्रभु मन्दुवण्ण नायक के पुत्र भैरण्ण नायक ने मलेयखेड़ नेमिनाथ के हेतु कतिपय भूमि का दान किया।[३] इस लेख में भी विशालकीर्ति जी का विरुद 'वादीन्द्र' पद्मावती शासनलेख के अनुरूप है। आगे, पार्श्वनाथ-बस्ति शासनलेख भी विरूपाक्ष राय के समय का है; क्योंकि इस लेख का पूर्व भाग शक वर्ष १३९५ नेय नन्दन संवत्सरद वैशाख शुद्ध १३ अर्थात् २१ अप्रैल (मंगलवार) सन् १४७२ ई० का लिखा हुआ है।[४] इसमें लिखा हुआ है कि दानमूलसीमे के अन्तर्गत इदुवणे नामक स्थान पर भैरण्ण नायक ने पार्श्वनाथ-बस्ति बनवा कर उसकी प्रतिष्ठा कराई थी। उस समय वह होरुगुप्प हेव्वयल्नाड के शासक नियुक्त थे।[५] अतः पार्श्वनाथ-बस्ति के शासनलेख से न केवल विरूपाक्ष राय और विशालकीर्ति की समसामयिकता का समर्थन होता है, जैसे कि पद्मावती-बस्ति के लेख से भी प्रकट है, बल्कि विशालकीर्ति जी को तिथि जो सन् १४६८ ई०

---

१ राइस, मैसूरु एण्ड कुर्ग फ्राम दी इन्स्क्रीपशन्स, पृ० ११२

२ स्वामी कन्नु, इण्डियन इफ्मेरिस, पंचम, पृ० १४६

३ इपी० कर्ना०, १०३, १७६

४ स्वामी कन्नु, इण्डियन इफ्मेरिस, पंचम, पृ० १४६

५ इपी० कर्नाटिक भाग ८ (Sa. 60) Ibid.

हमने पद्मावती-बस्ति लेख के आधार से निर्णीत की है, उसकी भी पुष्टि होती है। पार्श्वनाथ-बस्ति के शासनलेख के अनुसार विशालकीर्ति जी सन् १४७२ में भी जीवित थे।

इन स्थापित तिथियों के आधार से अब जरा पीछे चलकर आइये, दिल्ली के उन सुलतानों का परिचय प्राप्त करलें जिनके दरबार मे विशालकीर्ति और सिंहकीर्ति ने उल्लेखनीय विजय प्राप्त की थी। विशालकीर्ति जी के विषय मे कहा गया है कि उन्होंने सिकन्दर सुरित्राण से सम्मान प्राप्त किया था। इतिहास-विशारद जानते हैं कि सुरित्राण शब्द 'सुल्तान' का संस्कृतरूप है। साथ ही इतिहास से सिकन्दर नामक पाँच बादशाहों का होना प्रकट है। उनमें से दो दिल्ली के, एक काश्मीर के और एक बीजापुर के शासक थे। पाँचवें सिकन्दर, भोपाल की बेगम थी, जिन्होंने भी अपने को सिकन्दर नाम से पुकारा था। इन पाँचों सिकन्दर नामधारी बादशाहों में से अन्तिम दो इसलिये हमारे मतलब से परे हैं कि उनका समय १७वीं शताब्दी से भी बाद का है।[1] काश्मीर के हिन्दू-विरोधी सिकन्दर सुल्तान भी उपेक्षणीय हैं जिन्होंने सन १३८६ से १४१० ई० तक राज्य किया था।

अब केवल दिल्ली के दो सुल्तान शेष रहते हैं, जिनके नाम क्रमशः सिकन्दर सुल्तान सिकन्दर लोदी और सुल्तान सिकन्दर सूर थे। इनमें से भी हम पहले सिकन्दर लोदी को छोड़ देते हैं, यद्यपि यह बात जरूर है कि उनका समय सन् १४८९—१५१७ ई० विशालकीर्ति जी के समय सन् १४३३—१४७२ ई० के बहुत निकट आता है। किन्तु इस उद्दण्ड और धर्मान्ध सिकन्दर लोदी से, जिसने मथुरा के मंदिरों को नष्ट-भ्रष्ट किया था,[2] यह आशा नहीं की जा सकती कि उसने जैन गुरुओं का अपने दरबार में सत्कार किया होगा!

अतः हम पद्मावती-बस्ति-शासनलेख के सिकन्दर सुरित्राण को सुल्तान सिकन्दर सूर मानने के लिये बाध्य हैं। यह हर कोई जानता है कि महान् शासक शेरशाह के भतीजे सिकन्दर सूर ने अपने भाई इब्राहीम सूर को परास्त करने के उपरांत, जो निकम्मे मुहम्मद शाह का चचेरा भाई था, सिन्धु और गंगा के मध्यवर्ती समूचे देश पर अधिकार प्राप्त कर लिया था। यह बात सन् १५५४ ई० (नवम्बर) की है। बैराम खाँ से हारने पर सिकन्दर सूर के दिन ओछे आये और वह अपने प्राण लेकर भाग गया। दो वर्ष तक वह पंजाब में रुलता रहा। आखिर मई सन् १५५७ ई० को मानकोट के घेरे मे वह पूर्ण परास्त होकर अकबर की शरण आया।[3]

उपर्युक्त घटनाचक्र के अवलोकन करने से यह बात निश्चित प्रतीत होती है कि सन्

१ व १२ स्मिथ, ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री आव इण्डिया, पृ० २७२, २१७, ६२७

२ स्मिथ, पूर्व० पृ० २२३-२२४

३ ईश्वरीप्रसाद, हिस्ट्री ऑव दी मुस्लिम रूल इन इण्डिया, पृ० ३१४-३४२

१५५४ ई० में सुल्तान सिकन्दर सूर दिल्ली का शासक था। संभव है कि इसी साल में विशालकीर्तिजी इनके दरबारमें आये हों और सुल्तान ने उनका सत्कार किया हो। इसका अर्थ यह होता है कि विशालकीर्ति जी का अन्तिम समय सन् १५५४ ई० होना चाहिये। यदि यह मान लिया जाय तो विशालकीर्ति जी का कार्यकाल सन् १४६८ से १५५४ ई० तक होना चाहिये। वैसे वह ८६ वर्ष का लम्बा समय एक व्यक्ति के लिये अधिक है; परंतु जैनसाधुओं के इतिहास में यह अनोखा नहीं है।

अब आइये सिद्धकीर्ति जी के समय को निश्चित करें जो विशालकीर्ति जी से पहले हो चुके थे। पद्मावती-बस्ति के लेख से उनके पारस्परिक सम्बन्ध का कुछ भी पता नहीं चलता है। हाँ, यह बात स्पष्ट है कि उनके मध्य में निम्नलिखित गुरु हो चुके थे अर्थात् मेरुनन्दि, वर्द्धमान, प्रभाचंद्र और अमरकीर्ति।

सिद्धकीर्ति के विषय में हमें ज्ञात है कि उन्होंने अश्वपति के समय में ख्याति प्राप्त की थी। यह स्पष्ट नहीं है कि यहाँ अश्वपति किसी खास सम्राट् का अथवा स्वयं दिल्ली के सुल्तान का द्योतक है। इतिहास में 'अश्वपति' वाक्य का क्या प्रयोग हुआ है, यह देखना यहाँ अनुचित नहीं है। किसी-किसी का कहना है कि उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम क्षेत्रों के शासक अश्वपति, गजपति, नरपति और छत्रपति कहलाते थे[1]। सचमुच ये नाम निरे पौराणिक नहीं हैं, बल्कि भारतीय राजाओंके विरुद थे। किसी-किसी ग्रन्थ में अश्वपति का अर्थ "घोड़ों का सेनापति" (Lords of the Horses) लिखा है।[2] इस अर्थ में इस वाक्य का व्यवहार रामायण-काल में होता था। उस समय एक राजवंश 'अश्वपति' (Lords of the Horse) नामसे विख्यात था, जैसे कि मैक्क्रिन्डिल ने बहुत पहले बताया था। उस वंश का राज्य विपाशा (व्यास) नदीके पूर्वतट पर उसके और इरावती नदियों के मध्य पर्वतीय प्रदेश में था। 'रामायण' में उनकी राजधानी का नाम 'राजगृह' लिखा है, जो आज भी राजगिरि नाम से विद्यमान है।[3]

उत्तर के अश्वपति राजाओं का सर्वप्राचीन उल्लेख उदयगिरि के शिलाशासन में है, जो कुमारगुप्त के समय का सन् ४२५-४२६ ई० का है। उसमें लिखा है कि अश्वपति सैनिक संघिल और उसकी रानी पद्मावती का पुत्र शङ्करदेव था। यह राजा संभवतः गुप्तवंश का था, जैसे कि उक्त लेख से अनुमित होता है। किन्तु यह बात इस लेख की अन्तिम पंक्तियों से स्पष्ट है कि यह राजा उत्तर देश का था। उन पंक्तियों का भाव यह है, "सर्व-

---

१ नील, सि-यू-कि, भाग १ पृष्ठ १३; इपी० इण्डिका, भाग ३ पृष्ठ १३ नोट २

२ स्टोन, लोकप्रकाश, भाग ४······

३ रामायण १२, मैक्क्रिंडिल, एंशियेंट इण्डिया, पृष्ठ १२४

श्रेष्ठ देश उत्तरापथ में जिसका जन्म हुआ, जिस देश का सादृश्य उत्तर कुरु देश से है।"[१]

गङ्ग महाराज मारसिंह के ताम्रपत्र में अश्वपति राजाओं के उत्तरीय राज्य का उल्लेख है। "वीरचूड़ामणि महाराज कृष्णराजदेव ने उत्तरदिशा की दिग्विजय को प्रस्थान करके अश्वपति राजा को जीतने की इच्छा रखनेवाले मारसिंह का गङ्गनाडि के शासकरूप में स्वयं अभिषेक किया।"[२] यह उल्लिखित कृष्णराजदेव महान् राष्ट्रकूट राजाओं में अंतिम कृष्णराज तृतीय थे।[३]

श्रवणबेलगोल के कूगे—ब्रह्मदेव स्तम्भलेख (सन् ९७४ ई०) से ज्ञात है कि वह स्वयं मारसिंह थे "जो गुर्जरराज" कृष्णराज (कृष्ण तृतीय) के लिये उत्तरदेश को जीतने के कारण कहलाये।[४]

अतः उपर्युल्लेखों से प्रमाणित है कि उत्तर देश में अश्वपति-राज्य का अस्तित्व था। अब रही बात 'गजपति' शब्द की, परंतु यह शिलालेख से ही स्पष्ट है कि गजपति-राज्य पूर्व में था। उड़ीसा के गजपति राजाओं ने ११वीं शताब्दी के अंतिम पाद से १६वीं शताब्दी ई० के अंतिम पाद तक राज्य किया था।[५] वह राजा कर्णाटक-वंश के थे।

उड़ीसा के अंतर्गत धौली में प्राप्त अशोक के एक शिला-शासन पर अङ्कित हाथी की मूर्ति, जैसे कि स्व० श्रीराखालदास बनर्जी ने बताया, उल्लेखनीय है, क्योंकि उसमें यह स्पष्ट है कि प्राचीनकाल से ही उड़िसा हाथियों का देश माना जाता है।[६] उधर विक्रम सं० ६११ के लिखे हुए मौखारि राजा ईशान वर्म के शिलालेख में उड़ीसा के आंध्रों का उल्लेख 'त्रयोमुख-मत्त हाथियों के अधिकारी' रूप में हुआ है।[७] महाकवि कालीदास ने कलिङ्ग-शासक का उल्लेख 'गजसाधनः' रूप में करके उस देश को "हाथियों का देश" ही खास तौर पर घोषित किया है।[८]

ईस्वी १२वीं शताब्दी के मध्य से ई० १६वीं शताब्दी के मध्यवर्ती काल के कर्नाटक शिलालेखों में बहुधा अश्वपति, हयपति, तुरगपति, गजपति और नरपति राजाओं का उल्लेख हुआ मिलता है।[९] विजयनगर महाराजाओं ने पहले 'अश्वपति' विरुद को ग्रहण किया था,

१ फ्लीट, गुप्त इंस्क्रिप्शन्स, भाग ३ पृष्ठ २६०
२ मैसोर आर्कालॉजिकल रिपोर्ट सन् १९२१, पृष्ठ २३
३ राष्ट्रकूटास, पृष्ठ १२२
४ इपी० कर्ना०, भाग २ पृष्ठ ११
५ मैसोर इंस्क्रिप्शन्स, xlvii.
६ बनर्जी, हिस्ट्री ऑव ओड़ीसा, १ पृष्ठ ६०
७ इपी० इण्डिका, १४ पृष्ठ ११०-१२१; बनर्जी पृष्ठ ११०
८ रघुवंश ४।४०
९ इपी० कर्नाटिका, ४ पृष्ठ १३१ इत्यादि

जैसे हरिहर राय द्वितीय ने सन् १९३५ ई० में किया था,[1] परंतु उपरांत उन्होंने अश्वपति, गजपति और नरपति विरुदों को एक साथ धारण किया था, जैसे कि उपर्युक्त महाराज ने सन् १४०३ ई० में किया था।[2] महान् कृष्णदेव राय की दिग्विजय के परिणाम-स्वरूप और खासकर उनके सन् १५२० में मुसलमानों को हराने के[3] कारण विजयनगर-राजाओं को 'अश्वपति' और 'गजपति' विरुद धारण करने का अधिकार प्राप्त था।[4]

गोलकुण्डा के सुल्तान ने भी 'अश्वपति' विरुद धारण किया था जैसे कि शक १५२२ (सन् १६०० ई०) के एक शिलालेख से प्रमाणित है।[5] चूंकि गोलकुण्डा-शासक का समय हमारे मतलब के लिये बहुत अर्वाचीन है और चूंकि यह असंभव है कि एक स्वाधीन हिन्दू राज्य, जिसका शासक अश्वपति नाम से विख्यात था, १६वीं शताब्दी में व्यास नदी के किनारे हो जबकि मुसलमान विजेता सिंधु और उसकी परवर्ती नदियों के मध्यवाले देश में सर्वत्र अच्छी तरह जम गए थे, तब हम यही अनुमान कर सकते हैं कि पद्मावती-बस्ति के लेख में जिस अश्वपति का उल्लेख है वह दिल्ली का मुसलमान शासक ही था। उसके व्यक्तित्व का पता अब उत्तरीय भारत क इतिहास की प्रख्यात घटनाओं के आधार से लगाना शेष है।

राइस साहब ने यह शब्द बढ़ा कर लिखा है कि "सुकुमार महमूद सुरित्राण" दिल्ली नगर के शासक; जब कि मूललेख में केवल यह शब्द है: "श्रीमत् दिल्लीपुरे.... मूदसुरित्राणस्य माराकृतेः।" अतः यह समझ में नहीं आता कि राइस सा० ने 'मूदसुरित्राण' वाक्य का अर्थ 'सुकुमार महमूद सुरित्राण' कैसे कर दिया! इसी तरह राइस सा० 'तत न भूसनाढ्य देवव्रत' वाक्य को 'तत नयो वङ्गाल्य देशावृत' बताते हैं। राइस साहब की रचना को मान्यता देते हुए, केवल यह देखिये कि उल्लिखित दिल्ली का शासक कौन है?

यह ऊपर लिखा जा चुका है विशालकीर्त्ति जी का प्राचीनतम समय सन् १४६८ ई० है। इनके और सिंहकीर्ति जी के बीच मे चार गुरु और हैं। यदि प्रत्येक का समय तीस वर्ष माना जाय तो उनका समय यूं बैठता है: विशालकीर्ति सन् १४६८; अमरकीर्ति सन् १४३८ ई०; प्रभाचंद्र सन् १४०८ ई०; वर्द्धमान सन् १३७८ ई०; और मेरुनन्दि सन् १३४८ ई०। सिंहकीर्ति, जो मेरुनंदि से पहले हुए हैं, उनका समय अवश्य सन् १३४८ ई० से पहले होना चाहिये।

---

१ इपी० कर्ना० भाग ८ पृष्ठ १५

२ इपी० कर्ना० १२ पृष्ठ १०१ इत्यादि

३ राइस, मैसूर एण्ड कुर्ग पृ० ११८

४ इपी० कर्ना० ३ पृष्ठ ६१

५ सन् १९२२ की ८४१ आदि

आइये पाठक महाशय, अभीतक जो कुछ लिख आये हैं उसकी जाँच भी कर लें। इसके लिये आवश्यक है कि अन्य स्रोत से उक्त समय की पुष्टि हो—अमरकीर्ति जी से वर्द्धमान जी तक जो समय निर्णीत किया गया है उसका पोषण अन्य शिलालेखों से भी होना चाहिये। उपर्युक्त वर्द्धमान संभवतः श्रवणबेल्गोलस्थ शिलालेख सन् १३७२ ई० में उल्लिखित वर्द्धमान हैं।[1] यह जरूर है कि इस शिलालेख में दी हुई शिष्य-परम्परा का सामञ्जस्य पद्मावती-बस्ति के शिलालेख में वर्णित शिष्य-परम्परा से नहीं बैठता। अमरकीर्ति जी वह अमरकीर्ति हैं जो धनिक वैश्य मायण के गुरु और जैनाचार्य लक्ष्मीसेन भट्टारक के समकालीन थे। इन लक्ष्मीसेन भट्टारक का समय शक १३२८ (सन् १४०५ ई०) होने के कारण उनके समकालीन अमरकीर्ति का समय भी वही होना उचित है।[2] इसका अर्थ यह है कि अमरकीर्ति का अस्तित्व सन् १४०५ ई० से सन १४३८ ई० तक माना जाना चाहिये।

दिल्ली सुल्तान का परिचय पाने के पहले कि जिनके दरबार में सिंहकीर्ति जी ने प्रतिवादियों को परास्त किया था, उनके व्यक्तित्व के विषय में निम्न बातों की पूर्ति होना आवश्यक है; अर्थात् उन सुल्तान को तत्त्वज्ञान के प्रति विशेष अभिरुचि थी, वह इस्लाम के अतिरिक्त अन्य मतों के तत्त्ववेत्ताओं से वाद किया करते थे, वह बङ्गाल देश के स्वामी थे और उनके नाम के अन्त में 'मूद' वाक्य आता था। दिल्ली के सुल्तानों मे केवल मुहम्मद तुग़लक़ ही एक ऐसे सुल्तान थे कि जिनके व्यक्तित्व में उपर्युक्त सभी बातें मिलती हैं। वह सन १३२५ ई० मे तख़्त-नशीन होकर सन १३५१ ई० तक राज्य करते रहे। डा० ईश्वरी प्रसाद ने इन सुल्तान के विषय में जो ग़लतफ़हमी थी उसको दूर करते हुए, स्पष्ट कर दिया है कि सुल्तान महमूद या मुहम्मद तुग़लक़ दिल्ली के मुसलमान बादशाहों में बहुत ही विद्वान् और योग्यता-सम्पन्न शासक थे। वह इस्लाम और अरस्तू के सिद्धांत को खूब जानते थे। उन्हें तत्त्ववेत्ताओं से वाद करने का प्रेम था। उनकी तर्कशालीनता के सम्मुख अच्छे अच्छे तार्किक कन्नी काटते थे। उन्हें हिन्दुओं की धर्ममान्यताओं के प्रति भी सम्मान था। और सन् १३३७ ई० तक बङ्गाल भी उनके अधिकार में था। उसी साल फ़खरूद्दीन ने लखनौती की गवर्नरी हथिया कर अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया था।[3]

अतः इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं, यदि सिंहकीर्ति जी ने सुल्तान मुहम्मद तुग़लक़ के दरबार में प्रसिद्धि प्राप्त की हो। दिल्ली के सुयोग्य सुल्तान-द्वारा निमंत्रित किये गये तत्त्ववेत्ताओं में वह भी एक होंगे। यह कहना कि सुल्तान के सम्मुख उन्होंने कब वादियों को परास्त

१ इपी० कर्ना० भाग २ पृष्ठ १२५

२ मैसूर आर्की० रिपोर्ट सन् १९२७ पृष्ठ ६२ व सन् १९३४ पृष्ठ १७६

३ ईश्वरी प्रसाद, 'मुस्लिम रूल'—पृष्ठ १२४—१२५, १४०, १४१

किया कठिन है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि सुल्तान मुहम्मद तुग़लक़ ने सन् १३२६ ई० में अपनी सरकार दिल्ली से हटाकर देवगिरि (दौलताबाद) में स्थापित की थी और सन् १३३७ ई० में बङ्गाल को वह गँवा बैठे थे। पहली घटना और दिल्ली तथा दक्षिण के सुल्तानी प्रांतों की घनिष्ठता[1] से यह स्पष्ट है कि सुल्तान कर्नाटक और दक्षिण के लोगों के विशेष सम्पर्क में आये होंगे। उधर पद्मावती-बस्ति के शिलालेख से यह स्पष्ट ही है कि सिंहकीर्ति जी के वाद-समय में बङ्गाल सुल्तान के अधिकार में था। इन बातों के आधार से अनुमान किया जा सकता है कि सिंहकीर्ति जी ने सुल्तान मुहम्मद तुग़लक़ के दरबार में सन् १३२६ ई० और सन् १३३७ ई० के मध्य सम्मान प्राप्त किया था।[2]

(कर्नाटक हिस्टारीकल रिव्यू में प्रकट अंग्रेजी लेख का अनुवाद। —का० प्र०)

---

१ ईश्वरी प्रसाद, पृ० १३८

२ मालूम होता है कि सुल्तान मुहम्मद तुग़लक़ को सांस्कृतिक संस्कार अपने सुयोग्य पिता सुल्तान ग़ियासुद्दीन तुग़लक़ से उत्तराधिकार में मिले थे, जिनके दो मंत्री प्रागवाट जाति के जैनी सरदार सूर और नानक थे। यह उल्लेख सोमचरित्रगणि कृत 'गुरुगणरत्नाकर' (१४८५ ई०) में है। इसमें और भी द्रष्टव्य उल्लेख है।
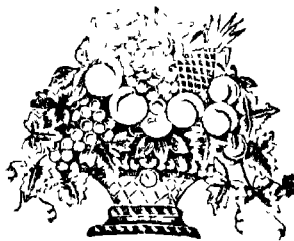
भगवान् पुष्पदन्त और पूज्यपाद स्वामी

[लेखक—श्रीयुत पं० हीरालाल शास्त्री]

वर्त्तमान में उपलब्ध होनेवाले श्रुतज्ञान के सर्वप्रथम लिपिबद्धकर्त्ता या उद्धारक भगवान् पुष्पदन्त और भगवान् भूतबलि हुए हैं। इनका समय भगवान् महावीर के निर्वाण के लगभग ६०० वर्ष बाद का है। भ० पुष्पदन्त ने सर्वप्रथम जिस रचना को लिपिबद्ध किया, वह सूत्रात्मक 'जीवट्ठाण' है। इसके ऊपर आचार्य वीरसेन ने 'धवला' नाम की टीका साठ हजार श्लोकों प्रमाण बनायी। आज इस सिद्धान्तशास्त्र की 'धवल' इस नाम से प्रसिद्धि है। लोकप्रसिद्धवश मैं इस लेख में 'जीवट्ठाण-सिद्धान्त' को 'धवल-सिद्धान्त' नाम से उल्लेख करूंगा।

भ० उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वप्रथम टीकाकार पूज्यपाद स्वामी माने जाते हैं, हालां कि इसके पूर्व में स्वामी समन्तभद्र तत्त्वार्थ सूत्रपर 'गन्धहस्तिमहाभाष्य' के रचयिता प्रसिद्ध हैं। किन्तु आज के उपलब्ध जैन वाङ्मय में उसके अवतरण या उल्लेख न पाये जाने से ऐतिहासिकों को उस के अस्तित्व में सन्देह है। कुछ भी हो इस वक्त उस के बाबत मुझे कुछ नहीं कहना है, उसका निर्णय तो भविष्य में उपलब्ध होनेवाला जैन साहित्य ही करेगा। किन्तु यह तो निश्चित ही है कि तत्त्वार्थसूत्र पर जितनी भी दि० या श्वे० टीकायें उपलब्ध हैं, उन सब में 'सर्वार्थसिद्धि' ही सबसे प्राचीन मौलिक एवं प्रामाणिक मानी जाती है। पूज्यपाद का समय विक्रम की पांचवीं-छठीं शताब्दी माना जाता है और इस प्रकार से भगवान् पुष्पदन्त के लगभग पांच सौ वर्ष बाद उनका समय ठहरता है।

सर्वार्थसिद्धि की—प्रथम अध्याय के आठवें सूत्र (सत्संख्या०) की टीका अपना खास महत्त्व रखती है। उसमें पायी जानेवाली विशेषता न राजवार्तिक में दृष्टिगोचर होती है और न श्लोक वार्तिक या तत्वार्थसूत्र की अन्य दि० श्वे० टीकाओं में ही। इस सूत्र की टीका का गम्भीर एवं गवेषणात्मक अध्ययन करने से पता चलता है कि पूज्यपाद स्वामी के समय तक भगवान् पुष्पदन्त के 'जीवट्ठाण' सिद्धान्त का पठन-पाठन बहुलता के साथ प्रचलित था, क्योंकि इस (सत्संख्या०) सूत्र की समग्र टीका में धवल-सिद्धान्त के मूलसूत्रों का स्पष्ट प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है।

मैं यहाँ पर केवल सत्प्ररूपणा के कुछ उद्धरण देकर उक्त बात को पुष्ट करूंगा—

धवल सिद्धान्त— सत्प्ररूपणा	सूत्र	सर्वार्थसिद्धि प्र० अ० सू० ८
१—अत्थि मिच्छाइट्ठी	सूत्र ७	मिथ्यादृष्टिः
२—सासणसम्माइट्ठी	,, ८	सासदनसम्यग्दृष्टिः
३—सम्मामिच्छाइट्ठी	,, ९	सम्यग्मिथ्यादृष्टिः
४—असंजदसम्माइट्ठी	,, १०	असंयतसम्यग्दृष्टिः
५—संजदासंजदा	,, ११	संयतासंयतः
६—पमत्तसंजदा	,, १२	प्रमत्तसंयतः
७—अपमत्तसंजदा	,, १३	अप्रमत्तसंयतः
८—अपुव्वकरणपविट्ठसुद्धिसंजदेसु अत्थि उवसमा खवा	,, १४	अपूर्वकरणस्थाने उपशमकः क्षपकः
९—अणियट्टिबादरसांपराणिपविट्ठसुद्धिसंजदेसु अत्थि उवसमा खवा	,, १५	अनिवृत्तिबादरसाम्परायस्थाने उपशमकः क्षपकः
१०—सुहुमसांपराइयपविट्ठसुद्धिसंजदेसु अत्थि उवसमा खवा	,, १६	सूक्ष्मसाम्परायस्थाने उपशमकः क्षपकः
११—उवसंतकसायवीयरायछदुमत्था	,, १७	उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थः
१२—खीणकसायवीयरायछदुमत्था	,, १८	क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थः
१३—सजोगकेवली	,, १९	सयोगकेवली
१४—अजोगकेवली	,, २०	अयोगकेवली चेति
१५—संतपरूवणाए दुविहो णिद्देसो-ओघेण आदेसेण य	,, ६	सत्प्ररूपणा द्विधा सामान्येन विशेषेण च
१६—आदेसेण गदियाणुवादेण अत्थि णिरयगदी तिरिक्खगदी मणुस्सगदी देवगदी सिद्धगदी चेदि	,, २२	विशेषेण गत्यनुवादेन नरकगतौ सर्वासु पृथ्वीषु आद्यानि चत्वारि गुणस्थानानि सन्ति
णेरइया चउट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि त्ति	,, २३	

१७—तिरिक्खा पंचसु ट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठी संजदासंजद त्ति	सूत्र २४	तिर्यग्गतौ तान्येव संयतासंयतस्थानाधिकानि सन्ति
१८—मणुस्सा चोद्दसगुणट्ठाणेसु अत्थि मिच्छा०.......................... जाव अजोगकेवलि त्ति	,, २५	मनुष्यगतौ चतुर्दशापि सन्ति
१९—देवा चदुसु ट्ठाणेसु अत्थि मिच्छा० सास० सम्मामि० असं०	,, २६	देवगतौ नारकवत्
२०—एइंदिया बीइंदिया तीइंदिया चउरिं० एक्कम्मि चेव मिच्छाइट्ठिट्ठाणे	,, ३४	इन्द्रियानुवादेन—एकेन्द्रियादिषु चतुरिन्द्रियपर्यन्तेषु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम्
२१—पंचिंदिया० अजोगकेवलि त्ति	,, ३५	पंचेन्द्रियेषु चतुर्दशापि सन्ति
२२—कायाणुवादेण०...........	,, ४०	
पुढविकाइया आउका० तेउका० वाउका० वणप्फइका० एक्कम्मि चेय मिच्छाइट्ठिट्ठाणे	,, ४१	कायानुवादेन पृथिवीकायिकादिषु वनस्पतिकायान्तेषु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम्
२३—तसकाइया बीइंदियप्पहुदि जाव अजोगिकेवलि त्ति	,, ४३	त्रसकायेषु चतुर्दशापि सन्ति
२४—जोगाणुवादेण०.................	,, ४५	
मणजोगो वचिजोगो कायजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव सजोगकेवलि त्ति	,, ६२	योगानुवादेन त्रिषु योगेषु त्रयोदश गुणस्थानानि भवन्ति
२५ - वेदाणवादेण०..................	,, ९८	वेदानुवादेन त्रिषु वेदेषु मिथ्यादृष्ट्याद्यनिवृत्तिबादरान्तानि सन्ति।
इत्थिवेदा पुरिसवेदा असण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति	,, ९९	
णवुंसयवेदा एइंदियप्पहुडि जाव जाव अणियट्टि त्ति	,, १००	
२६—तेण परमवगदवेदा चेदि	,, १०१	अपगत वेदेषु अनिवृत्ति बादराद्ययोगकेवल्यन्तानि।

२७—कसायाणु-वादेण०	सूत्र १०८	कषयानुवादेन क्रोधमानमायासु मिथ्या-दृष्ट्यादीनि अनिवृत्तिबादरस्थानान्तानि सन्ति
कोधकसाई माणकसाई माया कसाई एइंदियप्पहुडि जाव अणि-यट्टि त्ति	,, १०९	
२८—लोभकसाई एइंदियप्पहुडि जाव सुहुमसांपराइय सुद्धि संजद त्ति	,, ११०	लोभकषाये तान्येव सूक्ष्म साम्परायस्थानाधिकानि
२९—अकसाई चउट्ठाणेसु अत्थि उव-संतकसायवीयरायछदुमत्था खीणकसाय वीय० सजोगकेवली अजोगकेवलि त्ति	,, १११	अकषाय: उपशान्तकषाय: क्षीणकषाय: सयोगकेवली अयोगकेवली चेति
३०—णाणाणुवादेण अत्थि०	,, ११२	ज्ञानानुवादेन मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभंगज्ञानेषु मिथ्यादृष्टि: सासादनसम्यग्दृष्टिश्चास्ति
मदिअण्णाणी सुदअण्णाणी एइंदियप्पहुडि जाव सासण सम्माइट्ठि त्ति	,, ११३	
विभंगणाणं सण्णिमिच्छाइट्ठीणं वा सासणसम्माइट्ठीणं वा	,, ११४	
३१—सम्मामिच्छाइट्ठिट्ठाणे तिण्णि वि-णाणाणि अण्णाणेण मिस्साणि याभिणिबोहियणाणं मदिअण्णा-णेण मिस्सियं सुदणाणं सुदअ ण्णाणेण मिस्सियं ओहिणाणं विभंगणाणेण मिस्सयं तिण्णि वि-णाणाणि अण्णाणेण मिस्साणि वा	,, ११६	
३२—आभिणिबोहियणाणं सुदणाणं ओहिणाणं असंजदसम्माइट्ठिप्प-हुडि जाव खीणकसाय वीदराग-छदुमत्थ त्ति	,, ११७	आभिनिबोधकश्रुतावधिज्ञानेषु असंयत-सम्यग्दृष्ट्यादीनि क्षीणकषायान्तानि सन्ति
३३—मणपज्जवणाणी पमत्तसंज-दप्पहुडि जाव खीणकसायवीद-राग-छदुमत्थ त्ति	,, ११८	मन:पर्ययज्ञाने प्रमत्तसंयतादय: क्षीणकषायान्ता: सन्ति

३४—केवलणाणी तिसु ठाणेसु सजोग-केवली अजोगकेवली सिद्धा चेदि	,, ११९	केवलज्ञाने सयोगोऽयोगश्च
३५—संजमाणुवादेण	,, १२०	संयमानुवादेन संयताः प्रमत्तादयोऽग केवल्यन्ताः ।
संजदा पमत्तसंजदप्पहुडि जाव अजोगकेवलि त्ति	,, १२१	
३६—सामाइयछेदोवट्ठावणसुद्धिसंजदापमत्तसंजदप्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति	,, १२२	सामायिकच्छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयताः प्रमत्तादयोऽनिवृत्तिस्थानान्ताः ।
३७—परिहारसुद्धिसंजदा दोसु ठाणेसु पमत्तसंजदट्ठाणे अपमत्त संजदट्ठाणे	,, १२३	परिहारविशुद्धिसंयतो प्रमत्ताप्रमत्ताश्च
३८—सुहुमसंपरायसुद्धिसंजदा एक्कम्मि चेय सुहुमसंपराइयसुद्धि संजदट्ठाणे	,, १२४	सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयता एकस्मिन्नेव सूक्ष्मसाम्परायस्थाने
३९—जहक्खादविहारसुद्धिसंजदा चदुसु ट्ठाणेसु उवसंतकसायवीयरायछदुमत्था खीणकसायवी० सजोगकेवली अजोग केवलि त्ति	,, १२५	यथाख्यातविहारसुद्धिसंयताः—उपशांतकषायादयोऽयोगकेवल्यन्ताः
४०—संजदासंजदा एक्कम्मि चेय संजदा-संजदट्ठाणे	,, १२६	संयतासंयता एकस्मिन्नेव संयतासंयतस्थाने
४१—असंजदा एइंदियप्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्ठि त्ति	,, १२७	असंयता आद्येषु चतुर्षु गुणस्थानेषु
४२—दंसणाणुवादेण०	,, १२८	दर्शनानुवादेन चक्षुर्दशनाचक्षुर्दशनयोर्मिथ्यादृष्ट्यादीनि क्षीणकषायान्तानि सन्ति
चक्खुदंसणी चउरिंदियप्पहुडि जाव खीणकसायवीयरायछदुमत्था त्ति	,, १२९	
अचक्खुदंसणी एइंदियप्पहुडि जाव खीणकसायवीयरायछदुमत्था त्ति	,, १३०	
४३—ओहिदंसणी असंजदसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव खीणकसायवीयराय छदुमत्था त्ति	,, १३१	अवधिदर्शने असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि क्षीणकषायान्तानि

४४—केवलदंसणी तिसु ट्ठाणेसु सजोग-केवली अजोगकेवली सिद्धा चेदि	,,	१३२	केवलदर्शने सयोगकेवली अयोगकेवली च
४५—लेस्साणुवादेण०	,,	१३३	लेश्यानुवादेन कृष्णनीलकपोतलेश्यासु मिथ्यादृष्ट्यादीनि असंयतसम्यग्दृष्ट्यन्तानि सन्ति
किण्हलेस्सिया णीललेस्सिया काउलेस्सिया एइंदियप्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्ठि त्ति	,,	१३४	
४६—तेउलेस्सिया पम्मलेस्सिया सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव अपमत्तसंजद त्ति	,,	१३५	तेजःपद्मलेश्ययोर्मिथ्यादृष्ट्यादीनि अप्रमत्तस्थानान्तनि ।
४७—सुक्कलेस्सिया सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव सजोगकेवलि त्ति	,,	१३६	शुक्ललेश्यायाँ मिथ्यादृष्ट्यादीनि सयोगकेवल्यन्तानि
४८—तेण परमलेस्सिआ	,,	१३७	अलेश्या अयोग-केवलिनः ।
४९—भवियाणुवादेण०	,,	१३८	भव्यानुवादेन भव्येषु चतुर्दशापि सन्ति
भवसिद्धिया एइंदियप्पहुडि जाव अजोगकेवलि त्ति	,,	१३९	
५०—अभवसिद्धिया एक्कम्मि चेय मिच्छाइट्ठिट्ठाणे	,,	१४०	अभव्या आद्य एव स्थाने
५१—सम्मत्ताणुवादेण०	,,	१४१	सम्यक्त्वानुवादेन क्षायिकसम्यक्त्वे असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि अयोगकेवल्यन्तानि सन्ति
सम्माइट्ठीखइयसम्माइट्ठीअसंजदसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव अजोगकेवलि त्ति	,,	१४२	
५२—वेदगसम्माइट्ठी असंजदसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव अपमत्तसंजद त्ति	,,	१४३	क्षायोपशमिकसम्यक्त्वे असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि अप्रमत्तान्तानि
५३—उवसमसम्माइट्ठीअसंजदसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव उवसंतकसायवीदरागछदुमत्थ त्ति	,,	१४४	औपशमिकसम्यक्त्वे असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि उपशांतकषायान्तानि
५४—सम्मामिच्छाइट्ठी एक्कम्मि चेव सम्मामिच्छाइट्ठिट्ठाणे	,,	१४५	

सासणसम्माइट्ठी एक्कम्मि चेव- सासणसम्माइट्ठिट्ठाणे	,, १४६	सासादनसम्यग्दृष्टिः सम्यङ्मिथ्यादृष्टि- मिथ्यादृष्टिश्च स्वे स्वे स्थाने
मिच्छाइट्ठी एइंदियप्पहुडि जाव सण्णिमिच्छाइट्ठि त्ति	,, १४७	
५५—सण्णियाणुवादेण०	,, १७०	संज्ञानुवादेन संज्ञिषु द्वादशगुणस्थानानि क्षीणकषायन्तानि
सण्णीमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव खीणकसायवीयरागछदुमत्थ त्ति	,, १७१	
५६—असण्णीएइंदियप्पहुडि जाव असण्णिपंचिंदिय त्ति	,, १७२	असंज्ञिषु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम्
५७—आहाराणुवादेण०	,, १७३	आहारानुवादेन आहारकेषु मिथ्यादृष्ट्या- दीनि सयोगकेवल्यन्तानि
आहारा एइंदियप्पहुडि जाव सयोगकेवलि त्ति	,, १७४	
५८—अणाहारा चदुसु ट्ठाणेसु विग्गहगइसमावण्णाणं केवलीणं वा समुग्घादगदाणं अजोग- केवली सिद्धा चेदि	,, १७५	अनाहारकेषु विग्रहगत्यापन्नेषु त्रीणि गुण स्थानानि-मिथ्यादृष्टिः सासादनसम्य० असंयतसम्यग्दृष्टिश्च । समुद्घातगतः सयोगकेवली अयोगकेवली च

उपर्युक्त उद्धरणों को देखते हुए यह कहने को मन चाहता है कि मानों भगवान् पुष्पदन्त के सिद्धान्त-सूत्रों का पूज्यपाद स्वामी ने संस्कृतानुवाद कर दिया हो। किन्तु ऐसा मान लेने पर भी पूज्यपाद स्वामी के असमान पाण्डित्य में कोई बट्टा नहीं आता, क्योंकि पूज्यपाद स्वामी के समय में संस्कृत भाषा का ही सर्वत्र प्राबल्य था। उसमें ही सर्व मतमतान्तरों के विद्वान् अपने अपने धार्मिक, दार्शनिक, साहित्यिक ग्रन्थों की रचना कर रहे थे और उस समय ब्राह्मणों का संस्कृत-भाषा-पाण्डित्य सर्वत्र विचर रहा था, इसलिए जैनाचार्यों को भी यह उचित प्रतीत हुआ कि जैन वाङ्मय सम्बन्धी साहित्य की रचना भी संस्कृत भाषा में ही की जाय जिससे हमारा साहित्य जैनेतर साहित्य के मुकाबिले में किसी प्रकार हीन न समझा जाय। इसके पूर्व तक सारा जैन साहित्य प्राकृत भाषामय था पर पांडित्याभिमानी-ब्राह्मणों ने अपने नाटकादि ग्रंथों में संस्कृत के मुकाबिले में प्राकृत भाषा का नीचा स्थान दिया अर्थात् नीच पात्रों की भाषा प्राकृत रखी और सर्वसाधारण की दृष्टि में प्राकृत हल्की भाषा समझी जाने लगी तब जैनाचार्यों को भी संस्कृत भाषा अपनानी पड़ी।

पाठकगण यहां यह शंका उपस्थित कर सकते हैं, कि यह कैसे मान लिया जाय कि पूज्यपाद के सामने सिद्धांत-सूत्र रहे हैं और उन्होंने उनका संस्कृतानुवाद सर्वार्थसिद्धि में

दिया है। परन्तु इसका उत्तर हमें इसी लेख के नं० ३१ से मिल जाता है जिसमें मिश्रगुणस्थान के मिश्रज्ञानों का वर्णन सिद्धांत-सूत्र में तो किया गया है पर सर्वार्थसिद्धि में उक्त बात बिलकुल ही नहीं दी गई है। कोई यह कह सकते हैं कि संभव है, पाठ छूट गया हो पर यथार्थ में पाठ नहीं छूटा है। किंतु जान बूझ कर वह विषय छोड़ा गया सा प्रतीत होता है। कारण कि पूज्यपाद स्वामी के हृदय में यह तर्क उठा कि सम्यक्तता या मिथ्यापना हो 'दर्शन' के साथ सम्बन्ध रखने वाली वस्तुयें हैं, यहां ज्ञान में उनका क्या सम्बन्ध? फिर भी उनके हृदय में यह प्रश्न खड़ा ही रहा कि मिश्रगुणस्थानवर्ती ज्ञानों को 'ज्ञान' कहा जाय या 'अज्ञान'? यदि ज्ञान मानें—तो उनकी गिनती सम्यग्ज्ञानरूप मति श्रुत ज्ञान की गुणस्थान-संख्या के साथ होना चाहिए और यदि 'अज्ञान' मानें तो उनकी गिनती कुमति कुश्रुत ज्ञान के गुणस्थानों के साथ की जानी चाहिए? पर वे तो उसे एकदम ही छोड़ गए हैं जो कि एक विचारणीय बात है। परन्तु धवलसिद्धांत के मूल सूत्रकार तो उसे बहुत ही स्पष्ट सूत्र-द्वारा (सूत्र नं० ११६) उस बात को प्रकट करते हैं कि इस मिश्रगुणस्थान में जब मिश्रभाव है, मिश्र सम्यक्त्व है, तो फिर उनके ही अनुरूप मिश्रज्ञान भी क्यों न मान लिया जाय। इसीलिये उन्होंने उसे तदनुसार ही सूत्र में निबद्ध किया है।

श्रुतसागर सूरि ने भी श्रुतसागरी टीका में इसी स्थान पर निम्न प्रकार से शंका उठाकर इसका समाधान करना चाहा है, पर वे भी इसका उचित समाधान नहीं कर सके हैं। क्योंकि जो समाधान किया है उसकी पुष्टि किसी सिद्धांतग्रंथ से नहीं होती, बल्कि विरोध ही आता है। वह अंश इस प्रकार है:—

"सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानमज्ञानं च केवलं न संभवति, तस्याज्ञानत्रयाधारत्वात्। उक्तं च— 'मिस्सेणाणत्तयं मिस्सं अण्णाणत्तयणेति।' तेन ज्ञानानुवादे मिश्रस्यानभिधानं, तस्याज्ञान-प्ररूपणायामेवाभिधानं ज्ञातव्यम्। ज्ञानस्य (?) यथावस्थितार्थविषयत्वाभावात्।"

यह बात तो बिलकुल स्पष्ट ही है कि श्रुतसागरी टीका बिलकुल ही सर्वार्थसिद्धि का शब्दशः अनुकरण करती हुई लिखी गई है, जिसका अर्थ यह होता है कि श्रुतसागरसूरि के हृदय में भी यह शंका उठी कि पूज्यपाद स्वामी ने इस मिश्रगुणस्थान में ज्ञान या अज्ञान का निरूपण क्यों नहीं किया? उसका समाधान उन्होंने उक्त रूप में करना चाहा है, पर यह एक आश्चर्य की ही बात है कि स्वयं ही सिद्धांतसूत्र का उद्धरण देते हुए उन्होंने मिश्रगुणस्थान में मिश्रज्ञान कहने का साहस नहीं किया। क्योंकि उनके ध्यान में संभवतः यह बात सामने रही मालूम पड़ती है कि यदि हम इस गुणस्थान में मिश्रज्ञान मानेंगे तो लोग इसे पूज्यपाद

की त्रुटि समझेंगे या फिर हमारे ही कथन को अप्रमाण समझेंगे। इसलिए उन्होंने उस बात की ओर संकेत भी किया, सिद्धांतसूत्र का उद्धरण भी दिया और एक हलका सा समाधान भी कर दिया। जो कुछ भी हो पर इतना तो इस बात से पता चलता ही है कि श्रीपूज्यपाद स्वामी के सामने सर्वार्थसिद्धि रचते समय धवलसिद्धांत के मूलसूत्र अवश्य थे। इस बात का और भी प्रबल समर्थन आगे की संख्या, क्षेत्र आदि प्ररूपणाओं के देखने से बखूबी हो जाता है जिसका यह अर्थ होता है कि आज से डेढ़ हजार वर्ष पूर्व इस सिद्धांतग्रंथ का पठन-पाठन बहुत जोरों से होता रहा है और होना ही चाहिये था—क्योंकि यही अमूल्यनिधि तो हमारे महर्षियों ने विरासत में सौंपी है।

क्या दिगम्बर समाज में तपागच्छ और खरतरगच्छ थे ?

[लेखक—श्रीयुत अगरचन्द नाहटा]

भास्कर की विगत किरण में बाबू कामताप्रसाद जी ने 'श्रीसंघ तपागच्छ और खरतरगच्छ' सम्बन्धी एक लघु लेख प्रकाशित किया है। उसमें दिगंबर जैनों के काष्ठासंघ में तपा और खरतरगच्छ का उल्लेख व सम्बन्ध बतलाने की चेष्टा को गई है, परन्तु जाँच करने पर वह ठीक नहीं ज्ञात होती, वस्तुतः दिगंबर सम्प्रदाय में तपागच्छ एवं खरतरगच्छ नाम का कोई भी गच्छ नहीं हुआ, किसी भी दिगंबर ग्रन्थ से इस संबंध में कोई भी सूचना आज तक नहीं मिली। लेखक महोदय ने जिन दो लेखों की नकल तपागच्छ के प्रमाणस्वरूप दी है, उनके अर्थ निकालने और समझने में भ्रान्ति हुई ज्ञात होती है। संवत १७६५ माघ बदी ५ सोमवार वाला लेख तपागच्छीय विजयरत्नसूरि का है जिसकी पूर्ण नकल बाबू पूरणचंद्र जी नाहर के जैनलेख-संग्रह भाग १, पृष्ठ १५ लेखाङ्क ६४३ के अनुसार नीचे लिखी जाती है।

"संवत् १७६५ वर्षे माघमासे कृष्णपक्षे पंचमीतिथौ सोमवासरे भट्टारकश्रीविजयरत्नकेश्वर तपागच्छे काष्ठासंघे श्रा० पु० दे० वृ० श.० मुहतागोत्रे मुहताजी श्रीरामचन्द्रजी तस्य भार्या बाई सूर्यदेवि तस्यात्मज मुहताजी श्रीसोभागचंदजी मुहताजी श्रीसातुजी भाई मुहताजी श्री हरजीजी श्रीपार्श्वनाथजिनबिंबं स्थापितं।"

इस में उल्लिखित विजयरत्नसूरि श्वे० तपागच्छ में ही हुए हैं जिसके कतिपय प्रमाण यहाँ उद्धृत किये जाते हैं:—

(१) नाहर जी के उक्त लेखसंग्रह के लेखांक ३०० में संवत् १७७१ का एक लेख विजयरत्नसूरि के समय में प्रतिष्ठित है, वह इस प्रकार है:—

"सं० १७७१ वर्षे शाके १६३६ वर्षे मगसिर सुदि १ शुक्रे मान्नपुरवास्तव्य मोराणी गोत्रीय सा० वेणीदास तत्पुत्र सा० भीमसी तत्पुत्र सा० मयाचंद वासी हाजीपुर पटना का० तेन शान्तिबिंबं गृहीतं श्री मेदिनीपुरे प्रतिष्ठितं श्रीतपागच्छे भ० विजयरत्नसूरि राज्ये, पं० जयविजयगणिभिः॥ श्री॥"

इस लेख में काष्ठासंघ का कोई उल्लेख नहीं है। हो भी कैसे जब कि ये श्वेताम्बर तपागच्छ में ही हुए हैं।

(२) 'पट्टावला-समुच्चय' पृष्ठ १७६ में आपका विशेष परिचय इस प्रकार दिया है :—

"तत्पट्ट (विजयप्रभसूरि) ६३ श्रीविजयरत्नसूरि पिता हीरानंद माताहीरादे पालहणपुरे जन्म, सं० १७२२ दीक्षा, सं० १७३२ आचार्यपदं सं० १७५० सूरिपदं सर्वायु ६३ वर्षाणि प्रपाल्य सं० १७७३ भाद्रवा बदि २ उदयपुरे स्वर्ग गतः।"

पृष्ठ १६२ में इन्हीं विजयरत्नसूरि के भ्राता पं० विमलविजयगणि के वाचनार्थ उ० रविवर्द्धन गणी समुद्धृत 'पट्टावलीसारोद्धार' छपा है जिसकी रचना सं० १७४० में विजयरत्नसूरि की विद्यमानता में ही हुई है, उसमें भी लिखा है :—

"श्रीसूरयः संवत् १७३२ वर्षे श्रीनागौर नगरे पालणपुरवास्तव्य ओकेशज्ञातीय-सा० हीराभार्या हीरादे पुत्ररत्नं श्रीविजयरत्नसूरिं स्वपट्टे संस्थाप्य श्रीमेड़तानगरे चतुर्मासकं तस्थौ।"

(३) 'जैनगूर्जरकविओ' भाग २ पृष्ठ ७२९ मे आपका विशेष परिचय दिया है। विस्तार भय से यहां नहीं दिया जाता, पाठकों को वह ग्रंथ देख लेना चाहिये।

(४) 'जैन ऐतिहासिक गुजरकाव्यसंचय' पृष्ठ ३७ मे रामविजयविरचित 'विजयरत्न सूरिनिर्वाणरास' प्रकाशित है उसमें आप के जन्म से निर्वाण तक की घटनाओं के ऐतिहासिक वर्णन में चित्तौड़ के राणा को प्रतिबोध और उदयपुर मे चार चातुर्मास करने और स्वर्गवास भी वहीं होने का लिखा है। अतः धुलेवा का उपर्युक्त लेख अवश्य आपके प्रतिष्ठित ही है और आप श्वेतांबर तपागच्छीय ही थे इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता। उपर्युक्त लेख में काष्ठासंघ लिखा है वह मूर्ति बनानेवाले श्रावक के गच्छ का द्योतक होगा। श्वेतांबर समाज में ऐसी उदारताएं बहुत सी दृष्टिगोचर होती हैं जिनके विषय में एक विस्तृत निबन्ध लिखा जा सकता है।

श्वेतांबर मन्दिरों में आज भी अनेक दिगम्बराचार्य प्रतिष्ठतमूर्तियां निःसंकोचतया पूज्य भाव से पूजी जाती है और कई प्रतिमाएं तो मूलनायकरूप से भी विद्यमान हैं। श्वेतांबर समाज के जैनलेखसंग्रह जो नाहरजी और बुद्धिसागर सूरि जी आदि द्वारा सम्पादित प्रकट हुए है, उनमें अनेकों लेख दिगंबराचार्यप्रतिष्ठित मूर्त्तियों के भी हैं।

दूसरा लेख सं० १७८० वाला अभी तक स्पष्ट नहीं पढ़ा गया है और जो कुछ पढ़ा गया है उसमें किसी दिगम्बर संघ या गच्छ का उल्लेख भी नहीं है। मूर्त्ति दिगम्बर हो और प्रतिष्ठा किसी तपागच्छीय यति ने करवाई हो तो इसके विषय में श्वेतांबरों की उदारता ही कारण है जो ऊपर लिखी जा चुकी है।

सं० १८१७ लिखित गुटके में भी खरतरगच्छ के नाम के साथ किसी दिगंबर संघ या

गच्छ का उल्लेख नहीं है। उसके लिखनेवाले उपाध्याय नन्दलाल के शिष्य हर्षचन्द्र के शिष्य नरसिंह भी श्वेतांबर खरतरगच्छ में ही हुए हैं जिसके कतिपय प्रमाण नीचे दिये जाते हैं :—

(१) उपाध्याय नन्दलाल खरतरगच्छीय क्षेमकीर्तिशाखा के सुप्रसिद्ध सत्रहवीं शताब्दी के महोपाध्याय सहजकीर्ति जी के शिष्य वा० सहजहर्ष के शिष्य रत्नसुन्दरजी के शिष्य थे[१] उनका दीक्षा नाम नेमरंग जी था।

(२) खरतरगच्छ के श्रीपूज्यजीके दफ्तर में, वा०सहजहर्ष के शिष्य रत्नसुन्दर जी के गृहस्थावस्था का नाम राजसी और दीक्षा सं० १७४१ पोष सु० ७ गुरौ साचोर में जिनचंद्र सूरि जी ने दी थी, नन्दलाल[२] (नेमिरंग) की दीक्षा सं० १७५६ माघ सुदि ५ सोजत में हुई थी एवं जिस नरसिंह का प्रस्तुत गुटका लिखा हुआ है उनकी दीक्षा सं० १८०७ जेठ सुदि ३ जेसलमेर में जिनलाभसूरि द्वारा हुई और नेमिदत्त नाम रखा गया था, लिखा है :—

सं० १८१७ में नरसिंह यति ने ढाका शहर में चतुर्मास किया था। उस समय अग्रवाल इच्छाराम के पठनार्थ गुटका लिख दिया गया होगा। परन्तु इससे उनका काष्ठासंघ से सम्बन्ध होना प्रमाणित नहीं हो सकता। यतियों ने तो दिगम्बर क्या ? जैनेतरों के लिये भी कई ग्रंथ लिखे व रचे हैं। इसी प्रकार आदिपुराण सुनाने से भी खरतरगच्छीय नरसिंह मुनि का दिगम्बर सम्प्रदाय से सम्बन्ध न हो कर इच्छाराम के उनके भक्त होने और यतिजी की उदारता ही प्रकट होती है। वे दिगम्बर ग्रन्थों और दिगम्बर क्रियाकाण्डों से परिचित अवश्य होंगे, क्योंकि जहां जैनेतरों के शास्त्रों का भी पठन-पाठन का अभ्यास रखा जाता था, वहां अपने ही दिगम्बर जैनों के ग्रन्थ पढ़ें उसमें आश्चर्य ही क्या है ? श्वेताम्बर मुनियों ने तो दिगम्बर ग्रन्थों को मनन कर उन पर टीकाएं भी रची हैं जिन में से कुछ टीकाओं के नाम हमें ज्ञात हैं, वे नीचे लिखे जाते हैं:—

१ अष्टसहस्रीटीका—यशोविजय उ० कृत

२ पद्मनंदिकृतपार्श्वजिनअष्टकटीका—मुनिशेखरसूरिकृत

---

१ इनका परिचय हमारे लिखित 'युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि' ग्रन्थ के पृ० २०६ व पृ० ३१३ में दिया गया है।

२ इनके रचित १ 'श्रृङ्गारवैराग्यतरंगिणीवृत्ति' (सं० १७८४ आगरा) मुद्रित। २ 'चौदह गुणस्थान विवरण' (सं० १७८८ वै० सु० ३ कासमपुर) ३ 'अष्टाह्निकाव्याख्यान' (सं० १७८६ फागुण सुदि ४), ४ 'सिद्धान्तरत्नवार्ता' आदि पद व्याख्या ये चार ग्रन्थ बीकानेर के खरतरगच्छीय ज्ञानभाण्डारों में उपलब्ध हैं।

१ परमश्रुतप्रभावकमंडल आदि श्वेताम्बर संस्थाओं ने दिगम्बर समाज के कई ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं। मंडल के तो प्रकाशित मुख्यतः सभी ग्रन्थ दि० ही हैं।

३ समयसारबालावबोध—खरतर रूपचंद्र कृत
४ द्रव्यसंग्रहबालावबोध—पायचंद्र गच्छीय रामचन्द्रकृत (मुद्रित)
५ नयचक्रसामान्यवचनिका—खरतरगच्छीय रचित (सं० १७२६ फा० सु० १०)
६ ज्ञानार्णव ढालभाषाबंध—खरतरगच्छीय श्रीमद् देवचंदजी (मुद्रित)
७ द्रव्यसंग्रहबाला—खरतरहंसराज कृत
८ परमात्मप्रकाश चौ०—खरतर धर्ममन्दिर कृत

बाबू कामता प्रसाद जी ने अपने लेख के अन्त में इस दिशा में अधिक खोज कर प्रकाश डालने को लिखा था अतः यथासाध्य खोज-शोध करके इस विषय में विशेष प्रकाश डालने का प्रयत्न प्रस्तुत लेख में किया गया है, आशा है श्रीयुत ताराचंद्र जी रपरिया एवं बाबू कामता प्रसाद जी आदि को इसमें अच्छा नवीन ज्ञातव्य मिलेगा।

सं० नोट—नाहटा जी ने जो उपर्युक्त प्रकार हमारे तपागच्छीय विषयक टिप्पणी पर प्रकाश डाला है, उसके लिये हम आभारी हैं। यह बात तो हम भी अपनी टिप्पणी में प्रकट कर चुके हैं कि मूल में तपागच्छादि का उल्लेख श्वेतांबर संघ में मिलता है; परंतु उनका उल्लेख दिगंबरीय काष्ठासंघ के साथ भी हुआ है। नाहटा जी इसे श्वेतांबर यतियों का अनुग्रह प्रकट करते है और बताते हैं कि काष्ठासंघ शब्द दिगंबरमतानुयायी श्रावक से सम्बन्ध रखता है; किंतु यह उनका अनुमान मात्र है। क्योंकि यदि उक्त लेख में वह शब्द श्रावक से संबंध रखता है तो उसके साथ ही विशेषणरूप में प्रयुक्त हुआ तपागच्छ शब्द भी उसी से संबंध रखना चाहिये। ये दोनों विशेषण भट्टारक श्रीविजयरत्नकेश्वर के नाम के बाद आये हैं और हम इन दोनों का संबंध भट्टारक से ही समझते हैं। उस पर आपने जिन शिलालेखों के आधार से भ० विजयरत्नकेश्वर को श्वेतांबरीय सिद्ध किया है उन सब में भट्टारक का नाम 'विजयरत्नसूरि' लिखा हुआ है। यह सिद्ध करना शेष है है कि विजयरत्नकेश्वर और विजयरत्नसूरि एक ही व्यक्ति के नाम है। यदि थोड़ी देर के लिये उन्हें एक व्यक्ति और श्वेताम्बर मान भी लिया जाय तो क्या उक्त लेख के आधार से यह संभव नहीं है कि उपरांत वह दिगंबर संप्रदाय के काष्ठासंघ में सम्मिलित हुए हों और उन्होंने अपने गच्छ का नाम 'तपा' ही रक्खा हो ? यह भी कुछ जी को नहीं लगता कि 'तपा' शब्द को दिगंबरी व्यवहृत ही न करें—भाषा पर किसी का सर्वाधिकार रहा हो यह कभी सुना नहीं गया। दिगंबर जैन मूर्तियों की प्रतिष्ठा श्वेतांबर यतियों ने की हो, यह बात भी नई है। दिगंबर मंदिरों में हमारे देखने में ऐसी कोई दिगंबर मूर्ति नहीं आई जो किसी श्वेतांबर यति-द्वारा प्रतिष्ठित हुई हो। अतः दिल्ली की दिगंबर मूर्ति पर के लेख में जो 'तपागच्छ' शब्द पढ़ा गया है उसे निरा श्वेतांबरीय नहीं कहा जा सकता। अभी इस विषय में और भी खोज होने की आवश्यकता है। —का० प्र०

हस्तसंजीवनम्

(लेखक—श्रीयुत बाबू त्रिवेणी प्रसाद, बी० ए०)

'हस्तसंजीवनम्' सामुद्रिक विद्यासंबंधी एक प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ है। फलित ज्योतिष की भी चर्चा इस में है। इसके रचयिता हैं महोपाध्याय मेघविजयगणी। कदाचित् पहले पहल मोहनलाल जी ने ग्रन्थमाला नं० ८ में इसे प्रकाशित किया।* कुछ ही दिन हुए काशी से भी हिन्दी टीका के साथ यह प्रकाशित हुआ है। इसके प्रकाशक हैं श्रीगणेशदत्त ज्योतिषी। हमारे सामने अभी ज्योतिषी-द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ वर्तमान है।

सामुद्रिकशास्त्र भारत की अपनी चीज है और यहीं से यह विदेशों म गया। इस बात की चर्चा यूरोप के प्रसिद्ध सामुद्रिक शास्त्रज्ञ 'कैरो' ने भी अपने ग्रन्थ मे की है। किसी समय इस देश में इस विद्या का काफी प्रचार था और इस विषय की अच्छी-अच्छी पुस्तकें उपलब्ध थीं। इस समय तो अनेक प्रसिद्ध ग्रन्थों का केवल नाम ही सुनने को मिलता है। कई ग्रन्थ पुस्तकालयों में पड़े-पड़े सड़ रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में उक्त ग्रन्थ से सामुद्रिकशास्त्र के इतिहास पर कुछ प्रकाश डाला जा सकता है।

ज्योतिषी जी को उक्त ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति एक योगिराज से मिली थी। यह प्रति यत्र-तत्र कुछ नष्ट हो गई थी। अन्य कई प्रतियों से मिलाकर तब इसे प्रकाश में लाया गया है। हिन्दी टीका होने से यह सबों के लिए बोधगम्य हो गया है।

इसके रचयिता मेघविजयगणी के संबंध में अभी निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। मेघविजय नाम के कई ग्रंथकर्त्ता हो गये हैं। हस्तसंजीवन के रचयिता मेघविजय के संबंध में मोहनलाल दलीपचंद देसाई ने अपने 'जैन साहित्यनो इतिहास' में लिखा है कि वे विजयप्रभसूरि के समय में वर्तमान थे और इन्होंने ५२५ श्लोकों वाला 'हस्तसंजीवनम्' नामक सामुद्रिक विषय का ग्रंथ लिखा। इसी इतिहास ग्रंथ के अनुसार विजयप्रभसूरि ने सं० १७०८ में 'लोकप्रकाश' नामक ग्रंथ रचा।† इससे सिद्ध होता है कि मेघविजय १७०८ में या उसके आसपास वर्तमान थे। इन्हें यशोविजय युग के अन्तर्गत माना गया है। यशोविजय ने सम्वत् १७४३ में स्वर्गगमन किया।‡ इस प्रकार मेघविजय सं० १७४३ के पहले तो अवश्य

*देखो मोहनलाल दलीपचन्द देसाई कृत 'जैनसाहित्यनो इतिहास' (गुजराती) पृ० ६२४

†देखो 'जैनसाहित्यनो इतिहास' पृ० ६४८

‡देखो 'जैनसाहित्यनो इतिहास' पृ० ६२८

वर्तमान थे। स्वयं मेघविजय ने अपने भाष्य में उदाहरण के लिए १७३७ संवत् पेश किया है। यथा दर्शनाधिकार के भाष्य में—

"तिथ्यादिना फलविचारे भाष्यम्—अत्र सुखासुखावबोधाय किंचिद्भाष्यम् । संवत् १७३७ वर्षे आषाढ़सितद्वितीयातिथौ भृगुवासरे पुष्यनक्षत्रे दिनोदयात्सप्तघटीसमये.............. ..... ।" इत्यादि । पृ० ५२

स्पर्शनाधिकार के भाष्य में लिखा है—"अत्रोदाहरणं यथा सम्वत् १७३७ वर्षे प्रमोद-संवत्सरे सुभिक्षनिर्णयाय यथाविधि कुमार्याः .... ।" इत्यादि ।

तथा—"अथ स्वरज्ञाने भाष्यम्—यथोदाहरणे १६३७ आषाढ़सितद्वितीयायाः सप्तघटी समये करेक्षणे............।" इत्यादि—

ऊपर हम देख चुके हैं ग्रन्थकार बारबार एक ही संवत् का उदाहरण पेश करते हैं। प्रायः ग्रन्थकर्त्ता एक ही उदाहरण को लेकर उसी पर भिन्न-भिन्न युक्तियों को सिद्ध करते हैं। इसलिए एक ही संवत् के बारबार पेश किये जाने पर आश्चर्य्य नहीं करना चाहिए। लेकिन हाँ, ग्रन्थकर्त्ता बहुधा किसी बहुत ही परिचित वस्तु को ही उदाहरण में पेश करते हैं; और यह संभव है कि ग्रन्थकर्त्ता ने ग्रन्थ निर्माण का संवत् ही उदाहरण में पेश किया हो। यदि हम यह ठीक माने तो यह निश्चित हुआ कि हस्तसंजीवन का निर्माण ७३७ संवत् में हुआ।

अब, एक तो यह निश्चित है कि सं० १७०८ और १७४३ के मध्य में मेघविजयगणी अवश्य वर्तमान थे। और दूसरी बात यह कि सन १७३७ में उन्होंने 'हस्तसंजीवनम्' का निर्माण किया। यदि हम यह माने कि उन्होंने पौढ़ावस्था में उक्त ग्रंथ का निर्माण किया होगा, और ग्रंथ-निर्माण के बाद भी कुछ वर्षों तक जीवित रहे होंगे, तो उनका समय सं० १६८५ और १७५० के बीच में रक्खा जा सकता है।

ग्रंथकर्त्ता जैन सम्प्रदाय के आचार्य थे, यह बात उनके मंगलाचरण से स्पष्ट होती है। यथा—

श्रीसंखेश्वरपार्श्वं प्रणम्य ध्यायंस्तमेव जिनवृषभम् ।
हस्तप्रशस्तलक्षणपरीक्षणे दक्षतां वक्ष्ये ॥
श्रीनाभेयः प्रभुर्जीयात्सर्वज्ञो जगदीश्वरः ।
येन लाक्षणिकी विद्या निर्दिष्टा भुवनश्रिये ॥
श्रीवर्धमानो जयतु सर्वज्ञानशिरोमणिः ।
पंचहस्तोत्तरो वीरः सिद्धार्थनृपनन्दनः ॥

उपर्युक्त श्लोकों से इनका जैन होना स्पष्ट है। अब ग्रन्थ के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डाला जाता है।

ग्रंथ तीन अधिकारों में विभक्त है—दर्शनाधिकार, स्पर्शनाधिकार और रेखाविमर्शनाधिकार। दर्शनाधिकार में निम्नलिखित १५ अधिकार हैं—

शास्त्रपीठिका, ध्यानन्यासविधि, नाममालिका, हस्तावलोकनविधि, तिथिदर्शनाधिकार, वारदर्शनाधिकार, नक्षत्रदर्शनाधिकार, वर्षदर्शनाधिकार, मासदर्शनाधिकार, पक्षतिथिदर्शनाधिकार, वारयोगदर्शनाधिकार, मुहूर्तदशाद्रेष्काणदर्शनाधिकार, लाभदिग्दर्शनाधिकार, देहचक्रचन्द्रचक्रदर्शनाधिकार, मुष्टिप्रश्नाधिकार।

स्पर्शनाधिकार में निम्नलिखित ११ अधिकार हैं—

शुभाशुभेष्टकालज्ञानयोः अधिकार, प्रभवादिसंवत्सरफलाधिकार, नष्टवस्तुज्ञानाधिकार, निधिप्रश्नाधिकार, गर्भस्वप्नभोजनाधिकार, स्वरज्ञानाधिकार, भौमाधिकार, लक्षणाधिकार, उत्पाताधिकार, शकुनाधिकार।

रेखाविमर्शनाधिकार में भी कई अध्याय हैं, जिनमें अलग-अलग रेखाओं का विवेचन किया गया है। ग्रन्थ में केवल हस्तरेखा के ही संबंध में विचार नहीं किया गया है, बल्कि ज्योतिष के संबंध में भी प्रकाश डाला गया है, जैसा कि ऊपर स्पष्ट है।

ग्रंथ में जिन अन्य ग्रंथों के उद्धरण दिये गये हैं, उनके नाम ये हैं—विवेकविलास, प्रकरण, शैव-सामुद्रिक, भोजसामुद्रिक, इत्यादि। इनमें प्रकरण को छोड़ सभी ग्रंथ संस्कृत के हैं। प्रकरण प्राकृत में है। इनके अतिरिक्त जातक आदि ग्रंथों से भी सहायता ली जाने का अनुमान होता है। जैनसामुद्रिक नामक एक ग्रन्थ का भी उल्लेख है। ग्रन्थ में जहां तहां मतान्तर तथा प्रकारान्तर का भी उल्लेख है, पर इस संबंध में कोई प्रमाण नहीं दिया गया है। संभव है वे प्रचलित नियमों तथा मतों के आधार पर दिये गये हों। जैसे दर्शनाधिकारान्तर्गत मासदर्शनाधिकार में कहा गया है—

रेखा कामदुघा ज्ञेया वाच्यं लक्षणशिक्षितैः।
तर्जन्यां च कनिष्ठायां प्राप्तो मासस्तु नो शुभः॥
शेषस्थाने शुभोऽङ्गुष्ठे रणप्रश्नेऽतिभंगदः।
तर्जन्यां जयदः सोऽपि तालस्थः क्वापि नो शुभः॥
लक्ष्म्यां स्थितो धनकरो मेरुस्थः पदवायकः॥

अब इसका प्रकारान्तर इस प्रकार बतलाया गया है—

यद्वा माघादयो मासा द्वादशापि लघोः क्रमात्।
दिनोदयात्पंचघटीमानं पाणीक्षणावधि॥
यो मासः प्राप्यते तस्मिन्स्थानलक्षणवीक्षणात्।
मासे शुभाशुभं वाच्यमित्युक्तं ज्ञानिभिः पुरा॥ (पृ० ३९)

अब यह प्रकारान्तर मतान्तर का स्वरूप है या वैकल्पिक है, यह नहीं ज्ञात होता। संभवतः वैकल्पिक ही है, अन्यथा मतान्तर का जिक्र अवश्य होता। किंतु जहाँ मतान्तर है, वहाँ उक्त मत किसका है या किस ग्रन्थ से लिया गया है, इसका जिक्र नहीं है। शायद ग्रन्थकर्त्ता ने इसके देने की आवश्यकता नहीं समझी। क्योंकि अन्यत्र यह बात स्पष्ट कर दी गई है।

ग्रन्थ ५०० अनुष्टुपश्लोकों में सम्पूर्ण है। यह बात इस श्लोक से विदित होती है—

अनुष्टुभां सपादोऽत्र ज्ञेयः पंचशती ध्रुवम्।
ग्रन्थे सतां प्रसादाद्य श्रेयः श्रीरस्तु शास्वती॥

प्रत्येक अधिकार में श्लोक संख्या इस प्रकार है—

दर्शनाधिकार	१५७
स्पर्शनाधिकार	१०७
रेखा विमर्शनाधिकार	२३८
	५०२

इनके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों से उद्धरण स्वरूप जो श्लोक दिये गए हैं, उन्हें भी यदि जोड़ दिया जाय तो सब की संख्या करीब ५२५ तक पहुंच जायगी।

बारकूर

(एक सुप्राचीन जैन राजधानी का ध्वंसावशेष)

[लेखक—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री]

यह निर्विवाद सिद्ध बात है कि इतिहास-संसार के समक्ष जब तक जैन समाज एक विश्वस्त, गवेषणापूर्ण, गंभीर एवं महत्त्वशाली प्रामाणिक विस्तृत इतिहास का प्रणयन कर नहीं रक्खेगा तब तक वह जैनधर्म का वास्तविक गौरव प्रकट करने में समर्थ नहीं हो सकता। बड़े-खेद के साथ लिखना पड़ता है कि हमारे धनाढ्य जैनसमाज का लक्ष्य अभी तक इस ओर बिल्कुल नहीं गया है। जैनसमाज का सर्वप्रथम पुनीत कर्त्तव्य यही है कि एक सुदृढ़ सुन्दर 'जैन-पुरातत्त्व-मन्दिर' खोलें। इसके द्वारा जैनसमाज का बहुत कुछ हित होगा। इसी की सुशीतल छत्रछाया में बैठ कर अन्वेषक विद्वान जैनधर्म का अपूर्व एवं बहुमूल्य गत वैभव ढूंढ़ निकालेंगे। यही भावी जैनसन्तान का पथप्रदर्शक होगा। अपने पूर्वजों के असीम ज्ञान, ऐश्वर्य, बल, प्रतिष्ठा, प्रभुत्व आदि से परिचित हो कर भावी जैनसन्तान की छाती फूल उठेगी और वह अधिक स्फूर्ति एवं उत्साह के साथ उनके गुणों के अनुकरण के लिये लालायित हो उठेगी। इसका सुमधुर फल यही होगा कि थोड़े ही काल में किसी कारण से ढका हुआ जैनसमाजरूपी भास्कर पूर्ववत् प्रखर प्रताप से फिर देदीप्यमान होने लगेगा। साथ ही साथ वह अपनी गत प्रतिष्ठा आदि को सहज ही में फिर पालेगा। इस क्षीणशक्ति-सम्पन्न जैनसमाज के पुनरुत्थान के लिये सुवर्णपर्पटी एवं मकरध्वज जैसे बहुमूल्य रसायन की परमावश्यकता है। उक्त 'पुरातत्त्व-मन्दिर' में कर्मठ, उत्साही एवं विशेषज्ञ जैन विद्वानों को रख कर इनके द्वारा सर्वप्रथम निम्नलिखित कार्यों को करना होगा।

(१) बृहद्ग्रन्थ-सूची (२) मन्दिर-सूची (३) शिलालेख एवं ताम्रलेखों की सूची (४) ग्रन्थ-प्रशस्ति-संग्रह (५)प्रतिमालेख-संग्रह आदि। उस में एक विशाल पुस्तकालय एवं संग्रहालय का होना भी अनिवार्य है। साथ ही साथ 'भास्कर' जैसे एक उच्चकोटि के पुरातत्त्व पत्र का होना भी परमावश्यक है। हां, इन सब आयोजनों का अंगभूत एक सुन्दर ग्रन्थमाला का प्रकाशन भी परमोपयोगी होगा। इसका सम्पादन अन्यान्य विषयों में निष्णात धुरन्धर विद्वानों के द्वारा ही नये ढङ्ग से होना आवश्यक होगा। अस्तु, मैं अपना हार्दिक उद्गार प्रकटित कर शीघ्रातिशीघ्र इस की पूर्ति की भावना करता हुआ अब प्रस्तुत विषय पर पाठकों का ध्यान आकर्षित करता हूं।

'बारकूरु' मंगलूर (Mangalore) से ५४ मील की दूरी पर उत्तर दिशा में अवस्थित है। उडुपि (Udipi) से यह केवल ९ मील पर है। उडुपि से ब्रह्मावर तक दर्शक कुन्दापुर जानेवाली सर्विस बस से जा सकते हैं। वहां से बारकुरु सिर्फ ३ मील दूर पर है। पर ब्रह्मावर से अब दर्शकों को पैदल ही जाना पड़ता है। यह स्थान सीता नदी के पुनीत तट पर वर्तमान है। यहां से समुद्र ३ मील की दूरी पर है। पूर्व में सीता नदी के द्वारा बड़े-बड़े जहाज यहां तक विना रोक-टोक आजाया करते थे। उस जमाने में अरब के मुसलमान अपने देश की चीजों को यहां लाकर बेंचते थे और यहां की चीजों को अपने देश मे ले जाया करते थे। उस युग में इसी बारकूर ने दक्षिण कन्नड का केन्द्र बन कर अरब, फारस आदि विदेशों के साथ अपना व्यापारिक सम्बन्ध सुदृढ़ बना रक्खा था।

यों पीछे यह बारकूरु होयसल, विजयनगर, इक्केरि आदि राजवंश के शासन के भी अन्तर्भुक्त रहा। किन्तु सर्वप्रथम यह जैनशासकों की राजधानी के ही रूप में रहा। इसके आदिम जैनशासक भूताल पाण्ड्य था। यह भूताल पाण्ड्य मथुरा के सुप्रख्यात पाण्ड्य वंश के वंशजों में रहा। भूतालपाण्ड्य ने वहां से यहां आकर अपने बाहुबल से ही राज्य स्थापित किया था। यह बात प्रथम शताब्दी की है। उस समय यह बारकूरु 'जयन्तिका' नगर के नाम से विख्यात था। प्राचीन काल में 'जयन्तिका' उसी को कहते थे जिस में जनता के चार लाख घर हों। उस युग में इस की न केवल भारत में ही ख्याति रही; किन्तु सुदूरस्थ देशों में भी। विदेशी लेखकों ने भी बारकूर की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। वास्तव में उस काल में बारकुरु उन्नति के सर्वोच्च शिखरपर पहुंचा हुआ था। इसके लिये यहाँ पर आज भी प्राप्य नष्टावशिष्ट किला, खाई, देवालय, मानस्तंभ, शिलामण्डप, मूर्तियाँ, सरोवर एवं मठ आदि प्राचीन स्मारक ही उज्ज्वल दृष्टान्त हैं। बारकुर में शिलालेखों की इतनी भरमार है कि सहज में उसकी तादाद नहीं लगाई जा सकती। आजकल बचे-खुचे वहाँ के निवासी उन शिलालेखों का अपनी गृहस्थी की आवश्यक चीजों में ही उपयोग कर रहे हैं। दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि जिस समय मैं अभी हाल में बारकुर इस ऐतिहासिक क्षेत्र को देखने गया उस समय इन शिलालेख आदि प्राचीन स्मारकों का प्रदर्शन के लिये मुझे गृहस्थों के आंगन एवं गोशाला तक का चक्कर लगाना पड़ा था। सचमुच जौहरी ही रत्नों की यथार्थ परख कर सकता है। साधारण जनता के लिये ये रत्न काच से भी गये गुजरे से हैं। क्या धर्मायतनादि स्थापित कर शिलालेखों के द्वारा अपनी कीर्ति को अमर रखने के इच्छुक हमारे बारकुर के भव्य पूर्वजों ने इन चीजों की इस प्रकार की दुर्दशा एवं उपेक्षा कभी स्वप्न में भी सोची होगी? कभी नहीं। प्राचीन महत्त्वशाली गत वैभव को प्रकट करनेवाली इधर-उधर बिखरी हुई इन पुरातत्त्व-सम्बन्धी चीजों को देख हृदय विदीर्ण हो जाता है।

इस सुन्दर तथा प्रख्यात राजधानी को तहस नहस करने का अमर श्रेय इक्केरि राजवंशज वेङ्कप्पनायक (सन् १५८१—१६१९) को प्राप्त है। इसने गेरुसोप्पे की जैनशासिका भैरव-रानी से चिढ़ कर इन्हें युद्ध में मार डाला और इनकी राजधानी को निर्दयता से जलवा डाला। वेङ्कप्पनायक के अमानुषिक हृदय को इतने से ही सन्तोष नहीं हुआ। साथ ही साथ उसने भैरव रानी के अधीनस्थ दूसरे बारकूरु नगर को भी जलवा डाला एवं शहर को लूट खसोट कर वीरान बना दिया। सुनने में आता है कि उसने वहाँ एक भी जैनवंश को रहने नहीं दिया। साम्प्रदायिकता का समुज्ज्वल निदर्शन यही कहा जा सकता है। इसी का परिणाम है कि आज बारकूर में खोजने पर भी एक जैनी नहीं मिलता। परमतासहिष्णु इस वेङ्कप्पनायक के शासन-काल में ही बहुत से जैनी निरुपाय हो बारकूरु छोड़ कर कार्कल मूडबिदुरे, वेणूर आदि स्थानों में जा बसे। विद्वानों का कहना है कि वेंकप्पनायक ने ही बारकूर में अवस्थित मन्दिर, मानस्तम्भ, विग्रह एवं गोपुर आदि जैनधर्म के स्थानों को नष्ट करवा और इन जैन मन्दिर आदि के सामानों से ही उसने शिवालय एवं मठ आदि अपने धर्ममन्दिरों को बनवा डाला। वेंकप्पनायक कट्टर शिवोपासक रहा इसी से वह जैनधर्म को नष्ट-भ्रष्ट करने को तुल गया। बारकूर को ध्वंसविध्वंस करने का कुछ श्रेय पोर्तुगीजों के वायसराय (Viceroy) सम्पायो (सन् १५२८) को भी मिलना चाहिये। सन् १४९८ में पोर्तुगीज लोग इस जिले में व्यापारार्थ आकर विजय नगर के इक्केरि-शासकों के साथ शर्त्त लगा कर यहाँ के पालयगारों सामन्त राजाओं से प्रतिवर्ष कर लेते थे एवं योग्य स्थानों में व्यापार के लिये बड़ी-बड़ी कोठियां बनवा ली थीं। साथ ही साथ यहाँ के स्वतन्त्र लघुशासकों के साथ उनकी यह शर्त्त थी कि अपने से अतिरिक्त दूसरे किसी व्यापारी को इस जिला के समुद्र-तटों पर व्यापार नहीं करने देंगे। सन १५२८ में विजयनगर के तत्कालीन शासकों के अधीनस्थ बारकूर के शासक ने अपने यहां से चावल कल्लिकोटे (Calicut) लेजाकर बेंचने और वहां से काली मिर्च (Black peppe) बारकूर लाने की आज्ञा अपने यहां के नाविकों को दे दी। इस से चिढ़ कर सम्पायों ने एक नौ-सेना स्वयं बारकूर लाकर इस नगर को जला डाला।

इतिहास मर्मज्ञों का कहना है कि पाण्ड्य-वंशज सुन्दर पाण्ड्य (गुणपाण्ड्य) पल्लव-वंशज महेन्द्रवर्मा (सिंहवर्मा), होयसलवंशज विष्णुवर्द्धन, कलचूरि वंशज बिज्जल, इक्केरि-वंशज वेंकप्पनायक आदि कट्टर स्वधर्मपक्षपाती एवं धर्मान्ध शासकों के साम्प्रदायिकतानुराग से ही दक्षिण में क्रमशः जैनधर्म क्षीण होता गया। इनके इस कार्य में शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, बसवण्ण जैसे मतप्रवर्त्तक ज्ञानसंबन्दर अप्पर जैसे साधुओं से पर्याप्त सहायता मिली। 'पेरियपुराण' नामक शैवसाधुओं के जीवन-सम्बन्धी ग्रन्थ में

एतद्विषयक बहुत सी कथायें पाई जाती हैं। इन कथाओं का अधिकांश भाग कल्पनापूर्ण है, किन्तु उनमें भी ऐतिहासिक तथ्य यत्र-तत्र छिपा हुआ है। मधुरा के मीनाक्षी-मन्दिर के मण्डप की दीवाल की चित्रकारी मे जैनियों पर शैवों और वैष्णवों द्वारा किये गये अत्याचारों की कथा अङ्कित है। ये सब बातें इतिहास-विख्यात हैं, इसलिए इन सब बातों को प्रमाण-पुष्ट करनेकी जरूरत नहीं है। पर यहां पर एक बात का उल्लेख कर देना अनुचित नहीं होगा। वह यह है कि जैनियों ने अपने धर्म की प्रगति के लिये किसी भी समय किसी धर्म पर किसी प्रकार का अत्याचार किया हो यह कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। और वास्तव में यह जैनधर्म के लिये एक गौरव की बात है। अगर ऐसा अत्याचार जैनी किये होते तो यह जैनधर्म के लिये अमिट कलंक ही नहीं था, प्रत्युत जैनसिद्धान्त के सर्वथा प्रतिकूल था। अस्तु, बारकूर पर किये गये सम्पायों एवं वेंकप्पनायक के अमानुषिक अत्याचारों से जैनधर्म का केन्द्र, जैन-शासकों के अतुल ऐश्वर्य का साक्षी, विश्वविख्यात बारकूर नगर पश्चिम भारत-सम्बन्धी प्रमुख नगरों की तालिका से अलग कर दिया गया। यह तो हुआ सुप्राचीन जैनराजधानी बार-कूर का पूर्व इतिहास। अब विज्ञपाठकों का ध्यान वहांके वर्त्तमान ध्वंसावशेष की ओर आकृष्ट करना चाहता हूं।

यहां की प्रधान केरि (सड़कें) ये हैं:—(१) कोटेकेरि (२) मणिगारकेरि (३) चौलि केरि (४) मूडुकेरि (५) भण्डारकेरि (६) होसकेरि। मैं सर्वप्रथम मूडुकेरि से ही यहां का दिग्दर्शन कराऊंगा। बारकूर की पूर्व दिशा मे यह केरि अवस्थित है, इसलिये ही यह इस नाम से प्रसिद्ध है। इस में क्रमशः एक सुन्दर कलापूर्ण शिलामण्डप, विश्वकर्मावंशज का कालिकाम्बा देवस्थान एवं एक विशाल सुरम्य सरोवर कुछ कुछ दूर मिलते हैं। इस सरोवर की ईशान दिशा मे अवस्थित गोपाल कृष्ण देवस्थान तथा इसी के पश्चिम भाग में विराजमान सोमनाथेश्वर मन्दिर ये दोनों इस केरि की दर्शनीय वस्तु हैं। खास कर सोम-नाथ देवालय कला की दृष्टि से भी देखने योग्य है।

यह देवस्थान सबका सब शिला-निर्मित है। स्तंभ एवं गोपुरादि भागों में चित्रकारी की झलक दृष्टिगोचर होती है। यहां से कुछ ही दूर पर उत्तर दिशा मे एक छोटा सा महिषासुर देवस्थान है। कहा जाता है कि यहां देव सोमनाथमन्दिर का प्रधान रक्षक है। यहीं से मणिगारकेरि की पूर्व दिशा मे स्थित नष्टावशिष्ट किला पर जाना सुगम होता है। यह किला एक ऊंचे टीले पर है। किले के बहुत से हिस्से आज भी मौजूद हैं। सुनने मे आता है कि जब यह जिला विजय नगर साम्राज्य के अधीन था, तब इस किला का निर्माण तत्कालीन विजयनगर के शासक हरिहर राय ने कराया था। मेरा अनुमान है कि पूर्व से ही यहां किला मौजूद था, उक्त हरिहर राय ने केवल इसका जिर्णोद्धार ही कराया होगा। क्योंकि वास्तवमें

यह स्थान किला एवं राजप्रसाद के लिये सर्वथा उपयुक्त है। अतः सर्वथा संभव है कि पूर्व से ही यहां के शासकों ने इसी स्थान को राजप्रासाद के लिये पसन्द किया होगा। इस किला के चारों ओर खाई है। इसके पास ही जीर्ण-शीर्ण रूप में वर्त्तमान एक विशाल सरोवर से ही उस जमाने में इस खाई में जल लाया जाता था। इस सरोवर का नाम 'अरसुकेरे'—राजा का सरोवर है। किला का विस्तार लगभग दो एकड़ होगा। इस के भीतर आज भी कई कूंए, एक छोटा-सा सुन्दर गभीर सरोवर एवं अनेक शिलामय स्तम्भ आदि अवस्थित हैं। कुछ व्यक्तियों का अनुमान है कि इसी किला के अन्दर सेना रहती थी और हाथी घोड़ा आदि इन्हीं शिलास्तम्भों में बाँधे जाते थे। इसके प्रतिकूल कतिपय व्यक्तियों का मत है कि ये स्तम्भ गजशाला एवं अश्वशाला के खूंटे न हो कर नाज-घर (अन्नराशि भाण्डार) के हैं। जो कुछ हो; किला के बाहर पूर्व एवं दक्षिण दिशा में विशाल मैदान है, जिस में प्राचीन नगर के चिह्न-स्वरूप अनेक मकानों की नीव नजर आती हैं। किले के अन्दर राजमहल के लुप्तप्राय चिह्न स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। इस की पूर्व दिशा में एक ऊंची जगह दीख पड़ती है। बहुत कुछ संभव है कि यही राजदरबार का स्थल हो। जिस समय हम लोग वहां खड़े-खड़े बारकूर के गत वैभव को अपने कल्पना-साम्राज्य में अङ्कित कर आनन्द-सागर में गोते लगा रहे थे उस समय को हार्दिक उत्कण्ठा को एक भुक्तभोगी ही अनुभव कर सकता है। सचमुच उस समय मेरे रोंगटे खड़े हो गये एवं आंखें गलदश्रुपूर्ण हो गयीं। जिस भावुक के हृदय में भारतीय आदर्श संस्कृति की अमिट छाप है उसका हृदय द्रवीभूत होजाना सर्वथा स्वाभाविक है। तात्काल ही मेरे नेत्रों के सामने इस जिले के जैनसमाज के प्राचीन एवं अर्वाचीन दोनों के सजीव चित्र एक साथ खिंच गये। अस्तु, किले की उत्तर दिशा में थोड़ी ही दूर पर अवस्थित पूर्वोक्त 'अरसुकेरे' की बगल से ही हो कर चौलिकेरि में जाने पर वहां का विशाल एवं मनमोहक जलपूर्ण स्वच्छ सरोवर दृष्टिगत होता है। यहां के सभी सरोवरों में यह तालाब बड़ा ही चित्ताकर्षक तथा विस्तृत है। इस का स्वच्छ जल भी अधिक सुस्वादु प्रतीत हुआ। इसका पानी मीलों दूर तक कृषि की सिंचाई के लिये कृषकगण ले जाते हैं। यह सरोवर अपनी इतनी लम्बी आयु काट कर भी अच्छी दशा में मौजूद है। इसी को नैऋत्य दिशा में एक गणपति देवस्थान है जो कि शिला-निर्मित और दर्शनीय है।

यहां से मणिगारकेरि होकर ही लौटना पड़ता है। इस केरि को पूर्व दिशा में सड़क की बगल में एक विशाल मैदान देखने को मिलता है। इसमें इस समय भी पाषाणनिर्मित तीन सुन्दर जैनमन्दिर उपलब्ध होते हैं। इनमें से एक 'कत्तले बस्ति' (अन्धकारपूर्ण) के नाम से मशहूर है। इन में बीच के मन्दिर में चौबीस तीर्थङ्करों की प्रतिमायें विराजमान थीं यह साफ मालूम पड़ता है। पर अब इन मंदिरों में एक भी जिनमूर्ति दृष्टिगोचर नहीं होती।

संभव है कि कुछ मूर्तियों को सरकारी पुरातत्त्व-विभाग के कर्मचारी उठा ले गये हों। क्योंकि उन मूर्तियों की देख-भाल करनेवाला एक भी जैनी अब बारकूर में नहीं रह गया है। यहां के अन्य स्थानों के समान ही यहां पर भी अनेक शिलालेख यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। कुछ तो एकदम भूगर्भ में छिपे हुए हैं। सुनने में आता है कि यहां के कई शिलालेखों की नकल मद्रास सरकार के पुरातत्त्व विभाग (Archeological Department) के अधिकारी कराकर ले गये हैं। जैनमन्दिरों के सामने एक सुन्दर मानस्तंभ भी मौजूद है। मन्दिरों के द्वार उत्तराभिमुख हैं। इन मन्दिरों की बगल में इस समय एक ईश्वरदेवस्थान भी अवस्थित है। ज्ञात होता है कि पहले यह जैनमन्दिर रहा पीछे इसी में हिंदुओं ने अपनी साम्प्रदायिक मूर्ति स्थापित कर दी। इसमें कोई संदेह की बात नहीं है; क्योंकि जब किसी जाति का प्रताप कुंठित हो जाता है तब दूसरी जाति अपनी विजित जाति की सम्पत्ति पर अधिकार जमा लेती है। इसके लिये इतिहास में एक दो नहीं, असंख्य दृष्टान्त मिलेंगे। भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रदेशों के पुरातत्त्वों के अनुशीलन से आप को ऐसे सैकड़ों देवमंदिर मिलेंगे जोकि पहले जैनियों की संपत्ति थे अब हिंदुओं के हो गये। बल्कि वे आज भी हिंदुओं के ही अधीन हैं। इसका कारण यही ज्ञात होता है कि अब उन स्थानोंपर एकदम जैनी है ही नहीं, यदि हैं भी भी तो निर्जीव से। उक्त मणिगारकेरि में अन्यत्र स्थित सिद्धेश्वरदेवस्थान और सरोवर भी सुन्दर हैं। यह देवस्थान प्राचीन ढङ्ग का है। किम्वदन्ती है कि इसी स्थान पर सिद्धरस का कूंआ भी विद्यमान था।

यहां की कोटेकेरि में जाते ही हमें सर्वप्रथम 'सिंहासन' मिलता है। इस समय तो यहां पर सिंहासन का कोई चिह्न नजर नहीं आता। पर जनश्रुति है कि पूर्व में यहीं पर राजसिंहासन एवं किला रहे हैं। संभव है कि कुछ समय तक यहीं पर राजभवन एवं किला अवस्थित हो इसी से इस स्थान का नाम सिंहासन तथा रास्ते का नाम कोटेकेरि पड़ गया हो। किंतु राजमहल के लिये पूर्वोक्त स्थान उपयुक्त मानने में किसी को मतभेद नहीं हो सकता है। यह अनुमान लगाना भी निर्मूल नहीं कहा जा सकता है कि इसी स्थान पर वर्तमान पार्वतीदेवस्थान में ही यहां के हिन्दू शासकों का पट्टाभिषेक होता रहा हो और इसी कारण इस नाम की प्रसिद्धि हो गयी हो। यों तो यहां के निवासियों से बल्कि खास कर पुजारियों से इस बारकूर के महत्त्व को बढ़ाने के लिये ही गढ़ी गयी बहुत सी दन्तकथायें श्रुतिगोचर होती हैं। मगर उन में ऐतिहासिक तथ्यता नजर नहीं आती। अस्तु इसी केरि में कुछ दूर जाने पर दर्शकों को क्रमशः पञ्चलिंगेश्वर, महालिंगेश्वर और बट्ट विनायक नामक देवमन्दिर देखने को मिलते हैं। इनमें पंचलिंगेश्वर मन्दिर बड़ा विशाल है। कला की दृष्टि से भी यह अवलोकनीय है। भण्डारकेरि आदि यहां की शेष सड़कें इतना उल्लेखनीय नहीं।

यहां के कई मंदिरों को आज भी मद्रास सरकार की ओर से यथाव्यय किसी को आठ सौ, छः सौ, पांच सौ रुपयों का वार्षिक साहाय्य मिल रहा है। बारकूर में इस समय एक गिरिजाघर, दो मस्जिदें, दो मिडिल स्कूल—एक बालक और दूसरा बालिका के हैं। यहां की जनसंख्या लगभग चार हजार की और गृह-संख्या तीन सौ की है। बारकूर की मुख्य फसलें ईख, धान, सुपारी और नारियल हैं। चावल, गुड़ और नारियल बाहर भी जाते हैं। वर्तमान समय में यह नगर हनेहल्लि, कच्चूरु, होसाल एवं हेराडि इन चार ग्रामों में विभक्त है। बारकूर की चौहद्दी क्रमशः पूर्व में हनेहल्लि, दक्षिण और पश्चिम में सीता नदी और उत्तर में हेराडि ग्राम हैं।

अन्त में मैं 'नवयुग' के सम्पादक श्रीयुत के० के० शेट्टि उडुपि एवं बारकुर के ही निवासी बी० गोपालकृष्ण कामत और आपही के अग्रज के सौजन्य को मैं कभी नहीं भूल सकता। वास्तव में आप तीनों बड़े ही उत्साही कार्यपटु नवयुवक ही नहीं, बल्कि भारतीय प्राचीन संस्कृति के एकान्त उपासक हैं। श्रीयुत बी० गोपालकृष्णजीने मुझे प्रत्येक स्थान को बड़े परिश्रम और प्रेम से दिखलाया। आप दोनों भाइयों का अतिथि-सत्कार भी आदर्श एवं अनुकरणीय रहा। मैं १६ नवम्बर १९३७ को कभी विस्मृत नहीं कर सकता, जिस दिन मुझे इस सुप्राचीन जैनराजधानी का ध्वंसावशेष दर्शन करने का सुवर्णावसर मिला।

विविध विषय

दिगम्बर जैन संघ में भेदों की उत्पत्ति

[१]

यूं तो जैन संघ में व्यवस्था की सुविधा के लिये गणभेद का अस्तित्व उसके जन्म के साथ रहा है। अन्तिम तीर्थङ्कर भ० महावीर जी के विषय में कहा गया है कि उनके ग्यारह गणधर थे जो सात गणों की सार-संभाल करते थे। श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं० २५४ (१०५) में इनके नाम (१) पूर्वविज्ञ (२) वादी (३) अवधिज्ञ (४) धीपर्यायज्ञ (५) वैक्रियक (६) शिक्षक (७) और केवलज्ञानी दिये हैं[1] जो प्रत्येक गण में रहनेवाले मुनियों के गुण-विशेष की अपेक्षा है। बौद्ध ग्रन्थों में भी भ० महावीर को संघ और गण का आचार्य लिखा है[2] जिससे उनका संघ और उसके गण होना स्पष्ट है। किन्तु सवाल यह है कि दिगम्बर जैन संघ में संघ या गणभेद का जन्म कब हुआ? यह तो स्पष्ट है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु जी के समय से जैन संघ दो धाराओं में बंट चला था और अन्ततः वह दिगम्बर और श्वेताम्बर संप्रदायों में पृथक्-पृथक् हो गया।[3] दिगम्बरों ने अपने को 'मूलसंघ' का अनुयायी घोषित किया अर्थात् उस प्राचीन संघ का जो पाटलिपुत्र से श्रीभद्रबाहु जी के नेतृत्व में दक्षिण भारत को गया था। 'श्रुतावतारकथा' से पता चलता है कि मूलसंघ अथवा दिगम्बर जैन संघ श्रीअर्हद्बलि आचार्य के समय में नन्दि, देव, सेन, सिंह और भद्र नाम के उपसंघों में विभक्त हो गया था। यह भेद मात्र व्यवस्था की दृष्टि से किया गया था—इन में परस्पर कोई सिद्धान्त भेद नहीं था। जैन पट्टावलियों में भी यही बात कही गयी है[4]। साथ ही श्रवणबेलगोल के उपरोक्त शिलालेख (नं० १०५) में भी इस व्याख्या को दुहराया गया है। किन्तु वहीं के शिलालेख नं० १०८ (२५८) में लिखा है कि अकलंक स्वामी के स्वर्गवास के पश्चात् संघ देशभेद से 'सेन' 'नदि' 'देव' और 'सिंह'—इन चार भेदों में विभक्त हुआ

---

१ इपीग्रेफिया कर्नाटिका, भा० २, पृ० १०१

२ "संघी चेऽव गणी च गणाचरियो च ञातो यसास्सी तित्थकरो साधु सम्मतो बहुजनस्स रत्तञ्ञू चिरपब्बजितो अद्धगतो वयो अनुपत्तो।"—दीघनिकाय भाग १, पृष्ठ ४७–४१ व सुत्तनिपात ३ पृ० ९१

३ संजैइ०, भा० २, खंड १ व २

४ इण्डियन ऐन्टीक्वेरी, भा० २०, पृ० ३४९

था[1]। श्री पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार प्रकट करते हैं कि 'अकलंक से पहले के साहित्य में इन चार प्रकार के संघों का कोई उल्लेख भी अभी तक देखने में नहीं आया, जिस से इस (शि० नं० १०८ के) कथन के सत्य होने की संभावना पाई जाती है।'[2] संभव है कि मुख्तार साहिब का यह अनुमान ठीक हो, परन्तु शिलालेखीय साक्षी से तो दि० जैन संघ में गणादि-भेदों का होना अकलंक स्वामी से पहले का प्रमाणित होता है। पहले तो उपर्युक्त दोनों शिलालेखों को लीजिये। उनमें शि० नं० १०५ का समय सन् १३९८ है और शि० नं० १०८ सन १४३२ का है, अर्थात् नं० १०५ वाला शिलालेख प्राचीन है और उससे ही मूल-संघ में श्रीअर्हद्बलि आचार्य के समय से संघभेद होना सिद्ध है। उस पर शिवमोग्ग जिले के नगर तालुक में होम्बुच्च नामक स्थान से मिले हुए कन्नड शिलालेख नं० ३५ (शक सं० ९९९) में लिखा है कि:—

"भद्रबाहुस्वामिगलिन्द् इत्त कलिकालवर्त्तनेयिं गणभेदं पुट्टिदु"

अर्थात्—भद्रबाहु स्वामी के बाद यहां कलिकाल का प्रवेश हुआ और गणभेद उत्पन्न हुआ। इस उल्लेख से स्पष्ट है कि जैनों में नन्दि आदि गणभेद की उत्पत्ति अकलंक स्वामी से बहुत पहले हो चुकी थी। यही कारण है कि प्राचीन शिलालेखों में हमें जैन मुनियों के ऐसे नाम मिलते हैं जो 'नन्दि' विशेषण युक्त हैं। उदाहरण रूप में एक कुशनकालीन कौशांबी वाले लेख में जैनाचार्य का नाम शिवनंदि है[3]। ऐसे ही पहाड़पुर से प्राप्त ताम्रपत्र (५वीं शताब्दी) में गुहनन्दी नामक जैनाचार्य का उल्लेख है[4]। उधर श्रवणबेलगोल के शिला-लेख नं० ६३ (५९ सन् १११८ ई०) में लिखा है कि "मूलसंघ का कोन्डकुन्दान्वय जैनमत में अति प्राचीन है[5]।" इससे भी यह ध्वनित होता है कि उस समय मूल संघ गण—अन्वयादि में बंट चुका था। वहीं के शिलालेख नं० १२७ (सन् १११५ ई०) में उल्लेख है कि मूलसंघ नन्दीगण में श्री पद्मनन्दि अपरनाम कोन्डकुन्द हुए। इसी लेख में देशीगण, पुस्तकगच्छ और वृषभ गण का भी उल्लेख है[6]। इन सब बातों को देखते हुए यह अनुमान होता है कि मूलसंघ में यद्यपि नन्दि आदि गणों अथवा उपसंघों की उत्पत्ति श्रीअर्हद्बलि आचार्य-द्वारा हो गई थी और जैनाचार्य का अपने-अपने गणानुकूल नामकरण भी होता था, परन्तु उस समय वे

१ इपी० कर्नाटिका, भा० २, पृ० ५६

२ रत्नकरण्डक० जीवनी० पृष्ठ १८१

३ संयुक्त प्रान्तीय जैन स्मारक पृ० २४

४ Modern Review, August 1931, P. 150

५ Epigraphia Carnatica, Vol. II P. 39. "Kondakunda line of the Mulasangha is the most ancient in the Jaina-creed."

६ Ibid. PP. 54-55.

गण एक साथ ही गच्छ-बलि आदि में परिणत नहीं हुए थे और न उनके अपने मठ या गद्दियां ही स्थापित हुई थीं । किन्तु श्रीअकलङ्क स्वामी के समय तक उनका अच्छी तरह विकास हो चुकना संभव है और इसीलिये उनके पश्चात् उनका पुनःसंस्कार समुचित रूप में हुआ प्रतीत होता है जिस से वह एक संगठित रूप में आ गये। पट्टावलियों के अध्ययन से भी यही बात प्रकट होती है; क्योंकि उनमे किन्हीं प्राचीन आचार्यों की तो एक से अधिक भिन्न पट्टावलियों में गणना है, परन्तु उपरान्त के आचार्य प्रत्येक पट्टावली में अपने-अपने अलग हैं।

श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं० ८१, ९३ और ९७ (सन् ७०० ई०) में क्रमशः कित्तूरसंघ, केलत्तूर संघ और नविलूर संघ का उल्लेख है*। इस से भी स्पष्ट है कि उस समय देश-भेद अपेक्षा दिगम्बर जैन (मूल) संघ उपसंघों व गणों में बंट चुका था, परन्तु वह समुचित रीत्या नन्दि आदि संघरूप तबतक संगठित नहीं हो पाया था। यह संगठन अकलंक स्वामी के उपरांत होना संभव है। विद्वानों को इस विषय पर अपने विचार प्रकट करने चाहिये।

—का० प्र०

कोण्डकुन्दाचार्य और आचार्य उमास्वाति

[२]

यह बात सर्वमान्य है कि दिगम्बर जैनसंघ में श्री कोण्डकुन्दाचार्य और आचार्य उमास्वाति नामक दो भिन्न आचार्य हुए हैं; परन्तु श्रवणबेलगोल के निम्नलिखित शिलालेखों मे श्रीकोण्डकुन्दाचार्य का ही अपर नाम उमास्वाति बताया गया है और उनका एक अन्य नाम गृद्धपिच्छाचार्य भी लिखा है। यथाः—

१. "श्रीपद्मनन्दीत्यनवद्यनामा
ह्याचार्य्य-शब्दोत्तर-कोण्डकुन्दः।
द्वितीयं आसीद् अभिधानम् उद्यच्-
चरित्र-संजात-सुचारणर्द्धिः।
अभूद् उमास्वाति-मुनीश्वरोऽसाव
आचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छः।"

(शि० नं० १२७) सन् १११५

* Ibid., P. 41, 43&45. "...कित्तूरसंघस्य गगनस्य महस्पतिः ....." —"......सब्बममार् कोलत्तूर संघ.... ."—"नमिलूरा सिरिसंघद् आजिगणादा राज्ञीमत्ती—गन्तियार······।"

1. "........Padmanandi, also known as Kondakundāchārya, who by his lofty character, acquired the power of moving in the air. 'He was likewise known as Umāsvāti-munisvara and Gridhrapinchhāchāraya.'

*Ep. Car., Vol II p. 51.**

२, "तस्यान्वये भू-विदिते वभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः
श्रीकोण्डकुन्दादि-मुनीश्वराख्यस्सत्संयमादुद्गत-चारणर्द्धिः ॥
अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसावाचार्य्य-शब्दोत्तरगृद्धपिच्छः"

—(शि० नं० ६४ सन् ११६३)

2. "In his world-renowned line arose Kondakunda-munīśvara, who had at first the name Padmanandi, and who, through proper self-control, acquired the power of moving in the air. He was also known as Umāsvāti-munīśvara and Gridhrapinchh āchārya:"—

*Ep. Car. Vol. II P. 16**

3. शिलालेख नं० ६६ (४२) सन् ११७६ ई० (*Ibid, P. 21*) नं० १२७ के अनुरूप।

किन्तु वहीं उपरान्त के शिलालेखों (यथा:—नं० २५४ सन् १३९८; नं० २५८ सन् १४३२) में कोण्ड कुन्दाचार्य को आचार्य उमास्वाति से भिन्न लिखा है। इस मतभेद का रहस्य क्या है? क्या कोई विद्वान् इस विषय को स्पष्ट करेगा? स्मरण रहे, कोण्डकुन्दाचार्य ही का श्रुतिमधुर नाम कुन्दकुन्दाचार्य है। —का० प्र०

रियासत जयपुर में प्राचीन जैन स्थान

[३]

जैनियों में जयपुर जैनपुरी के नाम से प्रख्यात है और उसकी यह प्रख्याति है भी सार्थक। जयपुर अपने जन्म के साथ ही जैनियों का केन्द्र बन गया और जैन इतिहास में उसका खास स्थान है। आज भी वहां ५२ विशाल जिनमंदिर, ६८ जिनचैत्यालय और १२ नशियायें जैनत्व के जीवित स्मारकरूप विद्यमान हैं। रियासत जयपुर की राजधानी यही नगर है। इसका विशेष परिचय किसी अन्य लेख में पाठकों को अर्पण किया जायगा। इन पंक्तियों में रियासत जयपुर के उन प्राचीन स्थानों का सामान्य परिचय देना अभीष्ट है

* यह अंग्रेजी अनुवाद म० म० रा० ब० स्व० आर० नरसिंहाचार्य जी का किया हुआ है। उनकी विद्वत्ता में शङ्का नहीं की जा सकती। इसलिये अनुवाद में गलती होना संभव नहीं जंचता।

जिनमें जैन कीर्तियां उपलब्ध हैं। हमें यह प्रकट करते हुये हर्ष है कि श्रीमान् महाराजाधिराज जयपुर ने अपने राज्य में भी पुरातत्त्वान्वेषण का पुनीत कार्य प्रारम्भ कर दिया है और उसके डायरेक्टर प्रखर विद्वान् रा० ब० श्रीदयाराम जी साहनी, एम० ए०, सी० आई० ई० साहब हैं। आपने रियासत के प्राचीन स्थानों का निरीक्षण किया है और बैराट नामक स्थान की खुदाई कराई है। अपने इस कार्य का विवरण आपने पुस्तकाकार (Archaeological Remains & Excavations at Bairat) प्रकट कराया है, जो संग्रहणीय है[1]। इस पुस्तक एवं 'दिगम्बर जैन डायरेक्टरी' के देखने से रियासत जयपुर के निम्नलिखित स्थानों पर जैन कीर्तियों का पता चलता है। हम इन पुस्तकों के आधार से ही सधन्यवाद उनका परिचय उपस्थित करते हैं :—

आम्बेर—जयपुर से लगभग ५ मील पूर्वोत्तर पहाड़ी के किनारे अवस्थित है। यह ईस्वी १० वीं व ११ वीं शताब्दी में अस्तित्व में आया था और एक समय जयपुर राज्य की राजधानी था। यद्यपि वहाँ अब कोई भी जैनी नहीं है परन्तु जैनों के प्राबल्य को प्रकट करने वाले नशियां सहित ८ बड़े जिन मंदिर वहां विद्यमान हैं[2]। जयपुर म्युजियम में एक १६ पंक्तियों का (नं० १९५१) लेख मौजूद है, जो आम्बेर के श्रीसंघवी झूंटा राय के जैनमंदिर से लाया गया था। उससे प्रकट है कि वह मंदिर फाल्गुण कृष्ण १० बुधवार विक्रम सम्वत् १७१४ में बनाया गया था। उसमें आम्बेर को अम्बावती लिखा है, जो ढूंढाहड़ देश की सुन्दर और हरी भरी समृद्धिशाली राजधानी थी। इस नगर में सरदारों के बड़े-बड़े महल और स्वर्णकलश मण्डित ऊंचे-ऊंचे जिन मंदिर थे। उस समय महाराज जयसिंह यहां के राजा थे। उक्त मंदिर को तीर्थेश्वर विमलनाथ के मूलनायकत्व में खंडेलवाल जातीय मोहनदास जी ने बनवाया था, जो महाराज जयसिंह के प्रधान मंत्री और अम्बावती के शासक थे। यह मंदिर उन्होंने भट्टारक देवेन्द्रकीर्त्ति के उपदेशानुसार बनवाया था[3]। इसके अतिरिक्त आम्बेर में कई अजैन कीर्तियां भी दर्शनीय हैं।

आलिनपुर—सवाई माधोपुर से करीब २ मील पर यह अतिशय क्षेत्र है, जिसको 'चमत्कारजी' भी कहते हैं। बस्ती में एक बड़ा भारी जैन मंदिर है और बाहर एक नशियां जी है। कहते हैं विक्रम सम्वत् १८९८ में एक स्फटिकमणिमयी जिनप्रतिमा बस्ती से वायव्यकोण में एक बगीचे में मिली थी, उस वक्त यहां पर केशर की वृष्टि हुई थी। इस अतिशय के

१ इस पुस्तक का मूल्य ॥) है जो डायरेक्टर आव आर्कोलाजी, हवामहल, जयपुर से मिलती है।

२ दिग० जैन डायरेक्टरी (दि० डा०), पृष्ठ ४६४–४६५

३ Archo: Remains & Excavations at Bairat, P. ४

कारण यह मंदिर 'चमत्कारजी' के नाम से प्रसिद्ध है'[1]। उपरान्त यह मूर्त्ति खंडित हो जाने के कारण मंडार में अलग रख दी गई है। यदि उस मूर्त्ति पर का लेख पढ़ा जाय तो विशेष विवरण ज्ञात हो। क्या ही अच्छा हो कि खंडित मूर्तियां मंडारे (?) या जलप्रवाह न कर के एक केन्द्रीय स्थान पर विराजमान कर दी जायें।

चाटसू—जयपुर से २५ मील दूर अवस्थित है। यहां शिवडूंगरी नामक पर्वत पर एक प्राचीन जैन मंदिर है। बस्ती में भी एक जैन मंदिर है जिसमें तीर्थङ्करों की विशालकाय मूर्तियां संवत् १३१६ से १६८० तक की प्रतिष्ठित विराजमान हैं। शिवडूंगरी वाले जैन मंदिर में जितने भी नागरी लेख हैं उनकी नकल साहनी सा० ने कर ली है। वहाँ के दो स्तंभ जयपुर म्यूजियम में लाकर रक्खे गए हैं इनमें से एक सफेद संगमरमर का स्तंभ उल्लेखनीय है, जिस पर भद्रबाहु स्वामी से लेकर ९५ जैन गुरुओं की मूर्तियाँ अङ्कित हैं। इस पर जो लेख खुदा हुआ है उससे विदित होता है कि संवत् १७०६ में जब महाराज श्रीजयसिंह का राज्य प्रवर्तता था और श्रीदेवेन्द्रकीर्ति पट्टाचार्य थे तब यह पट्टावलीस्तंभ चम्पावती नगर के निकट अवस्थित डूंगरी नामक स्थान पर बने हुये श्रीनेमिनाथ जो के मंदिर में स्थापित किया गया था[2]। उपलब्ध दिगम्बर पट्टावलियों से यह स्तम्भपट्टावली प्राचीन है। यह स्तंभ अपने ढंग का अनूठा है। यदि संभव हुआ तो इसका सचित्र परिचय आगामी किरण में प्रकट किया जायगा।

चांदनगांव—(श्रीमहावीर स्वामी) अतिशय क्षेत्र बहुत प्रसिद्ध है। यहां का प्राचीन विशाल जैन मंदिर और उसमें विराजमान दीर्घकाय जिनमूर्तियां दर्शनीय हैं। उन पर अङ्कित लेख इतिहास के लिये महत्व की वस्तु है।

बैराट—जयपुर से ५२ मील है। यह प्राचीन विराट नगर है। यहाँ पर श्री साहनी महोदय ने खुदाई कराई है जिसमें बहुत-सी प्राचीन कीर्तियां उपलब्ध हुई हैं। इस पर हम एक स्वतन्त्र लेख प्रकट करने वाले हैं।

सवाई माधोपुर—भी जैनियों का मुख्य स्थान है। यहाँ ७ जिनमंदिर और एक पुराना चैत्यालय है। मंदिरों में करीब १५०० धर्मशास्त्र ग्रन्थ हस्तलिखित हैं। इसके पास ही 'रणतंभोर' नामक किले के भग्नावशेष हैं, जिस में एक जैनियों का पुराना मठ (मंदिर) भी है। इस मठ में चन्द्रप्रभ तीर्थङ्कर की एक मूर्ति (सफेद) संवत् १० (?) की एक फीट ऊंची बताई जाती है। राज्य से इस मंदिर की पूजा के लिये २५) सालाना मिलता है[3]।

---

१ Arch: Remains & Ex: at Bairat, PP. 5—7.

२ दि० जैन डायरेक्टरी, पृष्ठ ५१७—५१८

३ दि० डा०, पृष्ठ ४६५

साँगानेर—में अनेक प्राचीन हिन्दू कीर्तियां हैं। कई प्राचीन जिनमंदिर भी हैं, जिनमें 'संघीजोका मंदिर' प्राचीन दर्शनीय है।

उपर्युल्लिखित प्राचीन स्थानों पर जाकर यदि कोई विद्वान् खोज करे तो बहुत-कुछ ऐतिहासिक सामिग्री उपलब्ध हो सकती है। —का० प्र०

'अष्टशाखा' उपजाति

[४]

यों तो कहने को जैनियों में ८४ भिन्न जातियाँ बताई जाती हैं; परंतु अस्तित्व में उनकी संख्या सैकड़ों की है। उन्हीं जातियों में एक जाति 'अष्टशाखा' नामक थी। इसका उल्लेख जसवन्त नगर के एक मूर्तिलेख (नं० ३७) में हुआ मिला था और इसके विषय में हमने अपने "प्राचीन जैन लेख संग्रह" (वर्धा, १९२६) में लिखा था कि "आजकल जैनियों में कोई जाति इस नाम की मालूम नहीं होती।" किन्तु श्रीयुत पं० सुरेशचन्द्र जी शास्त्री हमारे इस लेख पर आपत्ति करते हैं। उनका कहना है कि अष्टशाखा जाति के लोग आजकल के परवार जैनी हैं, जिनमें 'आठ-शाके' (गोत्र वा मूर) प्रचलित हैं। उधर पं० परमेष्ठीदास जी ने देवगढ़ के एक लेख में भी अष्टशाखा जाति का उल्लेख पाया है। और उन्होंने अनुमान किया है कि वह परवारों में 'अष्टशाखा' नाम की एक स्वतंत्र जाति रही हो। परंतु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि अष्टशाखा जाति ही परवार थी। बहुत कुछ संभव तो यह है कि परवार और अष्टशाखा नामक दो स्वतंत्र उपजातियाँ रही हों, जो उपरांत किसी कारणवश आपस में मिल गई हों। परवार जाति की उत्पत्ति और इतिहास का पता जब तक ठीक-ठीक नहीं मालूम होता तब तक कुछ भी निश्चितरूप में नहीं कहा जा सकता। अच्छा हो, पं० सुरेशचंद्र जी एवं अन्य परवार जातीय विद्वान् मध्यप्रांत के जैनमंदिरों में विराजमान मूर्तियों, यंत्रों और ग्रन्थों के प्रशस्ति-लेखों का संग्रह प्रकाशित करें। उनके आधार से ही सच्चा इतिहास प्रकट होगा। —का० प्र०

कोपणतीर्थ की एक मूर्ति

[५]

निजाम हैदराबाद के राज्य में कोपण नामक एक प्राचीन जैनस्थान है। पूर्वकाल में यह स्थान जैनियों में एक पूजनीय तीर्थ माना जाता था। वहां एक खेत खोदते हुए एक प्राचीन जिनमूर्ति उपलब्ध हुई थी, जिसमें चौबीस तीर्थङ्करों की प्रतिमायें बनी हुई थीं। अब वह

मूर्ति नवाब सलारजंग के महल में सुरूर नगर हैदराबाद में विराजमान है। उस मूर्ति पर कन्नड लेख अंकित है वह निम्न प्रकार है:—

(१) स्वास्ति] श्रीमूलसंघदेसियगणद मावण-दंडनायक माडिसिद ब (सदि) गे रा—

(२) य—राजगुरु मराडलाचार्यरप्प श्रीमद्-माघनन्दि-सिद्धान्त-चक्रवर्तीगल प्रि (य-गुड्डगलु) श्री-कोपण—

(३) तीर्थद पम्मेयर (प्रिथि) गौडन प्रियाङ्गने मलौव्वेगे पुट्टिद सुपुत्र बोपण्ण तम्······राज—

(४) लि—मुख्यवागि प (ल्ल) नोम्पिगेयु चौवीस-तीर्थंकर माडिसिकोट्टरु [मङ्गल महा-श्री श्री श्री।

इसका भाव श्रीकृष्णम् चालुं महाशय ने अंग्रेजी भाषा में यों बतलाया है* कि समृद्धि-शाली कोपणतीर्थ के निवासी पम्मेयर प्रिथि गौड और उनकी प्रियाङ्गना मलौव्वे के पुत्र बोपण्ण ने, जो प्रसिद्ध रायराजगुरु मण्डलाचार्य माघनन्दि-सिद्धांतचक्रवर्ती के प्रिय शिष्य थे, अनेक व्रतों के करने के अवसर पर यह चौबीस तीर्थङ्करों की मूर्ति बनवाई और उसे मावण-दंड-नायक द्वारा निर्मित मूलसंघ के देशीयगण वाली बसदि (मंदिर) को अर्पण की। मा० वर्द्धमान जी हेगड़े इस लेख में उल्लिखित श्रीमाघनन्दि स्वामी के विषय में एक पत्र-द्वारा हमें सूचित करते हैं कि 'वह जैन गुरु-परम्परा में प्रसिद्ध व्यक्ति हैं। कवि महाबल (सन् १२५४ ई०) ने अपने 'नेमिनाथपुराण' में और कुमुदेन्दु (सन् १२७५ ई०) ने अपनी 'रामायण' में इनकी खूब प्रशंसा लिखी है। कवि कुमुदेन्दु ने उन्हें 'होयसल राय राजगुरु माघनन्दि मुनि' लिखा है और वह स्वयं कवि कुमुदेन्दु के गुरु थे। उन्हें 'सिद्धान्तत्रयचक्रेश्वरम्' तथा 'अवनत होयसल राजमुकुटमणि-गण किरणम्' भी उन्होंने कहा है। श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० ३३४ (सन् १२८२ ई०) में भी एक माघनन्दि मुनि का 'श्रीमन्महा-मण्डलाचार्यरं आचार्य-वर्यरुं होयसलरायराज गुरुगलुं' रूप में उल्लेख हुआ है। शायद ये दोनों माघनन्दि एक ही व्यक्ति हैं।' † मास्टर सा० का यह अनुमान बहुत कुछ संभवनीय है। कोपण-तीर्थ

---

* यह मूर्तिलेख पहले कन्नडी के प्रसिद्ध मासिक पत्र 'अवकर्णाटक' में प्रकट हुआ था, परन्तु उपरान्त वह श्री चार्लु महाशय-द्वारा हैदराबाद आर्कियालाजिकल सीरीज में प्रकाशित 'दी कन्नड इंस्क्रिप्शन्स आव कोप्बल (पृ० ११)' नामक पुस्तक में शुद्धरीत्या प्रकट किया गया है। वहीं से हम सधन्यवाद इसे उद्धृत कर रहे हैं। चार्लु महाशय ने माघनन्दिजी के विषय में कुछ नहीं लिखा है।

† यह अनुमान मास्टर साहब का नहीं है बल्कि 'अवकर्णाटक' के मूललेखकों का है। मास्टर वर्द्धमान हेगड़े केवल इसके हिन्दी अनुवादक हैं। —के० भी शास्त्री

के एक अन्य शिलालेख में भी एक माघनन्दि जी का उल्लेख हुआ है; जिसमें उन्हें 'गणदीपक' कहा है और उनकी गुरुपरम्परा निम्न प्रकार दी है,*—

सिंहनन्द्याचार्य—विच्चुकुण्ड की नागबसदि के कल्याणकीर्ति—इन्दोलि के रविचन्द्राचार्य—गुणसागर मुनिपति—गुणचन्द्रमुनीन्द्र—अभयनन्दि मुनीन्द्र—गणदीपक माघनन्दि।

यह शिलालेख चालुक्य राजा विक्रमादित्य पंचम (सन्० १००९-१०१७ के राज्यकाल का बताया जाता है। इसलिये यह माघनन्दि उपर्युक्त माघनन्दि से भिन्न प्रतीत होते हैं।

—का० प्र०

"बंगाल में जैनधर्म"

[६]

'भास्कर' ४र्थ भागकी तृतीय किरण के पृष्ठ १५५ पर लिखा है कि "बंगाल में प्राप्त प्रतिमाओं में से केवल एक श्वेताम्बरी प्रतिमा है।" बंगाल में जैनधर्म-सम्बन्धी अनुसंधान मैं कई वर्षों से कर रहा हूं तथा इस संबन्ध का एक विस्तृत लेख भी मैं लिख चुका हूं जो शीघ्र भास्कर में प्रकाशित होगा। पर मुझे अभी तक एक भी प्राचीन श्वेताम्बर प्रतिमा यहां नहीं मिली है। सन् १९३० के प्रकाशित एक चित्र में एक प्रतिमा को श्रीपार्श्वनाथजी की बताई गई थी, उसका आजानुलंबबाहु मस्तक पर सर्पफण और कायोत्सर्ग मुद्रा होने से ही जैन प्रतिमा एवं सवस्त्र होने से श्वेतांबर मान ली गई थी। पर मैं ने उस प्रतिमा को देखते ही कहा कि यह मूर्ति श्रीविष्णु की है और उस के आविष्कारक मुझ से इस पर सहमत भी हो गये।

पृष्ठ १५२ और १५४ पर "लाधा" (राढ़) और "राधा" लिखा गया है उस के स्थान में लाढ़ा लिखना चाहिये था। ‡ इस लेख के सम्बन्ध में और भी अनेक बातें लिखनी थी पर मेरे प्रकाशित होनेवाले लेखसे अनेक बातें स्पष्ट हो जायंगी इस से लिखने की आवश्यकता नहीं समझी गयी।

—छोटेलाल जैन

श्रीमान् माननीय बा० छोटेलालजी एक प्रकृत जैनपुरातत्त्वान्वेषी हैं। पुरातत्त्व विषयक आपका विचार एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। तथा कथित् आप के गवेषणापूर्ण लेख के कुछ पृष्ठ मैंने भी पढ़े हैं। वास्तव में आप का यह मौलिक लेख इतिहास संसार में एक नया प्रकाश डालेगा। आप का यह लेख एकाध महत्त्वपूर्ण चित्र के लिये ही अब तक भास्कर के पाठकों के सामने उपस्थित नहीं हो सका है; अन्यथा कबका प्रकाशित हो गया होता। मै आशा करता हूं कि अब निकट भविष्य में ही यह लेख प्रकाशित हो जायेगा।—के० बी० शास्त्री

---

* The Kananada Inscriptions of Kopbal P. 9.

‡ इस शिलालेख में सिंहनन्द्याचार्य के समाधिमरण का उल्लेख है। उन्होंने 'इङ्गिणिमरण' एक मास में किया था। उस समय श्री सिंहनन्दि अथवा—मतिसागर अथवा—नरलोक-मित्र और ब्रह्म अथवा ने उनकी वैयावृत्ति की थी। उसी अन्तराल में सामिकुमार ने जिनबिम्ब की पूजा की। चार्ू म० ने 'इङ्गिणि मरण' को एक स्थान समझा है, सो ठीक नहीं है।

राजावलि

(मैनपुरी के प्राचीन गुटके परसे)

[७]

"अथ डीली स्थाने राजवली तोमरवंसे। संवतु ८२९ आदिराजाजू १ वाजू २ राजू ३ सीहउ ४ वाल्लू ५ ऊटरू ६ जैदरू ७ वस्थरू ८ पीयकु ९ रावलु वीगहपालु १० रावलु तोल्हणपालु ११ रावलु गोपालु १२ रावलु सलषणपालु १३ रावलु जसपालु १४ रावलु कुमारपालु १५ रावलु अणगुपालु १६ रावलु तेजपालु १७ राणा मदनपालु १८ राणा कृतपालु १९ राणा पृथीपालु २० एते राज कुली हुई संवत् १२१९ वर्षे तोमर राजान् पास ते चौहंसा वंसि रावलि वीससि राजुलिया १ अमरगाँगुड २ रावलु पीयड्डु ३ रावलु सोमेश्वरु ४ रावलु चाहड्डु ५ रावलु नागधो ६ राज पृथीराज ७ इतने चौहण हुइ संम्वत् १२४९ वर्षे चैतवदि २ तेजपालि दीली पृथीराज कै संवकु वीसलपालु कै पुत्र दिवाकरु वंधिलीयै॥ संवत् १२४९ वर्षे चैत्र सुदि १३ सुलतानु सहावदी गजनी ताहि आयौ वरस १४ राजु कीयै सं० १२६३ वर्षे सुलितानु कुतवदीनु राजु वरस ३ सं० १२६६ वर्षे सुलितानु समसदीनु राजु वरस २६ की यै। सं० १२९२ वर्षे सुलि-तानु पेरो साहि मास १ राजुकीयै संवत् १२९३ वर्षे सुलतानि नुरदीय वरस ३ सं० १२९६ वर्षे सुलितानि मोजदी वरसु ३ सं० १२९९ वर्षे सुलितानु अलावदी राजु कीयै। वरस २ संवतु १३०१ वर्षे सुलितानु नसीरदी राजवरस २१ संवतु १३२२ वर्षे। चैत्र वदि २ सोम दिने। सुलितानु ग्यासदी वलिवड्डु राज्यं वरस २१ संवतु १३४३ वर्षे फाल्गुण सुदि ९ सुक्र दिने सुलि-तानु मोऊदी वरस ३ राज्यं। संवत् १३४६ वर्षे फाल्गुन सुदि ६ रवि दिने सुलितानु समसदी वरिस २ मास १ दिन ६ राजं संवतु १३४७ वर्षे जेष्ठ सुदि ५ सोम दिने सुलितानु जलालदी वरस ६ म ३ दिन ११ राजं॥ संवतु १३५३ वर्षे श्रावण वदि ११ गुरु दिने सुलितानु रुकनदी मास ६ दिन १३ राजं॥ संवतु १३५३ माघ सुदि १० भौम दिने सुलितानु अलावदीनु वरस १९ मास ३ दिन १५ घटिका १५ राजं। संवतु १३७२ माघवदि ९ भौम दिने सुलितानु अलावदी कै पुत्र ल्हौडौ राणी छीतमदे कौ मास ६ दिन ८ घड़ी ६ राजं। संवत् १३७३ सवण सुदि २ भौम दिने सुलितानु कुतुवदी वरस ४ मास २ दिन १० घटिका १५ अस्य ऊपरे संवतु १३७७ वर्ष जेष्ठ सुदि २ सनिदिने सुलितानु षुसरो नामे नसीरदीनु मास ४ दिन ७ घटिका ११ राजं। सं० १३७७ वर्षे अस्वन सुदि १३ सुक्र दिने सुलितानु ग्यासदी वरस ४ मास १ दिन ३ घटिका ९ राजं। संवत् १३८२ वर्षे जेष्ठ सुदि ३ बुध दिने सुलितानु महमुद वरस २७ मास ३ दिन १४ घटिका १५ राजं। संवत् १४०८ वर्षे श्रावण सुदि ८ रवि दिने सुलितानु पेरोसाहि वरस ३७ मास ३ दिन ११ घटिका १३ राजं। सं० १४४५ वर्षे कातिक सुदि ४ सुक्र दिने सुलि-तानु तुगलक साहि राजं मास ५ दिन ३ घटिका ७ संवतु १४४६ वर्षे चैत्र सुदि ८ सुलितानु बुबुक

साहि महमद साहि राज मास ६ दिन १५ घटिका ८ राजं । संवत् १४४० वर्षे असुन सुदि ११ सोम दिने सुलितानु मल्लराजं वरस १ मास ७ दिन ७ घटिका ९ संवत १४४० वर्षे सुलितानु दौलतिष राज । संवत् १४७२ वर्षे पौष वदि ८ गुरु दिने सुलितानु षिदरिषानु । राजं वरस ७ मास १ दिन ३ घटिका ११ अस्य उपरे । सं० १४७२ वर्षे वैसाष सुदि ८ रवि दिने सुलितानु ममारष षातु । वरस ११ मास १ दिन २९ घटिका २४ राजं । संवतु १४९० वर्षे फाल्गुन ११ सुक्र दिने सुलितान मलमदसाहि राजं । वरस २ मास १ दिन ५ घटिका ७ राजं । संवतु १५०३ वर्षे आषाढ़ वदि २ गुरु दिने सुलितानु अलावदीनु । मास ३ दिन १० घटिका ९ राजं । संवत् १५०३ वर्षे अश्न सुदि ८ गुरु दिने सुलितानु अमानतिषानु । वरस ६ मास ३ दिन ८ घटिका १५ राजं । अस्य ऊपरे । संवत् ५०८ वर्षे वैसाष सुदि ३ सनि दिने सुलितान बहलोल साहि पठाण राजंकृत । वरस ३८ मास २ दिन ८ घटिका १५ उपरे अस्य राजु संवतु १५४६ वर्षे असाढ सुदि १ गुरु दिने सुलितानु सिकंदर साहि राजं कृते ।"

का० प्र०

"जैन एन्टीक्वेरी" के लेख

(दिसम्बर १९३७)

१—पृष्ठ ५७—६६ 'पोदनपुर और तक्षशिला' शीर्षक लेख में कामताप्रसादजी ने साहित्यिक साक्षी के आधार से प्रमाणित किया है कि तक्षशिला पोदनपुर से भिन्न पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में अवस्थित था, जब कि पौदनपुर दक्षिण भारत में गोदावरी के तट पर बसा हुआ था।

२—पृष्ठ ६७—७३ श्रीकालापद मित्र, एम० ए०, साहित्यकौस्तुभ ने श्वेताम्बर दिगम्बर जैन शास्त्रों के उद्धरण उपस्थित करके सम्यग्ज्ञान और चारित्र का महत्त्व दरसाया है। उपनिषद् में भी ज्ञान के साथ चारित्र का होना लाज़मी कहा गया है। कोरा ज्ञान कार्यकारी नहीं है।

३—पृष्ठ ७५-७९, जैनक्रानालोजी में भ० शान्तिनाथ तक की घटनायें अङ्कित की गयी हैं।

साहित्य-समालोचना

स्तोत्र-मंत्र-सार-संग्रह

सम्पादक—सरस्वतीभूषण वि० लोकनाथ शास्त्री; प्रकाशिका—श्रीवीरवाणी विलास-ग्रन्थमाला, मूडबिदुरे; भाषा संस्कृत एवं कन्नड; पृष्ठ १९२; सन् १९३७; मूल्य ॥≈); छपाई सफाई सुन्दर।

इसका नाम स्तोत्र-मंत्र-सार-संग्रह है। इसमें नित्य और नैमित्तिक क्रियाओं में काम आने वाले सुप्रभात, ऋषिमण्डल आदि १२ स्तोत्र; समवसरण, अकलङ्क आदि ९ अष्टक; पम्प, रन्न, अग्गल, कमलभव आदि कन्नड कविप्रवरों के द्वारा रचित वृषभजिनस्तवनादि १२ स्तवन; सहस्रनाम, रत्नत्रय, कर्मदहन आदि १३ मन्त्रकोप; ४ शतनामावलियां एवं व्रतस्वरूप आदि ५५ विषय संगृहीत हैं। सम्पादक महोदय ने इनमें कई विषयों का भावार्थ भी दिया है। प्रारम्भ में श्रीमहावीर स्वामी का एक मनोज्ञ चित्र भी अङ्कित है। चित्र में शास्त्रानुकूल नासाग्र दृष्टि का न होना आदि एक दो बातें अवश्य खटकती हैं; फिर भी कला-प्रेमी चित्रकार का धर्मप्रेम एवं परिश्रम स्तुत्य है।

प्रस्तुत संग्रह उपयोगी है। संग्रह के प्रत्येक स्तोत्र-मन्त्र के कमसे कम कर्त्ता के नाम दे देने से अन्वेषकों के लिये अत्युपयोगी होता। यों तो कुछ के दिये भी हैं। अक्षरमालिका-स्तोत्र पूज्यपादकृत लिखा है। "सर्वज्ञ (?) पूज्यपादोदितेयं कृतिः श्रीमतां पाठकानाञ्च चिरं सम्पदे भवतु।" इस विचित्र छन्दोमय पद्य के आधार पर ही इसका कर्त्ता पूज्यपाद लिखा गया होगा। मगर पता नहीं कि यह सर्वज्ञ (?) पूज्यपाद कौन हैं। पृष्ठ नं० कन्नड में ही देना अच्छा था क्योंकि कन्नड लिपिमय ग्रन्थ में इसी की पृष्ठसंख्या चाहिये थी। शुद्धाशुद्ध तालिका के अतिरिक्त भी यत्र तत्र कुछ अशुद्धियाँ रह गयी हैं; वे आगामी संस्करण में सुधारणीय हैं। इस संग्रह में शास्त्रीजी कई अप्रकाशित स्तोत्र-मन्त्रों को प्रकाश में लाये हैं, एतदर्थ आप धन्यावद के पात्र हैं। एक आस्तिक श्रावक के लिये नित्य-नैमित्तिकादि क्रियानुष्ठान में यह संग्रह परमोपयोगी है। अतः यह ग्रन्थ खास कर गृहस्थों के लिये आवश्य संग्रहणीय है।

—के० भी शास्त्री।

तिलोयपण्णत्ती

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये.

सट्ठी तमप्पहाए चरिमधरित्तीए होंति चत्तारि ।
एवं सेढीबद्धा पत्तेक्कं सत्तखोणीए ॥७९॥
६० । ४ ।

चउरूवाइं आदिं पचयपमाणं पि अट्ठरूवाइं ।
गच्छस्स य परिमाणं हवेदि एकोणपण्णासा ॥८०॥
४ । ८ । ४९ ।

पदवग्गं पदरहिदं चयगुणिदं पदहदादिजुदमद्धं ।
मुहदलपहदपदेणं संजुत्तं होदि संकलिदं ॥८१॥

रयणप्पहपहुदीसुं पुढवीसुं सव्वसेढिबद्धाणं ।
चउरुत्तरच्छस्ससया णवयसहस्साणि परिमाणं ॥८२॥
९६०४ ।

पददलहिदसंकलिदं इच्छाए गुणियपचयसंजुत्तं ।
रूऊणिच्छाहियपदचयगुणिदं अवणि लद्धिदेआदी (?) ॥८३॥

पडलहदवेकपाहावहरिदसंकलिदवित्तपरिमाणो ।
वेकपदद्देण हिदं आदिं सोगेज्ज[1] तत्थ सेसचयं ॥८४॥
९६०४ ।

अपवर्तिते

४९ ।

अस्मिन् वेकपदद्देण हिदं आदि ।

$\frac{४}{२४}$

सोदेज्ज[2] शोधितशेषमिदं

$\frac{४८}{२४}$

अपवर्तिते

२ ॥८५॥

चयदलहदसंकलिदं चयदलरहिदादि अद्धकदिजुत्तं ।
मूलं पुरिमूलूणं पंचयद्धहिदमित्तं तु पदयथवा[3] ८६॥

$\frac{४९ । ४८}{२}$

1 सोधेज्ज (?); 2 सोधेज (?); 3 पदमथवा (?) ।

दुचयहदं संकलिदं चयदलवदणंतरस्स वग्गजुदं
मूलं पुरिमूलूणं चयभजिदं होदि तं तु पदं ॥८७॥
पत्तेइं रयणादी सव्वबिलाणं ठवेज्ज परिसंखं।
णियणियसेढिया इंदयरहिदा पइण्णया होंति ॥८८॥
उणतीसं लक्खाणं पंचाणउदीसहस्सपंचसया।
सगसट्ठीसंजुत्ता पइण्णया पढमपुढवीए ॥८९॥

२९९५५६७।

मूलूणं पूर्वमूले माणं

५२।

चयभजिदं

५२ = १।

चयदलहदसंकलिदं

४४२० । ४ ।[1]

चयदलरहिदाहिदाहि

२८८।

अद्धं

१४४ । १०७३६ ।

जुत्तं

३८४१६ । ४ ।

मूलं

१९६ ।

पुरि

२ =

दु

२

चयहदं[2] संकलिदं

४४२० । १६ ।

चय

८

1 Again चय… ४ । in AB; 2 A चयदहदं ।

द

४

धइन

२६२

अंतरस्स

२८८

धम्माइदं

३६२

मूलं इंदं

३६२

पुरिमूल

२८८

वयभजिदं

१०४

पदं

१३ =८ ।

चउवीसं लक्खाणि य सत्ताणउदी सहस्सतिसयाणिं ।
पंचुत्तराणि होंति दु पइण्णया विदियखोणीए ॥ ६० ॥

१०४ । २४६७३०५ ।

चोद्दसएं जाणि तहा अट्ठाणउदीसहस्सपंचसया ।
पंचदसेहिं जुत्ता पइण्णया तदियवसुहाए ॥ ६१ ॥

१४ ६८ ५१५ ।

णवलक्खा णवणउदीसहस्सया दोसयाणि तेणउदी ।
तुरिमाए वसुमइए पइण्णयाणं च परिमाणं ॥ ६२ ॥

६६६२६३ ।

दो लक्खाणि सहस्सा णवणउदी सगसयाणि पणुतीसं ।
पंचमवसुधाधाए पइण्णया होंति णियमेण ॥ ६३ ॥

२ ६६७३५ ।

अट्ठासट्ठोहीणं लक्खं छट्ठीइ मेइणीए वि ।
अवणीए सत्तमिए पइण्णया णत्थि णियमेण ॥ ६४ ॥

६६६३२ ।

तेसीदिलक्खाणि णउदिसहस्साणि तिसयसगदालं।
छप्पुढवीणं मिलिदा सव्वे वि पइण्णया होंति ॥ ९५ ॥
८३९०३४७

संखेज्जमिदयाणं रुंदं सेढी गदाण जोयणया।
तं होदि यसंखेज्जं पइण्णयाणुभयमस्स रूवं ॥९६॥
६ । २७ । ७७ ।

संखेज्जा वित्थारा णिरयाणं पंचमस्स परिमाणं।
सेस चउपंचभागा होंति असंखेज्जरुंदाइं ॥९७॥
८४००००० । १६८००० । ६७२००० ।

छपंचतिदुगलक्खा सट्ठिसहस्साणि तह य पक्कोणा।
वीससहस्सा पक्कट्ठय[1] णेदि सुसंखवित्थारा ॥९८॥
६००००० । ५००००० । ३००००० । २००००० ।
६०००० । १९९९९ । १ ।

चउवीसवीसबारसअट्ठपमाणाणि होंति लक्खाणि।
सयकदिहदचउवीसं सीदिसहस्सा[2] य चउहीणा ॥९९॥
२४००००० । २०००००० । १२००००० । ८००००० ।
२४०००० । ७९९९६ ।

चत्तारि रविय पदे होंति असंखेज्जजोयणा रुंदा।
रयणप्पहपहुदीए कमेण सव्वाण पुढवीणं ॥१००॥
४ ।

संखेज्जरुंदसंजुदणिरयबिलाणं जहण्णविच्चालं।
छक्कोसा तेरिच्छे उक्कस्से दुगुणिदो तेपि (?) ॥१०१॥
६ । १२ ।

णिरयबिलाणं होदि हु असंखरुंदाण अवरविच्चालं।
जोयण सत्तसहस्सा उक्कस्से तं असंखेज्ज ॥१०२॥
७००० ।

उत्तपइण्णयमज्झे होंति हु बहुवो असंखवित्थारो।
संखेज्जवासजुत्ता थोवा होप्पति (?) तिमिरजुत्ता ॥१०३॥

---

1 AB एक्कंठुव। 2 AB सादिसहस्सा।

सगसगपुढविगयाणं संखासंखेज्जरुंदरासिम्मि ।
इंदयसेढिविहीणे कमसो सेसा पइण्णए उभयं ॥१०४॥

५१११ । ८७ । अ २३१४६८० ।

संखेज्जवासजुत्ते णिरयबिले होंति णारया जीवा ।
संखेज्जा णियमेणं इदरम्मि तहा असंखेज्ज ॥१०५॥
पणदालंलक्खाणि पढमो चरिमिंदओ वि इगिलक्खं ।
उभयं सोहिय एक्कोणिंदयभजिदम्मि हाणिचयं ॥१०६॥

४५००००० । १००००० ।

छावट्ठिच्छस्सयाणि इगिणउदिसहस्सजोयणाणि पि ।
दुकलाओ तिविहत्ता परिमाणं हाणिवड्ढीए ॥१०७॥

९१६६६ । २ ।
३

बिदियादिसु इत्थं तोरूऊणिच्छाइ(?) गुणिदखयवड्ढी ।
सीमंता दो सेढी अ मेलिज्ज सुअवधिठाणं ॥१०८॥
रयणप्पहअवणीए सीमंतयइंदयस्स वित्थारो ।
पंचत्तालंजोयणलक्खाणि होदि णियमेण ॥१०९॥

४५००००० ।

चोद्दालं लक्खाणि तेसीदि सयाणि होंति तेत्तीसं ।
एक्ककला तिविहत्ता णिरइंदयरुंदपरिमाणं ॥११०॥

४४०८३३३ । १ ।
३

तेदालं लक्खाणं छस्सयसोलससहस्सच्छासट्ठी ।
दुतिभागो वित्थारा[1] रोरुगणामस्स णादव्वो ॥१११॥

४३१६६६६ । २ ।
३

पणुवीससहस्साधियजोयणबादाललक्खपरिमाणो ।
भंतिदयस्स भणिदो वित्थारो पढमपुढवीए ॥११२॥

४२२५००० ।

1 वित्थारो (?)

एक्कतालंलक्खा तेत्तीससहस्सा तिसयतेत्तीसा।
एक्ककला तिविहत्ता उब्भंतयदंदपरिमाणं ॥११३॥

४१३३३३३। १।
३

चालीसं लक्खाणि इगिदालसहस्सछस्सयं होदि।
छावट्ठी दोण्णि कला तिविभत्ता वासोसभंतणामम्मि ॥११४॥

४०४१६६६। २।
३

उणदालं लक्खाणि पण्णाससहस्सजोयणाणि पि।
होदि असब्भंतिदयवित्थारो[1] पढमपुढवीए ॥११५॥

३९५००००।

अट्ठतीसं लक्खा अडवण्णसहस्सा तिसयतेत्तीसं।
एक्ककला तिविहत्ता वासो विब्भन्तणामम्मि ॥११६॥

३८५८३३३। १।
३

सगतीसं लक्खाणि छासट्ठिसहस्सछसयछासट्ठी।
दोण्णि कला तियभजिदा[2] इंदो तत्तिदए[3] होदि ॥११७॥

३७६६६६६। २।
३

छत्तीसं लक्खाणं जोयणाया पंचहत्तरिसहस्सा।
तसिदिंदयस्स इंदं णादव्वं पढमपढवीए ॥११८॥

३६७५०००

पणतीसं लक्खाणिं तेसीदिसहस्सतिसयतेत्तीसा।
एक्ककला तिविहत्ता इंदं वक्कंतणामम्मि ॥११९॥

३५८३३३३। १।
३

चउतीसं[4] लक्खाणि इगिणउदिसहस्सछस्सयछासट्ठी।
दोण्णि कला तियभजिदा एस य वक्कंतणामम्मि ॥१२०॥

३४९१६६६। २।
३

1 S असउब्भंतिदय; 2 S तिपभजिदा; 3 S तसिदए; 4 S चौतीसं।

चोत्तीसं लक्खाणि जोयणसंखा य पढमपुढवीए ।
विक्कंतणामइंदयवित्थारो एत्थ णादव्वो ॥१२१॥

३४००००० ।

तेत्तीसं लक्खाणि अट्ठसहस्साणि तिसयतेत्तीसा ।
एक्ककलाठिदियाए[1] थणइंदयरुंदपरिमाणं[2] ॥१२२॥

३३०८३३३ । १ ।
३

बत्तीसं लक्खाणि छस्सयसोलससहस्सछासट्ठी ।
दोण्णि कला तिविहत्ता वासातणइंदए होदि ॥१२३॥

३२१६६६६ । २ ।
३

एक्कतीसं लक्खाणि पणुवीससहस्सजोयणाणि पि ।
मणइंदयस्स रुंदं णादव्वं विदियपुढवीए ॥१२४॥

३१२५००० ।

तीसं पिय लक्खाणि तेत्तीससहस्सतिसयतेत्तीसा ।
एक्ककलाविदियाए वणइंदयरुंदपरिमाणा ॥१२५॥

३०३३३३३ । १ ।
३

एक्कोणतीसलक्खा इगिदालसहस्सछसयछासट्ठी ।
दोण्णि कला तिविहत्ता घादिंदयणामवित्थारो ॥१२६॥

२९४१६६६ । २ ।
३

अट्ठावीसं लक्खा पण्णरससहस्सजोयणाणि पि ।
संघातणामइंदयवित्थारो बिदियपुढवीए ॥१२७॥

२८५०००० ।

सत्तावीसं लक्खा अडवण्णसहस्सतिसयतेत्तीसा ।
एक्ककला तिविहत्ता जिब्भिंदयरुंदपरिमाणं ॥१२८॥

२७५८३३३ । १ ।
३

1 S ठिदियाए, 2 AB परिणामा ।

छव्वीसं लक्खाणिं छासट्ठिसहस्सछस्सयछासट्ठि ।
दोण्णि कला तिविहत्ता जिब्भगणामस्स वित्थारो ॥१२९॥

२६६६६६६ । २ ।
　　　　　३

पणुवीसं लक्खाणिं जोयणया पंचसत्तरिसहस्सा ।
लोलिंदयस्स रुंदो बिदियाए होदि पुढवीए ॥१३०॥

२५७५००० ।

चउवीसं लक्खाणिं तेसीदिसहस्सतिसयतेत्तीसा ।
एक्ककला तिविहत्ता लोलगणामस्स वित्थारो ॥१३१॥

२४८३३३३ । १ ।
　　　　　३

तेवीसं लक्खाणिं इगिणउदिसहस्सछस्सयछासट्ठी ।
दोण्णिकला तियभजिदा रुंदा थणलोलगे होंति ॥१३२॥

२३९१६६६ । २ ।
　　　　　३

तेवीसं लक्खाणिं जोयण संखाय तदियपुढवीए ।
पढमिंदयम्मि वासो णादव्वो तत्तणामस्स ॥१३३॥

२३००००० ।

बावीसं लक्खाणिं अट्ठसहस्साणि तिसयतेत्तीसं ।
एक्ककला तिविहत्ता पुढवीए तसिदवित्थारो ॥१३४॥

२२८३३३ । १ ।
　　　　　३

सोलसहस्सछस्सयछासट्ठी एक्कवीसलक्खाणि ।
दोण्णि कला तदियाए[1] पुढवीए तवणवित्थारो ॥१३५॥

२११६६६६ । २ ।
　　　　　३

पणवीससहस्साहियवीसदिलक्खाणि जोयणाणि पि ।
तदिए वि य खोणीए तावणणामस्स वित्थारो ॥१३६॥

२०२५००० ।

1 S तदियाय ।

प्रशस्ति-संग्रह

पं० के० भुजबली शास्त्री

मध्य भाग (परपृष्ठ ३, पंक्ति ३)

> इत्थं श्रीपद्मनन्दिप्रवचनवदि (?) भिर्यन्त्रराजप्रवृत्तौ
> वृद्धार्याराधितं यो विधिवदिह सदा पूजयन्त्यादरेण।
> तैर्भव्यैर्धर्मनिष्ठैरमृतपदसुखं प्राप्तुमिच्छद्भिराराद्
> ध्यानं निःश्रेयसाप्तौ त्रिभुवनमहिता प्राप्यते मोक्षलक्ष्मीः ॥

× × × ×

अन्तिम भाग :—

> यस्यार्थं क्रियते पूजा सुप्रीतो नित्यमस्तु ते।

ॐ ह्रीं रं रं रं रं ज्वालामालिनि ह्रां आं क्रों क्षीं ह्रीं क्लीं ब्लूं द्रां द्रीं ह्मल्वर्यूं ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः ज्वल ज्वल प्रज्वल प्रज्वल धग धग धूं धूं धूम्रांधकारिणि शीघ्रं यन्त्राधिपतये देवदत्तस्य सर्वग्रहोच्चाटनं कुरु कुरु हूं फट् नमः स्वाहा। मन्त्रपुष्पम्।

इस आराधना-विषयक लघुकलेवर पुस्तिका में सर्वप्रथम चन्द्रप्रभ प्रतिबिम्ब का अभिषेक, भूमिशुद्धि, पंच-गुरुपूजा, चत्तारि अर्घ्य का विधान बतलाया गया है। इसके बाद चन्द्रप्रभ तीर्थङ्कर की पूजा उनकी स्तुति, श्याम यक्ष, ज्वालामालिनी यक्षी की पूजा एवं पंचपरमेष्ठी की पूजा दी गई हैं। आगे वज्रपंजरयन्त्र का फल, यन्त्र या यन्त्र की अधिष्ठात्री देवी ज्वालामालिनी और अष्टमातृका की पूजा निर्दिष्ट है। फिर यन्त्रस्थ प्रत्येक पिण्डान्तर्गत बीजाक्षरोंका आह्वान, स्थापन एवं अर्घ्यादि वर्णित है। अनन्तर ब्रह्म यक्ष, पद्मावती यक्षी की पूजा तथा अन्त में मन्त्रपुष्प का मन्त्र दिया गया है। यन्त्रका फल ग्रह, रोग, महामारी, चौरादि की शान्ति बतलायी गयी है।

इस में ग्रन्थकर्ता का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। किन्तु मध्य भाग-गत श्लोक से ज्ञात होता है कि इसके रचयिता श्री पद्मनन्दी हैं। मगर पता नहीं कि यह पद्मनन्दी कौन है। क्योंकि इस नाम के अनेक ग्रन्थकार हुए हैं। 'दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्ता और उनके ग्रन्थ' नामक ग्रन्थ-तालिका में एक पद्मनन्दी (भट्टारक) वि० सं० १३६२ का उल्लेख मिलता है, साथ ही साथ उनकी कृतियों में 'आराधनासंग्रह' नामक एक आराधनाग्रन्थ का जिक्र भी उपलब्ध होता है। बहुत कुछ संभव है कि यही पद्मनन्दी भट्टारक इस 'वज्रपंजराराधनविधान' के रचयिता हों। मल्लिषेण और इन्द्रनन्दि के नाम से भी 'वज्रपञ्जराराधना पूजा' प्राप्त होती हैं।

(२८) ग्रन्थ नं० २४२/ख

मृत्युंजयाराधना-विधान

कर्त्ता— ×

विषय—आराधना

भाषा—संस्कृत

लम्बाई ६। इञ्च चौड़ाई ६ इञ्च पत्रसंख्या ७

प्रारम्भिक भाग—

चन्द्रनाथश्रुतगणधरमृत्युञ्जययन्त्रमित्येतेषामभिषेकं कृत्वा भूमिशुद्धिचतार्यर्थ्यानन्तरं चन्द्रप्रभपूजा।

चन्द्रपुराम्बुधिचन्द्रं चन्द्रार्कं चन्द्रकान्तसंकाशम्।
चन्द्रप्रभजिनमंचे कुन्देन्दुस्फारकीर्तिकान्ताशान्तम्॥
नानामणिप्रचयभासुरकण्ठपीठभृंगारनालकलितामलदिव्यतोयैः।
संसारतापविनिवारणहेतुभूतं श्रीचन्द्रनाथपदपद्मयुगं यजेऽहम्॥ (जलं नि०)
नाकाङ्गनाकरसरोरुहमध्यवर्तिकर्पूरकुंकुमविमिश्रितदिव्यगन्धैः।
मुक्तोपमानवरगन्धरमासमेतं श्रीचन्द्रनाथपदपद्मयुगं यजेऽहम्॥ (गन्धं नि०)

× × ×

मध्य भाग (पत्रपृष्ठ ३, पंक्ति ७)—

यस्यार्थं क्रियते पूजा सुप्रीतो नित्यमस्तु ते
चन्द्रोज्ज्वलां चक्रशरासिपाशां वामत्रिशूलेषु झषासिहस्तां।
श्रीज्वालिनीं सार्धधनुश्शतोच्चजिनानतां कोणगतां यजामि॥

× × ×

अन्तिम भाग—

अत्यन्तभक्त्यानतदेवचन्द्रसूर्याभिवन्द्याग्रजिनेन्द्रभक्ताः।
ब्रह्माणिकाद्या उररीकृतार्घ्याः सर्वापमृत्युं विनिवारयन्त्वः॥
ॐ ह्रीं क्रों अष्टमातृकाभ्यः पूर्णार्घ्यं निर्वपामि स्वाहा।
अणिमादिगुणैश्वर्यशालिन्येत्यष्टमातरः।
याजकानां सुशान्त्यथ सुप्रसन्ना ——

इष्टप्रार्थनाय पुष्पांजलिः। ॐ नमो भगवते देवाधिदेवाय सर्वापद्रवविनाशनाय सर्वापमृत्युंजयकारणाय सर्वमन्त्रसिद्धिकराय ह्रीं द्रीं क्रों अस्य देवत्तस्य सर्वापमृत्युं घातय घातय आयुष्यं वर्द्धय वर्द्धय म्रं वं ह्रः पः हः म्वीं क्ष्वीं हं सः असिआउसा अर्हन्नमः स्वाहा ।१०८ मन्त्रपुष्पार्चनम् ।

इस 'मृत्युंजयाराधना' के प्रारंभ में चन्द्रनाथ, श्रुत, गणधर एवं मृत्युंजय यन्त्र का अभिषेकपूर्वक भूमिशुद्धि, चत्तारि अर्घ्य तथा चन्द्रप्रभ स्वामी की पूजा अङ्कित की गयी है। बाद श्यामयत्त, ज्वालामालिनी यत्ती की पूजा दी गयी है। इसके पश्चात् मृत्युंजय यंत्र में लिखे जानेवाले बीजाक्षरोंके क्रमादि बतलाये गये हैं। साथ ही साथ इस यन्त्र की पूजा विधि भी निर्दिष्ट है। सर्वान्त में अष्टमातृका की पूजा देकर यह कृति समाप्त की गयी है।

जैनसमाज में एक ऐसा भी पत्त है जो आराधना ग्रन्थों को उपेक्षा-दृष्टि से देखता है। इसका कहना है कि ये जो आराधनायें हैं वे जैनियों के मौलिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल हैं और कर्मसिद्धान्त के एकान्त अनुयायी जैनी इन आराधनाओं को मानने को तैयार नहीं हो सकते। साथ ही इसका यह भी कहना है कि ये आराधनायें जैनेतर आराधनाओं के अनुकरण हैं। किन्तु दूसरे पत्त का यह कहना है कि एक गृहस्थ जैनी अपने परिवार में आये हुए आगन्तुक उपद्रवों की शान्ति के लिये अगर इन आराधनाओं से लाभ उठाता है तो अनुचित नहीं है। अन्यथा कर्मसिद्धान्त के एकान्त अनुसरण का परिणाम यही होगा कि कच्चे दिलवाले जैनी अपने ऊपर आई हुई असाताजन्य दुर्घटनाओं को दूर करने के लिये आर्त्तावस्था में अन्यान्य तामसिक देव-देवियों की आराधना आरंभ कर देंगे और यों करते-करते अन्ततः विपथगामी होने का उन्हें अवसर मिल जायगा। आज भी ऐसे अनेकों दृष्टान्त हम लोगों की नजरों से गुजरते रहते हैं। बहुत कुछ संभव है कि तमःप्रकृतिक देव-देवियों की ओर लौकिक सिद्धि के लिये दौड़ पड़ने और चंचलचित्त वाले जैनियों को स्वधर्म में स्थिर रखने की दूर दर्शिता से ही कुछ ग्रन्थकर्त्ताओं ने आराधनाओं की सृष्टि की होगी। जब वे अपने धर्म का सैद्धान्तिक मर्म समझने लगेंगे तब तो आप ही आप ये आराधनायें इनसे दूर भाग खड़ी होंगी। व्यवहारिक दृष्टि से यह नीति लचर नहीं कही जा सकती क्योंकि पीने में सुविधाजनक होनेके लिये ही वैद्य कड़वी दवा में शक्कर मिला देते हैं। अस्तु अभी इसके कर्त्ता का पता आदि नहीं लग सका।

(२६) ग्रन्थ नं० २४३/ख

सहस्रनामाराधना

कर्त्ता— ×

विषय—आराधना

भाषा—संस्कृत

लम्बाई ६। इञ्च चौड़ाई ६ इञ्च पत्रसंख्या ६०

प्रारम्भिक भाग—

सुत्रामपूजितं पूज्यं शुद्धं सिद्धं निरंजनम्
जन्मदाहविनाशाय नौमि प्रारब्धसिद्धये ॥ १ ॥
तद्वक्त्रजां नमस्कुर्वे शारदां विश्वसारदाम् ।
गौतमादिगुरून् सम्यक्दर्शनज्ञानमण्डितान् ॥ २ ॥
एतेषां सुप्रसादेन रचयामि प्रपूजनम् ।
सहस्रनामयुक्तस्य जिनेन्द्रस्य गुणाम्बुधेः ॥ ३ ॥

× × ×

मध्य भाग (पूर्वपृष्ठ ३५, पंक्ति ७)

धूतकमलपरागैः सज्जलैस्तीर्थजातैः कनककलशशस्तैः तापसन्तापनाशैः ।
सुरनिकरसुमेरुस्नापितान्तैः पयोधेः सकलविमलबोधं श्रीजिनं पूजयामि ॥
ॐ ह्रीं.................. ....जलं निर्वपामीतिस्वाहा ।
मलयगिरिसुजातैः सद्द्रवैः कुङ्कुमाद्यै रविकुलकलितोद्यद्गुंजितैरिन्दुयुक्तैः ।
सहजसुरभिदेहं मुक्तिकान्ताकृताभं सकलविमलबोधं श्रीजिनं पूजयामि ॥ (गन्धम्)
धवलशदकपुंजैर्मञ्जुलैः पुण्यपुञ्जैरिव कृतजनतोषैर्मुक्तमालिन्यदोषैः ।
स्वपरहितपदेशं(?) दत्तभव्योपदेशं सकलविमलबोधं श्रीजिनं पूजयामि ॥(अक्षतान्)
कमलबकुलजातीकेतकीचम्पकाद्यैः सुरभिगुणसुदेवानन्दकैः सुप्रसूनैः ।
दलितकुसुमबाणं सर्वविद्याप्रमाणं सकलविमलबोधं श्रीजिनं पूजयामि ॥ (पुष्पम्)
दधिघृतसहितान्नैः शर्करापायसान्नैः प्रचुरवटकवद्भिर्व्यंजनैः सन्निवेद्यैः ।
..................................सकलविमलबोधं श्रीजिनं पूजयामि ॥ (चरुम्)

तुहिनजगृहरत्नैः निर्जितामर्त्यरत्नैः सकलसङ्गरापीतैः वातघातैरधूतैः ।
विदितसकललोकं दिव्यमानं विलोकं सकलविमलबोधं श्रीजिनं पूजयामि ॥ (दीपम्)
अगरुजवरधूपैर्धूपिताशामुखाभैः अमरनिकरनाथानिष्टधूमैर्मनोज्ञैः ।
बहुविधदुरिताऽधदाहकं दाहमुक्तं सकलविमलबोधं श्रीजिनं पूजयामि ॥ (धूपम्)
बकुलजलवलीश (?) दाडिमस्वादुकाम्रक्रमुकसुफलपूराद्यै रनिन्द्यैः फलौघैः ।
शिवसुखफललब्धिं सर्वतत्त्वेद्धबुद्धिं सकलविमलबोधं श्रीजिनं पूजयामि ॥ (फलम्)
अमलकमलगन्धाक्षुराणतराडु(?)लपुष्पैश्चरुगृहमणिदीपैः धूपकृत्सत्फलार्घ्यैः ।
शतमखनुतभेदारूपरत्नत्रयाढ्यं सकलविमलबोधं श्रीजिनं पूजयामि ॥ (अर्घ्यम्)

× × × ×

अन्तिम भाग :—

विशालकीर्तिर्वरपुण्यमूर्तिः शतेन्द्रसंचर्चितपादपद्मः ।
श्रीमज्जिनेन्द्रः सुसहस्रनामा जिनेश्वरः पातु स भव्यलोकान् ॥
षट्षष्ठिसूत्रोक्तपदप्रमाणं त्र्यष्ट्याधिकं चात्र सहस्रयुक्तम् ।
मद्धे त्रिरष्टौ (?) च पदानिलुप्ता (?) पद्मं च कृत्वाष्टदलाष्टकं वै ॥
इत्थं पुरोत्थं पुरुदेवयन्त्रं सम्भाव्य मध्ये जिनमर्चयामि ।
सिद्धाविधर्मादिजिनालयान्तं पत्रेषु नामाङ्कितवत्पदेषु ॥

इस 'सहस्रनामाराधना' में जिनसेनकृत सहस्रनामान्तर्गत प्रत्येक नाम के लिये प्रत्येक अर्घ का विधान पद्यमय अङ्कित है । यह ग्रन्थ दश परिधियों (मण्डलों) में विभक्त है । प्रत्येक परिधि के प्रारम्भ में जिनेन्द्र का प्रत्येक अष्टक (पूजा) निर्दिष्ट है । साथ ही साथ प्रत्येक परिधि की समाप्ति में जयमाला भी अन्तर्भुक्त की गयी है । अर्थात् प्रत्येक परिधि के प्रारम्भ में जिनेन्द्र भगवान् की पूजा, (अष्टक) उस परिधि के अन्तर्गत नामों के लिये अर्घ्य एवं अन्त में पूर्णार्घ और जयमाला है । इस हिसाब से दस अष्टक साधिकसहस्र अर्घ्य और दस जयमालायें हैं । इस में ग्रन्थकर्त्ता के विषय में कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है । परन्तु १म और ९म को छोड़ कर प्रत्येक परिधि के अन्त में कुछ हेर-फेर करके दिये गये निम्नाङ्कित पद्य अवश्य विचारणीय हैं :—

"मुनीन्द्रदेवेन्द्रसुकीर्त्तये तत् श्रीधर्मचन्द्रः कृतधर्मभूषः ।
सुरेन्द्रकीर्त्तिवरधर्ममूर्त्तिः बभुजिनेन्द्रा वरसंघशान्त्यै ॥"

(द्वितीय परिधि का अन्तिम श्लोक)

"इत्थं स्तुतो जिनवरो जगदां विहर्ता''''''''भवाब्धिसु नृणां पतवा (?) सुकर्त्ता।
सद्धर्मचन्द्र इह धर्मसुभूषणाख्यो देवेन्द्रकीर्तितयशा ह्यवतां सतां सः ॥

(३य परिधि का अन्तिम श्लोक)

"इति वरनुतिपूज्यो देवदेवेन्द्रवृन्दैर्विगतसकललोको ज्ञानरूपो जिनेन्द्रः।
प्रथयतु शुभलक्ष्मीः धर्मचन्द्रो मुनीन्द्रस्तुतपदकमलोऽसौधर्मभूषस्तु नृणाम् ॥"

(४थ परिधि का अन्तिम श्लोक)

"श्रीधर्मचन्द्रः श्रुतसिन्धुचन्द्रो विमुक्तदोषावरधर्मभूषः।
मुनीन्द्रदेवेन्द्रयशःप्ररूपः नः पातु शश्वज्जिनसौख्यरूपः।"

(५म परिधि का अन्तिम श्लोक)

"इतिस्तुतोऽभूत्त्रितयैकभूषणास्सुधर्मचन्द्राश्रितधर्मभूषणाः।
मुनीन्द्रदेवेन्द्रयशःप्ररूपः नः पातु शश्वज्जिनसौख्यरूपः॥"

(६ष्ठ परिधि का अन्तिम श्लोक)

'सुधर्मचन्द्रो जिनचन्द्रभूषो देवेन्द्रसत्कीर्तितपादपद्मः।
सुरेन्द्रनागेन्द्रनरेन्द्रपूज्यः पायात् स वः श्रीजिनपः पवित्रः।"

(७म परिधि को अन्तिम श्लोक)

"संसारमुक्तो जिनधर्मचन्द्रः सद्धर्मभूषो वरधर्ममूर्त्तिः।
देवेन्द्रकीर्तिः कृतदेवकीर्तिः पायाज्जिनो वो नरनाथपूज्यः ॥"

(८म परिधि का अन्तिम श्लोक)

विशालकीर्तिर्वरपुण्यमूर्तिः शतेन्द्रसंचर्चितपादपद्मः।
श्रीमज्जिनेन्द्रः सुसहस्रनामा जिनेश्वरः पातु स भव्यलोकान् ॥"

(१०म परिधि का अन्तिम श्लोक)

परिधियों के उल्लिखित इन अन्तिम श्लोकों की ओर ध्यान देने से यह पता लगता है कि इसके कर्ता देवेन्द्रकीर्ति हैं और इन्होंने जिनेन्द्र भगवान् के विशेषणरूप में अपना, अपने गुरु का एवं प्रगुरु का क्रमशः—धर्मचन्द्र, धर्मभूषण देवेन्द्रकीर्त्ति इन नामों से उल्लेख किया है। देवेन्द्रकीर्ति के नामसे कई व्यक्ति हुए हैं, इसलिये नहीं कहा जासकता कि अमुक देवेन्द्रकीर्त्ति ही इसके प्रणेता हैं।

(३०) ग्रन्थ नं० २४४/ख

कलिकुण्डाराधनाविधान

कर्त्ता— ×

विषय—आराधना

भाषा—संस्कृत

लम्बाई ६। इञ्च चौड़ाई ६ इञ्च पत्रसंख्या १३

प्रारम्भिक भाग—

सत्पुष्पधाम्ना(?)प्रविराजितेन पुष्पेण पूर्णेन सुपल्लवेन ।
सन्मङ्गलार्थं कलिकुण्डदेवमुपाग्रभूमौ समलङ्करोमि ॥
(कलशस्थापनम्)

शुद्धेन शुद्धह्रदकूपवापीगङ्गातटाकादिसमावृतेन ।
शीतेन तोयेन सुगन्धिनाहं भक्त्याभिषिञ्चे कलिकुण्डयन्त्रम् ।
(तीर्थोदकाभिषेकः)

नीरैः सुगन्धैः कलमाक्षतौघैः पुष्पैर्हविर्भिर्वरधूपधूमैः ।
भास्वत्फलार्घैः कलिकुण्डयन्त्रं संपूजयाम्यष्टतया सुभक्त्या ॥

× × × ×

मध्य भाग (पूर्वपृष्ठ ६, पंक्ति १०)—

प्रणम्य देवेन्द्रनुतं जिनेन्द्रं सर्वज्ञमज्ञप्रतिबोधसंज्ञम् ।
स्तोष्ये सदाहं कलिकुण्डयन्त्रं सार्वं च विघ्नौघविनाशदक्षम् ॥
नित्यं स्मरन्तोऽपि हितो (?) पि भक्त्या सदास्तुवन्तोऽपि जपं सुमन्त्रम् ।
पूजां प्रकुर्वन् हृदये ददाति सच्चेप्सितं यच्छतु यन्त्रराजम् ॥
प्रांगणे कल्पतरुप्रसूनं चिन्तामणिश्चिन्तितदानदाने ।
गावश्च तुल्याश्च हि कामधेनुर्यस्यास्ति भक्ति कलिकुण्डयन्त्रे ॥
नमामि नित्यं कलिकुण्डयंत्रम् सदा पवित्रं कृतरत्नपात्रं ।
रत्नत्रयाराधनभावलभ्यम् सुरासुरैर्वन्दितमाद्य मीड्य ....॥

सिंहेभसर्पाग्निजलाब्धिचौरैर्विषादयोऽन्ये च समूहविघ्नाः।
व्याध्यादयो राजकुलोद्भवं भयं नश्यत्यवश्यं कलिकुण्डपूजया ॥

× × × ×

अन्तिम भाग—

कलिलदहनदक्षं योगियोगोपलक्षम्
अविकुलकलिकुण्डो दण्डपार्श्वप्रचण्डम् ।
शिवसुखमभवद्वा दासवल्लीवसन्तम्
प्रतिदिनमहमीडे वर्धमानस्य सिद्धयै ॥

इस 'कलिकुण्डाराधना' के आदि में कलिकुण्डयन्त्र एवं श्रीपार्श्वनाथ की प्रतिमा का अभिषेक, भूमिशुद्धि, पञ्चगुरुपूजा और चत्तारि अर्घ्य निर्दिष्ट हैं। बाद पार्श्वनाथ पूजा एवं इन्हीं की मन्त्रस्तुति; धरणेन्द्र यक्ष और पद्मावती यक्षी की पूजा तथा इनके मन्त्र-स्तोत्र दिये गये हैं। इसके उपरांत मंत्र लिखने की विधि और फल इत्यादि का निर्देश करते हुए प्रस्तुत यंत्र की पूजा बतलायी गयी है। अन्त में यन्त्रीय मंत्र की स्तुति, यंत्रस्थ पिण्डाक्षरों का अर्घ्य, अष्टमातृका की पूजा, मन्त्रपुष्प और जयमाला लिखी गयी है। इसके कर्त्ता भी अभी अज्ञात ही हैं।

---

(३१) ग्रन्थ नं० २४५/ख

गणधरवलयकल्प

कर्त्ता— ×

विषय—मन्त्रशास्त्र

भाषा—संस्कृत

लम्बाई ६½ इञ्च चौड़ाई ६ इञ्च पत्र संख्या १०

प्रारम्भिक भाग—

देवदत्तस्य नामाहंकारेण वेष्टयेत्।

ततोऽआह्वतेन तस्याधः कर्मक्षयार्थं अर्थप्राप्त्यर्थं पद्मासनम्। शांतिकपौष्टिकसारस्वतार्थ श्रींकारासनम्। शत्रुविनाशार्थं कूष्माण्डिवश्यार्थं च ह्रूंकारासनम्। ततः ओं ह्रीं अर्ह णमो

वैद्य-सार

पं० सत्यन्धर जैन, आयुर्वेदाचार्य
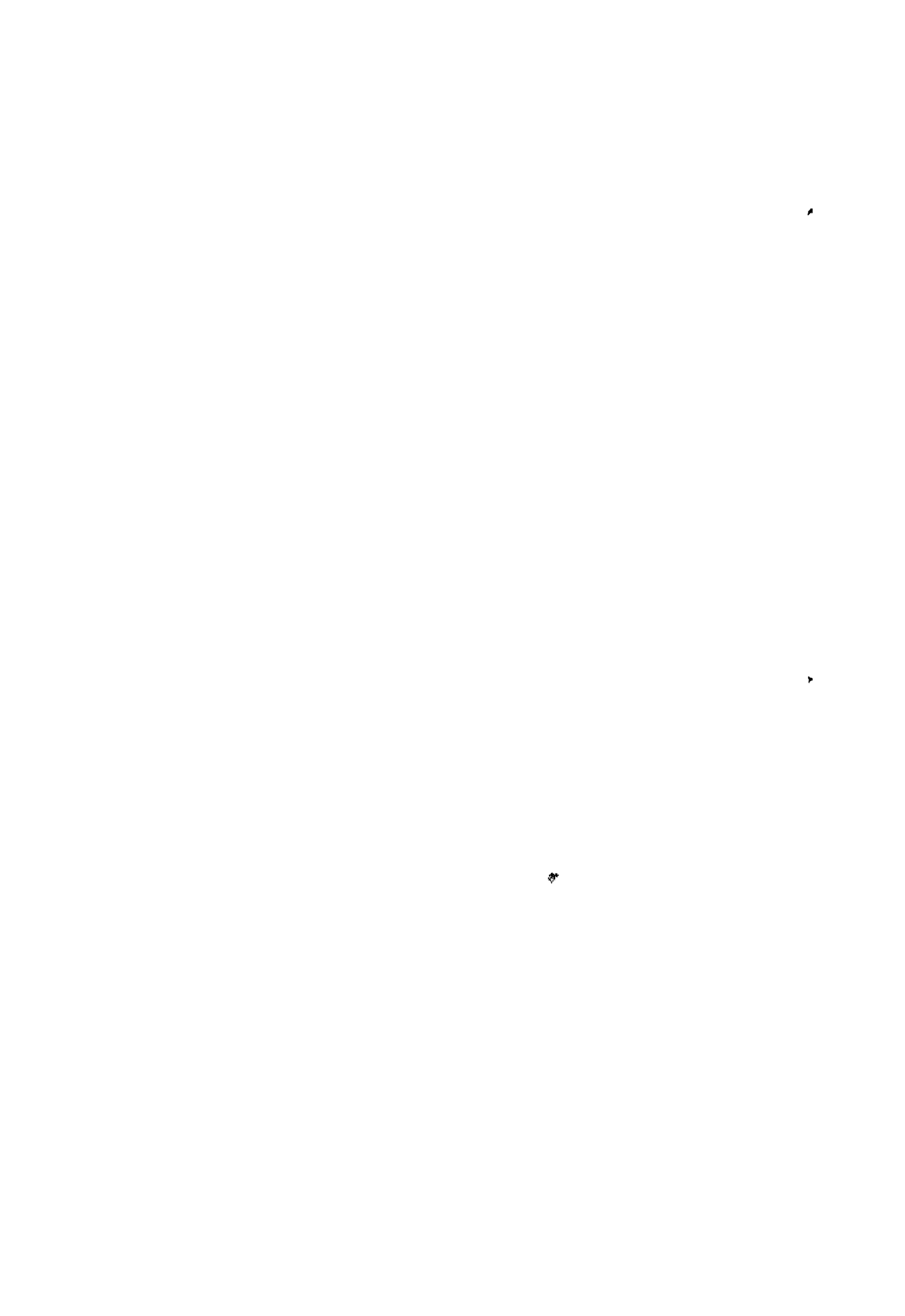
१२७—ज्वरादौ कलाधररसः

सुरसं गंधकं चाभ्रं काशीसं शीसमेव च ।
बंगं शिलाजतु यष्टि चैला लामज्जकं समम् ॥१॥
नालिकेरैश्च कूष्माण्डैः रंभाजेक्षुरसेन च ।
पंचवल्कलस्वरसेन (?) द्वात्रिंशद्भावना तथा ॥२॥
नालिकेररसेनैव दद्याद्वल्लं सशर्करं ।
पथ्ये संसिद्धलाजं हि शमयेत्तृट्गदान् ज्वरान् ॥३॥
रक्तपित्ताम्लपित्तं च सोमं पाण्डुं च कामलां ।
पूज्यपादेन कथितः रसः चन्द्रकलाधरः ॥४॥

टीका—शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक, अभ्रक-भस्म, शुद्ध कसीस, नागभस्म, बंगभस्म, शुद्ध शिलाजीत, मुलहठी, छोटी इलायची, मंजीठ (एक सुगंधित तृण) ये सब बराबर लेकर नारियल के दूध से, कूष्मांड के स्वरस से, केला के कन्द के स्वरस से, ईख के स्वरस से तथा पंच वल्कल (पीपल, बड़, ऊमर, पाकर, कठऊमर) के काढ़े से अलग अलग बत्तीस-बत्तीस भावना देवे और सुखाकर गोली बांधे। इस गोली को नारियल के दूध के साथ तीन-तीन रत्ती की मात्रा से मिश्री के साथ देवे तथा सिद्ध की गयी (पकायी हुई) लाई को पथ्य में देवे। इसके सेवन करने से तृषा एवं तृषा से उत्पन्न होनेवाले ज्वरों को लाभ होता है तथा रक्तपित्त, अम्लपित्त, सोमरोग (सफ़ेद प्रदर) पांडु, कामला इन रोगों को भी लाभ होता है। यह रस श्रीपूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

१२८—मन्दाग्नौ उदयमार्तण्डरसः

जयपालं विषटंकणं च दरदं त्रैलोक्यनेत्रांबुधि ।
मर्द्यश्चार्द्र रसैर्द्विगुंजवटिका कार्या चतुर्बुद्धिभिः ॥१॥
मंदाग्निं विगुणानिलं च गुल्मं श्वासं च कासं क्षयं ।
प्रोक्तः शूलविनाशकश्च मुनिना मार्तण्डनामा रसः ॥२॥

टीका—शुद्ध जमालगोटा ३ भाग, शुद्ध विषनाग २ भाग, टंकणक्षार २ भाग, शुद्ध सिंगरफ ४ भाग इन सबको एकत्रित करके अदरख के रस के साथ मर्दन करे तथा दो-दो रत्ती की गोली बनावे और इसको बुद्धिमान् अनुपान-विशेष से बलाबल के अनुसार देवे तो इससे मंदाग्नि, वायु की विगुणता तथा गुल्म, श्वास, कास, क्षय, शूल इन सब का नाश होता है, यह पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

१२९—ग्रहण्यादौ कनकसुन्दररसः

हिंगुलं मरिचं गंधं पिप्पली टंकणं विषं।
कनकस्य च बीजानि समांशं विजयाद्रवैः ॥१॥
मर्दयेद्याममात्रं तु चणमात्रा वटी कृता।
भक्षयेद्गुंजयुग्मं तु ग्रहणीनाशने परः ॥२॥
अग्निमांद्यं ज्वरं शीघ्रमतीसारविनाशनः।
कनकसुन्दररसश्चासौ पूज्यपादेन भाषितः ॥३॥

टीका—शुद्ध सिंगरफ, काली मिर्च, शुद्ध गंधक, पीपल, सुहागे की भस्म, शुद्ध विषनाग, शुद्ध धतूरे के बीज ये सब बराबर-बराबर लेकर भांग के स्वरस से चार पहर तक मर्दन करे और चना के बराबर गोली बांधे। दो-दो रत्ती अनुपान-विशेष से सेवन करे तो ग्रहणी को लाभ होता है तथा मंदाग्नि, ज्वर, अतीसार को भी लाभ हो। कनकसुन्दर रस पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

१३०—मन्दाग्न्यादौ अमृतगुटिका

त्रिकटु सूतगंधं च ग्रन्थिकं चव्यचित्रकं।
अमृतं लवणं चैव भृङ्गस्य रस-मर्दिता ॥१॥
एषा चामृतगुटिका च कृतवह्निविवर्धना।
अमृता गुटिका नाम विंशतिश्लेष्मरोगजित् ॥२॥
अशीतिवातजान् रोगान् नाशयेन्नात्र संशयः।
विबंधं नाशयेच्छीघ्रं पूज्यपादेन भाषिता ॥३॥

टीका—सोंठ, मिर्च, पीपल, शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, पीपरामूल, चाव, चित्रक, शुद्ध विषनाग और संधानमक ये सब बराबर-बराबर भाग लेकर भंगरा के रस से घोंटे और गोली बांध लेवे। यह गोली अनुपान-विशेष से दी जावे तो बीस प्रकार के कफरोग शांत हो, तथा अग्नि को बढ़ानेवाली, अस्सी प्रकार के वातरोगों को नाश करनेवाली और विबंध को नाश करनेवाली यह अमृतगुटिका पूज्यपाद स्वामी ने कही है।

१३१—सर्वरोगे मरीचादिवटी

मरिचं नागरं नाभिस्त्रितयं तत्समं तथा।
पिप्पली ताम्रभस्मानि प्रत्येकं सममात्रकम् ॥१॥

भृङ्गराजरसैमर्दा वटिका माषमात्रका।
एषा हि क्षीरसंयुक्ता सर्वव्याधिविनाशिनी ॥२॥

टीका—काली मिर्च, सोंठ, कस्तूरी तथा पीपल, तामे की भस्म ये पांचों समान भाग लेकर भंगरा के रस से मर्दन करे और एक माशे की गोली बांध कर दूध के साथ रोग तथा रोगी के बलाबल के अनुसार देवे, तो सर्व प्रकार की व्याधि दूर हो।

१३२—विबन्धे विरेचनवटी

राजवृक्षफलं सारं त्रिफला गुडमेव च।
दंतितुल्यसमायुक्तं निष्कमात्रवटीकृतं ॥१॥
उष्णोदकं च ससितं वमने सौख्यमेव च।
गुडक्षीरेण संयुक्तं वरेके च प्रशस्यते ॥२॥

टीका—अमलतास का गूदा, बड़ी हर्र का बकला, बहेरे का बकला, आँवला, पुराना गुड, शुद्ध जमालगोटा तथा तूतिया की भस्म ये सब बराबर-बराबर ले और गुड उतने परिमाण में दे कि जितने में गोली बंध जावे। इसकी तीन-तीन माशे की गोली बना कर एक-एक गोली मिश्री के साथ तथा गर्म पानी से सेवन करने से वमन सुखपूर्वक होता है। गर्म दूध एवं पुराने गुड के साथ सेवन करे तो उत्तम जुलाब हो।

टिप्पणी—यहाँ पर तुत्थ भस्म का पाठ आया है और वह भी सब के समान भाग ही है परंतु वह अधिक है। वैद्यगण विचार कर उसकी मात्रा ग्रहण करें।

१३३—ज्वरादौ प्रतापमार्तण्डरसः

विषटंकणजयपालं हिंगुलं क्रमवर्द्धितम्।
तुलसीरस-संपिष्टं वटिकागुंजमात्रकाः ॥१॥
ज्वरादिनाशनश्चासौ विशेषैश्चानुपानकैः।
मार्तण्डप्रतापश्च पूज्यपादेन भाषितः ॥२॥

टीका—शुद्ध विषनाग, सुहागे की भस्म, शुद्ध जमालगोटा, शुद्ध सिंगरफ ये क्रम से एक भाग, दो भाग, तीन भाग, चार भाग लेकर खरल में घोंटकर तुलसी की पत्ती के रस से घोंट एक एक रत्ती के प्रमाण की गोली बनावे। यह अनुपान विशेष से ज्वर को नाश करनेवाला प्रताप मार्तण्डरस पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

१३४—विषमज्वरे प्रभाकररसः

कर्षं शुद्धरसस्यापि द्विमासे चाम्लविद्रुते।
निक्षिपेन्मर्दयेत्खल्वे षणिष्कं शुद्धगंधकं ॥१॥
तुत्थांकोलकुणीबीजं शिलातालं चतुश्चतुः।
तत्समं मृतलौहस्य निष्कौ द्वौ टंकणस्य च ॥२॥
तत्समं कुटकीनीलवराटांजनशुद्धकम्।
निष्कत्रयं सितं योज्यं सर्वं चोक्तक्रमेण वै ॥३॥
शुभे मुहूर्ते शुभदिने खल्वमध्ये विमर्दयेत्।
चांगेर्यम्लेन यामत्रीन् जंबीराम्लैः दिनद्वयम् ॥४॥
पुटं हस्तप्रमाणं तु वसुसंख्यं तुषाग्निना।
जंबीरस्य द्रवैरेव पिष्ट्वा पिष्ट्वा पचेत् पुटे ॥५॥
ततो वनोत्पलैरेव देयं गजपुटं महत्।
आदाय चूर्णश्लक्ष्णं तु चूर्णांशं शुद्धगंधकं ॥६॥
तदर्धमरिचं चूर्णं तदर्धं पिप्पलीरजः।
तदर्धं नागरजं चूर्णं चैकीकृत्य द्विगुंजकम् ॥७॥
लेहयेन्माक्षिकैः सार्धं नागवल्लीरसेन च।
पथ्यं दुग्धं विजानीयाद्भुक्तिः विषमज्वरे ॥८॥
चन्द्रकान्तिसमो नाम्ना रसश्चन्द्रप्रभाकरः।
सर्वव्याधिविनाशश्च सर्वज्वरकुलांतकः ॥९॥
एकमासप्रयोगेण देहश्चन्द्रप्रभाकरः।
कथित व्याधिविध्वंसो पूज्यपादेन निर्मितः ॥१०॥

टीका—शुद्ध पारा १ तोला लेकर उसको २ मास तक खटाई में मर्दन करे तत्पश्चात् १॥ तोला शुद्ध गंधक एक खरल में डालकर कज्जली बनावे, उसके बाद तूतिया की भस्म, अङ्कोल के बीज, कुणी के बीज (तुनवृक्ष), शुद्ध शिला, तवकिया हरताल की भस्म, लौह की भस्म एक-एक तोला तथा सुहागे की भस्म, कुटकी, नील की पत्ती, कौड़ी की भस्म, शुद्ध सुरमा ये सब दवाएँ छः-छः माशे और नौ माशा मिश्री लेकर सब को एकत्रित करके शुभ दिन एवं शुभ मुहूर्त में खरल में डालकर चांगेरी के स्वरस से तीन प्रहर तक, जंबीरी नींबू के स्वरस से दो दिन तक घोंटे एवं सुखाकर संपुट में बंद करके कपड़मिट्टी कर एक हाथ गहरे गड्ढे में पुट लगावे। इस प्रकार आठ पुट दे। ये सब आठों पुट जंबीरी नींबू के स्वरस से ही घोंट कर पुट तुष की अग्नि में देवे और अन्त में एक जङ्गली कण्डों

से बड़ी गजपुट देवे। स्वांग शीतल हो जाने पर चूर्ण कर के सब चूर्ण से आधा शुद्ध गंधक, गंधक से आधा काली मिर्च का चूर्ण तथा उससे आधा सोंठ का चूर्ण मिला सब को बराबर मिलाकर घोंटकर तीन-तीन रत्ती की मात्रा से शहद तथा पान के रस के साथ सेवन करे। इसके ऊपर दूध को पथ्यरूप में सेवन करे और यदि इसको विषमज्वर में देना हो तो दूध भी न देकर लंघन करावे। यह चन्द्रमा की कांति के समान चन्द्रप्रभाकर नाम का रस राजयक्ष्मा को नाश एवं सब ज्वरों को ध्वन्त करनेवाला है। यह एक माह के प्रयोग से शरीर की कांति को चन्द्रमा की कांति के समान बनाने तथा अनेक व्याधियों को नाश करनेवाला पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

१३५—ज्वरादौ संजीवनीय रसः

हिंगुलशुद्धत्रिभागकं सुरसकं भागद्वयं चोषणं।
भागैकं नवनीतकेन मर्द्यः निंबुकरसेनैव च ॥१॥
सिद्धोऽयं रसराज एष मधुना देयस्त्रिदोषज्वरे।
संतापज्वरदाहनाशनपरः संजीवनीयो रसः ॥२॥

टीका—शुद्ध सिंगरफ, तीन भाग, खपरिया की भस्म दो भाग तथा काली मिर्च १ भाग इन सब को कपड़छन करके नैनू (मक्खन) में घोंटे। पश्चात् नींबू के रस में तबतक घोंटे जब तक उसकी चिकनाई न मिट जाय। जब वह गोली बांधने योग्य हो जाय तो गोली बांध लेवे। इस गोली को शहद के साथ सेवन करे तो इससे त्रिदोषजन्य, संताप जन्य ज्वर एवं दाह की भी शांति होती है।

१३६—सर्वज्वरे विद्याधररसः

रसगंधार्कही धात्री रोहतत्रिवृतावरा।
व्योषाग्निहिंगुलं शुद्धं टंकणं च विनिक्षिपेत् ॥१॥
जयपालं शुद्धकं चापि मर्दयेद्वह्निवारिणा।
दंतिकाथेन मर्द्यः शोषयेत् सूर्यरश्मिभिः ॥२॥
वदरास्थिप्रमाणेन वटिकां कारयेद्भिषक्।
गुडेन सह वटिकैका नित्यं सर्वज्वरापहा ॥३॥
अनुपानविशेषेण प्रतिश्यायज्वरापहः।
पूज्यपादेन मुनिना प्रोक्तो विद्याधरो रसः ॥४॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, तामे की भस्म, लजनू के बीज, आँवले की उरगठी, बहेड़े की छाल, निशोथ, हर्र, बहेरा, आँवला, सोंठ, काली मिर्च, पीपल, चित्रक, शुद्ध सिंगरफ सुहागे की भस्म और शुद्ध जमालगोटा ये सब बराबर-बराबर भाग लेकर थूहर के दूध से और दंती के काढ़े से एक-एक बार मर्दन करे और एक-एक दिन धूप में सुखावे। बेर के बराबर बराबर गोली बना गुड़ के साथ एक-एक गोली प्रतिदिन खाये तो सर्व प्रकार का ज्वर शांत हो तथा विशेष अनुपान-द्वारा खाये तो मुखाम का ज्वर भी शांत हो जाता है। यह विद्याधर रस पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

१३७—गुल्मादौ अग्निकुमाररसः

जयपालशुभगंधरसाभ्रकाणां सौवर्चलं तुल्यकटुत्रयस्य।
मूत्रेण च षोडशभागमाने संमर्द्य सर्वं च दिनत्रयं च ॥१॥
वटिकां विधाय बदरप्रमाणां सेव्या वटी चोष्णजलानुपानात्।
एषा प्रयुक्ता सहसा निहंति सुरेच्य चादौ मलजातमेव ॥२॥
गुल्मं यकृत्पांडुविबद्धशूलबद्धोदरादींश्च जलोदरादीन्।
अग्निः कुमारो मुनिना प्रयुक्तः प्रकाशितो दीप इवांधकारे ॥३॥

टीका—शुद्ध जमालगोटा, शुद्धगंधक, शुद्ध पारा, अभ्रकभस्म, काला नमक, सोंठ, मिर्च, पीपल इन सब को एकत्रित कर के सब दवाइयों से सोलह भाग गोमूत्र लेकर तीन दिन तक बराबर घोंटे और बेरी के बराबर गोली बनावे तथा गर्म जल से सेवन करे तो इससे पहिले संचित हुए मल को निकाल कर गुल्म रोग, यकृत् रोग, पांडुरोग, विबद्धता, शूलरोग, बद्धोदर, जलोदर इत्यादि संपूर्ण पेट के रोग शांत होते हैं। यह अग्निकुमार रस पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ रोगरूपी अन्धकार को नाश करने के लिये दीपक के समान है।

१३८—सन्निपाते यमदंडरसः

बंगस्य सप्तभागः स्यात् सप्तभागरसस्तथा।
एकीकृत्य रसो मर्द्य आर्धश्च खलु गंधकः ॥१॥
अर्धभागं तथा तालं वत्सनाभश्च तत्समः।
सर्वमेकीकृतं चूर्णं धूर्तद्रावेण मर्दयेत् ॥२॥

गुंजामात्रप्रमाणेन सन्निपाते च दापयेत् ।
अनुपानप्रभेदेन प्रयोक्तव्यः सदैव सः ॥३॥
त्रयोदश सन्निपातान् नाशयत्याशु निश्चितम् ।
यमदण्डरसः ख्यातः पूज्यपादेन भाषितः ॥४॥

टीका—वंगभस्म सात भाग, शुद्ध पारा सात भाग, इन दोनों को खरल में डालकर मर्दन करे। पीछे उसमें ३॥ भाग शुद्ध गंधक मिलावे तथा आधा भाग तबकिया हरताल भस्म, आधा भाग शुद्ध विषनाग इन सब को एकत्रित घोंटकर कज्जली बना धतूरे के रस से मर्दन करके एक-एक रत्ती की गोली बनावे। अनुपान-भेद से उग्र कठिन से कठिन सन्निपात में भी सदैव प्रयोग करना चाहिये। यह यमदण्ड रस तेरह प्रकार के सन्निपातों को नाश करता है। यह पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ उत्तम योग है।

१३६—क्षयादौ वज्रेश्वररसः

कर्षोकणायाः सत्वञ्च षणिष्के हेमविद्रुते ।
षणिष्कसूतं गंधं च ह्यष्टनिष्कं प्रवेशयेत् ॥१॥
प्रवालमुक्ताफलयोः चूर्णं हेमसमांशकम् ।
क्रमाद्द्वित्रिचतुर्निष्कं मृतायः शीसबंगकान् ॥२॥
चांगेर्यम्लेन यामैकं मर्दितं चूर्णितं पृथक् ।
निष्कद्वयनीलकटुकी व्योमायः कांततालकाः ॥३॥
अङ्कोलकं कुणीबीजतुल्यभस्मं पृथक् पृथक् ।
अष्टौ तु टंकणक्षारः वराटानां च विंशतिः ॥४॥
महाजंबीरनीरस्य प्रस्थद्वन्द्वेन पेषयेत् ।
पिष्ट्वा रुद्ध्वा शरावे च भस्मीभूतं समाचरेत् ॥५॥
मधुना लोडितो लेह्यः तांबूलीस्वरसेन सः ।
वह्निदीप्तकरः शीघ्रं धातून् वर्धयतितराम् ॥६॥
अनुपानविशेषेण क्षयरोगविनाशकः ।
रसो वज्रेश्वरो नाम पूज्यपादेन भाषितः ॥७॥

टीका—१ तोला पीपल का सत ले १॥ तोला शुद्ध सोना पिघलाकर उसमें डाल देवे और १॥ तोला शुद्ध पारा, २ तोला शुद्ध गंधक लेकर सब की कज्जली बनावे। पश्चात् १॥ तोला मोती घुटा हुआ, १॥ तोला प्रवाल घुटी हुई लेकर उसी में डाल दे और उसी में

आधा तोला लौह की भस्म, पौन तोला शीसे की भस्म, १ तोला बंग भस्म डाल सब को खरल में एकत्रित कर चांगेरी के रस से १ प्रहर तक घोंट कर सुखा लेवे और उसमें छः-छः माशे नील की पत्ती, कुटकी, अभ्रक-भस्म, कांतलौह भस्म, तवकिया हरताल भस्म, अकरकरा, कुणी का बीज़, तूतिया की भस्म, २ तोला सुहागे की भस्म, ५ तोला कौड़ी की भस्म देकर उसी में मिलावे तथा जंबीरी नींबू के दो सेर रस में घोंट एवं सुखा संपुट में बंद करके सुखा कर भस्म करे। इस भस्म को योग्य मात्रा से शहद तथा पान के स्वरस के साथ सेवन करे तो अग्नि दीप्त हो, धातुओं की पुष्टि होवे और अनुपान-विशेष के बल से क्षयरोग का नाश करनेवाला यह वज्रेश्वररस पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ श्रेष्ठ है।

१४०—द्राक्षादि क्वाथः

द्राक्षामधूकमधुकं कोद्रवश्चापि सारिवा।
मुस्तामलकह्रीवेरपद्मकेशरपद्मकं ॥१॥
मृणालं चन्दनोशीरनीलोत्पलपरूषकः।
द्राक्षादेः हिमसंयुक्तः जातीकुसुमेन वा ॥२॥
सहितो मधुसितालाजैर्जयत्यनिलपित्तजं।
ज्वरं मदात्ययं छर्दिं दाहमूर्छाश्रमभ्रमं ॥३॥
ऊर्ध्वाधोरक्तपित्तं च पांडुतां कामलामपि।
सर्वश्रेष्ठहिमश्चायं पूज्यपादेन भाषितः ॥४॥

टीका—मुनक्का, महुवा, मुलहठी, कोद्रवधान्य, सारिवा, नागरमोथा, आंवला, सुगंधवाला, कमलकेशर, पद्माक्षचन्दन, उशीर, लालचन्दन, खस, नीलकमल, फालसा इन सब को बराबर-बराबर लेकर हिम (पांच प्रकार के काढ़े में से एक प्रकार का हिम काढ़ा में) बनावे और वह काढ़ा शहद, मिश्री, लाई, चमेली के फूल इन सब के साथ सेवन करे तो वात-पित्त से उत्पन्न हुआ ज्वर तथा मदात्यय नाम का रोग, वमन, दाह, मूर्च्छा, भ्रम उर्ध्वग रक्त-पित्त, अधोग रक्तपित्त, पाँडुरोग, कामला इत्यादि शांत होते हैं। यह सर्वश्रेष्ठ योग पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ है।

इस काढ़े को पकावे नहीं बल्कि सब दवाइयाँ रात को भींगो देवे तथा सुबह मल एवं छान कर पीये।

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

(जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र)

भाग ४—वि० सं० १९९४ एवं वीर सं० २४६४।

सम्पादक-मण्डल

प्रोफेसर हीरालाल, एम. ए., एल.एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए.

बाबू कामता प्रसाद, एम. आर. ए. एस.

पण्डित के० भुजबली शास्त्री

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४)　　विदेश में ४॥)　　एक प्रति का १।)

विषय-सूची

पृष्ठ

१ आरा में बाहुबली (गोम्मटेश्वर) स्वामी की प्रतिमा [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री २४
२ एक प्राचीन गुटका [श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन १७६
३ ऐतिहासिक प्रसंग [,, पं० के० भुजबली शास्त्री १५७
४ कुछ भौगोलिक शंकाओं का समाधान [श्रीयुत पं० हीरालाल शास्त्री ... १
५ क्या दिगम्बर समाज में तपागच्छ और खरतरगच्छ थे ? [श्रीयुत बाबू अगरचन्द नाहटा २२५
६ जैनप्रतिमा-विधान [श्रीयुत बाबू त्रिवेणी प्रसाद, बी० ए० ... ... १६
७ जैनशिलालेख-विवरण [श्रीयुत प्रो० गिरनॉट २९
८ जैन-प्राकृत-वाङ्मय [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री ९०
९ जैनज्योतिष और वैद्यकग्रंथ [श्रीयुत बाबू अगरचन्द नाहटा ११०
१० जैन मन्त्र-शास्त्र [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री १३५
११ जैनज्योतिष और वैद्यक ग्रंथ [श्रीयुत बाबू अगरचन्द नाहटा १८६
१२ जैनसिद्धांत का प्राचीन स्वरूप [श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन १९३
१३ जैन हिन्दी-वाङ्मय [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री २००
१४ डाक्टरशाही इतिहास (?) [श्रीयुत जैनाचार्य विजयइन्द्र सूरि ८४
१५ दिल्ली के सुलतान और कर्नाटक के जैनगुरु [श्रीयुत डा० भास्करानन्द सालेतूर, एम० ए०, पी० एच० डी० ... ... २०८
१६ बंगाल में जैनधर्म [श्रीयुत बाबू सुरेशचन्द्र जैन, बी०ए० ... ... १५१
१७ बारकूरु (एक सुप्राचीन जैन राजधानी का ध्वंसावशेष) [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री २३३
१८ भट्टाकलंक का समय [श्रीयुत पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री १६५
१९ भगवान पुष्पदन्त और पूज्यपाद स्वामी [श्रीयुत पं० हीरालाल शास्त्री ... २१६
२० राजगृह [श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन ७१
२१ लोंकाशाह और दिगम्बर साहित्य [श्रीयुत बाबू अगरचंद नाहटा ... ३४
२२ श्रीधरसेन-कृत 'विश्वलोचनकोश' का समय [श्रीयुत पी० के० गौड़ ... ९
२३ श्रीबाहुबली की मूर्ति गोम्मट क्यों कहलाती है ? [श्रीयुत गोविन्द पै ... १०२
२४ सम्मेदशिखरजी की यात्रा का समाचार [श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन ... १४३
२५ हस्तसंजीवनम् [श्रीयुत बाबू त्रिवेणी प्रसाद, बी० ए० ... ... २२९

२६ विविध विषय—(१) अष्टशाखा उपजाति [श्रीयुत बाबू का० प्र० ... २४६
(२) इतिहास-संसार पर अनभ्र वज्रपात [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री १२६
(३) एक प्राचीन गुटका की कतिपय रचनायें [श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन १२२
(४) कोण्डकुन्दाचार्य और आचार्य उमास्वाती [श्रीयुत का० प्र० २४२
(५) कोपणतीर्थ की एक मूर्ति [श्रीयुत का० प्र० ... २४६
(६) चंदवरदाई और दिगंबर मुनि ,, ... ४५
(८) "जैनएन्टीक्वेरी" के लेख ,, ... १२४
(९) जैन-सिद्धांत-भवन, आरा की संक्षिप्त रिपोर्ट ... १२७
(१०) "जैन एन्टीक्वेरी" के लेख (श्रीयुत बाबू का० प्र० ... १८९
(११) ,, ,, ,, ... २५०
(१२) देवगढ़ [नाथूराम सिंघई ४१
(१३) दिगंबर जैनसंघ में भेदों की उत्पत्ति [श्रीयुत बाबू क० प्र० ... २४०
(१४) धर्मपुरा-दिल्ली के नये जैनमंदिर की वेदी का परिचय [श्रीयुत बाबू अजित प्रसाद एम०ए०,एलएल०बी० ... ... १२५
(१५) धन्यवाद [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री ... १२६
(१६) नैषधीय चरित में जैनधर्म का उल्लेख [श्रीयुत बाबू का० प्र० १८८
१७) बंगाल में जैन धर्म [श्रीयुत बाबू छोटेलाल जो जैन ... २४८
(१८) भारतीय कथा-साहित्य के आदि लेखक जैनाचार्य [श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन ४४
(१९) भगवान् महावीरकी निर्वाण-तिथि [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री ४९
(२०) रियासत जयपुर में प्राचीन जैनस्थान [श्रीयुत बाबू का० प्र० २४३
(२१) राजावली (मैनपुरी के गुटके पर से) ,, .. २४९
(२२) श्रीसंघ, तपागच्छ और खरतरगच्छ ,, ११९

२७ साहित्य-समालोचना—(१) कर्मदहनाराधना-विधान [श्रीयुत पं० के भुजबली शास्त्री १३०
(२) तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय [श्रीयुत बाबू हीरालाल जैन ५१
(३) पतितोद्धारक जैनधर्म ,, ,, ... ७०
(४) प्रवचनसारका नया संस्करण [श्रीयुत पं० जुगलकिशोर मुख्तार ५३
(५) मूड़बिदुरेय चरित्रे [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री ... १२९
(६) श्रीकुन्दकुन्दाचार्य का कुरल-काव्य [ए० एन० उपाध्ये १३२
(७) स्तोत्र-मंजरि [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री ... १३१
(८) स्तोत्र-मंत्र-सार-संग्रह [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री २५१

ग्रन्थमाला-विभाग

१ तिलोयपण्णत्ती [श्रीयुत प्रो० एन० उपाध्ये ... ... पृष्ठ १७ से ४८ तक
२ प्रशस्ति-संग्रह [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री ... ... ,, ६५ से ९६ ,,
३ वैद्यसार [श्रीयुत पं० सत्यन्धर आयुर्वेदाचार्य ... ... ,, ६६ से ९६ ,,

॥ॐ॥

THE JAINA ANTIQUARY

An Anglo-Hindi quarterly Journal,

Vol. III.] MARCH 1938. [No. IV.

Editors:

Prof. HIRALAL JAIN, M.A., LL.B., P.E.S.,
Professor of Sanskrit,
King Edward College, Amraoti, C. P.

Prof. A. N. UPADHYE, M.A.,
Professor of Prakrata,
Rajaram College, Kolhapur, S.M.C.

B. KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.,
Aliganj, Distt. Etah. U.P.

Pt. K. BHUJABALI SHASTRI,
Librarian,
The Central Jaina Oriental Library, Arrah.

Published at

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription:

Inland Rs. 4. **Foreign Rs. 4-8.** **Single Copy 1-4.**

Om.

THE JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

Vol. III. No. IV | ARRAH (INDIA) | March 1938.

SOME BRAHMANICAL DEITIES IN JAINA RELIGIOUS ART.

BY

Vasudeva Sharaṇa Agrawala, M A., Curator, Mathura Museum.

The subject of Jaina iconography is of great importance for a proper reconstruction of the religious history of early Jainism. But it is to be regretted that a volume comprising an adequate study of the subject commensurate with its importance, is still a desideratum. Indeed, the want of suitable books on Jaina iconography is being felt by more than one scholar. Whereas Buddhist iconography has been dealt with at length by several scholars of established repute, there being such standard works as those of Foucher, Bhattacharya, Getty and Banerji, and the subject of Brahmanical iconography had fortunately its T. Gohmath Rao, there is yet to emerge a scholar to devote his energies and resources to a comprehensive study of the material relating to Jaina images and sculpture.

The quantum of available material also justifies the claim of Jaina art to treatment in a special treatise. There is no period or century in

the annals of Indian art for which ample material relating to Jain religious sculpture is not available. Prof. Jayaswal recently published an excellent nude standing image of a Jaina Tīrthaṁkara distinguished by the characteristic Mauryan polish, [Jaina Image of Maurya Period, J. B. O. R. S., March, 1937, p. 130]. The Hathigumpha Prakrita inscription of King Khāravela of circa 161 B. C. [carved on the roof of the Hathigumphā, an artificial cave, on the southern face of the Udayagiri, a low range of hills situated about three miles from Bhuvaneśwar in the Purī district of Orissa] refers to the preaching of the religion of Jina in Kalinga [and on the Kumārī Hill where the 'Wheel of Conquest' had been well-revolved,' line 14] and to the setting up of (the image of) 'the Jina of Kalinga (probably Śitalanātha whose birth place was in Kalinga or of Mahāvīra himself who had gone there on a preaching mission) which had been taken away by King Nanda (line 12). [*Epigraphia Indica*, Vol. XX, The Hāthigumpha Inscription of Khāravela, by Jayaswal and Banerji, p. 88.]

We must also refer to the other Jaina caves in Orissa, *viz.*, the Mañchapurī (Vaikuṇṭha or Pātālapurī of earlier authors) which besides another inscription of Kharavela's reign also contains a crudely executed freize; the Anantagumpha, the Rānigumpha and the Ganeśha-gumpha caves, carved between 150 and 50 B. C.

The Anantagumphā cave affords important evidence. Its pediment sculptures include a female surrounded on all sides by and standing amongst lotuses, who appears as the Goddess of Beauty and Prosperity personified :—

अभजत्पद्मरूपा श्रीः स्वयमेव शरीरिणी—वनपव २२९।३

Under her arms she has long lotus stalks surmounted by big flowers. On her sides are two elephants with upraised trunks standing on bulbous lotuses, next to them is what looks like a pair of horses with long necks bent low to touch the buds which are supporting them. In the circular frieze above the goddess, are several wild animals, lions and bulls, full of strength and energy. [For the illustration see, Cambridge History of India, Vol. I, fig. 75].

Dr. Coomaraswamy writes about this figure: In Buddhist art this would represent the Nativity of Buddha, in Hindu art Gaja-Lakshmī, but what it represents, unless perhaps the Nativity' of Mahavira, we do not know; it is one of many motifs, such as the *triratna* and the *chaitya* tree, which are elsewhere Buddhist, but here employed in Jaina art.' [*History of Indian and Indonesian Art*, p. 38] Dr. Foucher in his Memoir on the Iconography of Buddha's Nativity, is inclined to take the Gaja—Lakshmi motif as sympolishing Buddha's nativity. He is so sure of his surmise that he adds, 'not only is there nothing to preclude, but everything to prove that the modern Hindu Lakshmī started in olden days by being the Buddhist Māyā. [Memoir, p. 2].

While we can not be so sure regarding the relative positions of Lakshmī and Māyā, it is more probable that the Buddhists accepted the earlier motif of Gaja Lakshmī as they did in the case of a number of other motifs and connected it with the symbolism of Buddha's birth. But the motif as suuh existed from very early times. Both Sri and Lakshmī as Goddesses are referred to in the Yajurveda at the end of the Purusha sūkta xxxi, 22:—
श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ—

Fortune is dependent on fertility, and fertility, is produced by the clouds drenching the earth with heavy downpours at regular intervals. The clouds are the 'elephants of the quaters' (*diggajas*) which bathe the goddess of fortune and perform her *abhisheka*. This is the significance of the Brahmanical Gaja-Lakshī. The Śatapatha Brāhmaṇa [xi 4·3] speaks of the birth of Śrī [Fortune and Beauty] from the *tapas* of Prajāpati while creating living beings. 'She stood there resplendent, shining and trembling. The gods······ set their minds upon her. Surely, that Śrī is a woman······' It is also stated in the same connection that Agni, the food-eater, the food-lord, bestowed food upon her; Soma, the king, the lord of kings, bestowed royal power upon her; Varuṇa, the universal sovereign, the lord of universal sovereigns bestowed universal sovereignty upon her; Mitra, the Kshatra, lord of the Kshtra, bestowed noble rank upon her; Indra, the power, lord of power, bestowed power upon her; Bṛihaspati, the Brahman, lord of the

Brahman bestowed holy lustre upon her; Savitā, the kingdom, the lord of the kingdom, bestowed the kingdom upon her; Pūshan, wealth, the lord of wealth, bestowed wealth upon her; Saraswati, prosperity, the lord of prosperity, bestowed prosperity upon her; and Tvashṭā, the fashioner of form, the lord of forms, bestowed form upon her :—

अग्निरन्नादोऽन्नपतिरन्नाद्यं······सोमो राजा राजपतिः राज्यं
······वरुणः सम्राट् सम्राट्पतिः साम्राज्यं
······मित्रः क्षत्रं क्षत्रपतिः क्षत्रं··· ··इन्द्रो बलं बलपतिः बलं
······बृहस्पतिः ब्रह्म ब्रह्मपतिः ब्रह्मवर्चसं······
···सविता राष्ट्रं राष्ट्रपतिः राष्ट्रं······पूषा भगं भगपतिः भगं
······सरस्वती पुष्टिं पुष्टिपतिः पुष्टि-
···त्वष्टा रूपाणां रूपकृद् रूपपतिः रूपेण पशुन्······

According to another account in the Śatapatha Brāhmaṇa Śrī was the abode of the vital airs [vi 1-1-4 :—

अथ यत्प्राणा अश्रयन्त तस्मादु प्राणाः श्रियः

Her representation at Anantagumphā betrays a similarity with the figures of mother goddesses found elesewhere. It is of the type of the goddess Prithivi on the Lauriyanandangarh gold leaf. In fact Śrī that is represented in several other sculptures [*viz.*, Sanchi north Toraṇa of Stupa I, *H. I. I. A.*, fig, 53; Stūpa II at Sanchi, *C. H. I*, plate XXI. fig. 57; at Bodhagaya, *C. H. I.*, fig. 50; at Kosam, *Ann. Bibliography*, for 1934, fig. d of plate II] shares the same iconographic style. We have the evidence of the Aitareya Brāhmaṇa in which Śrī is identified with Earth :—इयं (पृथिवी) वै श्रीः—ऐ० ८।५

The Vedic conception of the Great mother Goddess, the Magna Mater Deorum, regards Earth as the supreme mother of all living creatures, whether men, animals or birds. We have discussed the available evidence at some length in the article entitled Mathura Terrecottas published in the Journal of the U. P. His. Society [July, 1936, pp. 19—26]. Aditi, Śrī, Pṛithivī, all appear to be common and synonymous appellations.

As against Dr. Foucher's statement of the signification of Śrī in the early Buddhist art of Sanchi, Bharaut and Bodhagaya etc., as the symbol of Buddha's nativity, we should rather look upon this motif in its proper historic setting, and treat it as one forming part of the common stock of the numerous art motifs which had been handed down from the earlier strata of religious art forms. Dr. Bühler pointed out that there was no distinctive school of Buddhists, as distinguished from Jaina and Brahmanical, art. All sects made use for devotional purposes of the art style of their period, and all alike to a very large extent used the same symbolism. Wheels, tridents, lotus flowers, stupas, and many other forms of symbols are common to all the sects.' [Smith, *Jaina Stupa*, p. 27] The assigning of the definite meaning of Buddha's nativity also does not agree with the Jaina interpretation of the Gaja-Lakshmi motif.

We read in the *Kalpasūtra* that *Triśalā*, mother of Mahāvīra, saw the following fourteen auspicious dreams at the time when the Arhat entered her sacred womb by transfer from the womb of the Brāhmaṇī. Devānandā :—

1 गय, 2 वसह, 3 सीह, 4 अभिसेय, 5 दाम 6 ससि, 7 दिणयर, 8 झय, 9 कुंभ, 10 पउमसर 11 सागर 12 विमाणभवण 13 रयण 14 सिहि ।

i.e., गज or elephant with four tusks and white colour, roaring like the thunder heavy with pent up waters, वृषभ or bull with a big hump, सिंह or lion, अभिषेक or the consecration of श्री standing in the midst of a lotus-pond (पद्म-सरोवर) on the Himavanta mountain, by elephants hoarding water in their trunks, दाम or garlands of flowers, शशी or moon, दिनकर or sun, ध्वज or flag-staff. कुम्भ or Brimming Vase, पद्मसर or lotus-pond, सागर or the milky Ocean, देवविमान गृह or the celestial palace, रत्न or gems, and शिखी or the flame of fire.

The dream regarding Abhisheka or Śrī Lakshmī motif is described there at great length. and the enormous number of lotuses surrounding her is given as 1,20,50,120.

We have thus the definite evidence from Jaina literature that the *abhisheka* motif was an ancient one, and counted one of the fourteen,

IMAGES FROM KANKĀLI TILA.

Next in age, but perhaps the greatest religious establishment of the Jainas was at the well known site of Kankali tila at Mathura. Having a continued history of about 1400 years [2nd cent B. C. to 1100 A. D.], this magnificent site merits universal attention. The sculptured treasures found from this place are of the greatest aesthetic and iconographic value. The bulk of them are at present deposited in the Provincial Museum at Lucknow. The excavations were conducted by Dr. Führer at different times between 1887 and 1896.

The antiquities were published by V. A. Smith in his *Jaina Stūpa and other Antiquities of Mathurā* (Govt. Press, Allahabad, 1901, a few copies of which are still available), and illustrated in 107 plates forming part of that book. But the importance of those sculptures requires their reproduction in a decent monograph which should be sumptuously illustrated. No study of Jaina iconography would be perfect without taking detailed notice of the images and bas reliefs from Kankali tila, and for that purpose suitable presentation of the original material is indispensable.

Dr. Fuhrer recognised that 'the remains in the Kankali mound included those of a Buddhist *Vihāra* and of a Vaishṇava temple in addition to the more prominent Jaina edifices.' [*Jaina Stūpa* p. 41]. Amongst Buddhists sculptures we have the scene of the *garuḍa-nāga* battle (page 25), story of Ṛishya Śṛinga (plate 28), Bodhisattva with three saints and two monks suspended in the air (pl. 85) and Buddha head with *ushṇīsha* and *ūrṇā* (pl. 101, fig. 2). Amongst Brahmanical sculptures we have the big image of seated Gaṇeśa wearing a *nāga-yajñopavītā* and holding a *vajra* in his left hand. This image is of the late Kushana period and may have been installed in the Hindu temple at the Kankali site.

The pot-bellied figure illustrated on plate 88 of the *Jaina Stūpa*, having an aureole of flames, has been variously identified. It is often vaguely taken as that of Vaiśravaṇa. But more properly the image appears to have been that of Agni. The god has matted hair tied in a knot on the head, is wearing a rosary of *rudrākṣha* beads round the neck, is pot-bellied, and from the attitude of the

left hand it appears that he held an *amrita-ghaṭa* or *kamaṇḍalu.* All these marks point to its having been a Brāhmanical deity. It is difficult to say whether the image was installed in the Hindu temple at the Kankali site or was installed in a portion of the Jaina monument there. [cf. also D. 24 Image of Agni in the Mathura Museum.]

But the image which can be attributed to the Jainas with certainty is that of the Brahmanical goddess Saraswati. [plate 99]. It is represented as a squatting female wearing a skirt and a scarf, with two attendants on her sides. She is holding in her left hand a book or loose leaves, the cover of which is marked with a *gomūtrika* design and held her right hand probably in *abhaya mudrā.* The inscription tells us that this image of Saraswati was set up by the smith (लोहिककारुक) Gova, son of Siha, at the instance of the preacher (वाचक) Aryya Deva, the श्रद्धाचर of the *gaṇin* Aryya Māghahasti, the pupil of the preacher Aryya Hastahasti, from the Koṭṭiya gaṇa, the Sthāniya *kula,* the vaira *sākhā,* and the Śrigriha *sambhoga,* for the welfare of all beings. [*Jaina Stupa,* p. 57].

For the specific enquiry instituted here the most important is the image of a Tirthankara found from the Kankali tila but now deposited in the Lucknow Museum. [plate 98 of the *Jaina Stupa*]. It is shown as fig. 1 with this article. The Tirthankara is seated in *padmāsana* and *dhyanamudrā* on a raised lotus seat. There are a halo round the head which is damaged, and a *srivatsa* symbol in the centre of the chest. By his side are two attendants standing on lotuses, holding flywhisks and wearing high mitres. On each side of the slab there are two vertical bands showing miscellaneous figures The right inner band is divided into four compartments. It contains, from below (1) two seated worshippers in *añjalimudrā* ; (2) a two-armed deity holding a *pāśa* in his left hand, the right being lost. He is wearing round earrings and a pearl necklace ; (3) A standing male figure in tribhañgi pose, having four arms. There is a canopy of serpenthoods at the back of the head, (4) the upper most figure is lost.

The left inner band contains in order from below, (1) two miniature worshippers, *i.e., dampati,* (2) a female holding a child on

her left thigh and a lotus flower in her right hand. She is seated on a lion. Obviously the figure represents Gaurī or Ambikā. Amongst the Jainas she may be the Yakshīni of Neminātha, (3) A male figure with four arms standing in *tribhangi* pose. (4) In the uppermost panel is a Tirthankara seated in *padmāsana* and *dhyanamudrā* and has the distinguishing symbol of the snake coils and hoods at his back. He must therefore represent the twenty-third Tīrthaṅkara Parśvanātha, whose cognizance is a *sarpa* even according to the early Kushana sculptures.

The outer bands on either side contain male and female attendant figures.

On the pedestal is a *Dharmachakra* flanked by two worshippers, and two sejant lions looking in opposite directions. On one side of the wheel is a small bull standing and on the other side another bull or cow seated. But the most important iconographic feature is the presence of the two figures standing in *tribhangi* pose.

Baladeva and Vāsudeva. The two four armed images on the right and left sides standing in *tribhangī* poses are those of Balarāma and his brother Krishna. Balarama is holding a big club (*musala*) in the right hand and a ploughshare in the left. The inner right hand is holding a cup and the left is held akimbo. The image is similar to the independent images of this deity found in Mathurā art, like Balarama from Bajna of the early Gupta period [No. 1399, fig. 13, Brahmanical Images in Mathura Art, *Hindustani*, Allahabad, January 1937].

The left side image is that of four-armed Vishnu holding the inner right hand in *abhaya mudrā* which must have been carved with a small lotus, and *gadā*, *chakra* and *śankha* in the remaining hands. This is similar to the numerous Vishnu images found at Mathurā. That both Balarāma and Vishnu are Brahmanical divinities is also indicated by the presence of the full-flowing *vaijayantī* garlands on their persons which is an invariable feature of the Gupta and post-Gupta Hindu images.

The legend of Krishna and Balarāma is found at great length in the Jaina books, which also, recognise the story of the five Pāndavas and Draupadī. Vāsudeva Krishna and Balarāma are said in the Kalpasūtra to have been the brothers of the twenty-second Tīrthaṁkara Neminātha. It is said that the Harivaṁśa dynasty came into existence in the time of the tenth saint, Śītalanātha, and the fifth miracle deals with Krishna's visit to Amarakaṅkā town in the age of Muni Suvrata, the twentieth Jina. The Jainas also have a class of deities known as the Vāsudevas who attend upon the Tirthaṁkaras. The present image depicts Neminātha with Baldeva and Vāsudeva, who though principal Brahmanical incarnations, were also his relatives according to Jaina tradition.

Recently another similar image was acquired for the Mathura Museum from the collection of the late R. B. Pt. Radha Krishna. [Fig. 2; no. 2502 in the Mathura Museum]. This image must be attributed to about the fourth century A. D., while the previous image in the Lucknow Museum may be about two centuries later. The proper right side figure is a Nāgarāja of seven hoods to be identified with Balarāma, having four arms, and holding a cup and a plough in the left hands, the objects in the rt. ones being lost. The left side figure is of four armed Vishnu with his symbols of which *gadā* and *chakra* are still preserved. Above the Jina's head is a canopy projecting from the back slab. It is carved above and below wilh foliāge of his peculiar Bodhi tree. The leaves are round and may be of the banyan. This also is an image of the Tirthamkara Neminatha belonging to the Gupta period.

YAKSHIṆĪ AMBIKA.

Another image with still more pronounced Brahmanical features is that of a female goddess, No. D. 7 in the Mathura Museum, who may be identified with Ambikā, the Yakshiṇī of the Arhat nemināṭha according to the Jaina pantheon. It is a medieval sculpture of about 8th—9th century and is well-carved. It is described and illustrated by Dr. J. Ph. Vogel in his *Catalogue of the Mathura Museum*, pp. 95—96, plate XVII. Dr. Vogel thought it to be an image of

Pārvatī, with whom it has obviously much similarity, and the presence of Gaṇeśa on the proper right side also lends support to that view.

But the seated Jina above the head of the goddess betrays its relationship with Jainism. The Tirthamkara is flanked on either side by two standing figures, about whom Dr. Vogel wrote: 'On both sides is a four armed figure standing on a flower.' [*Catalogue of the Mathura Museum* p. 96] These two figures standing in *tribhangī* pose, are respectively of Balarāma on the right side and Vāsudeva on the left. Balarama is holding his *musala* and *hala*, while Vishnu has his characteristic four *āyudhas*. Both figures are wearing typical Brahmanical *vaijayanti* garlands. The Tīrthaṁkara therefore on account of these attendant figuies must be identified with Nemināthа, and the female figure consequently was intended to represent his Yakshiṇī named Ambikā. She is seated on a lion and holds a child in her lap on the left thigh much in the same fashion as Brahmanical Parvati holds Skanda. As. Dr. Vogel says the two squatting figures near her legs on right and left are of Gaṇeśa and Kubera.

The above account therefore, shows that Gaja-Lakshmī, Sarasvatī, Baladeva, Vasudeva and Ambikā, who were charateristically Brahmanical deities, were assimilated in Jaina religious belief and represented in Jaina art from an early period.

The Origin of the Swetambara Sect.

By C. R. Jain.

The question—Who were the first, the Digambaras or the Swetambaras ?—It seems, is still agitating the Swetambara mind, though all the historical indications are against their priority. In recent times certain books have also been published, which just give expression to the Swetambara view and completely ignore the Digambara Records. One of these is the "Historical Jainism," composed by Prof. Bool Chand, M.A., of the Hindu College Delhi, who is a Swetambara himself.

Unfortunately, he does not critically examine the records and assumes certain matters, stated in the Swetambara books, to be facts. It is not necessary to accuse him of bias, but it is evident that he has not brought his critical faculty to bear on the problem.

The most important question is; when did the main schism in the Jaina Community occur ? Both the parties—the Swetambaras and the Digambaras—are agreed that it became marked about 75 A. D., but the Swetambaras try to show that there was an earlier schism in the time of Mahāvîra Himself when his son-in-law, Jamālî, led a separatist movement against Him. The Digambaras deny that Mahāvira was ever married or had a daughter and a son-in-law. Historically there is no proof outside the Swetambara books of the existence of any sect or sub-sect that might have been founded by Jamali. What happened to it, where did it spread, what were its teachings, in what respects it differed from the teaching of Mahāvîra, and when did it begin to decline and perish ?—are points on which no light is thrown whatsoever. The Digambara books, the Hindu books, and the Buddhist books do not lend the least support to the supposed existence of a daughter of Mahāvîra, or of her husband. What happened to Jamali's own descendants ? What were their names ? Where and when did they reign, if they were Kings ? For how many generation did the line continue ? These are some of the questions which arise from the historical point of

view. From the Jaina point of view, a schism like the one alleged is simply inconceivable; for Mahāvîrà was omniscient, attended by *Devas* from the Heavens. Who was Jamāli against such an omniscient Teacher, and who would care to follow him against Mahāvîra? Was Jamāli himself omniscient? If so, the teaching of two omniscient Teachers would not clash, and would not be different. If he was not omniscient, he was inferior to Mahāvîra and could not possibly, during Mahāvîra's lifetime, get a hearing from anybody among the Jainas. In the time of Buddha, in the time of Muhammad, in the time of the founder of any other Religion, no schisms arose or could have arisen. Who could originate a schism against the founder of a Faith, unless he claimed to be a founder himself? But this would not be a schism, but the founding of another Faith, so that a schism is not conceivable during the life of a Founder, although one may occur immediately after him.

Now let us look at the problem from another point of view. Of the two versions of Mahāvîra's life—the Swetambara and the Digambara—it is obvious that only one can be true: either Mahāvîra married, or he did not marry. If Mahāvîra married, why should the Digambaras deny it? There is absolutely no reason for such a denial. The Digambaras acknowledge that nineteen out of the twenty-four Tîrthankaras married and had children. If Mahāvîra also married it would make no difference. There is thus no reason whatsoever for the Digambaras to deny a simple incident like this. But there may be a reason for the Swetambaras making the assertion—the desire to minimise the importance of the causes which led to the birth of their Sect and to ante-date their own origin. As a matter of fact their own books contain clear refutation of the statement that Mahāvîra had married. In the Samavāyānga Sutra (Hyderabad edition) it is definitely stated that 19 *Tîrthamkaras* lived as householders, that is, all the 24 excepting Shri Mahāvîra, Pārśva, Nemi, Mallinatha and Bāspujya.

Further, according to the Swetambaras, the followers of the twenty-third Tîrthamkara believed that Salvation could be obtained without complete disrobing; and Mahāvîra was born in the Swetambara Faith. Why, then, should Mahavira unrobe Himself completely

and unnecessarily, and why should he preach the doctrine of nudity for Salvation? The testimony of the non-Jaina (Hindu and Buddhist) books does not mention the existence of the Swetambaras at all at the time; only the Digambaras are mentioned by them The fact is that the positing of robed Jaina Saints in the time of the twenty-third Tîrthamkara lands us into inextricable difficulties and contradictions.

From the Jaina point of view again, the twenty-third and the twenty-fourth Tîrthamkaras, being both omniscient, could not have taught in any way differently.

The truth is that these statements do not explain the fact of the schism, which actually had its inception in the fourth century B. C., and became clearly marked about the end of the first century A. D. Let us now consider the Swetambara explanation of the origin of the Digambara Sect, which is as follows: a Jaina monk (a Swetambara, on the supposition that the Digambara Sect had not arisen at that time) was given a costly blanket by a great king or some other important personage, and became very fond and proud of it. His Preceptor, noting his fondness for the blanket, ordered him to part with it, but this he refused to do, and, in an angry mood, ran away leaving it behind. He founded the Digambara Sect. The account is, however, incredible, because, firstly, no Jaina householder would ever think of giving a costly blanket to a Saint, the gift being against the rules of saintly conduct. It is well known how keenly the Jaina laity watch the behaviour of their Saints, to make them observe all the rules governing saintly life, and how bitterly hostile they can be in cases of laxity. It is, therefore, not very likely that a Jaina householder will himself give a costly blanket to a Jaina Saint, who is not allowed costly things, not even a blanket to keep himself warm. Secondly, even assuming that the Saint ran away naked leaving his blanket, how could he hope to find a following for the nudist doctrine among people who were not accustomed to unrobed Saints, but to robed ones? Surely they must have regarded him as a shameless renegade, and would not have allowed him to enter the privacy of their female apartments, to appear nude before their sisters, daughters, mothers and wives. It is very unlikely that the practice of

nudity among Saints could be introduced in this way into a society accustomed to entertain robed ones. What is wanted is some very powerful influence, like the presence of a Tîrthamkara, to overcome the sense of shame, lewdness and humiliation caused by the sight of naked males. Lastly, if the Digambaras were brought into being by Mahāvîra Himself, they would not need to be called into existence again at this time. The story thus fails to satisfy the mind or to settle the problem.

Both the sects agree that there was a severe famine in the time of Chandra Gupta Maurya, who was the emperor of India in the fourth centry B. C. At that time a party of Jaina Saints left for the South and went to Madras and Mysore to escape from the privations and sufferings of the famine. But some declined to go and prepared to bear the hardships. The Digambaras say that the Swetambaras arose at that time as the putting on of robes helped them to obtain their sustenance more easily.

Now let us study the intrinsic evidence furnished by certain facts. The first of these facts is that the Religion which was founded in the South by the Saints who went there at the time of the famine was the Digambara Religion and not the Swetambara. If the Swetambara Sect alone was in existence at the time of the Southward migration, how is it that they taught the Digambara Doctrine in the South? If both existed, then are we to imagine that the Swetambaras all remained behind and that the Digambaras alone went South? This is not very likely. Thus this circumstance, too points only to the existence of one Sect at that time, namely the Digambaras.

Certain striking differences between the teaching of the two Sects have also an important bearing upon the question under consideration. Three of these points may be mentioned here :—

(1) that women can obtain Salvation from the female body;

(2) that a Shûdra is not debarred from Salvation;

(3) that Mahāvîra ate Pigeon's flesh once when suffering from dysentery.

The Digambaras deny them all; the Swetambaras uphold them. Now the question is; which party is speaking the truth here, and reproducing the teaching of Mahâvîra? I cannot find any reason for the Digambara's refusing to acknowledge that a woman and a Shûdra are entitled to Salvation if an omniscient Teacher really taught so. They gain nothing by doing so. The most that can be said is that they have forgotten the teaching, but this is not a very convincing argument. On the otherhand, there may be a reason for the Swetambaras' innovation. We find that the Hindus also deny Salvation both to the female and the Shûdra, though they—at least a good many of them—do not object to eating animal flesh. Now these are just the particulars which would be helpful in widening the circle of the families whence food could be obtained. If the Jainas and the Hindus deny salvation to women and certain Saints said to the ladies: "We promise you salvation—we can show you the way to Nirvâna"—they are likely to be favourably received, which would mean better prospects of a meal. The same considerations apply to the case of the Shûdra. If the Shûdra is assured that he can obtain salvation, he would certainly like to follow the Teacher who promises it to him, rather than those who would debar him from it. These doctrines will naturally cause many a Hindu household to be thrown open to their preachers.

The likelihood of the Omniscient Mahâvîra being compelled to attend to His physical ailments and of committing an act of *himsa* to allay His suffering is simply inconceivable to the Jaina mind. The idea is altogether repugnant to the Jainas. In modern times some of the Swetambaras themselves have begun to explain the Pigeon's flesh as meaning a kind of vegetable product. I myself was at one time inclined to look upon it as a form of symbolism, but when I enquired further into the Jaina literature, I was compelled to read it in the literal sense, as the Jaina books are non-allegorical. I should be happy to encourage the modern Swetambara interpretation of the term (pigeon's flesh) if it did not offend against the lexicographer's authority and sense.

Probably all this thinking was not done at the start. As the Digambaras say it was an unfortunate accident which at first led *to*

the adoption of the white robe. One of the saints was waylaid and pounced upon by a crowd of hungry beggars in some deserted place, who ripped open his stomach to get at the undigested meal. A sensation was created in the community. The laity then requested the saints to put on a single robe, so that nobody could see whether they had been partaking of food or not. This was done. Other points would naturally occur in course of time as opportunities presented themselves for the expansion of the circle of entertainers. The pigeon's flesh theory would be started if someone strayed, accidentally and without knowing, into a Hindu household where after eating his food he discovered that meat was also cooked in the house. He could then justify himself as having done no more than what Mahāvīra himself did in need.

It appears from all this that the attempt to show that the Swetambaras were the first in the field is foredoomed to failure. As a matter of fact, the Swetambaras themselves admit that the first Tīrthamkara was a Digambara; but, confining our survey to modern historical times, it is obvious that the Swetambaras arose during the time of the great famine, and composed books into which they introduced their new practices. The Swetambaras give themselves away when they say that although Mahāvīra disrobed Himself completely the King of Devas nevertheless threw over his shoulders a kind of celestial (and probably invisible) mantle, which went trailing behind the Divine Saint for several months. This, I imagine, is intended not to show that Mahāvīra did not appear nude to the beholder, but as a recognition of the Swetambara doctrine by the King of Devas. In reality, it only betrays undue anxiety to prove their case, so that it will be true to say of them that they seek to prove too much.

The above conclusions are in full agreement with the view of impartial authorities. I need only quote here a single quotation from the imperial Gazetteer of India (Vol. 1 page 414) in support of this :—

"The most important event in the history of the Order is the schism which led to the separation, maintained to this day, of the

Swetambara or 'White clothed' fraction ....from the Digambara, or those 'clothed with the sky'—in other words, the naked ascetics ....who are probably the older."

To come to Gautama and Kesi's meeting and their talk upon which the Swetambaras have laid all the stress they can. No doubt, a person ignorant of the Jaina religious doctrine and of the attainments of men at the time of the Tîrthamkaras, may say whatever he likes, for he knows nothing about clairvoyance and the fourth kind of knowledge termed *manahparyaya jñāna* (knowledge), or the fact that humanity can attain to omniscienc ; but these are settled facts in Jainism, and they are also supported by outside evidence. That being so; no historical speculations of men, ignorant of the Jaina religion and of the attainments of men on the Path, can be worth anything.

Now, Kesi was clairvoyant and Gautama was endowed with Manahparyaya jñāna and Clairvoyance both. The first question Kesi put to Gautama was why Mahâvîra insisted upon the observance of five vows when Pārsavanātha did not mention five but only four, excluding celibacy? But the question would have had a point if it could be shown that salvation could be obtained without the observance of celibacy. So far as I understand Swetambara books themselves insist upon an observance of this vow, and it is not possible that two omiscient teachers, *i.e.*, Pārśvanātha and Mahâvîra could teach different things.

The second question is about the discarding of clothes which has already been discussed herein at sufficient length. But Gautam's reply is striking. He is merely made to say that big men like Pārśvanatha and Mahâvîra know these things best. He does not attempt to defend his Master s practice, which is strange, to say the least of it.

The third and subsequent questions are as follows :—

(3) *Being surrounded by enemies, how did you overcome them?*

(4) All people are bound in these bonds: how did you manage to break them?

(5) How did you uproot the poisonous creaper in the heart?

(6) How did you extinguish the flames of Fire (passion) burning in the heart?

(7) How did you control the vicious thoughts?

(8) How did you avoid wrong paths?

(9) What's the refuge of the souls that are being swept along in the stream?

(10) This body moves hither and thither: how, then, will you cross the sea?

(11) All souls are groping in the dark; who is going to remove this darkness?

(12) Which is the place that's free from pain?

Now, all these questions are simply silly when we consider the intellectual and spiritual attainments of the two men. Kesi is described as a philosopher, and Gautama was the head apostle of Mahāvira and had no equal in respect of debating skill, metaphysics, logic and other forms of dialectics. I have already said that they were both clairvoyant, and Gautama was endowed with another kind of Jñāna (knowledge) in addition. Clairvoyance in Jainism includes the knowledge of some of the past lives of oneself as well as of others, and Manahparyaya Jñāna, of the thoughts also of the living and the dead within certain limits.

Now, I should have expected, if these questions were put by Kesi with a view to testing Gautam's attainment that he would have asked him about his own previous lives so that he could check Gautam's answers with the revelations of his own clairvoyance in that regard. Kesi must have known and heard of Mahāvîra and he must have also known about Gautama if from no other source than

from his own clairvoyance, so that the knowledge about Gautama would fill him with veneration and respect for him rather than allow him to test his skill.

Besides, all these questions, beginning with the 3rd, involve no more than simple metaphors which ordinary school boys are expected to understand and to answer. Not one of them had the capacity to determine the measure and the profoundity of Gautam's knowledge. Further more, no such questions are allowed by the rules of saintly decorum. If the questioner is inferior in rank, he will simply venerate the superior one and ask for instruction ; if they happen to be of equal attainments, then they will put their doubts before each other and try to solve them ; but if he is superior, then he will simply wait till he is asked for enlightenment and then answer the questions that are put to him.

Thus far I have not referred to Gautam's answers ; they all go to make things still more ridiculous.

In answer to the 3rd question, it is easy to understand that Karmas are the enemies of the soul ; in answer to the fourth, the bonds referred to are the bonds of Karma ; the poisonous creeper in the heart is, greed which can be destroyed by the renunciation of "desire" ; the flames of heat (passion) in the sixth question can be easily extinguished with renunciation ; the vicious thoughts in the 7th are the "Mind." In answer to the 8th, by following the true path one avoids the wrong ones ; the place of refuge in the 9th question is religion ; and the body is the boat which reaches the heaven if there is no influx of Karmas into it. That Mahâvîra was to destroy the darkness referred to in the 11th question does not involve much intelligent determination, and Nirvāna has always been, in the opinion of Aryan philosophers, the one place where there is no pain.

It would seem from the above that the Swetambaras' conciousness of their later origin worried them again and again so that various attempts were made by them to show that they were the prior in the field. The Gautam-Kesi discourse is one of such

attempts, which we have examined, and found to be valueless. It will be noticed that the Digambaras have never shown any such consciousness. The subject did not occur to them till in answer to Swetambara's claim to priority of origin they found themselves forced to defend their position.

I have based the above conclusions on the logic of facts alone, which is held to be irrefutable, but if anyone is interested in the philosophical side of the various points involved, he will do well to read my "Jaina Psychology," "What is Jainism" and "Jainism and World Problems" which will convince him as to why Salvation is not possible for the wearer of robes, why Tirthamkaras do not partake of food, why Nirvāna is not attainable from the female body and the like.

Important Papers relating to Jainism etc.

[**The Ninth All-India Oriental Conference was held at Trivandrum (Travancore) on the 20th, 21st and 22nd of December 1937, under the Presidentship of Dr. F. W. Thomas, University of Oxford. The volume of the Summaries of Papers has just reached our hands. For the benefit of the readers of Jaina Antiquary we are reproducing here the summaries of some of the important papers relating to Jainology.**]—*Editor.*

I.

The Jains in Pudukkoṭṭa State.

The earliest evidence of Jainism in the State is the presence of polished stone beds in the natural cavern (Eḷadipattam) on the north-eastern side of the hill at Sittannavāsal which are rightly believed to be *Sallekhana* beds of Jain ascetics. An inscription in tha Brāhmī script of the third—second centries B. C. conclusively shows that it was an *adhishthānam.* Jain monasteries or *paḷḷis* were situated in some other natural caverns in the State, such as those on the Tenni-malai in Tirumayam Taluk and the Aḷuruttimalai (Giripatana hill) offshoot of the Narttamalai hills, very near Ammachatram in the Koḷattūr Taluk : but these do not have stone beds, but have sculptures of Jain Tirthankaras. The natural cavern on the Sevalur hill, though there are evidences of early habitation in the vicinity, has nothing to show that it was a Jain centre.

It is probable that these natural caverns were chiefly the places of Jain resort for worship or penance till we come to the period 7th to 9th centuries A. D., when many parts of the State came under the Pallava rulers of the Simhavishnu line. Even in these centuries when rock-cut cave temples after the Mahendra style, came into vogue these natural caverns persisted as places of Jain resort. The old Tamil inscriptions in the other beds of the natural cavern at Sittannavāsal referred to above, which can be Palaeographically assigned to the 8th-9th centuries, mention the names of Jain ascetics who perished their doing *Sallekhana.* The old Tamil inscriptions of

of the same period on the Tēnimalai hill, one under the image of a Tīrthankara sculptured on the rock, and the other on a boulder opposite the natural cavern bear out this conclusion.

It was during these centuries (7th to 9th) of Pallava Rule that cave temples were scooped out of the rock, and among the many such temples of the Pallava period that abound in the Pudukkotta State, there are two which are distinctly Jain, while the others are dedicated either to Siva or Vishṇu. The cave temples on the western slopes of the Sittannavāsal hill cut in the time of Mahēndravarman is resorted to even to this day by Jain pilgrims from different parts of Southern India. Equally important as a place of Jain worship was the Samanar Kudagu on the Mēlamalai, called also Samanarmalai. By about the 12th or 13th century the Samaṇar Kudagu was converted into a Vishṇu temple.

The period of cave temples mas followed by one of structural temples; and in the State there are now evidences of a few Jain structural temples. One such assigned to the early Chola period (10th century) both on architectural and epigraphical evidences, is to be found in the ruins near Chettipatti (Koḷattur Taluk). This temple is built entirely of stone, is now being systematically excavated by the State Museum authorities, and the excavations have revealed so far the moulded basements of three shrines, one considerably larger than the other two. It is believed that there are at least three more shrines still lying buried, one parallel to the larger central shrine, and two smaller in front. The superstructures of the shrines have fallen down and lie scattered in the neighbourhood. From the many idols of Jain Tīrthaṅkaras brought out during the excavation and from the small piece of inscription on the moulding of the basement of one of the shrines, and that on a slab by the side of a Tīrthaṅkara a few furlongs off, which mentions the name of the place as Ainnūrruvaperumpaḷḷi of Tiruveṇṇāyil, it is clear that the place was once a flourishing Jain monastery. Tradition also confirms this, as the site is even to-day known as Samaṇarmēdu (Jain mound). This site has attracted the notice of the Archaeological Department of India who

have asked for particulars of the finds, and when the excavations are all completed and the temples renovated, we are sure that this group of shrines will prove a monument of very great interest.

The other Jain vestiges in the State are the numerous images in stone found in different parts of the State. On the outer hall of the Sittannavāsal cave temple, carved on either side of the entrance into the inner shrine are two Tīrthaṅkara images, Chandraprabha (eighth Tīrthaṅkara) and Pārśvanātha, and on the inner wall of the shrine proper there are three unidentified Tirthankaras. On the wall of the cavern in Tēnimalai is carved in high relief a Tirthankara image under a Mukkudai (*trichatra*) and two attendant Yakshiṇīs bearing cowries, and on the side is another Tirthankara with an inscription in old Tamil below. On the Āḷuruttimalai, there is a Jaina broken figure inside the cavern and a couple of others under *trichatras* (three umbrellas) outside. A little to the west of Ammāchatram in the neighbourhood are found out on a rock a Tirthankara under a *trichatra*, and from two inscriptions near by we learn that the rock, now called Bommaimalai, was calted Tentiruppaḷḷimalai. Other Tirthankara images found in the State are those at Kaṇṇangudi, between Kāyāmpatti and Veṇṇai-muttuppatti, Annavāsal, Vīrakkudi (all in the Koḷattūr Taluk). Thekkāttūr in Tirumayam Taluk and Tirugokarṇam, a suburb of the capital. There are in the stone gallery of the State Museum quite a number of Jain images gathered from practically all over the State; and most of these images are seated in the *Samparyanka* pose under *trichatras.*

A few Jain bronzes of high artistic merit have been unearthed in the site of the once thriving town of Kalasamangalam (near the present capital town). Perhaps the most interesting of these finds is a *relievo* in bronze with the figures of the twenty-four Tirthankaras set in one *Tiruvācikai* like frame work attached to a *pītham* on which is a standing image of Rshabhadēva, with two attendant spirits Gomukha and Chakrēsvari, on either side of the base of the *pitham,* and the *lānchana* of a bull in the front of the *pitham.*

The Epigraphical references in the State to Jains and their temples and Arhats are many. There are the inscriptions in Brāhmī (3rd to

2nd B. C.) and in old Tamil (numbers I and 7 of the Pudukkotta State Inscriptions of the 8th and 9th centries A. D.) on the Sittannavāsal cavern stone-bed numbers 9 and 10 in old Tamil, in Tenimalai of the 8-9th centuries, (one of which says that the hermitage was the place of penance of a Malayadhaja) number 158 on the Kadambarmalai at Nārttāmalai dated the 27th year of Kulottunga III—1205 A.D. (which mentions a grant of land to Siva temple and expressly states that a certain amount of lands belonging to *Aruhardevar* at Tirumānamalai (Ajuruttimalai ?) are to be excluded from *Dēvādanam*), No. 449 in Gudalur of the 8th year of Jat. Parakrama Pandya 1323 A. D. (registering the sale of lands and mentioning a list of lands excluded from the sale among which Jain endowments find a place), Nos. 463 and 464 of the time of Vira Pāndya (Saka 1419-1497 A. D.) from virā chilai Tirumayam Taluk, No. 474 in Ammāchatram (mentioning the names of Darumadēya ācāryar and others, pupils of a Kanakacandrapaṇḍitar and Tiruppaḷḷimalai Āḷvār), No. 533 below the Jain image at Sadayappārai in Tirugōkarṇam dated the 24th year of an unidentified pāndya king Konērinmaikoṇḍān (which registers a royal order granting remission of the taxes on lands endowed by the owners of the Jain *Paḷḷi for offerings* and other *expenses* of Perunārkiḷḷi coḷaperumpaḷḷi Aḷvār of Kallārupaḷḷi of the place) ; No. 658 on Bommaimalai of the 6th year of a Konērinmai Koṇḍān (recording the gift of a village for offerings and expenses of the Nāyakkars of Tiruppaḷḷimalia and Tentiruppaḷḷimalai) and the inscription No. 1383 on a slab by the side of the Jain image at Kāyāmpatti (which refers to the Jain temples at Chettipatti as Ainnūrruvapperumpaḷḷi and the place as Tiruveṇṇāyil).

There are no monuments of Jainism in the State after the time of the establishment of Muhammadan rule of in the Carnatic. It is a curious phenomenon that the census of 1931 did not return even on Jain inhabitant in a State which for centuries had a large and thriving Jain population, though annually, the shrines in the State are visited by a large number of Jain pilgrims from Kumbakonam, Conjeevaram and other places.

K. R. Venkataraman, B.A., L.T.

II.

The Language of the Kharosthi Inscriptions from Chinese Turkestan and the home of the Paisaci Prakrit.

These inscriptions, 764 in number, were discovered by Sir Aurel Stein from 1901 onwards, and edited by Messrs. Boyer, Rapson and Senart. Their language has been recognized by these as well as other scholars to be a from of Indian Prakrits.

My own study of these documents shows that the language used in them exhibits the characteristic features of *Paiśācī Prakrit* and that it might be taken to be an older form of the Paiśācī which is described by the later-day grammarians such as Vararucī, Hemacandra and others.

This conclusion throws some fresh light on the question of the original home of Paiśācī. It corroborates Grierson's view of the North-Western origin of Paiśācī. While the name '*Pishal*' on the North-Western borders of India where '*Pashāi*' and '*Pashto*' dialects now prevail, suggests the original home of Paiśācī, '*Su'ika*,' the ancient name of the area round about *Kashgar*, which appears in old Sanskrit texts, in Tibetan accounts and in one of the inscriptions themselves, might be taken to suggest that *Kashgar* and *Khotan* were probably the original home of *Cūilkā Paiśācī*.

This would bring the two Paiśācīs in line with the other Prakrits such as *Sauraseni*, *Māgadhi* and Mahārāshtrī, all of which bear regional names.

Prof. Hiralal Jain, M.A., LL.B.

III.

On the Authorship of a Mangala-verse in Inscriptions.

श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम्
जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

The above verse is used as a Mangala in many of the inscriptions in the South. It is found especially in Jaina records. In spite of the

fact that its contents are associated with Jaina dogmatics, this Maṅgala is found even in non-Jaina records with a slight change as below.

श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य शासनं शिवशासनम् ॥

As yet the source of this verse was not known Just as *namastuṅga* etc., is a Maṅgala of *Harshacarita* of Bāṇa, it could be expected that this was also a Maṅgala-verse of some Jaina work. This expectation is now fulfilled by the discovery of *Pramāṇa saṁgraha* of Akalaṅka of which it is the opening Maṅgala. Akalaṅka is tentatively put in the last quarter of the seventh century at the latest. By studying the dates of all the records, in which this Maṅgala is found, it would be possible to settle the date of Akalaṅka more definitely and at the same time to put an earlier limit to the age of some of the undated records using this Mangala.

Prof. A. N. Upadhye, M.A.

IV.

Reference to 'Syadvada' in the Ardha-Magadhi Canon.

Anekāntavāda, which strikes an original note in the history of Indian logic, prepares a percipient for an all-sided apprehension of reality. It aims to achieve its purpose by realizing the object of knowledge as itself and as related with all others. Many points connected with Anekāntavāda required to be cleared by studying the original texts.

Attempts are made to trace the antecedents of Syādvāda in the various strata of Jaina literature. It is often remarked that the Ardhamāgadhi canon of the Svetāmbaras does not refer to Syādvāda.

So far as Digambara works are concerned, Kundakunda refers to Syādvāda or Saptabhaṅgi in his *Pañcāstikaya* and *Pravacanasāra* Turning to the Ardhamāgadhi canon, the three primary predications of Syādvāda are mentioned in the *Bhagavatisūtra*. As yet the canon is not exhaustively studied. However, Dr. W. *Schubring* has given us an *authentic resume of the entire canon; and he states that the*

basic material for Syādvāda is already there, but the complete structure, which is later on known as Anekāntavāda is not explicitly found there. The attention of scholars is drawn to a couple of passages from the canan, which, I think, refer to Syādvāda or Saptabhangī.

Nandisutra, verse 30, mentions *bhangiya* possibly as a branch of knowledge, and it can be taken as Saptabhangī.

Sūyagadam, chap. 14 verse 19, gives an instruction '*nayāsiyāvāya viyāgarejjā*.' Sīlāṅkā takes '*yāsiyāvāya* = *ca āṣirvādam*, but the forms of *āsirvāda* do not justify this interpretation. It is better to take it as *ca asyādvādam*' and Sīlāṅka has no objection to the author's mention of Syādvāda in this context, as he himself interprets *vibhajjavāya* in verse 22 below as Syādvāda.

In a foot-note the various stages in the meaning of Vibhajyavāda are studied, and it is indicated that *Sūyagadam* might have used this term before Vibhajyavāda became a party-designation in the Buddhist church.

Prof. A. N. Upadhye, M.A.

THE JAINA SIDDHĀNTA BHASKARA.

(*Gist of Our Hindi Portion : Vol IV, Pt. III*)

pp. 135—142. Pt. K. B. Shastri has dealt with the Jaina Mantra Śāstra, pointing out its place in Jainism and the literature extant on the subject. He has explained some technicalities of the Jaina Mantravāda, which he styles as ' Dakṣiṇamārgāvalambî ' and of ' Kaśmîra-Sampradāya.'

pp. 143—150. Kamta Prasad Jain narrates the details of a Jaina Pilgrimage Sangha, which was taken out in bullock-carts from Mainpuri (U. P.) under the supervision of one Sāhu Dhanasinha in Vikrama Saṃvat 1867 and reached back after visiting Pryāga, Benares, Patna, Navādā, Sammeda-Sikhara and other Jain Tîrthas of northern India in 1868 A. V. The manus-cript dealing with the subject is in the possession of the writer.

pp. 151—156. Jainism in Bengal (translated from Indian Culture).

pp. 157—164. Some important Historical events of 7th to 11th centuries A. D. are given.

pp. 165—175. Pt. Kailash Chandra Shastri criticises the date assigned to Bhaṭṭākalankadeva and puts him to the middle of 7th century A.D.

pp. 176—185. An ms. of 1680 A. Vik, belonging to the Dig. Jain Barā Mandir, Mainpuri has been dealt with.

pp. 186—187. Sj. A. Nahta names a few more Jaina works on astronomy and medicine.

K. P. Jain.

AN APPEAL

To Members of the Jain Community.

Ancient Jain Literature, both in quality and quantity has an importance of which any community could well be proud. Unfortunately, much of this literature has not yet seen the light of day, inspite of so many charitable efforts towards that end. It is very desirable, both in the interest of Jain religion and culture and of the advancement of world knowledge, that this important branch of ancient literature should be made available to all, through proper edition and publication, as soon as possible.

Puṣpadanta, a prolific Jain writer of the 10th century, wrote his Mahāpurāṇa in Apabhraṃśa between 959 and 965 A. D., under the patronage of Bharata, the minister of Kṛṣṇa III of the Rāṣṭrakūṭa dynasty, and Jasaharacariu and Ṇāyakumāracariu, under the patronage of Nanna, Bharata's son, in the following years. Of these three works, the last-mentioned two were published in the two Kāranjā Series in 1931 and 1933 and were respectively edited by Dr. P. L. Vaidya of the Nowrosjee Wadia College, Poona and Professor Hiralal Jain of King Edward College, Amraoti. The Mahāpurāna is a huge work and will cover 2000 pages, of the royal size. The first volume of this work, covering about 720 pages, is edited by Dr. P. L. Vaidya and is just published as No. 37 of the Manickchand Digambara Jaina Granthamālā of Bombay, but the funds of this Series are now exhausted and one does not know how the two remaining volumes of the work are to be published.

The Mahāpurāṇa is as sacred to the Jainas as the Mahābhārata is to the Hindus. The poet has rightly observed :

अत्र प्राकृतलक्षणानि सकला नीतिः स्थितिश्छन्दसा-
मर्थालंकृतयो रसाश्च विविधास्तत्त्वार्थनिर्णीतयः ।
किं चान्यद्यदिहास्ति जैनचरिते नान्यत्र तद्विद्यते
द्वावेतौ भरतेशपुष्पदशनौ सिद्धं ययोरीदृशम् ॥

in the same spirit which prompted Vyāsa of the Mahābhārata to say,

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित् ॥

The value of this work from linguistic point is very great. It is written in the Apabhraṃśa language which is the fore-runner of all modern languages of Northern India such as Marathi, Gujarati, Hindi, Bengali, etc., and it is expected that the publication of this work will immensely help their studies.

The Editor of the work and the Secretaries of the Series, therefore, appeal to Jains, who by nature and tradition are philanthropic, to come forward to help them by generous donations to complete the publication of this great and sacred work, and thus help the cause of preservation of Jain culture. They propose that the Public render the required help under three heads :—

1. The published volume of the Mahāpurāṇa (superior edition, bound in cloth) should be purchased for the cash price of Rs. Ten :
2. An advance subscription of Rs. Ten per volume for the next two volumes should be paid immediately :
3. Rs. Seventy should be donated towards the printing expenses and clerical assistance to the Editor. (It should be noted that the Editor has not received any remuneration for the first volume and does not expect any for the remaining ones).

In other words, the Editor and the Secretaries appeal to the Jain community to help them by a contribution of Rs. ONE HUNDRED to enable them to complete the work on a sort of co-operative basis, and they promise to give to the Donors the complete work of the Mahāpurāṇa in three volumes and in addition, agree to include in a Special Dedication Page in the volumes so prepared the names of all those who contribute the above sum. They hope that this appeal will receive a generous response early so that the Editor will be able to proceed, without gap, with the work which he voluntarily undertook some seven years back.

It is expected that the printing of the remaining two volumes will cost about Rs. 8,000, and will be commenced as soon as some

eighty donors of Rs. one hundred are found out. The enclosed page will give the idea of the Typography. size and general format.

All donations which will be earmarked for this purpose should be paid to the Treasurer, Seth Thackordas Bhagwandas, 190 Jhavery Bazar, Bombay, who will pass a receipt for the amount.

P. L. VAIDYA,
Editor.

HIRALAL JAIN,

NATHURAM PREMI,
Secretaries.

ॐ

THE

JAINA ANTIQUARY

An Anglo-Hindi quarterly Journal,

VOL. III—1937.

Editors:

Prof. HIRALAL JAIN, M.A., LL.B., P.E.S.,
Professor of Sanskrit,
King Edward College, **Amraoti**, C. P.

Prof. A. N. UPADHYE, M.A.,
Professor of Prakrata,
Rajaram College, **Kolhapur, S.M.C.**

B. KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.,
Aliganj, Distt. Etah. U.P.

Pt. K. BHUJABALI SHASTRI,
Librarian,
The Central Jaina Oriental Library, **Arrah.**

Published at

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

***Annual Subscription*:**

Inland Rs. 4, **Foreign Rs. 4-8,** **Single Copy 1-4,**

CONTENTS

		Pages.
1.	A Jaina Tirthankara in a Budhist Mandala [*Prof. Dr. H. v. Glassenapp, Ph. D.*]	47
2.	An Appeal to Members of the Jain Community ...	111—113
3.	History & Principles of Jaina Law [*M. C. Jain, M.A., LL.B.*]	9—15
4.	Important Papers relating to Jainism etc. ...	103—1
5.	Knowledge and Conduct in Jaina Scriptures [*Principal Kalipada Mitra, M.A., B.L., Sahityakaustubha*]...	67—73
6.	Mystic Elements in Jainism [*Prof. A. N. Upadhye*] ...	27—30
7.	New Studies in Jainism, [*Barom B. Seshagiri Rao, M.A., Ph. D., M.S.A.*]	43—46
8.	Oldest Jain Images Discovered [*Dr. K. P. Jayaswal Interviewed*]	17—18
9.	Obituary [O. Stein]	49—51
10.	Podanpura and Taksasila [*Kamta Prasad Jain, M.R.A.S.*]	57—66
11.	Review	26
12.	Studies in the Prabhāvaka-Charitra [*Dasharatha Sharma, M.A.*]	1—7
13.	Select Contributions to Oriental Journals ...	55
14.	Select Contributions to Oriental Journals ...	82
15.	Some Brahmanical Deities in Jaina Religions Art [*By Vasudeva Sharaṇa Agrawala, M.A., Curator, Mathura Museum*	83—92
16.	The Jaina Chronology [*By K. P. Jain, M.R.A.S.* ...	19—25
17.	The Jaina Calendar [*Dr. Sukumar Ranjan Das, M.A., Ph. D.*]	31—36
18.	The Jaina Chronoloy [*K. P. Jain, M.R.A.S.*] ...	37—41
19.	The Jaina Sidhānta Bhāskara (*our Hindi Portion Vol. IV—I*)	53—54
20.	The Jaina Chronology [*Kamta Prasad Jain, M.R.A S.*]	75—79
21.	The Jain Siddhānta Bhāskara (*Gist of our Hindi Portion Vol. IV—II*)	80
22.	The Origin of the Swetambara Sect. [*C. R. Jain*] ...	93—102
23.	The Jaina Sidhānta Bhāskara, (*Gist of Our Hindi Portion Vol. IV*, pt. *III*	110

RULES.

1. The " Jaina Antiquary " (जैन-सिद्धान्त भास्कर) is an Anglo-Hindi quarterly, which is issued annually in four parts, *i.e.*, in June. September, December, and March.

2. The inland subscription is Rs. 4 (including postage and foreign subscription is 6 shillings (including postage) per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs. 1-4-0.

3. Only the literary and other decent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to

THE MANAGER,
The " Jaina Antiquary "
Jain Sidhanta Bhavan, Arrah (India).

to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly.

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office should be informed at-once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archæology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period.

7. Contributors are requested to send articles, notes, reviews, etc., type-written, and addressed to,

K. P. JAIN, Esq. M. R. A. S.,
EDITOR, " JAINA ANTIQUARY"
Aliganj, Dist. Etah (India).

(*N.B.*—Journals in exchange should also be sent to this address.)

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting, or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders, if postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology :—

PROF. HIRALAL JAIN, M.A., L.L.B.
PROF. A. N. UPADHYE, M.A.
B. KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
PT. K. BHUJABALI SHASTRI.

आरा जैन-सिद्धान्त-भवन की प्रकाशित पुस्तकें

(१) मुनिसुव्रतकाव्य (चरित्र) संस्कृत और भाषा-टीका-सहित ... २।)
(मू० कम कर दिया [illegible]

(२) ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिक-शास्त्र भाषा-टीका-सहित [illegible]

(३) प्रतिमा-लेख-संग्रह ... ।)

(४) जैन-सिद्धान्त भास्कर, १म भाग की १म किरण ... १)

(५) " २य तथा ३य सम्मिलित किरणें ... १।)

(६) " २य भाग की चारों किरणें ... ४)

(७) " ३य " " ... ४)

(८) भवन के संगृहीत संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी ग्रन्थों की पुरानी सूची ... [illegible]
(यह अर्ध मूल्य है)

(९) भवन की संगृहित अंग्रेजी पुस्तकों की नयी सूची ... ।।।)

प्राप्ति-स्थान—
जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा (बिहार)

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD., ARRAH.